भक्तिकाल का दार्शनिक दृष्टिकोण

[PHILOSOPHICAL ASPECT OF BHAKTI-KAL]

इलाहाबाद यूनिवर्सिटी की डी० फिल्० उपाधि के लिए प्रस्तुत

शोध प्रबन्ध

※

निर्देशक
साहित्य महोपाध्याय डा० केशवचन्द्र सिनहा

हिन्दी तथा अन्य प्रान्तीय भाषा विभाग,
इलाहाबाद यूनिवर्सिटी
(उ० प्र०) भारत।

※

प्रस्तुतकर्ता
(श्रीमती) आशा वर्मा
एम० ए०, एल० टी०

※

१९६६

योजना-सूत्र

भक्तिकाल का दार्शनिक दृष्टिकोण

का

शोध-प्रबन्ध

योजना-सूत्र

भक्तिकाल का दार्शनिक दृष्टिकोण

(I) योजना सूत्र

(II) विषय-प्रवेश

अध्याय

श्री वल्लभाचार्य का मत और भक्ति के प्रति उनका दृष्टिकोण- पुष्टि मार्ग-पुष्टि का अर्थ-- शुद्धाद्वैत अथवा पुष्टिमार्ग तथा पुष्टि मार्गीय सेवा--पुष्टिमार्गीय भक्ति --सेवाविधि - भक्ति के सिद्धान्त- भगवत अनुग्रह- प्रभु सुख की प्रधानता-- मुख्य वर्णन- पुष्टिमार्गीय भक्त- मोक्ष- निष्कर्ष ।

मध्वाचार्य तथा उनकी भक्ति -- जन्मस्थान- रचनाएं- सिद्धान्त- भक्ति- भक्ति क्या है ? भक्ति के स्वरूप -भक्ति का आदर्श--मुक्ति मोक्ष मोक्ष के साधन- भक्ति के अंग। उपसंहार।

शंकराचार्य और उनकी भक्ति -- साधना-भक्ति ।

श्रीनिम्बार्काचार्य और दर्शन --भक्ति कलापक्ष-- निम्बार्काचार्य एवं ब्रह्म- विशेष तथा सम्यग् दर्शन--ब्रह्म,जीव तथा जगत् --साधक एवं उपास्य देवता।

काल-निर्धारण और विस्तार -- ब्राह्म सम्प्रदाय- रुद्र सम्प्रदाय- सुमिरन विवेचन- नवधा भक्ति-- भक्ति भावना की प्रधानता-- स्वान्त: स्वान्त: सुखाय रचनाएं- शील और सदाचार की अभिव्यक्ति- समन्वय की भावना दार्शनिकता एवं आध्यात्मिकता- जीव- अन्य कालों से विशेषता- भाव पक्ष ।

राजनैतिक दशा- सामाजिक दशा- दार्शनिक दृष्टिकोण-धार्मिक दशा ।

भाव पक्ष- नाम की महत्ता- गुरु महिमा- भावना का प्राधान्य- अहंकार का त्याग- शील सदाचार की प्रवृत्ति-आडम्बर का खण्डन- सादा सरल जीवन में विश्वास ।

सप्तम : निर्गुण धारा का दार्शनिक दृष्टिकोण:- १२२-३००

(क) निर्गुण धारा-- संत साहित्य का दार्शनिक दृष्टिकोण-- सामान्य दार्शनिक सिद्धान्त-- ब्रह्म-सर्वव्यापकता - निर्गुण ब्रह्म- सगुण ब्रह्म - ऐकेश्वरवाद- ब्रह्म एवं जीव- जीव और ब्रह्म में अंतर-- जीव एवं ब्रह्म का संबंध - रहस्यवाद एवं अद्वैतवाद- माया- माया के विभिन्न रूप- जगत ।

(ख) निर्गुण भक्ति के प्रमुख संत -- कबीर -

दार्शनिक सिद्धान्त - परमतत्व- जीव अथवा आत्मा तत्व- सृष्टि अथवा जगत- माया- मोक्ष - साधना-पक्ष -- साधना-भक्ति-साधना-- निर्गुण अहैतु की भक्ति- प्रेमलक्षणा भक्ति- भक्ति की मौलिकता-- कबीर एवं कर्मयोग-- योगसाधना- हठयोगी कबीर -- कुंडलिनी-उत्थापन-- लययोग अथवा शब्द सुरति योग-सहज योग- ज्ञान-मीमांसा- सुरति-निरति -

शिष्य परम्परा-- दादू दयाल - आध्यात्म पक्ष--साधना-संत रविदास रैदास- आध्यात्मिक पक्ष- साधना पक्ष- सुन्दरदास- दार्शनिक पक्ष-- आध्यात्मिक एवं साधना पक्ष-- भक्तियोग- संत मलूकदास- मलूक के अनुयायी-

(ग) सूफी धारा-- पृष्ठभूमि- आदियुग-पूर्वमध्ययुग-उत्तर मध्ययुग- आधुनिकयुग- चिश्तिया सम्प्रदाय- सुहरावर्दिया- कादिरिया-नक्शबंदिया- सिद्धान्त और साधना --आध्यात्मिक भाव- दार्शनिक भाव- पारस्परिक सम्बन्ध- अंतर- स्पष्टीकरण- काव्यसाधना-मधुमालती-मृगावती-पद्मावत-पद्मावत की पृष्ठभूमि- विशेष-चित्रावली- रसरत्न- भारतीय समाज पर सूफी सम्प्रदाय का प्रभाव ।

अष्टम :- सगुणधारा का दार्शनिक दृष्टिकोण -- ३०१- ४४८

रामाश्रयी धारा-- तुलसीदास-भक्तिमार्ग- तुलसीदास और उनका युग दर्शन-

कृतियाँ- रामचरितमानस- तुलसी की विशेषता- संत परम्परा में तुलसी का स्थान- राम काव्य के अन्य फुटकर कवि- केशवदास-स्वामी अग्रदास।

कृष्णाश्रयी धारा का मूलस्रोत :-

विट्ठलनाथ तथा वल्लभ सम्प्रदाय- कृष्णशाखा की भक्ति- भक्तिसाधना- श्रवण- कीर्तन-स्मरण-नाम महिमा-गोकुल-वृन्दावन-रास-गोपी-
अष्टछाप के आठ कवि -- कुंभनदास- जन्म और परिचय-काव्य रचना-
सूरदास-- जन्म और प्रारम्भिक जीवन- रचनाएं- साहित्य और भक्ति-
हठयोग और शिवसाधना- कबीर-तुलसी एवं सूर-- सूर दर्शन- ब्रह्म-जीव-
जगत एवं संसार में अन्तर - जगत् सम्बन्धी दृष्टिकोण- सूर का जगत और संसार- माया-- माया के भेद- मोक्ष।
नंददास -- ईश्वर-जीव-जगत-संसार-माया-मोक्ष ।
परमानन्ददास-- जगत-संसार-माया -मोक्ष
राधावल्लभसम्प्रदाय -- सिद्धान्तविवेचन- मिलन-विछोह तथा मान --
विशेषता- प्रमुख साधक- रचनाएं- काव्य विवेचन- ध्रुवदास- हरिराम व्यास- रसखान-घनानन्द ।

नवम् :- अन्य फुटकर सम्प्रदाय एवं संत -- ४४८- ४७०

निरंजनी सम्प्रदाय- हरिदास निरंजनी-
बावरी पंथ- उदय एवं विशेषताएं- मुख्य संत- बावरी साहिबा- यारीसाहब- केशवदास- यारीसाहब ।
साध-सम्प्रदाय-- दार्शनिकसिद्धान्त- भक्ति साधना- सदाचार के नियम-
लाल-पंथ -- संतलाल दास
परसरामीय सम्प्रदाय- साधना मुख्य सिद्धान्त ।

विषय-प्रवेश

हिन्दी-साहित्य के इतिहास में भक्तिकाल स्वर्णयुग है । साहित्य के माध्यम तथा आनन्द की उपलब्धि की दृष्टि से रूप और चेतना की अभिव्यक्ति में उसकी अतल गहराइयां हैं, इसीलिए एक ओर जहां उसका बाह्य रूप अत्यन्त आकर्षक ,सरल और सर्वजन सुलभ है वहीं दूसरी ओर अपनी व्यावहारिक एवं प्रयोगात्मक दुरूहता के रूपान्तर में अत्यन्त कठिन तथा अगम्य हो उठा है । अन्य लौकिक साहित्यों की तुलना में इसकी विशेषता यह है कि वह अलौकिक वस्तु विन्यास का विस्तार देता है, तथा अलौकिक उपलब्धि का दिव्य साधन भी प्रस्तुत करता है । सच तो यह है कि भक्ति साधन भी है और साध्य भी है । भक्ति का इतिहास चिरन्तन है किन्तु भारतीय चेतना के परिप्रेक्ष्य में उसके जिन रूपों का आविर्भाव तथा विकास हुआ है अपनी इकाई में वह एक स्वतंत्र पठनीय तथा मननीय विषय है ।

हिन्दी साहित्य के इतिहास के अध्ययन काल से ही लेखिका के मन में भक्तिकाल के प्रति एक अनुराग समादर तथा रहस्य एवं उपलब्धिपरक जिज्ञासा रही है इसीलिए मई सन् १९५४ ई० में इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी०फिल्० उपाधि के लिए `भक्तिकाल का दार्शनिक दृष्टिकोण` नामक इस विषय को पाकर उसे इसके अधिक अध्ययन का सुअवसर तथा भक्तिकाल की अनेक रहस्यमयी तथा अनुरागरंजित साधनाओं के चिन्तन और मनन का सुयोग प्राप्त हुआ ।

कार्यारम्भ के समय ज्ञान के आकर्षण से प्रस्तुत विषय जितना सरल जान पड़ता था बाद में अध्ययन की गंभीरता के कारण वह उतना ही जटिल तथा विस्तृत होता गया, क्योंकि भक्ति-काल की एक विशाल देव-सरिता में विविध प्रकार के दार्शनिक तथा भक्ति-सम्बन्धी स्रोत धाराओं के अतिरिक्त अनेक छोटी छोटी फूट पड़ने वाली अन्तःसलिलाओं का भी समागम हुआ है, कार्यसमाप्ति तक यह बात उत्तरोत्तर अधिक स्पष्ट होती गई । यह बात जहां एक ओर भक्ति-

काल के विविध सम्प्रदायों की संख्या के सम्बन्ध में सत्य है, वहीं दूसरी ओर उनके गुणीभूत प्रकार और विविधता में एकरूपता के मूल्यांकन के सम्बन्ध में भी निर्विवाद है।

भक्तिकाल के सम्बन्ध में अब तक जितने कार्य हुए हैं उनमें से अधिकांशतः मुख्य धाराओं के इतिहास तथा विकास क्रम की दृष्टि से महत्वपूर्ण अवश्य सिद्ध हुए हैं, किन्तु उनकी दार्शनिक प्रणालियां तथा सम्पूर्ण भक्तिकाल के दार्शनिक मूल्य- मूल्यांकन का सर्वप्रथम प्रयास प्रस्तुत प्रबन्ध में ही किया गया है। इस सम्बन्ध में लेखिका ने जहां एक ओर भक्तिकाल के सम्पूर्ण विस्तार पर दृष्टि रखी है, वहीं दूसरी ओर भक्तिकाल के साहित्यिक मूल्यांकन में इस बात का भी विशेष ध्यान रखा गया है कि उसकी विवेचनामात्र दार्शनिक रूप में सीमित न रह जाये। इसीलिए भक्तिकाल के विविध भक्तों तथा रचनाकारों की वाणी को दार्शनिक मूल्यांकन की दृष्टि से उन्हीं की वाणी का स्वर दिया गया है। इसका अभिप्राय यह है कि प्रस्तुत कार्य के दार्शनिक मूल्यांकन में विशुद्ध दर्शनशास्त्रीय दृष्टिकोण ही नहीं, अपितु भारतीय चिन्तनधारा के परिप्रेक्ष्य में भक्ति के मर्म को भी विस्मृत नहीं किया गया है।

प्रबन्ध के प्रस्तुतीकरण की दृष्टि से अनेक मौलिकतायें लाने का प्रयास किया गया है, वैसे तो सम्पूर्ण प्रबन्ध अपने आप में एक अविभाज्य इकाई है, किन्तु प्रस्तुत प्रबन्ध की दृष्टि से उसे ऐतिहासिक तथा दार्शनिक परिप्रेक्ष्य में विकास क्रम का महत्व देकर तब दार्शनिक दृष्टिकोण का मूल्यांकन किया गया है। विषय प्रवेश के उपरान्त प्रारम्भ में ही `भक्ति तथा दर्शन के विविध अवयव` के अन्तर्गत उन सभी भक्तिपरक एवं दार्शनिक समस्याओं, रूपों तथा उन सभी विविध उपकरणों का विवेचन, विस्तार और मूल्यांकन किया गया है जिनके आलोक में आने वाले अध्यायों में भक्ति के विकास, उसकी सांस्कृतिक स्थिति तथा सामान्य भावनाओं की चर्चा की गई है।

इसके उपरान्त उन सभी भक्तिधाराओं का विवेचन किया गया है जो प्रस्तुत

प्रबन्ध की रक्तवाहिनी शिरायें हैं। यहां पर भक्तितत्व के विवेचन के अतिरिक्त भक्ति के साधन पक्ष पर तथा भक्तिकाल को प्रभावित करने वाली समस्त विचार-धाराओं का भी विवेचन किया गया है। इसके अन्तर्गत केवल भक्तिसाहित्य का इतिहास मात्र ही नहीं वरन् उसके विकास में दार्शनिक पृष्ठभूमि का महत्वपूर्ण योग भी अंकित किया गया है।

भक्ति और दर्शन कहीं तो जल और उसकी उर्मियों की भांति अलग-अलग दिखाई पड़ते हैं, और कहीं वह शान्त वातावरण में अभिन्न इकाई के रूप में परिलक्षित होते हैं। इसीलिए भक्तिपक्ष के अन्तर्गत इस विषय विस्तार की आवश्यकता पड़ी है।

हिन्दी साहित्य के विविध भक्तों में भारतीय चिन्तन धारा की पूर्ववर्ती दार्शनिक प्रणालियों का सम्पूर्ण रूप में समावेश हुआ हो ऐसा भी नहीं है, क्योंकि बहुत से उच्च कोटि के भक्त स्वतंत्र दार्शनिक हो उठे हैं, प्रबन्ध में इस बात का ध्यान रखा गया है कि सम्पूर्ण भारतीय चिन्तनधारा के परिप्रेक्ष्य में उनकी मौलिकतायें भी स्पष्ट हो सकें। इस सम्बन्ध में विवेचन के प्रसंग में लेखिका ने स्वयं मौलिक रहने का प्रयास किया है।

प्रबन्ध के अन्त का उपसंहार सम्पूर्ण प्रबन्ध का लघुसंस्करण मात्र नहीं है वरन् उन निष्कर्षों को प्रस्तुत करता है, जो पिछले दो वर्षों के अनुसंधान कार्यकाल में लेखिका को प्राप्त हो सके हैं।

इस अनुसंधान कार्यकाल में लेखिका ने जिन लेखकों की पुस्तकों से सहायता ली है, वह उन सबों की आभारी है। विविध पुस्तकालयों के वे सभी कर्मचारी धन्यवाद के पात्र हैं जिनके सहयोग से सामग्री व जुटाने में सफलता प्राप्त हुई।

प्रस्तुत प्रबन्ध के सूत्रपात का श्रेय गुरुवर डाक्टर रामकुमार वर्मा जी को है जिन्होंने भक्तिकाल के इस दिव्य विषय को गुरुवर साहित्य महोपाध्याय डा० क्षेत्रचन्द्र सिन्हा जी के सुयोग्य निर्देशन में अनुसंधान के लिए प्रदान कर, लेखिका को

उपकृत किया । उनके प्रति आभार प्रकट करने में लेखिका आनन्द का अनुभव करती है ।

लेखिका के अध्ययन काल तथा विशेष रूप से खोज यात्रा की विषमताओं में उसके पूज्य पिता आचार्य श्री श्यामबिहारी विरागी का जो अमूल्य योगदान रहा है उसे कभी भी विस्मृत नहीं किया जा सकता ।

लब्धप्रतिष्ठित साहित्यकार श्री शंकर सुल्तानपुरी के प्रति भी लेखिका कृतज्ञ है, जिन्होंने समय-समय पर उसे सहयोग प्रदान किये हैं ।

इस खोज यात्रा में, उस अविस्मरणीय घटना का उल्लेख अत्यन्त महत्वपूर्ण है, जिसमें निकट अतीत में रण-भूमि में गये हुए उसके पति मेजर जगदीश चन्द्र वर्मा का अदृश्य तिरोभाव है ।

मेजर जगदीश वर्मा ने युद्धभूमि में १६,सितम्बर १९६५ को अपनी अन्तिम इच्छा के रूप में यह अभिलाषा दुहरायी थी कि उनकी पत्नी (लेखिका) शीघ्र से शीघ्र डी०फिल्० की उपाधि प्राप्त कर ले । उनकी इस प्रबल आकांक्षा एवं प्रेरणा के फलस्वरूप ही प्रस्तुत कार्य का शिलान्यास हुआ और उनके अब तक के अनिश्चित संवाद की विषाद मिश्रित उत्सुकता में प्रस्तुत प्रबन्ध की परीक्षा हुई है । विषाद और नियति की विडम्बना में भी अटूट रह कर लेखिका प्रस्तुत प्रबन्ध संयोजन में निरन्तर कटिबद्ध रही है ।

प्रस्तुत प्रबन्ध के निर्देशक गुरुवर साहित्य महोपाध्याय डा० केशवचन्द्र सिन्हा के अथक प्रोत्साहन,भविष्यद्रष्टा तथा कार्य को समाप्त करने की आशातीत दृष्टि के आशीर्वाद का विशेष बल आद्योपान्त प्राप्त हुआ है और जिनकी अनवरत प्रेरणा, अमूल्य समय तथा अनोखी मानसिक एवं आध्यात्मिक शक्ति ही के फलस्वरूप यह शोध-कार्य प्रस्तुत प्रबन्ध का रूप तथा आकार पा सका, वह कृतज्ञताज्ञापन किसी प्रकार शब्दों द्वारा सम्भव नहीं ।

आशा वर्मा

(श्रीमती) आशा वर्मा

स्वतंत्रता-दिवस,
चन्द्रवार,
१५,अगस्त,१९६६ ई०

प्रथम अध्याय

भक्ति तथा दर्शन के विविध अवयव

भक्ति :

परिभाषा:- भक्ति शब्द `भज्-सेवायाम`[1] धातु में क्तिन प्रत्यय लगने पर बनता है । `भज्` धातु का अर्थ सेवा करना है । प्रमुख रूप में विविध आचार्यों ने भक्ति को सेवा और प्रेमरूपिणी माना है । वैसे भक्ति को प्रेमरूपा मानने वाले आचार्यों का बाहुल्य है ।

भक्ति का स्वरूप सेवा एवं प्रेम के रूप में विविध आचार्यों द्वारा मान्य तो हुआ है किन्तु उनका बहुमत उसे प्रेम स्वरूप मानने में ही है ।

भागवत के अनुसार निष्काम भाव से भगवान में लय होना और ईश्वर (श्रीहरि) में हेतु रहित प्रेम का होना ही भक्ति है । भागवत में एक स्थल पर `भक्ति` के विषय में कहा गया है कि -

` स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।
अहैतुक्य प्रतिहता ययात्मा संप्रसीदति ।।`[2]

अर्थात् मनुष्यों के लिए सर्वश्रेष्ठ धर्म वही है जिससे भगवान श्रीकृष्ण में भक्ति हो । भक्ति भी ऐसी, जिसमें किसी प्रकार की कामना न हो और जो नित्य निरन्तर बनी रहे । ऐसी भक्ति से हृदय आनन्दस्वरूप परमात्मा की उपलब्धि करके कृतकृत्य हो जाता है ।

`आठवीं शताब्दी में नारदभक्ति सूत्रों का निर्माण हुआ था[3] ।`

`नारद के मतानुसार अपने सब कर्मों को भगवान में अर्पण करना, और भगवान का थोड़ा-सा विस्मरण होने में परम व्याकुल होना ही भक्ति है[4] ।`

`नारदपांचरात्र` के अनुसार इन्द्रियों से की गयी भगवान की वह सेवा भक्ति कहलाती है जो निर्मल और सर्व उपाधिरहित है ।

पराशरनन्दन श्रीवेदव्यास के मत से भगवान की पूजा आदि में अनुराग ही भक्ति है ।

शाण्डिल्य के मतानुसार भक्ति परम प्रेमरूपा है । वे कहते हैं कि :-

`सा परानुरक्तिरीश्वरे`[5]

१- पा०सू० ३।३।९४
२- भागवत १।२।६
३-`भक्ति का विकास` डा० मुंशीराम शर्मा(पृ०४०३)
४-`नारदस्तुति तदर्पित खिला चारिता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतति, ना०भ०सू० १९
५- शाण्डिल्य भा० सू० २१

'स्नेहो भक्तिरिति' 'नारदपांचरात्र में भक्ति को प्रेमरूपा कहा है ।

'तैलधारा वदविच्छिन्न भगवत्स्वरूप स्मरणात्मक'[1] अर्थात् ज्ञान ही भक्ति है।

रामानुज ने विद्वानों का मत प्रकट करते हुए बताया है कि स्नेहपूर्वक किया गया भगवद्ध्यान ही भक्ति है ।

'स्नेह पूर्वमनुध्यानं भक्तिरित्युच्यते बुधैः'[2]

वल्लभाचार्य के मतानुसार श्रीहरि के प्रति माहात्म्य ज्ञान युक्त सुदृढ़ और अधिक स्नेह ही भक्ति है ।

मधुसूदन ने 'भक्तिरसायन' (१।३) में भगवद् धर्म विषयिणी ब्रह्म में लीन होने को भक्ति कहा है ।

जीवगोस्वामी ने भक्ति संदर्भ में कहा है कि जिस प्रकार कामी पुरुषों का विषयों में अथवा इंद्रियों का अपने अपने विषयों में स्वाभाविक आकर्षण रहता है, उसी प्रकार जब भक्त का भगवान के प्रति स्वाभाविक भाव उत्पन्न होता है तब उसे राग अथवा प्रेम भक्ति कहते हैं ।

श्रीतमुनि के 'चारितामृतम्' के अनुसार अति उत्कृष्ट प्रेम ही भक्ति है । 'भक्ति-भागीरथी' के अनुसार भक्ति प्रेमरूप है । इनके मतानुसार वंदन, ध्यान, उपासना आदि भक्ति के विभिन्न रूप एवं नाम हैं[3] ।'

इस प्रकार देखते हैं कि भक्ति के आचार्यों ने भक्ति का मूलस्वरूप एवं मूल स्रोत सेवापरक होते हुए भी प्रेम परक माना है । कदाचित् सामाजिक जीवन में रसिक भाव को प्रमुख स्थान प्राप्त होने का ही यह परिणाम हुआ कि भक्ति सेवा परक होते हुए भी मुख्य रूप से प्रेम परक मानी जाने लगी है । भक्तिकालीन कवियों की प्रत्येक रचना में इस कथन की पुष्टि प्राप्त होती है ।

'ध्वन्यालोक' में भी साहित्यिक शिरोमणि श्री आनन्दवर्द्धन का मत है कि कवियों की अभिनव रस-दृष्टि तथा विद्वानों की ज्ञान-दृष्टि इन दोनों में उन्हें

१- बृहदारण्यकवार्तिक सार :भा०१,पृ०४

२- गीता पर रामानुज भाष्य, ७।१,पृ० २२६

३- भक्ति भागीरथी,पृ० २०-२३-१६।

वह सुख नहीं प्राप्त हो सका जो कि भगवान् विष्णु की भक्ति में सुख प्राप्त होता है ।

वेदों[1] से लेकर आधुनिक युग के अनुभवी भक्तों ने पापों एवं असहाय लोगों से छुटकारा पाने के लिए भगवान की भक्ति का ही आश्रय माना है ।

भगवान में अनन्य प्रेम का नाम ही भक्ति है । प्रेम की पराकाष्ठा ही भक्ति है, और प्रेम ही भक्ति का पूर्ण रूप है । जब आराधक और आराध्य एक हो जांय और भक्त की समस्त द्वैत भावना लुप्त हो जाय, अर्थात् उठते-बैठते ,सोते-जागते , चलते-फिरते समस्त लौकिक क्रियायें करते हुए भी भक्त जब भगवान् के सिवाय और कुछ न देखे , तब वही तन्मयता पराभक्ति बन जाती है । शाण्डिल्यसूत्र में कहा गया है कि `सा परानुरक्तिरीश्वरे` अर्थात् भक्त वह है जो ईश्वरमें अनुरक्त है ।

` रामहिं केवल प्रेमु पिआरा।जानि लेहु जो जाननिहारा।।`[2] `रामचरितमानस` में तुलसीदास ने भी भक्ति की परिभाषा यही दी है । इसी सिद्धान्त अथवा मत को गीता में श्रीकृष्ण ने भी कहा है --

`मयि च नन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्त देश सेवित्व मरतिर्जन संसदि ।।`[3]
मां च यो व्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्म भूयाय कल्पते ।।[4]

१- ऋग्वेद में भक्ति संबंधी मंत्र -

(क) तमु स्तोतार...... (१।१५६।३)
(ख) नू मर्तोदयते.... (७।१००।१)
(ग) त्रिर्देव:पृथिवीमेष...(७।१००।३)
(घ) तदस्य प्रियमभि पाथो अश्याम्... (१।१५४।५)
(ङ) य:पूर्व्याय वेधसे... (१।१५६।२)
(च) वि चक्रमे पृथिवीमेष...(७।१००।
(छ)प्रविष्णावे शूष मेतु...(१।१५४।३

२-`रामचरितमानस`,अयोध्याकाण्ड,दो०१३७
३- गीता,अध्याय १३, श्लोक १०
४- गीता,अध्याय १४,श्लोक २६

इस प्रकार केवल एक सर्वशक्तिमान परमेश्वर वासुदेव भगवान को ही अपना स्वामी मानता हुआ स्वार्थ और अभिमान को त्याग कर श्रद्धा और भाव के सहित परमप्रेम से निरन्तर चिन्तन करने को अव्यभिचारी भक्तियोग कहते हैं।

'नारदसूत्र' के ७२ वें सूत्र में भक्ति बताते हुए कहा गया है कि भगवान की भक्ति के लिए ऊंच-नीच, स्त्री-पुरुष, जाति, विद्या, रूप, कुल, धन और क्रिया का कोई भेद नहीं है।

'पद्मपुराण' के अ० ४२, श्लोक १० में भी यह कहा गया है कि सभी देश, युग जाति और अवस्था में मनुष्यों को भगवान की भक्ति का अधिकार है क्योंकि भगवान सब के हैं।

कवि सम्राट गोस्वामी तुलसीदास जी कहते हैं —

'स्वपच सबर खस जमन जड़ पावंर कोल किरात।
राम कहत पावन परम होत भुवन विख्यात ।।[१]

श्री ग्रन्थ साहब में भी कहा गया है —

'ब्राह्मण, वैस्य, सूद्र अरु खत्री, डोम, चंडाल म्लेच्छ मन सोय ।
होय पुनीत भगवंत भजन ते, आप तार तारे कुल दोय ।।
धन्य सो गांव, धन्य सो ठांव, धन्य पुनीत कुटुंब सब लोय।
पंडित सूर छत्रपति राजा भक्त बराबर अवर न कोय ।।[२]

रामायण और गीता में भक्ति के चार भेद बताये गये हैं —

'चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ।।
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ।।[३]

१- रामचरित-मानस- अयोध्याकाण्ड - दो सं. १९४।

२- श्रीगुरुग्रन्थ साहब।

३- गीता, अध्याय ७, श्लोक १६, १७ ।

अर्थात् भरतवंशियों में श्रेष्ठ अर्जुन ! उत्तम कर्म वाले निष्कामी भक्तजन मेरे को चारप्रकार से भजते हैं । अर्थार्थी अथवा सांसारिक पदार्थों के लिए भजने वाला आर्त अर्थात् संकट निवारण के लिए भजने वाला जिज्ञासु अर्थात् मेरे को यथार्थ रूप से जानने की इच्छा से भजनेवाला होता है । उनमें भी नित्य मेरे में एकी भाव से स्थित हुआ अनन्य प्रेम भक्तिवाला ज्ञानी अति उत्तम है क्योंकि ज्ञान को अत्यन्त प्रिय हूं और वह ज्ञानी मेरे को अत्यन्त प्रिय है ।

'रामचरित मानस' में --

'राम भगत जग चारि प्रकारा।सुकृती चारिउ अनघ उदारा।।

चहूं चतुर कहुं नाम अधारा । ग्यानी प्रभुहिं बिसेषि पियारा।।[१]

ईश्वर की भक्ति चार प्रकार से होती है जिनमें से ज्ञानी व्यक्ति की भक्ति ईश्वर को विशेष रूप से प्यारी है । इस प्रकार भक्ति का अर्थ सेवा करना है । सेवा शारीरिक क्रिया है । सच्ची सेवा में प्रेम का भाव निहित रहता है । बिना प्रेमभाव के सेवा कार्य क्लेशप्रद हो जाता है तथा स्पृहणीय भी नहीं रहता । प्रेम की पूर्णता सेवा भाव में ही है ।

भक्ति-परम्परा में पात्र अधिकारी,प्रसंग और उद्भावना के आधार पर अनेक भेद मिलते हैं । श्रीमद्भागवत् में उनका विशद विवेचन किया गया है किन्तु हिन्दी साहित्य में प्रभाव और विकास की दृष्टि से जो रूप और विशेषकर नवधा भक्ति का जो रूप मिलता है उसका विवेचन अपेक्षित है ।

भक्ति के रूप --

भक्ति शब्द 'भज्' धातु से बना है । 'भज्' का अर्थ होता है 'सेवा करना।' इस प्रकार भक्ति का अर्थ सेवा करने के अर्थ में मान कर ही मुख्य रूप से माना गया है । संतों महात्माओं एवं कवियों ने भक्ति को प्रेम प्रधान माना है । शास्त्रकारों ने भक्ति को प्रेम प्रधान मान कर उसके विभिन्न रूपों का उल्लेख किया है । प्राचीन आचार्यों के आधार पर भक्ति के निम्नांकित रूप प्राप्त

१- रामचरितमानस, बालकाण्ड ।

होते हैं।

(१) साधन भक्ति —

साधन भक्ति में भक्त बाह्य साधनों द्वारा इष्टदेव को पाने की चेष्टा करता है। साधन, वे बाह्य उपकरण हैं जिनकी सहायता से भक्ति के विकास में सहायता मिलती है।

साधन भक्ति के दो भेद(मर्यादा और राग के आधार पर) हैं।

(क) वैधी और मर्यादा भक्ति
(प्रेममार्ग में मर्यादा का उल्लंघन न करते हुए ईश्वर की प्राप्ति की चेष्टा करना)

(ख) रागानुगाभक्ति
(लौकिक साधनों द्वारा प्रेम करते हुए उस प्रेम को अलौकिक प्रेम प्राप्ति में उपयोग करना।)

(२) गौणी या गौड़ी भक्ति —

कुछ शास्त्रकारों ने वैधी और रागानुगाभक्ति को गौण्डी या गौण्ढी भक्ति में रखा है।
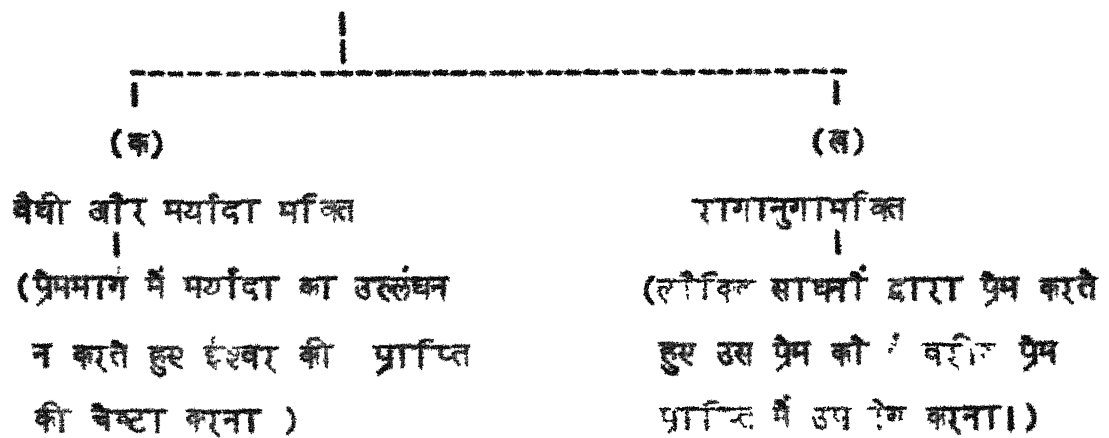
(३) सात्विकी भक्ति—

नि:स्वार्थ भाव से की गयी ईश्वर की उपासना को सात्विकी भक्ति कहते हैं।

(४) राजसी भक्ति— जो भक्ति कामना सहित, भेद दृष्टि पूर्वक,प्रतिमा पूजन के रूप में की जाती है वह राजसी है।

(५) तामसी भक्ति- क्रोध ,हिंसा,दम्भ भाव से की जाने वाली उपासना तामसी भक्ति कहलाती है।

(६) कायिकी भक्ति- विभिन्न प्रकार के बाह्य आडम्बर रचित (जैसे कथा सुनना, मन्दिर लीपना,मूर्ति पर फूल चढ़ाना इत्यादि)उपासना को कायिकी भक्ति कहते हैं।

(७) मानसी भक्ति-- मन से भगवान का स्मरण करना, भगवान में सखा भाव रखना, देह को भगवान में अर्पण करना, अपनी चिन्ता न करना इत्यादि मानसी भक्ति के अन्तर्गत मानी गई है ।

(८) वाचिकी भक्ति- विष्णु के सहस्र नामों का प्रतिदिन कथन करना, भगवद् गुणों का कीर्तन करना, भगवान की आज्ञानुसार दास्य-भाव को पूर्ण करना और यह विश्व हरि का रूप है ऐसा करना एवं समझना वाचिकी भक्ति है।

(९) नवधा भक्ति- इस प्रकार की भक्ति अत्यन्त प्रमुख एवं प्रचलित भक्ति मानी गयी है । नवधा-भक्ति भी प्रेम को ही पुष्टि करती है ।नवधा भक्ति इंद्रियों से सम्बन्धित है ।इंद्रियों के विभिन्न व्यापारों से प्रेम पुष्ट होता है ।

शंकराचार्य ने भागवतों की उपासना का पांच विधियों द्वारा उल्लेख किया है जिसका परिवर्द्धित रूप नवधा-भक्ति है । 'ज्ञानामृतसार' में ६ प्रकार की भक्ति बताई गई है । यह रचना शंकर के बाद और भागवत के पूर्व की है । 'ज्ञानामृतसार' की स्मरण, कीर्तन, वन्दन, पादसेवन, अर्चन और आत्मनिवेदन में भागवत ने, श्रवण दास्य और सख्य भक्ति का योग करके नवधा भक्ति का स्वरूप खड़ा किया है ।[1]

नवधा-भक्ति के निम्नलिखित नौ आदर्श बताए गए हैं --

प्रेम की प्रथम अवस्था भाव --प्रेम ही विकास क्रम से, मान-प्रणय, राग, अनुराग, भाव और महाभाव के रूप में परिणत होता है । रति, भावना भेद से शान्त दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर रति में स्था न्तरित हो जाती है । रति भेद से भगवद् भक्ति रस, शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर रस में बदल जाती है ।

नवधा भक्ति में भक्त की दिनचर्या का वर्णन करते हुए 'भागवत' में यह बताया गया है कि भक्त का मन भगवान कृष्ण के कमल चरणों में मग्न रहे, वाक् विष्णु लोक के गुण गान में व्यस्त रहे, हाथ हरि मन्दिर की सफाई में, कान कृष्ण कथा के श्रवण में, नेत्र कृष्ण दर्शन में, तन सत्संग में, नासिका तुलसी की मीठी सुगन्ध में रसना भगवान की सेवा में लगी रहे ।[2]

१- मध्यकालीन धर्म-साधना-डा०हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ११७

२- भागवत १०।२९।१५ ।

इस प्रकार नवधा भक्ति के जो नव रूप कहे गए हैं वे हैं -- श्रवण,कीर्तन, स्मरण,पाद-सेवन,अर्चन,वन्दन,दास्य,सख्य और आत्मनिवेदन।

शास्त्रकारों एवं आचार्यों ने अपने ज्ञान तथा अनुभव के अनुसार विभिन्न प्रकार के भक्ति के स्वरूप को प्रकट किया है ,मार्ग विभिन्न परन्तु लक्ष्य एक है । ईश्वरोपासना में लीन होकर ईश्वर को पाना ही आचार्यों तथा शास्त्र-कारों का लक्ष्य है ।

इसके अतिरिक्त भक्ति के अन्य स्वरूप भी हैं जिनका विस्तृत वर्णन प्रस्तुत प्रसंग में आवश्यक नहीं है । इस सम्बन्ध में संकेत रूप में- स्पर्श भक्ति,शरणागति भक्ति,कायिकी प्रपत्ति,वाचिकी प्रपत्ति ,मानसी प्रपत्ति,परा भक्ति,अनन्यभक्ति, आत्यंतिकी भक्ति,अव्यभिचारिणी भक्ति,निर्गुण भक्ति,प्रौढ़ा और नैष्ठिकी भक्ति,सिद्धाभक्ति,मुख्याभक्ति,निष्ठा और अहैतुकी भक्ति,[illegible] इत्यादि भक्ति रूपों का उल्लेख कर देना [illegible] है ।

दर्शन :

`दर्शन`शब्द को देखते ही तीन प्रकार के प्रश्न मन में उठते हैं । वे प्रश्न हैं-- हम क्या हैं ? कहां हैं ? हमारा क्या उद्देश्य है ? तथा हम किस प्रकार से उसकी प्राप्ति करें ?--इन तीनों प्रश्नों का सम्बन्ध क्रमश: एक दूसरे से इस प्रकार से जुड़ा हुआ है कि उनको पृथक् करना असंभव सा लगता है ।

अत: दर्शन के अन्तर्गत आत्मा,जीव,संसार,मोक्ष- इन चारों तथ्यों के विषय में ज्ञान प्राप्त करना होता है ।

दर्शन क्या है ? मनुष्य एक बुद्धिजीवी प्राणी है । पशुओं से मनुष्य इसी अर्थ में अलग है कि वह अपने जीवन में ज्ञान एवं विवेक से कार्य करता है । प्रत्येक मनुष्य का अपना पृथक् पृथक् उद्देश्य होता है ,उस उद्देश्य को पाना ही उसका दर्शन हो जाता है । यदि मानव ऐसा न करे तो वह पशुओं से जो की बुद्धिजीवी एवं विवेकशील नहीं होते उसी श्रेणी में गिना जाये । अत: मनुष्य पूर्ण रूपेण ज्ञानशील होने के कारण पशुओं से भिन्न है । प्रत्येक कार्य में विवेक-प्रधान जीव अपनी विचार शक्ति का उपयोग करता है । ज्ञान अज्ञान सभी परिस्थितियों में वह अपने विचार शक्ति का प्रयोग अवश्य ही करता रहता है यही उसकी विशेषता है ।दूसरी बात यह है कि मानव जीव दृश्य या अदृश्य जगत-विषयक कतिपय

श्रद्धाओं, विचारों तथा कल्पनाओं का समुदाय मात्र है । सांसारिक कार्यविधानों की आधारशिला मानवीय विचार ही है जो कि गीता के निम्न श्लोक से स्पष्ट होती है --

`यो यच्छ्रद्धः स एव सः`[१]

अर्थात् श्रद्धाओं के अनुरूप ही मनुष्य होता है, उसकी कार्यप्रणाली निश्चित होती है तथा उसी के अनुरूप उसे फल की उपलब्धि होती है । अतः जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है कि मानव जगत् अपने दर्शन के कारण ही पशु जगत से अलग हो जाता है । दूसरी विशेषता मानव जगत की यह है कि वह धर्म धारण करने वाला वस्तु समुदाय होता है जो कि वह उसका विवेक, उसका विचार या उसका दर्शन होताहै ।

दर्शन की परिभाषा--

`दृश्यते अनेन इति दर्शनम्` अर्थात् जिसके द्वारादेखा जाय । दर्शन का सत्भूत तात्विक स्वरूप इसके पूर्व बताया जा चुका है वह है -हम कौन हैं ? कहां से आये हैं ? इस जगत का सच्चा स्वरूप क्या है ? वह चेतन है अथवा अचेतन ? इस संसार में मानवजाति के कौन से कार्य तथा कर्तव्य हैं ? जीवन का अन्तिम उद्देश्य क्या है ? इत्यादि उपर्युक्त विभिन्न प्रश्नों का समुचित उत्तर देना दर्शन का कार्य है ।

भारतीय दर्शन संसार का सबसे प्राचीन दर्शन है । दूसरे शब्दों में दर्शन की उत्पत्ति भारत से ही हुई है । उपर्युक्त प्रश्नों के बारे में एक एक करके देखना है कि भक्तिकाल में आत्मा अथवा जीव, संसार अथवा माया, मुक्ति और दर्शन के विषय में भारतीय दार्शनिक व्यक्तियों का क्या विचार है ।

दर्शन तथा धर्मशास्त्र-

दर्शन को कई स्थानों पर `शास्त्र` भी कहा गया है । `शास्त्र` की उत्पत्ति निम्न-लिखित श्लोक से इस प्रकार बतायी गयी है --

---

१- गीता १७।३

'शासनात् शंसनात् शास्त्रं शास्त्रमित्यभिधीयते ।

शासनं द्विविधं प्रोक्तं शास्त्र लक्षणवेदिभिः।

शंसनं भूतवस्त्वेकविषयं न क्रियापरम् ।'

अतः 'शास्त्र' शब्द की उत्पत्ति दो धातुओं से हुई है । प्रथम 'शास्' जिसका अर्थ है 'आज्ञा करना', दूसरा 'शंस्' जिसका अर्थ है 'प्रकट करना' या वर्णन करना। शासन करने वाले शास्त्र विधिरूप तथा निषेध रूप होने से दो प्रकार के होते हैं । पहला अनुष्ठान योग्य द्वितीय निन्दित अथवा हेय ।अनुष्ठान योग्य शास्त्र में श्रुति तथा स्मृति प्रतिपादित कार्य अनुष्ठान अथवा विधि करने योग्य होते हैं। द्वितीय प्रकार का शासन शास्त्र जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है कि निन्दित कर्म-कलाप सर्वथा हेय अथवा निन्दनीय है ।इस प्रकार शासन के अर्थ में 'शास्त्र' शब्द का प्रयोग धर्मशास्त्र के लिए उपयुक्त है । अतः शंसक शास्त्र और बोधक शास्त्र वह है जिसके द्वारा वस्तु के ~~वास्तव~~ सच्चे स्वरूप का वर्णन किया जाय । इस प्रकार शासन शास्त्र क्रिया परक होता है ,और शंसक -शास्त्र ज्ञान परक शंसक शास्त्र के अर्थ में ही शास्त्र का प्रयोग 'दर्शन' शब्द के साथ होता है ।

धर्मशास्त्र एवं दर्शनशास्त्र में अन्तर-

धर्मशास्त्र के अन्तर्गत मनुष्य अपने कर्तव्य को विशेष रूप से प्रधानता रखता है । अतः धर्मशास्त्र 'पुरुषतन्त्र' है । परन्तु दर्शनशास्त्र संसार से परे अलौकिक वस्तु का आभास कराता है अतः वस्तुस्वरूप के प्रतिपादक होने से दर्शनशास्त्र 'वस्तुतन्त्र' है ।

भारतीय-दर्शन की विशेषताएं-

इसके पूर्व यह स्पष्ट हो चुका है कि भारतीयदर्शन संसार के समस्त दर्शनों से अत्यन्त प्राचीन है दर्शन है । पश्चिमी विचारशास्त्र के सबसे प्राचीन यूनानी दार्शनिक अफलातूं(प्लेटो)के विचारों से 'दर्शन का उद्गम आश्चर्य से होता है' इस प्रकार प्राच्य दर्शनों के अनुसार आश्चर्यजनक तथा कौतुकमय घटना की व्याख्या से विचारशास्त्र की उत्पत्ति होती है । परन्तु भारतीय दर्शन में विचारशास्त्र की उत्पत्ति दुःख की व्यावहारिक सत्ता की व्याख्या तथा उसके निराकरण

करने के लिए साधनमार्ग की विवेचना से होती है । इसलिए भारतीय दर्शन का धर्म के ऊपर इतना प्रकृष्ट प्रभाव उत्पन्न करने के कारण ही दर्शन की इतनी लोकप्रियता है । यही कारण है कि भारतीय दर्शन संसार के समस्त दर्शनों में अत्यधिक लोकप्रिय बन गया है । पाश्चात्य देशों में दर्शनशास्त्र दार्शनिकों के मनोविनोद का साधनमात्र ही है अन्य विषयों की भांति ही इस विषय में भी वे मनमानी कल्पना करते रहते हैं । परन्तु भारतीय दर्शन में दर्शन तथा धर्म का, तत्वज्ञान तथा भारतीय जीवन का गहरा सम्बन्ध है । त्रिविध ताप से संतप्त मानव के उद्धार के लिए क्लेशमय संसार से छुटकारा पाने के लिए ही भारत में दर्शन शास्त्र का आविर्भाव हुआ है । दर्शनशास्त्र के द्वारा सुचिन्तित आध्यात्मिक (Spiritual in nature) तथ्यों के ऊपर ही भारतीय धर्म की दृढ़ प्रतिष्ठा है । भारतीय दर्शन में जिस प्रकार का विचार होता है उसी प्रकार आचार भी होता है । यह सत्य है कि बिना धार्मिक आचार के द्वारा कार्यान्वित हुए दर्शन की स्थिति निष्फल है और बिना दार्शनिक विचार के द्वारा परिपुष्ट हुए धर्म की सत्ता अशोभनीय तथा कुछ भी नहीं है । इन दोनों का सामंजस्य जितना भारतीय दर्शन में दिखाई पड़ता है उतना पाश्चात्य दर्शनों में नहीं मिलता।

भारतीय दर्शन काल--

मुख्य एवं संक्षिप्त रूप से भारतीय दर्शन को चार प्रमुख कालों में विभक्त करें तो अतिशयोक्ति नहीं होगी । वे चार काल निम्न हैं --

(१) पूर्ववैदिक काल
(२) उत्तर वैदिक काल
(३) दर्शन काल अथवा सूत्रकाल
(४) वृत्तिकाल ।

(१) पूर्ववैदिककाल- यह काल भारतीय दर्शन काल का सबसे महत्वपूर्ण काल है । इस काल में भारतीय दर्शनशास्त्र का जन्म एवं पूर्णरूपेण विकास पाया जाता है । इस युग का महत्वपूर्ण ग्रन्थ ऋग्वेद एवं अथर्ववेद है । ऋग्वेदीय तथा अथर्ववेदीय संहिताओं में संकेतित तत्वों का विस्तार ब्राह्मण तथा आरण्यकों से होता हुआ उपनिषदों में सम्पन्न हुआ है । इन दोनों ग्रन्थों के अतिरिक्त इसी काल में उपनिषदों की रचना

भी हो गई थी । उपनिषद्कालीन दार्शनिकों के विचारों से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इन दार्शनिकों द्वारा परम तत्त्व का साक्षात्कार किया गया था ।

(२) उत्तरवैदिक काल--उपनिषद्काल में ही अनेक मतभेद होने लगे थे अतः यह काल विरोध का युग था । उपनिषदों के प्रभावशाली युग में इन विरोधियों की आवाज दबी थी परन्तु उस युग के बीतते ही इन विरोधियों ने अपने अपने मतों एवं विचारों को जनता के समक्ष लाना प्रारम्भ कर दिया । इन विरोधियों में आजीवक और चार्वाक् का प्रभाव थोड़े समय तक अधिक महत्वपूर्ण एवं व्यापक रूप से दिखाई पड़ता है परन्तु इन दोनों के अतिरिक्त जैन तथा बौद्ध दर्शनों ने अपना प्रभाव इतना जमा लिया कि आगे चल कर आने वाले दर्शनकाल में ब्राह्मण दार्शनिकों से सदैव विरोध करते रहे और उन्हें अपने विचारों एवं तर्कों से उनको परास्त करते रहे । निष्कर्ष यह हुआ कि साधारण जनता में जैन और बौद्ध दर्शन अत्यधिक जनप्रिय बन बैठा।

(३) दर्शनकाल अथवा सूत्रकाल- दर्शन अथवा सूत्रकाल में न्याय,वैशेषिक,सांख्य तथा योग,मीमांसा और वेदान्त दर्शनों के सूत्रों की रचना पाई जाती है । आदिम् उत्तरवैदिक काल में उपनिषदों की रचना हो चुकी थी । उन्हीं उपनिषदों में से बताये तथ्यों को ग्रहण कर दार्शनिकों ने इस सूत्रकाल में अपने विभिन्न मतों की स्थापना की।सूत्रकाल से यह तात्पर्य नहीं है कि इसी काल में ही केवल सूत्रों की रचना प्रारम्भ हुई है बल्कि ये सूत्र अनेक शताब्दियों की अविच्छिन्न परम्परा के फलस्वरूप हैं । सूत्रों के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि सूत्रों में पारस्परिक निर्देश उपलब्ध होते हैं ।वेदान्त सूत्रों[१] में मीमांसा का उल्लेख है । न्यायसूत्र वैशेषिक सूत्रों से परिचित है । सांख्यसूत्र[२] अन्य दर्शनों के सिद्धान्त का निर्देशन करता है । इस प्रकार विद्वानों ने इन सूत्रों का निर्माणकाल लगभग ४०० विक्रम पूर्व से २०० विक्रम पूर्व तक निर्धारित किया है ।

१- वेदान्त सूत्र ३।४।१८

२- सांख्य सूत्र-पंचमाध्याय

(४) वृत्तिकाल-(विक्रमी ३०० से विक्रमी १५०० तक) सूत्रकाल में सूत्रों की रचना प्रचुर मात्रा में हुई थी । ये सूत्र अत्यन्त स्वल्प एवं निगढ़ है कि इनका अर्थ समझना या निकालना बहुत ही कठिन था । इस कारण गढ़ार्थ को समझने के लिए वृत्ति की सहायता आवश्यक हो गयी है । अतः इस युग में नाना प्रकार के भाष्य वार्तिक तथा टीका ग्रन्थों की रचनाएं हुई हैं । शबर तथा कुमारिल, वात्स्यायन तथा प्रशस्तपाद, शंकर, रामानुज, वाचस्पति तथा उद्यन आदि टीकाकार इसी युग की देन हैं । यद्यपि ये विद्वान टीकाकार थे लेकिन उनकी रचनाओं की मौलिकता अन्य कालों से कुछ कम नहीं है । नकी रचनाएं पूर्णरूपेण मौलिक तथा प्रभावित हैं । इनकी रचनाओं से प्राचीन आचार्यों के सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण ही नहीं होता बल्कि वे अपने स्वतंत्र मत की स्थापना कर के तत्द् दर्शनों के सिद्धान्तों को विकसित करने वाले हैं ।

वैदिककाल का दार्शनिक दृष्टिकोण-

वैदिककाल में दर्शन के क्षेत्र में दो प्रमुख प्रवृत्तियां मिलती हैं --

(१) प्रज्ञामूलक

(२) तर्क मूलक

प्रथम यह लिखा जा चुका है कि भारतीय दर्शन संसार के समस्त दर्शन से अत्यन्त प्राचीन है । दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि दर्शन की उत्पत्ति भारत-वर्ष से ही हुई है । 'सत्य' की खोज में भारतीय विद्वान अत्यन्त प्राचीनकाल से ही लगे हुए हैं । 'सत्' की उपलब्धि के विविध मार्गों को जिस सूक्ष्मता एवं गंभीरता से इन भारतीय विद्वानों ने खोज निकाला है वह वास्तव में अद्भुत वस्तु एवं अमूल्य निधि है ।

भारतीय दर्शन को पढ़ने से यह ज्ञात होता है कि ऋग्वेद के अत्यन्त प्राचीन युग से ही भारतीय विचारों में उपर्युक्त दो प्रवृत्तियां प्रमुख रूप से थीं । यहां पर इन दोनों मूल प्रवृत्तियों का संक्षेप में वर्णन करना अनुचित न होगा।

प्रज्ञामूलक (Intuitionistic) कुछ विद्वानों ने इसको प्रतिभामूलक प्रवृत्ति की भी संज्ञा दी है । यह वह प्रवृत्ति है जो बाह्य इंद्रियों द्वारा तत्वों के विवेचन में प्रवृत्त होती है ।

तर्कमूलक -- (Rationalistic)यह वह प्रवृत्ति है जो तत्वों की [illegible] के लिए तर्क या तार्किक बुद्धि का प्रयोग करती है ।

भारतीय दर्शन का आधार-- भारतीय दर्शन का काल विभाग पहले अनुच्छेदों में किया जा चुका है । संक्षिप्त रूप से भारतीय दर्शन को चार भागों में विभाजित किया गया है । भारतीय दर्शन में असमानता होते हुए भी इस दर्शन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि सभी दार्शनिकों के विचारों में असमानता होते हुए भी [illegible] समानता पायी जाती है । यह तो सत्य ही है कि किसी भी देश के धार्मिक तथा सांस्कृतिक वातावरण का प्रभाव विचारशास्त्र कीविभिन्न धाराओं पर पड़ता है । अत: उस देश के विभिन्न विचारशास्त्रियों में से ऊपर विचारगत पृथकता होने पर भी उस देश का वातावरण समान होने के कारण उनमें मतों में अनेक समान भाव दृष्टिगोचर होते हैं । इसी कारण भारतीय दार्शनिक विचारों में विभिन्नता होतेहुए भी एकता पाई जाती है ।

भारतीय दर्शन निम्न बातों में समानता रखती है --

(१) व्यावहारिक उद्देश्य

(२) वाह्य जगत से असंतोष

(३) नैतिक व्यवस्था में विश्वास

(४) कर्म सिद्धान्त ।

(५) अविद्या के कारण बन्धन एवं विद्या द्वारा मुक्ति ।

(६) मोक्ष ।

(१)व्यावहारिक उद्देश्य- समस्त भारतीय दर्शन का प्रथम एवं मुख्य उद्देश्य संकटाग्रसित प्राणियों को विपत्ति से सदा के लिए मुक्ति प्राप्त करा देना है । उनका उद्देश्य केवल मानसिक चमत्कार का निष्क्रमण करना ही नहीं बल्कि इस प्रकार का जीवन व्यतीत करना सीखना है जो राग द्वेष के बन्धनों से छुटकारा पाकर आदरणीय और चिन्ता-हीन जीवन व्यतीतकरें ।

वाह्य जगत् से असन्तोष- यह अटूट सत्य है कि भारतीय दर्शन वर्तमान वाह्य जगत तथा सांसारिक जीवन के प्रत्याशित असन्तोष के ऊपर आधारित है । वर्तमान से असन्तोष, दिन प्रति दिन की दु:खद घटनाओं से आध्यात्मिक नैराश्य,विचार-शास्त्र का पिता अथवा आविष्कारकर्ता होता है । इस दु:खद वाह्य जगत् से असंतोष

हुये बिना सुखमय भविष्य की कल्पना करना अत्यन्त कठिन कार्य है। दुख के पश्चात् सुख का आना अनिवार्य है तथा जीवन चक्र है ।अत: भारतीय दार्शनिकों ने भारतीय दर्शन को नैराश्यवाद के कलंक से बचाते हुये स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि यह भारतीय नैराश्यवाद आरम्भिक है आवसानिक नहीं । बौद्ध दर्शन में भी बुद्ध ने निरतिशय गाढ़ समाधि के बल पर जिन चार `आर्यसत्यों` की खोज निकाला वे समग्र सम्प्रदाय में उसी प्रकार माननीय है ।व्यास ने अपने `व्यास-भाष्य` में एक स्थल पर बताया है--

" यथा चिकित्साशास्त्रं चतुर्व्यूहम्- रोगोरोगहेतु: आरोग्यं भैषज्यमिति । एवमिदमपि शास्त्रं चतुर्व्यूहम् ।तद् यथा संसार? संसारहेतु: मोक्षो मोक्षो-मोक्षो इति ।[१]

जिस प्रकार चिकित्साशास्त्र रोग , रोग-निदान,आरोग्य, तथा भैषज्य- इन चार तथ्यों के यथार्थ निरूपण में प्रवृत्त होता है, उसी प्रकार अध्यात्मशास्त्र, अथवा भारतीय दर्शन भी इस काल के कार्यकलाप पर दृष्टिपात करने पर, इस निश्चय पर पहुंचता है कि यह संसार एकदम से दु:खमय है, दु:ख ही परम सत्य भूत पदार्थ है । योग सूत्र के निम्न सूत्र में भी उपर्युक्त भाव का स्पष्ट विवेचन किया गया है -" दु:खमेव सर्वं विवेकिन: । हेयं दु:खमनागतम् ।[२]" अर्थात यह संसार नितान्त दुखमय है । दु:ख ही परम सत्य-भूत पदार्थ है । यह प्रथम सत्य है । इसके बादअनुसार दूसरा सत्य इस दुख का कारण द्रष्टा तथा दृश्य का संयोग है ।[३]तीसरा सत्य यह है कि इस दु:ख को रोकना है और चतुर्थ तथा अन्तिम सत्य इस निरोध के मार्ग की व्याख्या करने में है । सांख्य कारिका के आरम्भ में भी बिल्कुल इसी बात को बताया है ।

इस प्रकार भारतीय दर्शन के प्रत्येक सम्प्रदाय में वर्तमान दशा से असंतोष प्रकट कर उसके सुधारने की प्रवृत्ति पाई जाती है ।

१- व्यासभाष्य ,२।१५ ।

२- योग सूत्र २।१५,१६ ।

३- (यो० सू० २। १७)

नैतिक व्यवस्था में विश्वास :-

भारतीयदर्शन के ऋग्वेद में 'ऋत' शब्द का प्रयोग बारम्बार आया है । ऋग्वेद के ऋषियों ने जगत के अपरिवर्तनीय नैतिक व्यवस्था अर्थात् दिन के पश्चात् रात्रि का आना, नित्य प्रात:काल सूर्य का निकलना तथा समस्त अन्धकार सूर्य की सुवर्णमय किरणों द्वारा उज्ज्वल होना, रात्रि के समय रजतरश्मियों को बिखेरने वाला चन्द्रमा का आगमन, तथा क्रमश: वृद्धि और ह्रास इत्यादि प्राकृतिक दृश्यों को सदैव सूक्ष्म दृष्टि से निरीक्षण करने वाले वैदिक ऋषियों के हृदय में यह विश्वास स्वाभाविक रूप से उत्पन्न हो गया कि इस जगत् के मूल में किसी की व्यवस्था का सिद्धान्त काम रहा है ।अत: इन ऋषियों ने 'ऋत्'इस अपरिवर्तनीय नैतिक व्यवस्था को कहा है ।ऋग्वेद के ऋषियों के मतानुसार इस संसार अथवा जगत में सबसे प्रथम उत्पन्न होने वाला यही 'ऋत्' ही है जो कि निम्नांकित श्लोक से स्पष्ट हो जाता है-

' ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत ।'[1]

इन ऋषियों के अनुसार ऋत् की उत्पत्ति पहले हुई,उसके पश्चात् सत्य आया।

कर्मसिद्धान्त :-

समस्त भारतीय दर्शन में कर्म सिद्धान्त का सारांश यह है कि इस संसार अथवा जगत में यदृच्छा के लिए कोई भी स्थान नहीं,सर्वत्र नैतिक सुव्यवस्था का शासन है । इस नैतिक सुव्यवस्था का मूल कारण यही कर्मसिद्धान्त ही है । दूसरे शब्दों में कर्म की नैतिक व्यवस्था का तात्पर्य इन समस्त भारतीय दार्शनिकों ने यह बताया है कि जो कुछ भी कार्य इस बाह्य जगत में प्राणी करता है उसका फल अवश्य उत्पन्न होता है, उसका नाश कभी भी नहीं होता । पूर्वजन्म के कर्मों का ही फल प्राणी इस वर्तमान जगत में भोगता है ।

' पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पाप: पापेनेति ।'[2]

१- (ऋ०वे०१०।१९०।१)

२- बृह०उप० ३।२।१३

अर्थात् कर्म सिद्धान्त के अंगीकार करने से मनुष्य के आन्तरिक शक्तियों के विकास के लिए उसे उचित अवसर मिलता है । इस प्रकार कर्म-सिद्धान्त की उत्पत्ति उपनिषद् काल में हुई थी । आगे चल कर जैन तथा बौद्ध दर्शनों ने इस सिद्धान्त को वहीं से लिया है ।

अविद्या अथवा पराशक्ति से बन्धन और
विद्या अथवा पराशक्ति से मुक्ति :-

अविद्या के कारण ही प्राणी इस सांसारिक माया जाल में फंसा रहता है । माया में लिप्त होने के कारण अविद्या के ही है ।जन्म मरण से मुक्ति न पाने का मुख्य कारण अविद्या ही है । इस सिद्धान्त को तथा तथ्य को भारतीय दर्शन के सभी सम्प्रदाय एकमत से स्वीकार करते हैं । योग सूत्रों में एक स्थल पर बताया गया है --

`अनित्याशुचि दुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या।`[१]

अनित्य,अशुचि,दुःख तथा अनात्मा को क्रमशः नित्य,शुचि,सुख तथा आत्मा मान बैठना अविद्या कहलाता है ।

इस अविद्या के कारण ही प्राणी इस संसार अथवा जगत में काम, मोह, राग,द्वेष तथा दुःखों में भूला रहता है।

समस्त दार्शनिक`ज्ञान`(विद्या)की सहायता से इस अविद्या को दूर करने का उपाय बताते हैं ।`ज्ञान` अथवा विद्या द्वारा ही यह अविद्या दूर हो सकती है अब`ज्ञान`(विद्या) कैसे प्राप्त हो,उसके लिए नाना प्रकार के युक्तियों को बताया है ।`ज्ञान`अथवा विद्या द्वारा ही`मुक्ति`मिल सकती है `ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः` --यह औपनिषद् सिद्धान्त सभी दार्शनिकों को मान्य है ।

मोक्ष :-

जैन,बौद्ध तथा वेदान्त आदि षड्दर्शनों में`मोक्ष` को `जीवन्मुक्ति` की संज्ञा दी गयी है । इन दर्शनों के अनुसार जीवन का अन्तिम अथवा चरम लक्ष्य जीवन्मुक्ति है । विशिष्टाद्वैत आदि वैष्णव दर्शनों में भी यद्यपि जीवन्मुक्ति का

१- यो० सू० २।५

आदर्श माननीय नहीं है तथापि तत्वज्ञान के साधन से आत्मा ऐसी उन्नत अवस्था में पहुंच जाती है जिसमें जीवन का उद्देश्य ही साधारण कोटि से बदल कर एक महत्वपूर्ण वैशिष्ट्य प्राप्त कर लेता है । जीवन्मुक्ति का आदर्श उपनिषदों की बहुमूल्य देन है ।

धर्म और दर्शन का सम्बन्ध:- धर्म और दर्शन का अभिन्न सम्बन्ध दर्शन और विज्ञान की भांति नहीं है । अपितु दर्शन और धर्म में बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है । दर्शन और विज्ञान का सम्बन्ध इससे कुछ भिन्न है । दर्शन संसार के पूर्णविशेषण एकत्व को समझने का प्रयास करता है । विज्ञान उतना नहीं परन्तु धर्म पूर्ण एकता को जानने का प्रयत्न करता है । दर्शन संसार को बांधने वाले एकता सूत्र को जान कर , हम लोगों के विचारों द्वारा उसे समझाने के ध्येय की ओर ले जाता है । धर्म संसार और व्यक्ति के बीच वास्तविकता एकता और सामंजस्य लाता है । धर्म द्वारा हम विश्व में अपने आप को संतुलित तथा विश्व को अपने से संतुलित करने की दिशा में बढ़ते है । इसका सम्बन्ध ईश्वरीय ज्ञान जानने की ओर उतना नहीं है जितना कि ईश्वरीय कृपा पाकर उससे आत्मीयता बढ़ाने की ओर ।

बहुत से धर्म हमारे सम्मुख लम्बे सिद्धान्तों द्वारा संसार, सृष्टि, रचना एवम् अंत के सम्बन्ध प्रस्तुत करते है परन्तु धार्मिक रुचि का केन्द्र ऐसे ज्ञान प्राप्त की ओर नहीं वरन् हमारे उनके क्या सम्बन्ध है इसकी ओर है । अतएव धर्म ईश्वरीय ज्ञान को पहले मान लेता है, परन्तु वह उसकी रुचि का केन्द्र नहीं होता वह केवल ईश्वर की पूजा या उसके द्वारा रक्षा पाने की ओर होता है ।

क्या ब्रह्मांड से मित्रता सम्भव है ? व इस शीर्षक का एक लेख प्रोफेसर लैंड ने लिखा है । यह परीक्षा में एक धार्मिक प्रश्न है । ब्रह्मांड को आत्मीय बनाना धर्म के उद्देश्यों में से एक है । पूर्व सभ्यता के समय का आदमी ऐसा विश्वास करता था कि वह अपने विरोधी शत्रुओं को से घिरा हुआ है, जिन पर वह शासन नहीं कर सकता जैसे सूर्य, समुद्र, हवायें,तूफान ,बिजली तथा महामारी जैसे रोग बलिदान प्रार्थना द्वारा वह इन शक्तियों को आत्मीय बनाने का प्रयत्न करता था । धर्म के प्रभाव में विश्व अनुदार तथा परोपकारी भावनाओं से भरे मनुष्यों से

सम्बन्धित हुआ, ऐसे व्यक्ति जो पारस्परिक सम्बन्धों में सहानुभूति पूर्ण थे तथा पूजा, आज्ञापालन एवं प्रतिष्ठा द्वारा एक दूसरे की रक्षा करते मे समर्थ है ।

इस प्रकार दर्शनशास्त्री यदि समाज-व्यवस्था में रुचि दिखलाते है तो उसका तात्पर्य यह था कि व्यक्ति की आध्यात्मिक प्रगति के लिए उपयुक्त वातावरण और परिस्थितियाँ उत्पन्न कर दी जांय किन्तु धर्म द्वारा उन स्वार्थवृत्तियों के उन्मूलन तथा निम्न प्रवृत्तियों के शोधन द्वारा आत्म-शुद्धि करना है ।" धर्म द्वारा उस असीम शक्ति में विश्वास उत्पन्न होता है । धर्म से भक्त उस अज्ञातशक्ति के साथ सामंजस्यपूर्ण संबंध स्थापित करता है । इसके द्वारा ही वह उस अज्ञात अदृश्य शक्ति को पाने का प्रयत्न करता है । इस प्रकार धर्म दर्शन का क्रियात्मक अर्थ मार्ग है । धर्म ईश्वर के प्रति श्रद्धा की भावना जागृत करता है ।"[1]

"बिना धार्मिक आचार के द्वारा कार्यान्वित हुए दर्शन की स्थिति निष्फल है ।"[2]

इस प्रकार धर्म द्वारा ईश्वर से श्रद्धा एवं प्रेम का सम्बन्ध स्थापित होता है, दूसरे शब्दों में उस असीम को पाने के लिए धर्म ही एकमात्र मार्ग है । इमरसन् ने कई स्थलों पर यह कहा है कि "मैं अपूर्ण हूं" अत: उसे पूर्ण बनाने के लिए पूजा करता हूं" इस प्रकार धर्म वह आन्तरिक भावना है जिससे उस असीम के प्रति अनुराग पैदा होता है । धर्म द्वारा व्यक्ति साधारण स्तर से असाधारण स्तर पर पहुंच जाता है । भक्त भक्ति द्वारा जगत के समस्त मायावी वस्तुओं को छोड़ कर उस असीम शक्ति के विषय में दिन रात सोचता रहता है ।

दर्शन सदैव किसी वस्तु के खोज करने में संलग्न रहता है । उस वस्तु को पाने के लिए उपाय ढूंढता है, तथा नाना प्रकार के प्रश्नों का उत्तर ढूंढने में लीन रहती है । ईश्वर क्या है ? जगत् क्या है ? माया क्या है ? माया कैसे उत्पन्न

१-इन्ट्रोडक्शन टु फिलासफी, जी.टी.डब्लू पैट्रिक, पेज ३७

२-"भारतीय दर्शन" पं० बलदेव उपाध्याय, तृतीय सं०, पृ० १२

हुई, तथा मोक्ष कैसे मिले इत्यादि अनेक दार्शनिक तथ्यों का पता दर्शन करता है। धर्म, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है उस वस्तु को, जो दर्शन ने खोज निकाला है, साधन तथा मार्ग ढूंढती है जिससे व्यक्ति उस मार्ग पर चल कर वस्तु की प्राप्ति कर ले। अतः दर्शन सैद्धान्तिक है तथा धर्म उसका प्रयोगात्मक अथवा क्रियात्मक रूप है। इस कथन को स्पष्ट करते हुए एक स्थल पर कहा गया है कि शुष्क तार्किक युक्तियों के सहारे आत्मा का ज्ञान परोक्ष न होकर अपरोक्ष होना चाहिए।[१]

" दर्शन के अन्तर्गत दृश्यमान जगत का निर्माण करने वाली क्रियायें न आकर आन्तरिक जीवन की सृष्टि करने वाली क्रियायें आती हैं। इसीलिए दर्शन को पर्याय स्वरूप आत्मज्ञान की संज्ञा दी जाती है।"[२]

धर्म और दर्शन में अन्तर -

संसार के समस्त दार्शनिक इस बात से पूर्णरूपेण सहमत हैं कि धर्म अथवा भक्ति और दर्शन का सम्बन्ध एक अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। दर्शन के बिना भक्ति अथवा धर्म के बिना दर्शन की कल्पना करना असम्भव है। दर्शन एक प्रकार से समस्त ब्रह्मांड को अथवा समस्त अनुभव जगत को एक साथ देखता है। परोक्ष अपरोक्ष शक्तियों के बारे में विचार करता है। दार्शनिक की रुचि उन अनुभवों तथा क्रियाओं में होती है जिनमें मूल्य निहित रहते हैं। दर्शन अस्तित्व अथवा सत्ता के ऐसे रूपों को खोज करता है जिसे अनन्त मूल्य का सृष्टा माना जा सके। दर्शन की दृष्टि मनुष्य की सौन्दर्यमूलक नैतिक तथा आध्यात्मिक संभावनाओं की ओर होती है। अतः दार्शनिक के उस आन्तरिक बिकलता की देन है जो एक उच्च कोटि के मस्तिष्क और कल्पना में निहित होती है उन व्यक्तियों में जो अपने को विश्व की सम्पूर्णता से सम्बन्धित करना चाहती है। इस प्रकार दर्शन द्वारा व्यक्ति जीवन से उठ कर विचार पर पहुंचता है और विचार से पुनः

१- पं० बलदेव उपाध्याय, 'भारतीय दर्शन', पृ० १६

२- डा० केशनीप्रसाद चौरसिया, 'मध्यकालीन हिन्दी सन्त विचार और साधना, पृ० ७६

जीवन पर लौट आता है । यह एक ऐसी क्रमिक समृद्धि है जो परम सत्ता के सतत् ऊर्ध्वगामी धरातलों तक पहुंचाती रहती है ।

अत: दर्शन उस परोक्ष और अपरोक्ष वस्तुओं पर विचार करता है तथा धर्म उस अपरोक्ष शक्तियों को पाने के लिए मार्ग बताता है । दर्शन का रूप अव्यवहारिक है लेकिन धर्म का रूप व्यवहारिक ।

धर्म और दर्शन का समन्वय :-

कर्म क्षेत्र में दोनों भावनाओं को अर्थात् धर्म और दर्शन दोनों को साथ लेकर चलना पड़ता है । उस असीम सत्ता के विषय में जानने के लिए दर्शन द्वारा प्रेरणा तथा नाना प्रकार की वस्तुओं का ज्ञान होता है ।धर्म द्वारा उन वस्तुओं को पाने का प्रयत्न व्यक्ति करता है । ब्रह्म का साक्षात्कार करने के लिए आत्मा को पहचानना और उसका साक्षात्कार करना अत्यन्त आवश्यक है । याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को आध्यात्मिक उपदेश देते हुए 'बृहदारण्यकोपनिषद्' में एक स्थल पर कहा है कि 'पति के लिए पति प्यारा नहीं है बल्कि आत्मा के लिए । पत्नी के लिए पत्नी प्यारी नहीं है बल्कि आत्मा के लिए । पुत्र के लिए पुत्र प्यारा नहीं है बल्कि आत्मा के लिए ।इस प्रकार संसार की समस्त वस्तुएं अपने लिए प्यारी नहीं होती हैं बल्कि आत्मा के लिए । अत: आत्मा ही सबसे प्रिय वस्तु है । इसलिए हे मैत्रेयी, इस आत्मा का ही प्रत्यक्ष करना चाहिए । इसी का श्रवण करना चाहिए,मनन करना चाहिए, सतत् ध्यान करना चाहिए क्योंकि इसी के दर्शन से, श्रवण से, मनन से तथा विज्ञान से सब कुछ जाना जा सकता है ।'[१]

इस कथन से धर्म और दर्शन का समन्वय प्रत्यक्ष रूप से स्पष्ट हो जाता है । दर्शन आत्मा का ज्ञान कराने तथा परोक्ष अपरोक्ष वस्तुओं का ज्ञान कराता है तथा उस आत्मा का परमात्मा में मिलाने तथा सृष्टि की तथा अपरोक्ष की वस्तुओं को पाने के लिए धर्म तथा भक्ति के जो विभिन्न मार्ग हैं जैसे- मनन, चिन्तन , श्रवण इत्यादि मार्ग एवं साधन हैं । अत: धर्म अथवा भक्ति और

१-'आत्मा वा अरे द्रष्टव्य:, श्रोतव्यो,मन्तव्यो,निदिध्यासितव्य:।आत्मनो वा अरे दर्शनेन, श्रवणेन, मत्या,विज्ञानेनेदं सर्वं विदितं भवति।२।४।५

'बृहदारण्यकोपनिषद् २।४।५'

दर्शन का समन्वय बहुत ही गहरा है बिना दर्शन के भक्ति कैसी और बिना भक्ति के दर्शन निराधार तथा निष्फल है ।

अत: भक्ति का इतिहास हिन्दी साहित्य के इतिहास से भी प्राचीन है । सच तो यह है कि हिन्दी साहित्य के इतिहास के आदिकाल के बौद्ध, जैन तथा सिद्ध सम्प्रदायों में भक्ति का समावेश रहा है जिसने भक्ति के विकास में पर्याप्त योग दिया । अगले अध्याय में इन्हीं तीनों साधनाओं के अन्तर्गत उस धार्मिक भावना तथा भक्ति का विवेचन किया जायेगा जो भक्तिकाल में विशेष रूप से विकसित हुई ।

द्वितीय अध्याय

भक्ति-काल की पूर्व पीठिका

बौद्ध,सिद्ध एवं जैन साधना में भक्ति

प्रस्तुत प्रबन्ध की दृष्टि से भक्तिकाल की पूर्व पीठिका का उद्देश्य यही है कि बौद्ध,जैन एवं सिद्ध साधना में पाई जाने वाली धार्मिक भावना तथा भक्ति का वह स्वरूप पहचाना जा सके जो भक्तिकाल के लिए सहायक सिद्ध हुआ है ।

भारतीय समाज में नाना प्रकार के दार्शनिक मतों एवं धर्मों का विकास हो चुका था, उन समस्त दार्शनिक और धार्मिक साधना का प्रभाव आगे चल कर भक्ति-काल के साहित्य पर पड़ना असम्भव नहीं है ।

सत्य तो यह है कि भक्ति-काल का स्तम्भ इन्हीं बौद्ध,जैन एवं सिद्ध भक्ति साधना की नींव पर आधारित है । सातवीं,आठवीं शताब्दियों में पौराणिक धर्म का पुन: गठन होना प्रारम्भ हो गया था, उसी समय बौद्ध, जैन, शैव,सात्वत् पांचरात्र तथा भागवतमत की भी विचारधारा समाज में पूर्ण रूप से प्रचलित हो रही थी।इस प्रकार बौद्ध धर्म से महायान का विकास हुआ । महायान के विरति और विवेक सम्बन्धी तत्वों को शैव सम्प्रदाय ने अपनाया ,साथ ही साथ महायान के भक्ति तत्व को वैष्णव सम्प्रदाय ने ले लिया । बौद्ध धर्म ने अपने वैराग्य को सन्त कवियों के ऊपर सौंप दिया । अर्थात् दूसरे शब्दों में भक्तिकाल के संत कवियों ने अपनी बौद्ध धर्म की विरासत को अपना लिया । इस प्रकार विश्व-व्यापी बौद्ध धर्म का भक्तिकाल के आते-आते चिह्नमात्र भी न रहा लेकिन ऐसा प्रतीत होता है कि यह भक्तिकाल के रूप में परिवर्तित हो गया है । वैष्णवों के सहजिया सम्प्रदाय पर बौद्ध भक्ति का पूर्ण प्रभाव है । भक्तिकाल के सन्त कवि कबीर बुद्ध के पश्चात् हुए हैं । सन्त कबीर बुद्ध की भांति स्वतंत्र एवं मौलिक साधक हुए । बुद्ध ने भी स्थान-स्थान पर अपने उपदेशों में बताया है कि `यं मया सामे दिट्ठं वदामि` अर्थात् जो जो मैं स्वयं देखता हूं उसको मैं कहता हूं । ठीक बुद्ध की भांति भक्तिकाल में आकर सन्त कबीर ने भी अपने दोहों में बारम्बार कहा है कि ` मैं कहता हूं आंखिन देखी` ।

महायानी आचार्य यह कहा करते है कि `हम उस बुद्ध को नहीं मानते, जिसने शुद्धोदन के घर जन्म लिया था, जिसने तपस्या की थी, जिसने ज्ञान प्राप्त किया था, जिसने उपदेश दिया था। हमारे बुद्ध तो वे हैं जिनका कभी इस लोक में आना ही नहीं हुआ है जिन्होंने कभी कोई उपदेश ही नहीं दिया है। जो आए और जिन्होंने उपदेश दिया वे तो हमारे बुद्ध के माया निर्मित रूप हैं।[१]` संत कबीर ने भी एक स्थल पर अवतारवाद का खण्डन करते हुए कहा है—

`ना जसरथ घरि औतरि आवा, नां लंका का राव संतावा ।।
देवै कूख न औतरि आवा, ना जसवै लै गोद खिलावा ।।
ना वा ग्वालन कै संग फिरिया, गोबरधन लै न कर धरिया।।
बांवन होय नहीं बलि छलिया, धरनी वेद लैन उधरिया ।।

....

कहै कबीर विचार करि, ये ऊलै व्यौहार।
याहीं थैं जे अगम है सौ बरति रह्या संसारि।।[२]

निर्गुण सम्प्रदाय पर प्रभाव

कबीर का उक्त पद भी महायानी विचारों से ओतप्रोत है। कबीर भी कहते हैं कि `वह निर्गुण ब्रह्म न तो दशरथ के घर राम बन कर आया और न उसने लंका के रावण को ही संहारा, न वह देवकी के कृष्ण-रूप में उत्पन्न हुआ और न यशोदा की गोद ही में वह खेला कूदा। न वह ग्वालों के संग रहा और न उसने गोबर्धन ही उंगलियों पर उठाया। उसने न तो राजा बलि को बावनावतार धारण करके ठगा और न धरती का भार ही उतारा। ये सब बातें व्यवहार के लिए हैं, केवल कहने-सुनने के लिए ही हैं। इन सभी से जो परे है, अगम है, वही सकल विश्व में व्याप्त है।'

१- भरतसिंह उपाध्याय, बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, द्वितीय भाग, पृ०१०५२

२- कबीर ग्रन्थावली, बारहपदी रमैणी, पंचम संस्करण, संवत् २०११, पृ० २४३

कबीर के अतिरिक्त भक्तिकालीन साधना में नाथ पंथियों के चार सत्य सम्यक् दृष्टि, संकल्प, वचन, कर्मान्त बुद्ध के चार आर्य सत्य, दु:ख, दु:खसमुदाय, दु:ख निरोध, दु:खनिरोध मार्ग और अष्टांगिक मार्ग का ही परिवर्तित रूप है। सच तो यह है कि इन समस्त नाथपंथियों के जीवन-प्रणाली पर बुद्ध का विशेष प्रभाव पड़ा है। बुद्ध का जीवन और उनकी विचारें वरदान रूप में नाथ पंथियों को मिली हैं "उन्होंने सबके सामने एक नैतिक जीवन का ही आदर्श रखा। वे मोक्ष या निर्वाण को [illegible] ज्ञान या भगवत्कृपा पर निर्भर नहीं मानते थे, प्रत्युत उनके लिए नियमों की नित्यता ही सब कुछ थी और सदाचार का अनुशीलन ही उनके विचार से सबसे बढ़ कर श्रेयस्कर मार्ग था तथा उसी के द्वारा वे अमरत्व का होना भी निश्चित मानते थे[1]।"

सिद्ध साधना एवं भक्तिकाल

सिद्धों के वज्रयानियों का विकास काल लगभग ई० ८०० से ११७५ तक होता है और तत्पश्चात् इसका धीरे धीरे ह्रास होता गया किन्तु ह्रास के साथ ही उस दार्शनिक तत्वों को मध्यकालीन भक्तिकाल के संत सगुण एवं निर्गुण कवियों ने अपनी साधना का किसी न किसी रूप में माध्यम बनाया। बौद्ध धर्म के पश्चात् के वज्रयानी सम्प्रदाय ने अपने अन्तिम लक्ष्य को 'समरस' 'महासुख' आदि संज्ञाओं से सम्बोधित किया है। वज्रयानि दर्शन के अनुसार मुक्ति-भुक्ति प्राप्त करने का आवश्यक अंग है, अत: भुक्ति-(भोग) के साथ पुरुष और स्त्री के लौकिक सम्बन्ध जोड़ना आवश्यक है। बिना ~~मिल~~ स्त्री के पुरुष, और बिना पुरुष के स्त्री अपने में अपूर्ण है। पुरुष एवं स्त्री अपने में पूर्ण एवं इन दोनों का अस्तित्व तभी माना जायेगा जब ये दोनों साथ साथ रहें। पुरुष स्त्रीत्व से मिल कर पूर्णता को प्राप्त कर सकता है और स्त्री पुरुष तत्व को पाकर। इसी आन्तरिक पूर्णता के पाने के लिए दोनों तत्व व्याकुल

१- पं० परशुराम चतुर्वेदी, उत्तरी भारत की सन्त परम्परा, प्रथम सं० २००८ वि०, पृ० ३१

रहते हैं । बाह्य लौकिक रति दो विरोधी तत्वों को एकता की ओर ले जाती है । अत: वज्रयानि कहते हैं कि 'आन्तरिक एकता' प्राप्त करने के लिए बाह्य एकता की उपेक्षा नहीं की जा सकती । 'आन्तरिक एकता' से वज्रयानियों का अर्थ यह है कि मनुष्य के निर्माण में जिन तत्वों का प्रयोग हुआ है, उनमें स्त्रीत्व की कमी है । इसी प्रकार स्त्री के निर्माण में स्त्रीत्व तो रहता है पर उसे पुरुष तत्व की आवश्यकता है, अत: स्त्री पुरुष के पारस्परिक संतुलन से ही पूर्णता प्राप्त की जा सकती है । वज्रयानियों का यह लौकिक रति अन्तिम लक्ष्य नहीं है बल्कि अन्तिम लक्ष्य आन्तरिक एकता प्राप्त करना है । स्त्री पुरुष का बाह्य रति उस आन्तरिक एवं आध्यात्मिक रति में सहायता पहुंचाती है । स्त्री और पुरुष तत्व दोनों को पारस्परिक मिलन का अन्तिम तथा आन्तरिक लक्ष्य माना है ।

भक्तिकालीन सन्त कवि कबीर भगवान् का सान्निध्य प्राप्त करने के हेतु नानाप्रकार की कल्पना द्वारा मानवी सम्बन्धों का आरोप भगवान् और अपने बीच स्थापित करते हैं । कबीर के मतानुसार भगवान् और भक्त के बीच किसी भी प्रकार अन्तर उसे खलता है । लोक में प्राय: दो सम्बन्ध ऐसे हैं जिनमें प्रेम की चरम स्थिति देखी जाती है । वे दो सम्बन्ध हैं - स्त्री-पुरुष सम्बन्ध , अथवा दाम्पत्य-सम्बन्ध और वात्सल्य-सम्बन्ध । कबीर दर्शन में दोनों सम्बन्ध पाए जाते हैं । वर-वधू के वैवाहिक सम्बन्ध से दाम्पत्य-जीवन का सम्बन्ध स्थापित होता है । कबीर ने अपने को दुलहिन और भगवान को पति रूप में कल्पना करके दाम्पत्य सम्बन्ध का एक वर्णन प्रस्तुत किया -

' दुलहनीं गावहु मंगलचार,हम घरि आये हो राजा राम भरतार ।
तन रत करि मैं मन रत करिहूं,पंच तत बराती ।
राम देव मोरे पाहुने आये, मैं जोबन मैं माती[१] ।।'

१- कबीर ग्रन्थावली, बारहपदी , रमैणी , पृ० ८७

दाम्पत्य सम्बन्ध को प्रकट करने वाले इस प्रकार के वर्णन बहुत ही रोचक एवं सरस हैं लेकिन वज्रयानियों की भांति स्त्री-पुरुष के लौकिक सम्बन्ध प्रदर्शित तो करते हैं लेकिन इस प्रकार के लौकिक वर्णन पारलौकिक सम्बन्ध अत्यधिक निकट है। कबीर और सहजयान के दर्शन को देखने से यह प्रतीत होता है कि संत कवियों ने सहजयानी से `स्त्री-पुरुष` का `प्रेम` को आधार माना है किन्तु संत कवियों ने सहज से एक पग और भी आगे बढ़े प्रतीत होते हैं। सहजयानियों के अनुसार स्त्री पुरुष की काया, उनके प्रेम के द्वारा उस अलौकिकता को प्राप्त करते हैं। अतः उनके अनुसार माया प्रेम आदि वस्तुएं साध्यरूप में हैं किन्तु संत कवियों ने स्त्री पुरुष को प्राथमिकता न देकर साधन रूप में माना है साध्य तो केवल `प्रेम` है जिससे अलौकिकता प्राप्त हो सकती है। `पुरिष एक अविनासी`, `राम भरतार`, `पंचतत बराती` आदि विभिन्न शब्द अपनी पवित्रता तथा पारलौकिकता का परिचय देते हैं।

सिद्धों के वज्रयानी सम्प्रदाय में कुछ ऐसे साधक हैं जो अपनी साधना के `प्रतीकों` का अर्थ भोगपरक न लेकर आध्यात्मिकता से जोड़ते हैं और निःस्वार्थ भाव से अपनी भक्ति और साधना में लगे रहते हैं। वे अपनी साधना को `सहज` की संज्ञा देते हैं। वज्रयानियों का यह विचार था कि साधना इस प्रकार की होनी चाहिए जिससे साधक का चित्त क्षुब्ध न हो सके, क्योंकि विक्षुब्ध चित्त किसी भी प्रकार की सिद्धि नहीं कर सकता है। जिस प्रकार वे अपने प्रतीकों का अर्थ भोगपरक न लेकर आध्यात्मिक परक मानते हैं उसी प्रकार कबीर, तुलसी, सूर आदि भक्तिकालीन कवियों ने भी अपने समस्त प्रतीकों को आध्यात्मिकता से सम्बन्धित किया - माया, को नाना प्रकार के प्रतीकों से सुशोभित किया है— ठगनी माया, सर्पिणी माया, कुंवारी कन्या इत्यादि।

वज्रयानी साधकों ने `प्रज्ञा` तथा `उपाय` को केवल स्त्री पुरुष के रूप में ही नहीं माना अपितु उसे शक्ति और शिव के प्रतीक रूप में भी स्वीकार किया है। जो वस्तुएं ब्रह्माण्ड में हैं वही सब कुछ हमारे पिण्ड में है, संत कवियों ने इस दार्शनिक सिद्धान्त को इन्हीं वज्रयानियों से लिया है। वज्रयानी साधक भी सुषुम्ना के बांयी ओर की नाड़ी इड़ा को प्रज्ञा और दाहिनी ओर की नाड़ी पिंगला को

उपाय से सम्बन्धित कर दिया है । उन्होंने आध्यात्मिक साधना में सहायक नाड़ी सुषुम्ना को 'अवधूतिका' की संज्ञा दी है । जिसमें बोधिचित् नीचे से ऊपर को उठकर, क्रमश: निर्माणचक्र, धर्मचक्र एवं सम्भोग चक्र को पार करते हुए शीर्ष में स्थित कमल पर पहुंचता है और उसे वहां अनुपम आनन्द की प्राप्ति होती है । सिद्ध सम्प्रदाय के ह्रास के पश्चात् भक्तिकाल का उद्गम हुआ जिसमें विभिन्न सम्प्रदायों ने अपने पूर्व सम्प्रदायों के सिद्धान्तों को अपनाया, संत कबीर ने भी सिद्धों के अनुयायियों की भांति सुषुम्ना और इड़ा नाड़ियों द्वारा अनुपम आनन्द का अनुभव किया । उनके मतानुसार भी जो वस्तुएं ब्रह्माण्ड में हैं वही वस्तु यदि सत्य रूप से खोजा जाए तो मानव के पिण्ड में भी वर्तमान है— कबीर की कुंडलिनी योग व लययोग का वर्णन उनकी रचनाओं के अन्तर्गत जहां-तहां पाई जाती है । एक स्थल पर कबीर स्पष्ट रूप से कहते हैं कि –'प्राणायाम द्वारा पवन को उलट कर षट् चक्रों को बेधते हुए सुषुम्ना को भर दिया जिस कारण सूर्य व चन्द्र का संयोग होते ही सद्गुरु के कथनानुसार ब्रह्माग्नि भी प्रज्वलित हो गई और सारी कामनाएं, वासनाएं, अहंकार आदि जल कर भस्म हो गए।'[1] कबीर ने इड़ा, पिंगला तथा सुषुम्ना आदि नाड़ियों की खूब चर्चा की है वे इन नाड़ियों की स्थिति बताते हुए कहते हैं कि –

> ' अरध उरध की गंगा जमुनां, मूल कमल कौ घाट।
> षट चक्र की गागरि, त्रिवेणी संगम बाट ।।'[2]

'अनुपम आनन्द' की प्राप्ति वज्रयानी साधक करते हैं किन्तु कबीर अपनी कुंडलिनी योग साधना में 'अनहद-नाद' को सुनते हैं जिससे उन्हें अनुपम आनन्द की प्राप्ति होती है वे कहते हैं –

> ' उलटे पवन चक्र बेधा, मेर दंड भरपूरा ।
> गगन गरजि मन सुंनि समांनां, बाजै अनहद तूरा।।'[3]

१–'कबीर ग्रन्थावली' पद ७, पृ० ६०
२– वही पृ० ६४
३– वही पृ० ६५

कुण्डलिनी योग में जब उद्बुद्ध शक्ति इन किवाड़ों को खोलती है तो भांति -भांति के कौतूहलपूर्ण चमत्कार होते हैं -विद्युत् का चमकना,अनन्त प्रकाश का होना, अनन्त नाद,जलवर्षा,गर्जन,तर्जन आदि । योगी की जीवात्मा 'अस्पन्द' नाद में केन्द्रित हो जाती है और निज स्वरूप में अवस्थित हो जाती है ।

कुछ समय [illegible] वज्रयानी भावना का ह्रास होने लगा तथा उस सिद्ध सम्प्रदाय में ही वज्रयान से सहजयान का उद्भव हुआ । 'सहज' शब्द के दो अर्थ होते हैं - प्रथम अर्थ तो सहजयानियों ने 'अन्तिम सत्य' के लिए उपयोग किया है । दूसरा अर्थ 'सहज' के स्वाभाविक भी माना है । सह-गमन या काम अथवा जीवन की स्वाभाविक गति है, अत: सहज-मार्ग वह मार्ग है जो कामवासनाओं को यौगिक क्रिया में बदल कर सत्य प्राप्ति का सरल स्वाभाविक पथ बदलता है । सहजयानियों ने अपने पथ को राजमार्ग कहा है ।सहजयानी सम्प्रदाय के प्रमुख सिद्ध सरहपाद ने एक स्थल पर बताया है कि हे योगी, इस सरल मार्ग को छोड़ कर वक्र और अस्वाभाविक मार्ग की ओर मत जाओ । 'बोधि' तुम्हारे भीतर स्थित है, लंका जाने की राह सकता नहीं । हाथ कंगन को आरसी क्या ? स्वयं अपनी अनुभूति में डूब जाओ । यदि एक बार 'बोधि' प्राप्त हो जाय तो मन्त्र,तपस्या ,यज्ञ आदि सारी क्रियायें व्यर्थ हैं । इस प्रकार सहजयानी मार्ग वह मार्ग है जिसमें कुच्छता न हो,जिसमें संसार को छोड़ कर वन में जाकर हठयोग की क्रियाओं द्वारा शरीर को सुखाना न पड़े,जो मार्ग गृहस्थ का मार्ग हो, जिस मार्ग पर चल कर मनुष्य अपना दैनिक कार्य करता हुआ भी आध्यात्मिक प्रगति कर सके ।[१] भक्तिकाल के सन्तों की दृष्टि में भी सांसारिकता,स्वर्ग-भावना और बैकुंठ की वासना आदि उस चैतन्य आत्मोपलब्धि के मार्ग में बाधा डालने वाली है । जब सन्त लोकाचार के त्याग की बात करते हैं तो उसका अभिप्राय नैतिकता एवं सदाचार

१- सरहपाद ,दोहा कोश, पृ० १८

से न लगाकर ,उसके आधार स्वरूप रूढ़ियों के त्याग से लेना चाहिए, जिसके क्रोड़ में अनैतिकता का लालन-पालन होता है । सहजयानियों की भांति संत घर बार की माया छोड़ने, एकाकी रहने वाले को ही सिद्ध सम-झने ,गृहस्थ के ज्ञान को अमान्य ठहराने ,घर-बार एवं बन्धु -बान्धवों के छोड़ने आदि बातों का पालन साधन के लिए अनिवार्य नहीं मानते ।सन्त कवि घरबारी होकर भी` पूरे सूं परचा पाने` के लिए पूर्ण रू आश्वस्त है। वे तो`मन चंगा तो कठौती में गंगा` मानते है । यदि हृदय शुद्ध है एवं आत्मा-निर्मल है तो घर की कठौती में ही गंगा का पवित्र जल है । नाना प्रकार के आडम्बर करने से कुछ भी लाभ नहीं है । संत साधक सभी वस्तुओं में अपने प्रभु का निवास देखता है और प्राणी मात्र की कल्याण-कामना करता है । सहजयान में काया-साधना को विशेष महत्व प्रदान किया गया है । इस शरीर को ही उन्होंने सत्य-प्राप्ति का साधन माना है । सरहपाद ने बारंबार यह कहा है कि इसी देह में बुद्ध का वास है । इसी देह में सुरसरि, यमुना गंगासागर,प्रयाग और वाराणसी है । इसी में सूर्य,चन्द्र एवं समस्त धर्म तीर्थों का वास है । मनुष्य मूर्ख है जो इधर उधर भटकता रहता है । शरीर के समान सुख प्रदान करने वाला तीर्थ अन्य कहीं भी नहीं है ।

सहजयानियों ने इड़ा और पिंगला को प्रज्ञा तथा उपाय कहा है और सुषुम्ना या अवधूतिका सहज का मार्ग है । प्रज्ञा और उपाय अर्थात् इड़ा और पिंगला के मेल से बोधिचित्त की उत्पत्ति होती है । इसकी दो अवस्थाएं हैं- १- संवृत-विवृत ।संवृत विकृत अथवा सांसारिक स्थूल काम-भोग की परि-चायक है और विवृत पारमार्थिक सत्य की प्रतीक । अत: यह आवश्यक है कि बोधिचित्त को जगाकर सम्वृत सत्य की उपलब्धि की जाय और तत्प-श्चात् उसे पारमार्थिक सत्य में परिवर्तित कर दिया जाय । अत: सहजमार्ग में काम-भोग की साधना उस परम सत्य को पाने की साधनमात्र थी ।सरह-पाद ने अपने सहजयान की विशेषता बतलाते हुए कहा है कि जब नाद, बिन्दु, चन्द और सूरज मण्डलों का अस्तित्व नहीं है और चित्तराज भी

स्वभावत: मुक्त है तब फिर सरल मार्ग का परित्याग कर बहु० मार्ग ग्रहण करना कहाँ तक उचित कहा जा सकता है । इस प्रकार पं० परशुराम चतुर्वेदी ने एक स्थल पर स्पष्ट कह भी दिया है कि 'सहज मार्ग ग्रहण करने वाले के लिए,ऊंचा - नीचा ,बांया-दांया सभी एक भाव हो जाते हैं । इस मार्ग की प्रक्रिया चाहे सीधे चित्त-शुद्धि के ढंग से की जाय अथवा बोधिचित् एवं नैरात्मा के पारस्परिक मिलन व समरस के रूप में दोनों ही दशाओं में वह स्वयं वेदन अथवा एक प्रकार की स्वानुभूति ही कही जा सकती है[1] ।'

जैन धर्म ने मुख्यत: इन्द्रिय-निग्रह,संयमशील कठोर जीवन कर तथा मानवीय शक्तियों के विकास पर विशेष बल दिया और शुष्क आत्मदर्शन की अपेक्षा 'निर्वाण' अथवा 'अर्हंत' पद को प्राप्त करने के लिए विशेष प्रयत्नशील रहे । जैन धर्म का वर्णन करते हुए डा० रामकुमार वर्मा ने लिखा है- 'प्रत्येक जीव अपनी साधना से, अपने पौरुष से, परमात्मा हो सकता है । उसे उस परमात्मा से मिलने की आवश्यकता नहीं है । परमात्मा की भावना में तो केवल एक ऐसे आदर्श की कल्पना है जिसे प्रत्येक जीव अपने कार्यों से प्राप्त कर सकता है[2] ।'

' इस धर्म के सिद्धान्तों के अनुसार जीव का मूल स्वभाव शुद्ध -बुद्ध एवं सर्वज्ञ सच्चिदानन्दमय है किन्तु केवल पुद्गल या कर्म के आवरण से वह आच्छादित हो जाता है । अतएव जीव का प्रधान लक्ष्य अपने उक्त पौदगलिक भार को पूर्णत: हटा कर अपने को उच्चातिउच्च स्थिति तक पहुंचा देना है[3] ।'

सत्यता तो यह है कि जैनधर्म आचरणप्रधान है और उसमें आध्यात्मिक जीवन की ओर सबसे अधिक ध्यान दिया जाता है । जैनाचार की समस्त क्रियाओं का मूलाधार अहिंसा है । जैन धर्म जड़ पदार्थों में आत्मा की स्थिति मानता है

१- पं०परशुराम चतुर्वेदी,उत्तरीभारत की सन्त परम्परा,प्र०सं०२००८वि०,पृ०४७

२- डा० रामकुमार वर्मा,हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास,तृतीय संस्करण १९५४,पृ० सं० ६०-६१

३- पं० परशुराम चतुर्वेदी,उत्तरी भारत की सन्त परम्परा,प्र०सं०२००८वि०,पृ०४६

जैन धर्मानुसार जीव अपने कर्मों के अनुसार स्वयं ही वह अपने भाग्य का निर्माण करता है । शुभ-अशुभ कर्मों के अनुसार ही अच्छा बुरा उसका भाग्य होता है और सुख दु:ख को भोगता है । यहां तक कि वह अपने पुरुषार्थ बल एवं सदाचरण से परमतत्व को भी प्राप्त कर सकता है । जैन साधक कल्पना एवं अनुमान की अपेक्षा संसार की यथार्थता पर विश्वास करते हैं, अपने व्यवहार और कर्तव्य के द्वारा प्रत्येक जीव के प्रति दया का व्यवहार करना एवं अहिंसा को परम धर्म मानना जैनियों की साधना का मुख्य अंग है । जैन धर्म के अन्तर्गत मुख्यत: जैन धर्म दो सम्प्रदायों में विभक्त हो जाता है- श्वेताम्बर और दिगाम्बर। श्वेताम्बर सम्प्रदाय वाले श्वेतवस्त्र धारण करते हैं किन्तु दिगाम्बर साधु नग्न रहते हैं । आगे चल कर पूर्व भक्तिकाल में इसकी प्रतिक्रियात्मक प्रभाव आंशिक रूप में नाथ एवं वामपंथियों ने अपना लिया । कुछ समय पश्चात् ये जैन धर्मानुयायी पौराणिक प्रभाव में पड़ कर आत्मसाधना और आचरणशीलता को भुला कर यज्ञादि अनुष्ठान,तीर्थयात्रा,भेष-धारण,तीर्थंकरों की भक्ति,प्रतिमा पूजा आदि बाह्याचारों में उलझ से गये, उनमें से जो थोड़े बहुत साधक थे अपने उपदेशों से केवल सुधारवाद की प्रवृत्ति लेकर अवतरित हुए और पुन: आदर्श आध्यात्मिक जीवन की ओर जन साधारण का ध्यान आकृष्ट किया । लगभग आठवीं नवीं शताब्दी में एक जैन मरमी सन्त हुए । उन्होंने बाह्याडंबर का विरोध करते हुए चित्त शुद्धि पर जोर दिया । शरीर को ही समस्त साधनाओं का आधार माना और सामरस्य भाव-जिससे जीव पोद्गालिक भार को हटाकर शुद्ध-बुद्ध शिव हो जाता है—से तादात्म्य भाव स्थापित करने के लिए कहा। अन्त में बाह्याडम्बरों का विरोध कर उपदेश देने लगे कि देवता न तो देवालय में है,न पाषाण में,न चन्दनादिक सुगन्धित पदार्थों में , न चित्र में, वह तो यदि सच्चे रूप में देखा जाय तो अपने स्वयं अपने हृदय में विराजमान है । संत कवि भी 'निष्काम कर्म' पर विश्वास करते हैं । इनका संत 'परमभक्त' है परन्तु वह संन्यास लेकर वन में जाकर तपस्या नहीं करता । उनका संत तो गृहत्याग अथवा संसार के व्यवहार से दूर जंगल में चले जाने वालों को भी लौटा लाता है और सच्चे गृहस्थ -धर्म का पालन करने का उपदेश देता है । जैनियों की भांति ये संत भी

गृहस्थ जीवन एवं उसके मार्ग में रहता हुआ भी योगी होता है । इस संत के घर ही [illegible] है और मुक्ति में ही घर होता है । एक स्थल पर कबीर कहते हैं —

" अवधू भूले को घर लावै, जन हम कू भावै ।
घर में जोग भोग घर ही में, घर तजि [illegible] वन नहीं जावै।
वन के गए कलपना उपजै, तब धौं कहां समावै ।
घर में मुक्ति मुक्ति घर ही में, जो गुरु अलख लखावै ।
सहज सुंन्नि में रहे समांनां, सहज समाधि [illegible] लगावै ।
घर में वस्तु वस्तु में घर है, घर ही वस्तु मिलावै ।
कहै कबीर सुनो हे अवधू, ज्यों का त्यों [illegible] ।।[1]

भक्तिकालीन संत आडम्बर पर विश्वास नहीं करते हैं । इनके अनुसार संसार के समस्त [illegible] कार्य सहज रूप में स्वत: यंत्रवत् होते रहते हैं । यह ब्रह्म में लीन रहता है । अत: उसका द्वैत भाव स्वत: विनष्ट हो [illegible] एवं अद्वैत तत्व का दर्शन करने लगता है । अन्त में वह आत्मदर्शन करने में लीन हो जाता है । इसके पूर्व जैन साधक इन्दु ने एक स्थल पर कहा है कि " हे योगी, अपना मन निर्मल कर लेने पर ही शान्त शिव के दर्शन प्राप्त होते हैं और वह [illegible]रहित आकार में सूर्य की भांति प्रकाशित होता है ।[2]" तात्पर्य यह कि जैन मतानुसार जब मन परमेश्वर से और परमेश्वर मन से मिल जाता है और दोनों में पूर्ण सामन्जस्य भाव स्थापित हो जाता है, उस स्थिति में साधक को पूजा और उपासना की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती । वह स्वयं परमेश्वर बन जाता है, जब जीव और परमेश्वर का पूज्य पूजक भाव समाप्त हो जाता है तो फिर कौन किसकी पूजा करे । बाह्याडम्बर का विरोध करते हुए एक अन्य स्थल पर जैन साधक

१- पं० अयोध्या सिंह उपाध्याय, कबीर वचनावली, पृ० २१४
२- परमात्म प्रकाश, पद ११६, रामचन्द्र जैन, शास्त्रमाला, बम्बई।

मुनिराम सिंह कहते हैं कि ` हे मुंड मुंडाने वालों में श्रेष्ठ मुण्डी, तूने सिर तो मुड़ाया पर चित्त को न मुड़ा सके । जिसने अपने चित्त का मुण्डन कर डाला उसने संसार का ही खण्डन कर डाला ।[1]` अन्य दोहों में भी वे तीर्थ सेवन, शास्त्रीय ज्ञान एवं बाह्य वेषादि की आलोचना करते हुए सदा चरका युक्त मनोमारण के द्वारा विशुद्ध शिवपद प्राप्त करने की शिक्षा देते हैं ।

इस प्रकार बौद्ध, सिद्ध, जैनियों की भक्ति के इतिहास से यह स्पष्ट हो जाता है कि जब बौद्ध धर्म महायान, मन्त्रयान वज्रयान तथा सहजयान में क्रमश: विकसित होकर निम्नकोटि की उपासना में मिल गया तब उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप उन विकसित धर्मों का प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष, आंशिक अथवा पूर्ण प्रभाव तुर्कमनिवासकालीन योगमार्गी नाथ-सम्प्रदाय पर पड़ा और कालान्तर योग सम्प्रदाय विशेष रूप से नाथ-सम्प्रदाय का विकास हुआ । योग सम्प्रदाय इन बौद्ध, सिद्ध एवं जैन धर्मों से कुछ तत्व जैसे-- इन्द्रिय निग्रह, प्राण-साधना आदि का एक भिन्न रूप ही दिया जो `त्रिविध साधना` की संज्ञा से पुकारा जाने लगा । इसमें त्रिविध साधना के प्रेरणामूलक तत्वों को अपना कर निर्गुण सम्प्रदाय ने अपने स्वरूप का निर्माण किया । भक्तिकालीन निर्गुण शाखा का जन्म यदि यहीं से मानें तो अतिशयोक्ति न होगी । अत: बौद्ध धर्म से लेकर नाथ सम्प्रदाय के बीच विकास की प्रक्रिया में जीवन के जिन जिन तत्वों का बीज डाला गया वे समस्त बीज आगे चल कर भक्तिकाल के सन्त-सम्प्रदाय में प्रतिफलित हुए। `सिद्धों के शून्यवाद से लेकर नाथ सम्प्रदाय के योग तक तथा वज्रयान के सिद्धों की सन्ध्या भाषा की उलटबांसियों से लेकर नाथ-संप्रदाय की अवधूत भावना तक सन्त काव्य की विचार सरणियां पोषित हो सकीं।[2]`

१- पाहुड़ दोहा, हीरालाल जैन सम्पादित, कारंजा बरार, १९६०, दोहा नं० १३५ १३, ५३, ६१, ६२, ६५।

२- डा० रामकुमार वर्मा, अनुशीलन, पृ० ६१

क्रमश: बौद्ध, सिद्ध एवं जैन धर्म के विकसित विचारधारा का अनुयायी होने के कारण सन्त साहित्य अपने वेद-विरोधी स्वर को और ऊपर उठा सका तथा वैष्णवधर्म के प्रमुख आचार-अवतारवाद तीर्थ व्रत सेवन एवं मूर्ति-पूजा आदि विषयों को न अपना सका । बौद्धों के शून्य, सहज समाधि नाथों के काया-तीर्थ, षट्चक्र भेदन, इन्द्रियनिग्रह, कुंडलिनी जागरण एवं त्रिविध -साधना को उसने सहज ढंग से आत्मसात् कर लिया ।

इस प्रकार बौद्ध धर्म सिद्ध ~~[illegible]~~ भक्ति तथा जैन सम्प्रदाय के मौलिक विचारों से अपनी नींव को डाल कर नाथ-सम्प्रदाय की योग जनित सद्गुण साधना से सन्त साहित्य ने अपने रूप का निर्माण किया ।समाज वैष्णव धर्म से दिन प्रति दिन प्रभावित होने के कारण सन्त साहित्य ने जिन आधार तत्वों पर अपना भी निर्माण किया था आगे बढ़ने में सफल न हो सका ।परिणाम यह हुआ कि इसी वैष्णवी तत्व के प्रभाव से सन्त साधना में नाथ-सम्प्रदाय की यौगिक -शुष्क साधना के स्थान पर भक्ति भावना की एवं साधना का संचार हुआ और वह जनता को अधिक संख्या में प्रभावित कर सकी ।

भक्तिकाल की पूर्वपीठिका से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि बौद्ध सिद्ध एवं जैन साधना में भक्ति का महत्वपूर्ण स्थान रहा है किन्तु भक्तिकाल को प्रभावित करने वाली, उसे दिशा देने वाली कुछ महत्वपूर्ण मूल दार्शनिक चिन्तन धाराएं थीं।महत्व की दृष्टि से यह अत्यन्त आवश्यक है कि प्रमुख आचार्यों की उन महत्वपूर्ण चिन्तन धाराओं की विवेचना की जाय जो हिन्दी के भक्तिकाल के विकास में महत्वपूर्ण योग देती रहीं।इन आचार्यों में से हिन्दी साहित्य के इतिहास की दृष्टि से रामानुजाचार्य, रामानन्द, वल्लभाचार्य, मध्वाचार्य, शंकराचार्य, निम्बार्काचार्य ~~[illegible]~~ इत्यादि रहे हैं । अगले अध्याय में भक्तिकाल के परिप्रेक्ष्य में इनकी दार्शनिक प्रणालियों का विवेचन किया जाएगा।

****

तृतीय अध्याय

भक्तिकालीन मूल दार्शनिक चिन्तन धाराएं

रामानुजाचार्य का मत और भक्ति के प्रति उनका दृष्टिकोण

हिन्दी साहित्य के राम साहित्य तथा अन्य भक्ति सम्प्रदायों को प्रभावित करने वाले मुख्य रूप में दो सम्प्रदाय हैं । एक तो रामानुजाचार्य का और दूसरा रामानन्द का । अतएव सर्वप्रथम रामानुजाचार्य सम्प्रदाय की दार्शनिक चिंतनधारा पर विचार कर लेना चाहिए ।

यह सर्वविदित है कि रामानुजाचार्य जी का सिद्धान्त `विशिष्टाद्वैत`वाद कहलाताहै । स्वामी रामानुजाचार्य के गुरु श्रीशठकोप स्वामी हैं जिन्होंने अपना उपदेश परम्परा से श्रीनाथमुनि,पुण्डरीकाक्षस्वामी,श्रीराममिश्रजी तथा श्रीयामुनाचार्य जी को प्रदान किया ।

रामानुजाचार्य एवं ब्रह्म -

रामानुजाचार्य के मत के अनुसार ब्रह्म स्थूल-सूक्ष्म-चेतना विशिष्ट पुरुषोत्तम है । वह सगुण और सविशेष है। ब्रह्मकी शक्ति माया है । ब्रह्म अशेष कल्याणकारी गुण-गणों के आकार हैं । उनमें निकृष्ट कुछ भी नहीं है । सर्वेश्वरत्व,सर्वशेषित्व,सर्वकर्माराध्यत्व,सर्वफलप्रदत्व,सर्वाधारत्व,सर्वकार्योत्पादकत्व,समस्त द्रव्य शरीरत्व,चिदचित् शरीरत्व आदि उनके लक्षण हैं । वे सूक्ष्म चिदचिद् विशेष रूप में जगत् के उपादान-कारण हैं और संकल्प विशिष्ट रूप में निमित्त कारण हैं । यों वे ही अभिन्न -निमित्तोपादन कारण हैं। जीव और जगत् उनका शरीर है, भगवान आत्मा है । वे सृष्टिकर्ता,कर्मफलदाता, नियन्ता,सर्वान्तर्यामी,अपारकारुण्य-सौशील्य-वात्सल्य,औदार्य-ऐश्वर्य और सौन्दर्य आदि अनन्तानन्त सद्गुणों के महान् सागर सर्वाधीश्वर भगवान नारायण हैं ।

ईश्वर के पांच रूप -

रामानुजाचार्य के अनुसार ईश्वर का स्वरूप पांच प्रकार है- वह निम्न प्रकार का है —

(क) पर रूप

(ख) व्यूह-रूप

(ग) विभव-रूप

(घ) अन्तर्यामी-रूप

(ङ०)अर्चा-रूप

इस प्रकार ईश्वर शंख-चक्र-गदा-पद्मधारी चतुर्भुज है। वह श्री भू लीलासहित समस्त दिव्याभूषणों से भूषित है।

रामानुजाचार्य एवं जगत्-(ब्रह्म एवं जगत्)

जगत् जड़ है। जगत् ब्रह्म का शरीर है। ब्रह्म जगत् के रूप में फैला हुआ है। तथापि वह निर्विकार है। रामानुजाचार्य के अनुसार यह जगत सत्य है, मिथ्या नहीं है। यह जीव भी ब्रह्मका ही रूप है। ब्रह्म और जीव दोनों का रूप चेतन है। ब्रह्म विभु है, जीव अणु है, ब्रह्म पूर्ण है, जीव उसका खण्डित रूप है। ब्रह्म ईश्वर है, जीव दास है। ब्रह्म और जगत् का सम्बन्ध कारण एवं कार्य का सा सम्बन्ध है। जीव देह-इन्द्रिय-मन-प्राण आदि से भिन्न है। जीव नित्य है, उसका स्वरूप भी नित्य है। प्रत्येक शरीर में जीव भिन्न भिन्न है। उपाधि वश से ही जीव संसार भोग को प्राप्त होता है। इस संसार का कर्ता तथा भोक्ता जीव ही है।

रामानुजाचार्य ने ब्रह्म के सदृश्य जीव को च भी पांच रूपों में वर्णन किया है। वे ये हैं —

(क) नित्य-रूप

(ख) मुक्त-रूप

(ग) केवल-रूप

(घ) मुमुक्षु-रूप

(ङ०)बद्ध-रूप

मुक्ति :- रामानुजाचार्य ने `मुक्ति` के विषय में भी उपदेश दिये हैं । `मुक्ति` के विषय में रामानुजाचार्य का कहना है कि भगवान नारायण की सेवा का प्राप्त होना ही `परम पुरुषार्थ` है ।
भगवान के इस दासत्व की प्राप्ति ही मुक्ति है । भगवान के साथ अभिन्नता कभी सम्भव नहीं, क्योंकि जीव स्वरूपत: नित्य है, वह नित्य दास है, नित्य अणु है । वह कभी विभु नहीं हो सकता । वैकुण्ठ में अपार कल्याण गुण-गण-महोदधि भगवान् नारायण के नित्य दासत्व को प्राप्त होकर मुक्त जीव दिव्यानन्द का अनुभव करते हैं ।
मुक्ति के उपाय :- मुक्ति के पांच ये उपाय हैं —

(१) कर्मयोग
(२) ज्ञानयोग
(३) भक्तियोग
(४) प्रपत्तियोग
(५) आचार्याभिमान योग

उपर्युक्त पांचों ही भक्ति के अंग हैं । केवल ज्ञान से मुक्ति नहीं हो सकती । ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान से अविद्या की निवृत्ति नहीं हो सकती । भक्ति से प्रसन्न होकर दयामय भगवान मुक्ति प्रदान करते हैं । वेदना, ध्यान, उपासना आदि शब्दों से भक्ति ही सूचित होती है ।

इस प्रकार अनुकूलता का संकल्प, प्रतिकूलता का त्याग, भगवान् में संपूर्णतया आत्मसमर्पण, सब प्रकार से केवल श्री भगवान् के शरण हो जाना ही प्रपत्ति है । विभु, भूमा सर्वेश्वर श्रीभगवान् के चरणों में पूर्ण आत्मसमर्पण करने से मुक्ति मिल सकती है ।

स्वामी रामानुजाचार्य की पांचवीं पीढ़ी के स्वामी रामानन्द शंकराचार्य के अद्वैतमत में शिक्षित हुए किन्तु अन्त में वे विशिष्ट अद्वैतवादी स्वामी राघवानन्द के शिष्य हुए कुछ समय बाद खानपान के सम्बन्ध में मतभेद होने पर इन्होंने

उनका भी साथ छोड़ दिया और अपने स्वतंत्र रामावत अथवा रामनंदी संप्रदाय की स्थापना की । इनके सिद्धान्तों का प्रचार दूर दूर तक हुआ और भक्ति-काल पर इनका अत्यधिक प्रभाव पड़ा है । पंडित परशुराम चतुर्वेदी इन्हें सन्त-मत के आदि प्रचारकों में मानते हैं । स्वामी रामानन्द के दार्शनिक सिद्धान्तों का आधार विशिष्टाद्वैत की मूल बातों में है । किन्तु साम्प्रदायिक मान्यताओं के विचार से रामानुज के श्री सम्प्रदाय और रामानन्द के रामावत सम्प्रदाय में कई भेद भी हैं । श्रीसम्प्रदाय के उपास्यदेव नारायण हैं और रामावत सम्प्रदाय के राम । राम के आदर्श में परमात्मा की सर्वव्यापी भावना छिपी है । दूसरी ओर लौकिक चरित्र में मानवीय व्यक्तित्व भी है । दूसरी ओर क्षीरसागर वाले नारायण या विष्णु के अलौकिक भाव के प्रति केवल श्रद्धा ही प्रकट होती है । श्रीसम्प्रदाय में अर्चन विधियों का बाहुल्य है किन्तु रामावत के संप्रदाय में भक्त का हृदय अपने इष्ट देव के भजन व गुणगान से ही अधिक तृप्ति होती है। रामावत सम्प्रदाय का लगाव इष्टधर्म की ओर रहा है ।सम्प्रदाय के बहुत से लोग वैरागी न बन कर गृहस्थ रूप में ही पाए जाते हैं ।उनके लिए नियम भी अधिक सरल और सुगम है । उनके इष्ट देव श्रीरामचन्द्र हैं जिन्होंने भक्तों के लिए इच्छा से नरदेह धारण किया । भक्तिकाल की रामाश्रयी शाखा पर रामानन्द का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है ।

श्रीवल्लभाचार्य का मत और भक्ति प्रति उनका दृष्टिकोण:-

पुष्टिमार्ग :-

`वस्त्वेवमेतदुप देशपदे त्वयीशे
प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा।।`[१]

१- श्रीमद्भागवत-`रासपंचाध्यायी` (१०।२९।३२)

अर्थात् आप तो सचमुच ही देहधारियों के प्रियतम हैं , बन्धु हैं और आत्मा हैं। इसलिए आपका यह उपदेश उसके आश्रय रूप आप परमेश्वर के उद्देश्य ही है[१] अतएव प्रभु की सेवा करना हमारा जीव मात्र का स्वधर्म है । पति पुत्रादि की सेवा तो पार्थिव है , आत्म धर्म या भगवद्धर्म के नाते नहीं । अतएव जो लोग देह और इन्द्रियों का भोग नहीं चाहते , वे भगवान से ही प्रीति करते हैं ,क्योंकि समष्टि रूप भगवान के लिए जो कर्म किए जाते हैं , वे ही कर्म ,भगवान सब के आत्मा हैं - इस कारण व्यष्टि रूप जीव के लिए हो जाते हैं । भगवान श्रेष्ठ हैं,अतएव सर्वधर्म भगवान में सिद्ध हैं , इस कारण धर्मी रूप में भगवान की ही सेवा करनी चाहिए । जो प्रिय हैं और कालातीत हैं , उनकी सेवा करनी चाहिए । कालातीत एकमात्र केवल श्रीकृष्ण ही हैं । वे ही एक ही सर्वदोषरहित देवता हैं -

`कृष्णात्परं नास्ति देवं वस्तुतोदोषवर्जितम् ।`

अतएव श्रीकृष्ण की ही सेवा करना भक्तिशास्त्र का निष्कर्ष है । इसी कारण वल्लभाचार्य जी पुष्टि मार्ग का विधान करते हैं ।

`पुष्टि` का अर्थ :-

वल्लभाचार्य अपने ग्रन्थ`अणुभाष्य` में`पुष्टि` शब्द के विषय में कहते हैं कि `पुष्टिमार्ग भगवान् के अनुग्रह से ही साध्य है ।` पुष्टि सम्प्रदाय के सुप्रसिद्ध व्याख्याता श्रीहरि राय जी `श्रीपुष्टिमार्ग-लक्षणानि` नामक लेख में पुष्टि मार्ग का परिचय देते हुए कहते हैं कि -` जिस मार्ग में लौकिक तथा अलौकिक सकाम अथवा निष्काम सब साधनों का अभाव ही श्रीकृष्ण के स्वरूप -प्राप्ति में साधक है , अथवा जहां जो फल है , वही साधन है , उसे पुष्टिमार्ग कहते हैं । और जिस मार्ग में सर्वसिद्धियों का हेतु भगवान का अनुग्रह ही है, जहां देह के अनेक सम्बन्ध भी साधन रूप बन कर भगवान की इच्छा के बल पर फल रूप सम्बन्ध बनते हैं, जिस मार्ग में भगवद्-विरह-अवस्था में भगवान की लीला के अनुभव मात्र से संयोगावस्था का सुख अनुभूत होता है, और जिस मार्ग में सब भावों में लौकिक विषय का त्याग है और उन भावों के सहित देहादि का भगवान को समर्पण है, वह पुष्टिमार्ग कहलाता है[१] ।`

१- हरिरायजी,`अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय`,पृ० ३६५

वल्लभाचार्य जी ने `पुष्टि` शब्द भागवत से लिया है । श्रीमद्भागवत के द्वितीय स्कंध दशम अध्याय के चतुर्थ श्लोक में `पुष्टि` अथवा `पोषण` शब्द का विवेचन किया गया है । उसमें `पोषणं तदनुग्रह` कहा है जिसके अनुसार भगवान् के अनुग्रह को ही जीव का वास्तविक पोषण `पुष्टि` बतलाया गया है । इसी श्लोक के आधार पर वल्लभाचार्य ने अपने मत का नाम `पुष्टिमार्ग` बतलाया है। वल्लभाचार्य के मतानुसार जीव के हृदय में भक्ति का संचार भगवान के अनुग्रह से ही हो सकता है और भगवान का अनुग्रह ही `पुष्टि` है ।

अन्य भारतीय दर्शनों तथा धर्माचार्योंने मोक्ष प्राप्ति के तीन साधन बताये हैं - कर्म ,ज्ञान और भक्ति । वल्लभाचार्य भी इन तीनों साधनों को मानते हैं किन्तु इन्होंने `भक्ति` को अधिक महत्व दिया है । वल्लभमतानुसार `कर्मकाण्डी ` केवल `स्वर्ग` प्राप्त करता है , और `ज्ञानी` `अक्षरब्रह्म` , किन्तु `भक्त` `पूर्ण पुरुषोत्तम में लीन हो जाता है । इस प्रकार कर्म ,ज्ञान और भक्ति साधन मार्ग की उत्तरोत्तर अवस्थाएं हैं । जिसमें भक्ति सर्वोत्तम है । भक्ति-मार्ग में जीव भगवान पर पूर्णतया आश्रित होता है । तब भगवान उस पर विशेष अनुग्रह `पुष्टि` करते हुए उसके साथ `नित्यलीला` करते हैं । भागवत् में गोपियों का वर्णन `पुष्टि` के सर्वोत्तम उदाहरण के लिए उपस्थित किया जा सकता है ।

`पुष्टि मार्ग` में आने के लिए यह आवश्यक है कि लोक और वेद के प्रलोभनों से दूर हो जाय - उन फलों की आकांक्षा छोड़ दे ,जो लोक का अनुकरण करने से प्राप्त होते हैं तथा जिनकी प्राप्ति वैदिक कर्मोंके सम्पादन द्वारा की गई है , यह तभी हो सकता है , जब कि साधक अपने को भगवान के चरणों में समर्पित कर दे । इसी `समर्पण` से इस मार्ग का आरम्भ होता है और पुरुषोत्तम भगवान के स्वरूप का अनुभव और लीला - सृष्टि में प्रवेश हो जाने पर अन्त । बीच का मार्ग `सेवा` द्वारा प्राप्त होता है ,जिससे अहंता और ममता का नाश हो जाता है और भगवान के स्वरूप के अनुभव की क्षमता प्राप्त होती है ।`[1]

१- आचार्य शुक्ल जी कृत `सूरदास` ।

पुष्टिमार्ग में भगवान श्रीकृष्ण को ही परब्रह्म माना गया है । श्रीकृष्ण समस्त दिव्य गुणों से युक्त हैं और `पुरुषोत्तम` कहलाते हैं । पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण का दिव्य सतोगुण विष्णु रूप से लोकों की रक्षा करता है , उनका दिव्य रजोगुण ब्रह्मा रूप से सृष्टि करता है और उनका दिव्य तमोगुण रुद्र रूप से संहार करता है ।

शुद्धाद्वैत अथवा पुष्टिमार्ग तथा पुष्टिमार्गीय सेवा:-

जिस प्रकार दर्शन के क्षेत्र में वल्लभाचार्य का सिद्धान्त`शुद्धाद्वैत` के नाम से प्रसिद्ध है,उसी प्रकार भक्ति के क्षेत्र में उनका साधन-मार्ग`पुष्टिमार्ग`कहलाता है । दार्शनिक सिद्धान्त के लिए वल्लभाचार्य जी भले विष्णु स्वामी के ऋणी रहे हों,किन्तु अपने साधन-मार्ग की व्यवस्था स्वयं उनकी वस्तु है । साधन-मार्ग में वल्लभाचार्य को स्वयं आन्तरिक स्फूर्ति हुई थी । अत: वल्लभाचार्य जी ने अपने पूर्वाचार्यों के मर्यादा-मार्गीय सम्प्रदायों से भिन्न पुष्टि संप्रदाय की स्थापना की । अपने ग्रन्थ`अणुभाष्य` में वल्लभाचार्य जी कहते हैं कि `पुष्टिमार्ग`भगवान् के अनुग्रह से ही साध्य है ।`

पुष्टिमार्गीय भक्ति के अनुसार`परब्रह्म भगवान श्रीकृष्ण की सेवा करना ही जीव का परम कर्तव्य है । इस मत में परमात्मा का स्वरूप तो वही ग्रहण किया है जो उपनिषदों के ज्ञानकांड द्वारा प्रतिपादित है किन्तु साधना का आधार शुद्ध प्रेम माना गया है । यह शुद्ध प्रेम भी जीवन के हृदय में भगवान् के अनुग्रह अर्थात् पोषण से ही उत्पन्न हो सकता है । इस शुद्ध प्रेम के अभाव में जो परमात्मा की आराधना होगी वह `पूजा` कही जा सकती है ,`सेवा` नहीं ।

पुष्टिमार्ग के अनुसार सेवा दो प्रकार की होती है --

१- नाम सेवा और २- स्वरूप सेवा ।

स्वरूपसेवा भी तीन प्रकार की होती है वे तीन प्रकार नीचे लिखे जा रहे हैं --

१- तनुजा २- वित्तजा ३- मानसी

जैसा कि पुष्टिमार्गीय सेवा विधि शीर्षक में यह बताया जा चुका है कि `तनुजा` सेवा शरीर से की जाती है तथा `वित्जा` सेवा धन से एवं मन से की हुई सेवा `मानसी` कहलाती है ।

`मानसी` सेवा भी दो प्रकार की होती है —

(१) मर्यादा मार्गीय

(२) पुष्टिमार्गीय

मर्यादा-मार्गीय सेवा के लिए शास्त्रों तथा गंभीर ज्ञान की आवश्यकता होती है । इस मार्ग पर चलने वाला नाना प्रकार के क्लेश एवं कष्ट को पाता तथा सहन करता है । पहले वह आत्मज्ञान की प्राप्ति करता है फिर लोकार्थी के रूप में भगवान् श्रीकृष्ण की सेवा और आराधना करता हुआ अपने अहंकार और ममता आदि को नष्ट कर देता है, तब कहीं जो इच्छित फल की प्राप्ति हो सकती है ,किन्तु भगवान के अनुग्रह की उस अवस्था में भी आवश्यकता रहती है ।

पुष्टिमार्गीय मानसी सेवा करने वाला आरंभ से ही भगवान् के अनुग्रह की कामना करता है । वह शुद्ध प्रेम के द्वारा भगवान् की भक्ति करता हुआ भगवान् के अनुग्रह से सहज में ही अपने अभीष्ट को प्राप्त कर लेता है । इस प्रकार इन दोनों मार्गों का एक ही अन्त है किन्तु पुष्टिमार्ग (भक्तिमार्ग) ज्ञानमार्ग(मर्यादामार्ग)की अपेक्षा अधिक सुगम और प्रशस्त है । श्री वल्लभाचार्य भक्ति मार्ग के समर्थक होते हुए भी ज्ञानमार्ग के विरोधी नहीं हैं ।

इस प्रकार पुष्टि सम्प्रदाय की `सेवा` का अभिप्राय साधारण उपासना अथवा पूजा नहीं समझना चाहिए। साधारण पूजा में कर्मकांड की प्रधानता होती है, किन्तु पुष्टि सम्प्रदाय की `सेवा` भावना प्रधान है ।

पुष्टिमार्गीय भक्ति :-

अंतर्साक्ष्य एवं बहिर्साक्ष्य के प्रमाणों को देखने से यह स्पष्ट है कि वल्लभाचार्य जी का दार्शनिक सिद्धान्त विष्णुस्वामी मत के अनुकूल है किन्तु उनका भक्ति मार्ग विष्णुस्वामी मत से स्वतंत्र एवं भिन्न है । विष्णुस्वामी

संप्रदाय की भक्ति का स्वरूप सगुण एवं तामस है, किन्तु वल्लभाचार्य जी ने प्रेम लक्षणा सगुण भक्ति का प्रचार किया था । सगुण भक्ति प्रधान विष्णु-स्वामी सम्प्रदाय और निर्गुण भक्ति प्रधान पुष्टि सम्प्रदाय की एक वाक्यता और उन दोनों का सामंजस्य करने के लिए उन्होंने अपने विशिष्ट 'सेवामार्ग' का निर्माण किया था । साधन-भक्ति और सेवा मार्ग की इस विशिष्टता के कारण ही वल्लभाचार्य जी मूलत: विष्णुस्वामी सम्प्रदाय के अन्तर्गत होते हुए भी वैष्णवधर्म की एक विशिष्ट शाखा के प्रवर्तक माने गये हैं । श्री वल्लभाचार्य जी 'भक्ति' के विषय में अपनी पुस्तक 'तत्व-दीप-निबन्ध' में कहते हैं कि--

'माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढ़:सर्वतो धिक:।

स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्न चान्यथा[1] ।।

अर्थात् भगवान् के प्रति माहात्म्य ज्ञान रखते हुए जो सुदृढ़ और सबसे अधिक स्नेह हो वही भक्ति है ।' भक्ति की उक्त परिभाषा को देखने पर यह स्पष्ट होता है कि आचार्य वल्लभाचार्य ने भक्ति में दो बातें मुख्य बताई हैं, वे हैं --

(१) ईश्वर के प्रति सुदृढ़ और अटूट प्रेम ।

(२) ईश्वर की महत्ता का निरन्तर ज्ञान और ध्यान ।

वल्लभाचार्य जी ने अपनी रचना 'अणुभाष्य' में जिस स्थल पर मोक्षावस्था का वर्णन करते हैं वहां कहते हैं कि --

'सो श्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता[2]'

अर्थात् उनके मत में मोक्ष प्राप्ति किसी साधन अथवा पुरुषार्थ से नहीं मिलती, वह तो भक्त को केवल भगवान् की कृपा के बल पर ही मिलती है । आचार्य वल्लभाचार्य ने तो इस पुष्टिमार्ग के बारे में यहां तक कहा है कि --

'पुष्टिमार्गोऽनुग्रहैकसाध्य:[3]'

१- तत्व-दीप-निबन्ध शास्त्रार्थ प्रकरण-ज्ञानसागर, बम्बई, श्लोक ४६, पृ० १२७

२- 'अणुभाष्य' चतुर्थ अध्याय, चतुर्थ पाद सूत्र १

३- अं०भा०, चतुर्थ अध्याय, चतुर्थ पाद, सूत्र ६ टीका ।

'पुष्टिमार्गीय भक्ति केवल प्रभु-अनुग्रह द्वारा ही साध्य है।'

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि पुष्टि मार्गीय भक्ति में भगवान् का अनुग्रह है तथा यह अनुग्रह इस पुष्टिमार्गीय भक्तों के सम्पूर्ण कार्यों का नियामक है। इस अनुग्रह के बारे में वल्लभाचार्य जी कहते हैं कि --

'अनुग्रह: पुष्टिमार्गे नियामक इति स्थिति:'[१]

पुष्टिमार्गीय भक्ति में विशुद्ध प्रेम की प्रधानता होती है इसलिए उसको 'प्रेमलक्षणाभक्ति' भी कहते हैं। श्रीवल्लभाचार्य जी ने विशुद्ध प्रेम को 'शुद्धपुष्टि' बतलाया है। गोपियां विशुद्ध प्रेम की प्रतीक हैं अत: उन्होंने गोपियों को गुरु मान कर उनके प्रेमात्मक साधनों को ही पुष्टि भक्ति के प्रमुख साधन माना है। वल्लभाचार्य जी ने गोपियों को तीन श्रेणी में विभाजित किया है और उनकी भक्ति-भावना के अनुसार ही पुष्टिमार्गीय भक्ति की व्यवस्था की है। वे तीन प्रकार की गोपियां निम्नलिखित हैं --

(१) व्रजांगनाएं

(२) कुमारिकाएं

(३) गोपांगनाएं।

व्रजांगनाओं ने श्रीकृष्ण का बालभाव से भजन किया था, अत: उनकी भक्ति वात्सल्य भावना की है। पुष्टि भक्ति में नित्य सेवा-विधि में भी वात्सल्य भक्ति की प्रधानता है।

कुमारिकाओं ने कात्यायनी व्रत आदि से श्रीकृष्ण को पति रूप में प्राप्त करने के लिए भजन किया था, अत: उनकी भक्ति स्वकीय भाव की है।

गोपांगनाओं ने लोक-वेद के भय से मुक्त होकर और सर्व धर्मों के त्याग पूर्वक श्रीकृष्ण की प्राप्ति के लिए भजन किया था, अत: उनकी भक्ति परकीय भाव की है।

इस प्रकार पुष्टि-मार्गीय-भक्ति में वात्सल्य भक्ति ही नहीं है, बल्कि सख्य, कांत-स्वकीय और परकीय तथा ब्रज भाव की भक्ति भी ग्राह्य है। आगे

१- सिद्धान्त मुक्तावली, षोडश ग्रन्थ, भट्टरामनाथ शर्मा, श्लोक १८, पृ०३१

अगले `अष्टछाप काव्य तथा भक्ति` में इन सभी प्रकार की भक्तियों के उदाहरण तथा विवेचन किया गया है ।

पुष्टिमार्गीय सेवा-विधि :-

सांसारिक दु:ख से निवृत्ति और ब्रह्म का बोध कराने के लिए बल्लभाचार्य जी ने पुष्टिमार्गीय सेवा-विधि की व्यवस्था की है ।बल्लभाचार्य ने सेवा के निम्न दो भेद बताए हैं --

(१) क्रियात्मक

(२) भावनात्मक

क्रियात्मक सेवा भी इनके मत में दो प्रकार की है --

(१) तनुजा

(२) वित्तजा

तनुजा सेवा शरीर से होता है तथा वित्तजा सेवा द्रव्य से की जाती है । इन दोनों प्रकार की सेवाओं से जीव की अहंता-ममता नष्ट होकर भक्ति की दृढ़ता होती है।

भावनात्मक सेवा मानसी होती है । इसकी सिद्धि भी तनुजा तथा वित्तजा सेवा द्वारा एकादश इंद्रियों और मन के विनियोग होने के अनन्तर ही हो सकती है । इस प्रकार पुष्टिमार्गीय सेवा में क्रियात्मक सेवा पर विशेष बल दिया गया है ।

पुष्टिमार्गीय सेवा-विधि के दो क्रम हैं --

प्रथम प्रात:काल से शयनपर्यन्त की नित्य सेवा विधि और द्वितीय वर्षोत्सव की सेवा-विधि ।

बल्लभाचार्य के अनुसार नित्य सेवा विधि में वात्सल्य भक्ति की प्रधानता है इस सेवा के निम्नलिखित आठ समय निश्चित रूप से बताये हैं, वे समय इस प्रकार हैं -- (१) मंगला (२)शृंगार (३) ग्वाल (४) राजभोग (५) उत्थापन

(६) भोग (७) संध्या-आरती (८) शयन ।

इस आठ समय की सेवा द्वारा प्रात:काल से सायंकाल पर्यन्त श्रीकृष्ण की भक्ति में मन लगा रहता है । वर्षोत्सव की सेवा विधि में श्रीकृष्ण के नित्य और अवतार लीलाओं के उत्सव,षट्ऋतुओं के उत्सव,लोक-त्योहार और वैदिक पर्वों के उत्सव

तथा अन्य अवतारों की जयन्तियाँ भी सम्मिलित हैं।

नित्य और वर्षोत्सव दोनों प्रकार की सेवा विधियों के तीन अंग मुख्य हैं, वे तीन अंग निम्न हैं --

(१) श्रृंगार

(२) भोग

(३) राग

प्रत्येक व्यक्ति इन तीनों सांसारिक विषयों में फंसा हुआ है। इनसे छुटकारा पाने के लिए श्री वल्लभाचार्य जी ने इनको भगवान् की सेवा में लगा दिया है। उनका मत है कि इनको भगवत्सेवा में लगाने से व्यसन भी भगवत् रूप हो जायेंगे। इस प्रकार गृहस्थ में रहता हुआ भी प्रत्येक व्यक्ति इस प्रकार की सेवा विधि से जीवन्मुक्त हो सकता है। यह सेवा विधि यद्यपि श्री वल्लभाचार्य जी ने प्रचलित की थी तथापि इसकी यथोचित व्यवस्था और इसके क्रियात्मक रूप से विस्तार करने का श्रेय गोसांई विट्ठलनाथ जी को है।

<u>पुष्टिमार्गी भक्ति के सिद्धान्त :-</u>

मुख्यत: पुष्टि मार्गी भक्ति के तीन सिद्धान्त देखने को मिलते हैं - वे निम्नलिखित हैं -

(१) माहात्म्य-ज्ञान की अपेक्षा भगवदनुग्रह पर विशेष ध्यान देना।

(२) प्रभु के सुख की प्रधानता।

(३) भगवान का किया हुआ वरण ही मुख्य वर्णन है।

हिन्दी भक्ति साहित्य पर इसका विशेष प्रभाव होने से नीचे इसका विस्तार किया जाता है -

(१) <u>माहात्म्य -ज्ञान की अपेक्षा भगवदनुग्रह :-</u>

भगवान् पुष्टि भक्तों को कृतार्थ करने के लिए विभिन्न प्रकार के रूप धारण करते हैं उदाहरणार्थ-

(क) बालभाव

(ख) पुत्रभाव

(ग) सखाभाव

यदिभक्तों में माहात्म्य ज्ञान हो तो तद्भावों की लीला नहीं हो सक्ती है ,अतएव भगवान् स्वयं कर्तुं-अकर्तुं -अन्यथाकर्तुं समर्थ होने के कारण भक्त के अन्दर माहात्म्य ज्ञान का भी तिरोभाव कर देते हैं । भगवान के जन्म के समय देवकी जी ने स्तुति करते हुए भगवान् को काल का भी काल कहा है और इस प्रकार भगवान् के माहात्म्य ज्ञान का वर्णन किया है । परन्तु भगवान् को उनके अन्दर मातृभाव स्थापित करना है, अतएव दूसरे ही क्षण आप देवकी जी के हृदय में माहात्म्य ज्ञान को तिरोहित और स्नेह भाव को जागृत कर देते हैं । तब देवकी जी स्तुति करती हैं-`तुम्हारे जन्म का पता कंस को न लग जाय,वह कोई अनर्थ न कर बैठे।` यशोदा जी के प्रसंग में भी आप उन्हें अपने श्रीमुख में ब्रह्माण्ड का दर्शन कराते हैं और उस माहात्म्य ज्ञान को तुरन्त अन्यथा करके पुन: पुत्रभाव स्थापित कर देते हैं । इस प्रकार का अनुग्रह ही पुष्टि है ।`माता यशोदा जी ब्रह्मांड के नायक को रस्सी से बांधने की चेष्टा करती हैं परन्तु प्रभु अपने को बांधने नहीं । पीछे माता की दीनावस्था देख कर कृपा से बंध जाते हैं । इसलिए प्रेमलक्षणा पुष्टिभक्ति में भगवान् का अनुग्रह ही नियामक है, कालादि नियामक नहीं-यह स्पष्ट हो जाता है और यहां प्रभु क भी बाधक नहीं होते , क्योंकि जो कृपा करने वाला है, वह अकृपा क्यों करेगा ?

(२)प्रभु-सुख की प्रधानता:-

प्रभु के सुख का विचार करना ही पुष्टिमार्गी भक्ति है । प्राथमिक दशा में भक्त अपने देह एवं इन्द्रियों और द्रव्य का भगवान में विनियोग करता है और इसके द्वारा बहुत अंशों में तक अपनी अहंता और ममता को दूर करता है ।

दूसरी अवस्था में जैसे-जैसे भगवत्स्वरूप के प्रति उसका भाव बढ़ता जाता है वैसे-वैसे उसका मन भगवान् के ही उत्सवों में मग्न होता जाता है । उसको प्रभु के उत्सवों में बाह्य पदार्थों का विस्मरण हो जाता है । उसको मानसीसेवा कहते हैं -`चेतस्तत्प्रवणं सेवा` अर्थात् चित्त भगवान में, भगवान की परिचर्या में,भगवान की लीला में तल्लीन रहे- इसी का नाम सेवा है । इस प्रकार की सेवा भावात्मक होने के कारण ज्ञान-स्वरूप निवेद्य पदार्थ द्वारा होनी चाहिए । निवेदन किये जाने वाले पदार्थ के स्वरूप को समझ कर, भगवान् को क्या प्रिय है- इस बात को तथा

देश-काल को जानकर ,ऋतु अनुसार पदार्थ को समर्पण करने पर ही वह निवेदन किया गया पदार्थ ज्ञानमय कहलाता है । वेणुगीत के प्रसंग में "धन्या:स्म मूढ़मतयो" आदि श्लोकों में हरिणियाँ "हमारे नेत्र सौन्दर्य के कारण भगवत्-प्रिया गोपांगनाओं के नेत्रों का स्मरण कराने वाले होने के कारण भगवान् को प्रिय है ।" यह समझ कर भगवान की पूजा नेत्रों द्वारा करती है ।

"पूजां दधुर्विरचितां प्रणयावलोकैः"

इस प्रकार श्रीशुकदेव जी कहते है कि अर्थात् पुष्टिमार्ग में भगवान् का ज्ञान अर्थात् देश कालानुसार भगवान को क्या अपेक्षित है -इसका ज्ञान और अपना ज्ञान अर्थात् अपने पदार्थों में अमुक वस्तु सुन्दर होने के कारण भगवान् को विनियोग करने योग्य है- यह ज्ञान ये दोनों सेवा के अंग हैं । यदि यह ज्ञान न हो तो सब व्यर्थ है ।

(३) भगवान का किया हुआ वरण ही मुख्य वर्णन :-

पुष्टि भक्ति साधन है साध्य नहीं, अपितु भगवान जिसको अंगीकार करते हैं,उसी के द्वारा शक्य है । अंगीकार करने में भगवान योग्य-अयोग्य का विचार नहीं करते । जीवों के प्रलय दशा से उत्थान के समय भगवान् कतिपय कृपापात्र जीवों को विशेष अनुग्रह का दान करते हैं ।"

पुष्टिमार्गीय-भक्त:-

वल्लभाचार्य के अनुसार इस संसार में तीन प्रकार के जीव हैं,वे तीन प्रकार के जीव निम्न हैं --

(१)पुष्टिमार्गी जीव

(२) मर्यादामार्गी जीव

(३) प्रवाहमार्गी जीव

इन तीन प्रकार के जीवों के आधार पर वल्लभाचार्य ने तीन प्रकार की "भक्ति" बताया है,वे तीन प्रकार की भक्ति ये हैं --

(१)पुष्टि-पुष्ट भक्ति (२)मर्यादा पुष्ट-भक्ति (३)प्रवाही पुष्ट-भक्ति। इन तीनों प्रकार की भक्ति में पुष्टि-पुष्ट मार्गीय भक्ति सर्वश्रेष्ठ माना है ।

तथा पुष्टि-पुष्ट भक्त भी अन्य दोनों भक्तों से श्रेष्ठ है। पुष्टि-पुष्ट भक्त लौकिकातीत है, यह भक्त-प्राप्ति जीव की सिद्ध अवस्था है। अब प्रश्न यह उठता है कि भगवान् की भक्ति किस प्रकार से की जाय ? इसके उत्तर में वल्लभाचार्य जी का मत है कि भगवान् सर्वभाव से भजनीय है। वे कहते हैं कि-

'ऐहिके पारलौके च सर्वथा शरणं हरि:
दु:खहानौ तथा पापे भये कामाद्यपूरणे।।१०।।[1]

इस लोक के दु:खहर्ता तथा परलोक के बनाने वाले कृष्ण भगवान् ही हैं। वे आगे कहते हैं कि -

'भक्त द्रोहे भक्त्यभावे भक्तैश्चापि क्रमे कृते।
अशक्ये वा सुशक्ये वा सर्वत्र शरणं हरि: ।।११।।

+ +

किं वा प्रोक्तेन बहुना शरणं भावयेद्धरिम् ।।१६।।[2]

द्रोह में, भक्ति में, भाव और कुभाव में, सभी भावों में कृष्ण की ही शरण है। श्री हरि ही मेरे रक्षक हैं यह भाव वल्लभ मतानुयायी भक्तों को सदैव रखना चाहिए। यदि फल प्राप्ति में देर लगे तो इन भक्तों को सदैव यही सोचना चाहिए कि मैं भगवान् का सेवक हूं।[3]

वल्लभाचार्य के अनुसार पुष्टिमार्गीय भक्त को भगवन् भजन तथा भगवान की सेवा तीन प्रकार से करनी चाहिए। वल्लभाचार्य ने अपनी पुस्तक सिद्धान्त मुक्तावली में सेवा विधि जो तीन प्रकार की होनी चाहिए उसको बताते हुए कहते हैं कि -

'चेतस्तत्प्रवणं सेवा तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा,
तत: संसारदु:खस्य निवृत्तिर्ब्रह्मबोधनम् ।।'[4]

१- श्रीवल्लभाचार्य कृत 'विवेकधैर्याश्रय।
२- वही वही
३- पश्चात्ताप: कथं तत्र सेवको ऽहं यथाऽन्यथा।
लौकिक प्रभुवत्कृष्णो न द्रष्टव्य:कदाचन ।।९।।-अन्त:करण-प्रबोध, श्लोक७।
४- सिद्धान्त-मुक्तावली, षोडशग्रन्थ, भट्ट रमानाथ शर्मा, श्लोक २।

अर्थात् भक्त को कृष्ण की सेवा तन से, वित्त से, तथा मन से करना चाहिए।' आचार्य जी का आगे मत यह है कि भक्त को अपना तन, मन सब भगवान को समर्पण करना चाहिए। सबसे अधिक फलदानी तथा सर्वदुःखनिवारिणी सेवा मानसिक सेवा है। इसलिए मन के निरोध के लिए ज्ञान, योग भक्ति आदि के साधन आध्यात्मिक शास्त्र में बताये गये हैं। इसलिए वल्लभाचार्य ने मन को प्रभु की सेवा में लगाना सब सेवाओं से श्रेष्ठ बताया है। अपने 'सिद्धान्त-मुक्तावली' में आचार्य जी कहते हैं कि-

' नत्वा हरिं प्रवक्ष्यामि स्वसिद्धान्त विनिश्चयम् ।
कृष्णसेवा सदा कार्या मानसी सा परा मता ।।१।।[१]

' सब दुःखों को दूर करने वाले कृष्ण की मानसी सेवा ही करनी चाहिए, यह सेवा परा अर्थात् फलरूप है।'

वल्लभाचार्य ने भक्तों की भी तीन श्रेणियाँ बतायी हैं। भक्त तीन प्रकार के होते हैं प्रथम उत्तमभक्त, द्वितीय मध्यम भक्त और तृतीय हीन भक्त।

' एवं सर्वं ततः सर्वं स इति ज्ञान योगतः ।
यः सेवते हरिं प्रेम्णा श्रवणादिभिरुत्तमः।।१०५।।
प्रेमा भावे मध्यम स्याज्ज्ञानाभावे तथाधिमः ।
उभयोरप्य भावे तु पापनाशस्ततो भवेत् ।।१०६।।[२]

'भगवान ही सब कुछ है, उन्हीं से सब कुछ प्रकट होता है, ऐसा ध्यान भक्त को सदैव रखना चाहिए।'

<u>इस प्रकार संक्षेप में</u> -- पुष्टिमार्गी भक्तों के निम्न लिखित कर्तव्य होना अति-आवश्यक है --

---

१- सिद्धान्त-मुक्तावली, षोडश ग्रन्थ, मूलनाथ शर्मा, श्लोक १।
२- तत्वदीप-निबन्ध, शास्त्रार्थ प्रकरण, रामनाथ, लखनऊ श्लोक १०६।

(१) जीव अपनी प्रत्येक कृति में भगवत् इच्छा को नियामक माने और प्रपंच के प्रत्येक पदार्थ के से ममत्व हटा कर भगवान् की ही भावना करे ।

(२) जो कुछ भी बुरा भला हो, उसमें भगवान् को उस प्रकार की लीला ही कारण है-यों समझना चाहिए। भगवान् के अनन्य आश्रय और शास्त्र के ऊपर दृढ़ श्रद्धा को उसे विशेष आवश्यकता है ।

(३) भगवान का श्रद्धापूर्वक भजन करे । भगवान की माया पर भक्त जल्दी से विजय नहीं पा सकता है । इसलिए भक्त को स्वयं अपने को तुच्छ योगी समझना आवश्यक है ।

(४) बिना भगवान को निवेदन किये भक्त को कोई भी पदार्थ ग्रहण नहीं करना चाहिए। और न तो भगवान के प्रसाद के सिवा अन्य कोई वस्तु ग्रहण करनी चाहिए ।

(५) पुष्टि-भक्ति में भाव की मुख्य साधन है । पुष्टि भक्त के हृदय में भगवान का प्रेम रहता है । और इस भाव की भक्ति के लिए वह प्रभु के सुख के लिए अनेकों साधनायें करता है ।

(६) पुष्टि-मार्गी-भक्त जब भगवान् की भावना करता है तो उसकी यह प्रबल इच्छा होती है कि वह प्रभु से संलाप करे और इस कारण उसका चित्त प्रभु के सिवा अन्य सांसारिक किसी भी वस्तु में नहीं लगता । उसे संसार क्लेशमय दिखता है । ऐसा भक्त बाह्य दृष्टि से सांसारिक दीखने पर भी महान् विरक्त होता है । ऐसी स्थिति में प्रभु बाहर ही प्रकट हो जाते हैं ।

पुष्टि भक्ति में मोक्ष :-

इस प्रकार पुष्टि-मार्गी भक्ति को देखते हुए यह स्पष्ट हो जाता है कि भक्त प्रभु के साथ सम्भाषण, गान, रमण करने की योग्यता प्राप्त कर लेता है । दूसरे शब्दों में भक्त को लौकिक सामर्थ्य का त्याग एवं अलौकिक सामर्थ्य की प्राप्ति होती है । उसी को पुष्टि भक्त मोक्ष कहते हैं । पुष्टि मार्गी भक्त चतुर्धा मुक्ति की अपेक्षा नहीं करते । मुक्ति को निकृष्ट दृष्टि से

देखते हैं । `वेणुगीत` में एक स्थल पर गोपियां कहती हैं —

`अक्षण्वतां फलमिदं न परं विदाय: ।`

अर्थात् जीव का यह फल स्वरूप ही है । `न परम्` अर्थात् मोक्ष फल नहीं है । इसमें भी भगवान् का साक्षात्कार मात्र होना गौण फल है । जीव को अपने समस्त इंद्रियों द्वारा भगवत्स्वरूप के अलौकिक रस की प्राप्ति करे । यही मुख्य फल तथा अन्तिम ध्येय है। भगवान धर्मी है रसात्मक है इसलिए उनके भाव एवं धर्म भी रसात्मक हैं । इसलिए गोपियों को `वह कृष्ण, मैं कृष्ण` -इस प्रकार अखण्ड अद्वैत ज्ञान होता है । गोपियों को जो ज्ञान होता है वह केवल भगवत्कृपा से ही होता है । अतएव वह ज्ञान सात्त्विक जीवों को होने वाले अखण्डाद्वैत के अनुभव की अपेक्षा श्रेष्ठ है ।

निष्कर्ष :-

इस प्रकार पुष्टि-भक्ति के प्रवर्तक श्री वल्लभाचार्य जी `तत्त्वार्थ-दीप` निबंध में कहते हैं --

`सात्त्विका भगवद्भक्ता ये मुक्तावधिकारिण:।
भवान्तरसम्भवाद् दैवात् तेषामर्थे निरूप्यते ।।`

अर्थात् सत्त्वगुणों पर आश्रित भगवद्भक्त मुक्ति के अधिकारी हैं । पूर्व जन्मों में किए हुए पुण्य कर्मों द्वारा यह जो अन्तिम जन्म मनुष्ययोनि को मिला है उन्हीं के लिए पुष्टि-भक्ति का निरूपण किया गया है ।

इस प्रकार पुष्टिमार्गी भक्त अपने को भगवान में अर्पण कर देते हैं । भगवान की बाल्य लीला में मस्त रहते हैं । आगे चल कर भक्तिकाल की सगुण भक्ति शाखा पर इस पुष्टि मार्ग का पूर्ण प्रभाव माना जाता है ।

श्री मन्मध्वाचार्य तथा उनकी भक्ति

जन्म तथा स्थान :-

इनका जन्मकाल लगभग संवत् १२९५ से १३७४ (ईस्वान् १२३८-१३१७) माना जाता है। इनका स्थान दक्षिण भारत माना जाता है। किंवदन्तियों के अनुसार दक्षिण भारत के तीन प्रसिद्ध मतप्रवर्तकों में से श्री मन्मध्वाचार्य जी भी एक माने जाते हैं। आपका बचपन का नाम `श्रीवासुदेव` जी था। नारायण भट्ट आपके पिता और वेदवती माता थीं। विभिन्न पुस्तकों से यह ज्ञात होता है कि आपकी जन्मतिथि आश्विन शुक्ला दशमी (विजया दशमी) थी। आठवें वर्ष में आपने बाल-संन्यास की दीक्षा ली। तभी से आपका नाम `श्रीमध्वाचार्य` जी हुआ। इसके अतिरिक्त आप `श्री आनन्दतीर्थ` `पूर्णप्रज्ञ` `पूर्णबोध` `सर्वज्ञ` `सुखतीर्थ` आदि नामों से विख्यात हुए।

ऋग्वेद के `बलि तथ्य सूक्त तथा अन्य कई पुराण वचनों के आधार पर आप श्री वायुदेव के तीसरे अवतार माने जाते हैं। बचपन से ही आप वेदान्त पसन्द करते थे।

इनकी रचनाएं :-

श्री मध्वाचार्य जी द्वारा रचित कुल ३७ ग्रन्थों के नाम पाये जाते हैं, जिनमें कुछ तो प्रकाशित हो चुकी हैं और कुछ रचनाएँ में अभी तक अप्रकाशित रूप में हैं। प्रकाशित रचनाओं में-`गीता भाष्य`, दशोपनिषद भाष्य, `भागवत भारत-गीता-तात्पर्य निर्णय`, ब्रह्मसूत्र-तात्पर्य बोधक अनुव्याख्यान`, ब्रह्मसूत्र अणु-भाष्य`, `श्रीकृष्णामृत-महार्णव` आदि मुख्य हैं। वेद-स्मृति-पुराणों के प्रमाणों से भरे ये ग्रन्थ-समूह `सर्वमूल` नाम से विख्यात है।

सिद्धान्त:-

श्रीमन्मध्वाचार्य जी द्वैत सिद्धान्त के मानने वाले थे। तथा इसी सिद्धान्त

का प्रचार [illegible] स्थल पर किया करते थे। मध्वाचार्य के सिद्धान्त का सार उनके निम्नलिखित श्लोक से स्पष्ट हो जाता है -

श्री [illegible] हरि:परतर: सत्यं जगत्त्वतो
भेदो [illegible] नीचोच्चभावंगता:।
[illegible] स्वानुभूति [illegible] भक्तिश्च तत्साधनं
[illegible] प्रमाणमखिलाम्नायैकवेद्योहरि:।।

अर्थात् मध्वाचार्य के सिद्धान्त के अनुसार श्रीहरि ही सर्वोत्तम है, जगत् सत्य है, पांच तरह के भेद सत्य हैं, [illegible] जीव हरि के सेवक हैं, उनमें पारस्परिक [illegible] का क्रम है। जीव का [illegible] ही मोक्ष है। हरि की निर्मल भक्ति ही उस मोक्ष का साधन है।

प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, ये तीन प्रमाण हैं। हरि का स्वरूप वेदादि सर्वशास्त्रों से जाना जा सकता है।

मध्वाचार्य तथा भक्ति :-

भक्ति क्या है ?

मध्वाचार्य जी भक्ति की परिभाषा का निरूपण करते हुए बताते हैं कि अपने [illegible] जीव [illegible] जानते हुए अपने स्त्री सुतादि परिवार की अपेक्षा अधिक एवं दृढ़तम स्नेह भगवान पर रखना ही 'भक्ति' कहलाता है। इसी प्रकार की भक्ति द्वारा ही जीव इस भवसागर से पार उतर सकता है तथा उसे मुक्ति मिल सकती है।

भक्ति के प्रकार एवं स्वरूप:-

श्रीमद्भागवत में नौ प्रकार की भक्ति का उल्लेख पाते हैं। इसी नौ प्रकार की भक्ति को दृष्टि में रखते हुए श्री मध्वाचार्य जी अपने निम्न श्लोक में भक्ति के प्रकार का वर्णन करते हुए कहते हैं :-

'अर्चित: [illegible]:।
यो ददात्यमृतत्वं हि स मां रक्षतु केशव:।।[1]

1- 'श्रीकृष्णामृतमहार्णव' नामक [illegible] हरि-महिमा-बोधक ग्रन्थ।

इस प्रकार वेद उपनिषद् पुराणादि प्रमाणों से मध्वाचार्य जी के द्वारा प्रतिपादित भक्ति के स्वरूप ये हैं --

(१) भक्त को अपने पारिवारिक प्रेम की अपेक्षा ईश्वर के प्रति अधिक प्रेम करना चाहिए भगवान के प्रति स्नेह ही भक्ति है । भगवान के प्रति दृढ़ प्रेम तभी संभव है जब उनकी महिमा के ज्ञान से भक्त पूर्ण रूपेण ज्ञातव्य है । वही भक्ति मोक्ष का साधन होगी ।`ज्ञानेनैवामृती भवति` -ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है । वह ज्ञान भक्ति से मिश्रित होना चाहिए।ज्ञानरहित भक्ति तथा भक्ति रहित ज्ञान दोनों ही मोक्ष साधक नहीं बन सकते ।

(२)मध्वाचार्य के अनुसार भक्त को भगवान श्रीहरि के प्रति स्नेह करने के पश्चात् उनके परिवार के अन्य सदस्यों,उनकी अर्द्धांगिनी लक्ष्मीदेवी के प्रति भी प्रेम करना आवश्यक है । तत्पश्चात् ब्रह्मा,वायु आदि देवताओं के प्रति- इस प्रकार भगवान के परिवार के तथा अन्य देवताओं के प्रति उनकी योग्यतानुसार भक्ति रखनी चाहिए।

(३) अपने इष्टदेव के पश्चात् भक्त को अपने गुरु एवं ज्ञानी व्यक्तियों के प्रति भी भक्ति रखनी चाहिए। इनको आदर की दृष्टि से देखना चाहिए।

` कुरु भुड०दव च कर्म निजं नियतं
हरिपाद विनम्रधिया सततम् ।
हरिरेव परो हरिरेव गुरु-
हरिरेव जगत्पितृ मातृगति:।।[१]

नीची श्रेणी के प्राणियों एवं गरीबों के प्रति सदैव दया की दृष्टि रखनी चाहिए क्योंकि प्रत्येक जीव मात्र में ईश्वर विराजमान है । सबके प्रेरक वही हैं । सृष्टि को बनाने वाले वही ईश्वरही हैं । इस प्रकार उनके प्रति दयावान रखने से तथा उनके प्रति अगाध प्रेम रखने से भक्त भगवान का भी अनुग्रह पात्र बन सकता है ।

१-`द्वादशस्तोत्र`१-१

भक्ति का आदर्श :-

' अगणितगुणगणमयशरीर हे
विगतगुणेतर भव ममशरणम्[1] ।'

भक्ति का आदर्श उपर्युक्त स्तोत्र से स्पष्ट हो जाता है -मध्वाचार्य जी भक्ति का आदर्श बताते हुए कहते हैं कि हे प्रभो ! आपका श्री विग्रह अनन्त गुणगणों से बना हुआ है, उसमें दोषों का लेश भी नहीं है । आप मेरी रक्षा करें । हमारी भारतभूमि में सर्वदा भगवद्भक्ति स्रोत बहता रहे यही ईश्वर से प्रार्थना है एवं मध्वाचार्य जी का भक्ति आदर्श है ।

मुक्ति :-

आचार्य जी के ग्रन्थों को पढ़ने से यह ज्ञात होता है कि आप बहुधा भक्ति को ही मुक्ति का साधन मानते हैं ।

' यथा भक्तिविशेषोऽत्र दृश्यते पुरुषोत्तमे ।
तथा मुक्तिविशेषोऽपि ज्ञानिनां लिंगभेदने ।।
योगिनां भिन्नलिंगानामाविर्भूतस्वरूपिणाम्[2] ।
प्राप्तानां परमानन्दं तारतम्यं सदैव हि।।

अर्थात् लिंगदेह' को जितनी अधिक भगवान् में गाढ़ भक्ति होती है, उतना ही अधिकाधिक आनन्द ~~मोक्ष तथा लिंग देह~~ प्राप्त होता है और उसे मोक्ष प्राप्त होता है ।

मोक्ष तथा लिङ्गदेह में अन्तर:-

माध्व सम्प्रदाय के अनुसार जीव के शरीर पर जो अज्ञानता का पर्दा पड़ा रहता है वही 'लिंगदेह' कहलाता है । जीव को मोक्ष प्राप्त करने के पहले

१-'द्वादशस्तोत्र' ६।३

२-'गीताभाष्य'

यह लिंगदेह श्री वायु देव की गदा के प्रहार से टूट जायेगा तभी जीव के स्वरूप का आविर्भाव होता है ।इसी को मोक्ष की संज्ञा दी है ।

<u>मोक्ष के साधन :-</u>

'विना ज्ञानं कुतो भक्ति:कुतो भक्ति विनाचतत्'[1]

ज्ञानके बिना भक्ति नहीं हो सकती है और बिना भक्ति के ज्ञान असंभव है । इस प्रकार ज्ञानपूर्ण भक्ति ही मोक्ष का साधन है ।

'अतोविष्णो: परभक्तिस्तद्भक्तेषु रमादिषु ।
तारतम्येन कर्तव्या पुरुषार्थमभीप्सता[2] ।।

मोक्ष प्राप्त करने के लिए प्रथम भगवान् विष्णु की भक्ति करना अतिआवश्यक है तत्पश्चात् भगवान विष्णु की पत्नी श्रीलक्ष्मी,तथा अन्य देवताओं की तारतम्यानुसार करनी चाहिए वही भक्त मोक्ष को प्राप्त हो सकता है ।

मोक्षप्राप्ति के लिए द्वितीय साधन ज्ञानी पुरुषों के प्रति अगाढ़ प्रेम तथा निर्धनों एवं दुष्टों के प्रति प्रेम होना चाहिए । समस्त जीव मात्र में ईश्वर व्याप्तमान्है । जीवमात्र का अनादर करना ईश्वर का अनादर करना है अत: जीवों के प्रति सदैव शुभकामना करना एवं प्रतिदिन उनसे प्रेम बढ़ाते रहनेवाला व्यक्ति ही मोक्ष की कामना कर सकता है ।

तृतीया प्राणी सृष्टि में व जीवों के दो वर्ग होते हैं -

(१)दैव(विष्णु भक्त वर्ग)

(२) आसुर(विष्णु-द्वेषी वर्ग)

भक्ति से प्रसन्न होकर भगवान् उत्तम ज्ञान देते हैं तथा भक्ति के द्वारा ही भगवान दर्शन देते हैं और तभी मोक्ष प्राप्त होता है।

१-`गीताभाष्य`

२-`ब्रह्मसूत्रानुव्याख्यान`

भक्ति के अंग :-

मध्वाचार्य जी के अनुसार भक्ति के अंग विभिन्न हैं जिसमें कुछ प्रमुख ये हैं --

(क)दान

(ख)तीर्थस्थान

(ग) तप

(घ) यज्ञ

(ङ०)सत्कार्य

(च) दया

भक्ति के ये विभिन्न अंग होने के पश्चात् भी मुक्ति का साधन तो एक भक्ति ही है ।

उपसंहार:-

इस प्रकार मध्वाचार्य सम्प्रदाय द्वैतवादी था तथा विष्णु में भक्ति एवं समस्त देवता में भक्ति के अलावा जीवमात्र के प्रति भी आदर और प्रेम करना अपना परम कर्तव्य समझता है । इस सम्प्रदाय का प्रभाव भक्ति काल के विभिन्न कवियों के ऊपर दिखायी पड़ता है ।

शंकराचार्य और उनकी भक्ति

अधिकांशत: लोग शंकराचार्य को ज्ञानवादी ही मानते हैं । कारण कि वे अद्वैतवाद के संस्थापक हैं । अद्वैतवाद दर्शन के ज्ञान-क्षेत्र की चरमता का परिचय देता है । परन्तु शंकराचार्य केवल अद्वैतवादी ही नहीं थे,मूर्तिमान ज्ञान-कर्म और भक्ति के समुच्चयवादी थे ।

स्वामी शंकराचार्य के समस्त जीवन दर्शन में,उनकी रचनाओं में,उनके कर्म में भक्ति का लीला-विलास दृष्टिगोचर होता है,वही भक्त-पद-वाच्यहोता है। 'शंकर' आधार है और भक्ति आधेय है । 'भक्त शंकर' पर विचार करने से ही शंकराचार्य और भक्ति का सम्पर्क निर्णीत होगा इस विचार को तीन दृष्टिकोणों से देखने से स्पष्ट हो जायगा--

(क) जीवन (ख) साधना (ग) रचना ।

शंकराचार्य परम पितृ-मातृ-भक्त थे । पिता की मृत्यु से अत्यन्त दु:खी हुए यह बात पंडितों को भी शायद ज्ञात न हो सकी । उनके मातृभक्ति की अनेक कहानियां एवं किंवदन्तियां सुनी जाती हैं । वे अपने माता पिता को परम गुरु मानते थे ।मां से आज्ञा लेकर उन्होंने संन्यास ग्रहण किया एवं मां के आज्ञानुसार वर्ष में एक बार संन्यासी होते हुए भी वे मां से मिलने अवश्य ही आते थे। मां की मृत्यु के समय वह उपस्थित थे तथा मां की अन्त्येष्टिक्रिया शंकराचार्य जी ने स्वयं अपने करकमलों द्वारा की । यह मातृभक्ति का चरमोत्कर्ष उदाहरण है । इस प्रकार स्वयं धर्माचरण करके दूसरों को शिक्षा दे,शास्त्र का यह सिद्धान्त भी उनके जीवन में पूरा-पूरा चरितार्थ हुआ ।माता पिता को परम देवता जानकर, उनको सन्तुष्ट करके ही वे तृप्त नहीं हुए बल्कि जगत् के लोगों को शिक्षा देने के लिए प्रश्नोत्तर मालिका में भी वे इस प्रकार उनकी महिमा की घोषणा करते हैं :-

'प्रत्यक्षदेवता का माता पूज्यो गुरुश्च कस्तात: ।'

साधना:-

उनकी साधना के बारे में कुछ विशेष ज्ञात नहीं होता । उनकी गुरु-

भक्ति तो बहुत ही महत्वपूर्ण ही है,उसके फलस्वरूप उनकी प्रतिभा आज भी ज्योतिर्मान हो रही है । उनके कुल-देवता श्री वल्लभ(रमापति)हैं । इस श्लोक में उनका भक्ति-विनम्रभाव विशेषरूप से प्रकाशित हुआ है —

' यस्य प्रसादादहमेव विष्णु-
मंय्येव सर्वं परिकल्पितं च ।
इत्थं विजानामि सदाऽऽत्मरूपं
तस्याङ्घ्रियुग्मं प्रणतोऽस्मि नित्यम् ।।
-अद्वैतानुभूति अपरोक्षानुभूति

' जिसके प्रसाद से,'मैं ही साक्षात् विष्णु हूं ,तथा मुझमें ही समस्त विश्व परिकल्पित है,'यह अनुभूति मुझको हो रही है,उन गुरुदेव के नित्य आत्मस्वरूप चरण-युगलों में मैं नित्य प्रणाम करता हूं ।' भक्त ही नित्य प्रसाद-प्राप्त करता है ।इसके सिवा उनके अनेकों ग्रन्थों में श्रीकृष्ण-वन्दना देखने में आती है । ग्रन्थ में जो देव-वन्दना की प्रथा सुप्रचलित है,वह वन्दना भक्ति की ही प्रकाशिका है। साधन-जीवन में भक्ति की महिमा यथेष्ट रूप में स्वीकृत की गयी है ।

स्वामीजी ने ज्ञान-वैराग्य के साथ भक्ति को भी मुक्ति का साधन बतलाया है ---

'वैराग्यमात्मबोधो भक्तिश्चेति त्रयं गदितम् ।
मुक्तेः साधनमादौ तत्र विरागो वितृष्णताप्रोक्ता।।

' वैराग्य'आत्मज्ञान और भक्ति— ये तीन मुक्ति के साधन कहे गये हैं । इनमें से प्रथमोक्त वैराग्य का अर्थ है- वितृष्णा अर्थात् भोगों के प्रति राग का अभाव।' अन्यत्र मनोनिरोध के उपायरूप में श्रीहरिचरणों में भक्तियोग कथित हुआ है ।

'हरिचरणभक्तियोगान्मनः स्ववेगं जहाति शनैः ।

ज्ञान की पूर्वावस्था'भक्ति' है ।दूसरे शब्दों में भक्ति ही आगे चल कर ज्ञान रूप में परिणत हो जाती है । श्रीकृष्ण के चरण-कमल में भक्ति किए बिना अन्तरात्मा की अर्थात् मन की शुद्धि नहीं होती और मन शुद्ध हुए बिना ज्ञान का आविर्भाव या स्थायित्व असम्भव है ।

(प्रबोध सुधाकर,द्विधा भक्तिप्रकरण १६६-१६७)

भक्ति के जयगान में पन्चमुख आचार्य शंकर की `मणिरत्न-माला` का अन्यतम रत्न है भक्ति । आत्मजिज्ञासा के बहाने जनता को उपदेश देते समय केवल शिव-विष्णु -भक्ति को प्रिय बनाने के लिए ही उन्होंने उपदेश नहीं दिया,बल्कि अपने अनुभूत सत्य को भी प्रकट कर दिया है जैसे -

` अहर्निशं किं परिचिंतनीयं
संसारमिथ्यात्वशिवात्मतत्वम् ।
किं कर्म यत् प्रीतिकरं मुरारे:
क्वास्था न कार्या सततं भवाब्धौ ।।

श्रीकृष्ण के प्रेम द्वारा ही मनुष्य को सालोक्य,सामीप्य और सायुज्य की प्राप्ति होती है,इसका प्रत्यक्ष उदाहरण निम्न श्लोक है -

`फलमपि भगवद्भक्ते: किं तल्लोकस्वरूप साक्षात्वम् ।`
-(प्रश्नोत्तरमालिका ६७)

`अहर्निश ध्येय वस्तु क्या है ? संसार की अनित्यता और आत्मस्वरूप शिव-तत्व ।कर्म किसे कहते हैं ? जिससे श्रीकृष्ण प्रसन्न हों । भवसागर के प्रति आस्था रखना उचित नहीं है।इस प्रकार अनेक स्थलोंपर शंकराचार्य जी ने संसार की नश्वरता पर तथा कर्म श्रीकृष्ण की भक्ति का उपदेश दिया है ।

`शिव ज्ञान की मूर्ति है,परन्तु वे भक्ति के भी मूर्तस्वरूप हैं । शिव के समान श्रीराम चन्द्र का भक्त कोई नहीं है तथा श्रीरामचन्द्र की अपेक्षा शिव का भक्त कोई नहीं है । शिव के अवतार शंकराचार्य यदि भक्तिवादी हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? (कल्याण `भक्ति`अंक पृ० १८०)

शंकराचार्य एवं भक्ति :-

भक्ति के प्रयोजन और फल आदि कह कर भी शंकराचार्य को तृप्ति नहीं हुई ।उन्होंने सोचा कि हमारे पश्चात् नाना प्रकार के पंडित एवं आचार्य भक्ति की नाना प्रकार की व्याख्या करेंगे,इस कारण वशीभूत होकर उन्होंने भक्ति की संज्ञा भी दे दी तथा भक्ति का श्रेष्ठत्व स्थापन करने का प्रयास किया-

" मोक्ष कारणसामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी ।
स्वस्वरूपानुसंधानं भक्तिरित्यभिधीयते ।।
-(विवेक चूड़ामणि ३१)

(मुक्ति के जितने हेतु हैं, उनमें भक्ति ही श्रेष्ठ है ।विद्वान् लोग कहते हैं कि स्व-स्वरूप का अनुसंधान ही भक्ति है।)

'भक्ति' की दूसरी संज्ञा भी शंकराचार्य ने दी है-दूसरे मत को प्रकट करते हुए कहते हैं कि -

'स्वात्मतत्वानुसंधानं भक्तिरित्यपरे जगु:।'

(दूसरे लोग कहते हैं कि स्व और आत्मा का अर्थात् जीवात्मा और ईश्वर का तत्वानुसंधान ही भक्ति है।)

उनके जीवन में, आचरण में सर्वत्र ही भक्ति का प्रभाव देखने में आता है । भक्ति आत्मतत्व की विकासिका या परिपरि का है -

कोई भी भाव रचना बिना भाव के उत्पन्न हुए बिना असंभव है ।भक्ति मूलक रचना की सिद्धि भी इस प्रकार है,जिसके हृदय में भक्तिभाव नहीं है वह उसको इस प्रकार की रचना में सफलता मिलना कठिन है । रचना की सफलता की परीक्षा फल देख कर होती है । सिद्धि के बारे में सहज ही जानकारी प्राप्त करनी हो तो यह सर्वप्रथम ज्ञात करना होगा कि जन-समाज में रचयिता के भाव कहां तक संक्रामित हुए हैं।वे भाव जनसमाज में जितना अधिक संक्रामित होते हैं,उतनी ही अधिक सिद्धि सूचित होती है । भक्त शंकराचार्य की स्तोत्रा-वली संकलन करके यह देखा जा सकता है ।

" भगवद्गीता किंचिदधीता
गंगाजललवकणिका पीता।
सकृदपि यस्य मुरारिसमर्चा
तस्य यम: किं कुरुते चर्चाम् ।।
भज गोविन्दं भज गोविन्दं भज गोविन्दं मूढ़ मते ।
प्राप्ते संनिहिते मरणे
नहि नहि रक्षति डुकृञ् करणे।।
(चर्पटप ञ्जरिका स्तोत्रम्)

इस प्रकार शंकराचार्य जी ने भक्ति-शब्द के मूल धातु का प्रयोग किया है,तथा `भजन`और`भक्ति`शब्दों का प्रयोग पर्यायवाची रूप में किया है । जैसा कि इसके प्रारम्भ में लिखा गया है कि शंकराचार्य जी अद्वैतवादी थे तथा ज्ञानमार्गी पथ के प्रदर्शक थे परन्तु ये जिस देवता की स्तुति करते थे ऐसा लगता था कि वह उसी देवता के परम भक्त हैं तथा ऐसा प्रतीत होता है कि उसी मतवाद के समर्थक भी हैं । इसका एकमात्र कारण ईश्वर में`भक्ति`है । बिना भक्ति के ईश्वर को पाना असम्भव है । श्रीकृष्ण-भक्त शंकराचार्य कहते हैं -

` विना यस्य ध्यानं व्रजति पशुतां सूकरमुखां
विना यस्य ज्ञानं जनिमृतिभयं याति जनता।
विना यस्य स्मृत्या कृमिशत जनिं याति स विभु:
शरण्यो लोकेशो मम भवतु कृष्णोऽक्षिविषय:।।
(श्रीकृष्णाष्टकम्)

(जिसके ध्यान बिना जीव सूकर आदि पशुयोनियों को प्राप्त होता है,जिसको जाने बिना प्राणी जन्म-मरण के(विशाल)भयस्थान को प्राप्त होता है तथा जिसके स्मरण बिना सैकड़ों (कुत्सित)कीट योनियों को प्राप्त होता है, वे परमसमर्थ,शरणदाता,लोकेश्वर श्रीकृष्ण मुझे अपना दर्शन दें।)

अत: उपर्युक्त बातों को पढ़ते हुए शंकराचार्य ने केवल श्रीकृष्ण की ही स्तुति रचना नहीं की बल्कि वे बहु-देव-देवी-स्तवन में सिद्ध हो गये थे । इस उद्धृत से स्पष्ट हो जाता है -

` अलकानन्दे परमानन्दे
कुरु मयि करुणां कातरवन्द्ये ।
तव तट निकटे यस्य निवास:
खलु वैकुण्ठे तस्य निवास: ।।(गंगास्तोत्रम्)

अर्थात् हे,अलकापुरी में विहार करने वाली,परमानन्दमयी हे दीन-दुखियों की शरणदात्री,एवं नमनीया गंगादेवी ! तुम मुझ पर कृपा करो।मां ! तुम्हारे तट पर जो निवास करता है उसका वैकुण्ठ में निवास निश्चित है।`

भक्ति से सम्बन्धित भगवान् शंकराचार्य के इस प्रकार बहुत से प्रमाण मिलते हैं ।

श्रीनिम्बार्काचार्य-दर्शन : भक्ति : कलापक्ष

श्रीनिम्बार्काचार्य एवं `ब्रह्म` :-

ब्रह्म चिदानन्दस्वरूप अद्वैत सत्पदार्थ है ।श्री निम्बार्काचार्य जी ने ब्रह्मका `चतुष्पादविशिष्ट`रूप में वर्णन करते हैं-

(क) दृश्यस्थानीय अनन्त जगत्

(ख) द्रष्टाजीव-इस जगत् के पदार्थों को विभिन्न रूपों में देखनेवाला।

(ग) नित्यद्रष्टा ईश्वर-अनन्त जागतिक पदार्थों का पूर्ण ।

(घ) इन तीनों रूपों से विवर्जित नित्य,एकरस,आनन्दमात्र का अनुभव करने वाला।[१]

`ब्रह्म`अपने चिदंश के द्वारा अपने स्वरूपगत आनन्द का अनुभव (भोग)करता है ।उसका स्वरूपगत आनन्द भूमा है,अनन्त है ।जिसप्रकार सूर्य अपनी तेजोमयी रश्मियों को फैलाकर अपने आश्रयस्वरूप आकाश को तथा आकाशस्थ सारी वस्तुओं को सर्वांश में स्पर्श और प्रकाशित करते हैं,उसी प्रकार ब्रह्म का भी स्वरूप गत चिदंश अनन्त सूक्ष्म चिदात्मक भागों में अपने को विभक्त करके अनन्त रूपों में अपने स्वरूपगत आनन्द का अनुभव और प्रकाश करता है ।

ब्रह्म एवं जीव :-

ये सूक्ष्म `चिदंश`[२]ही जीव है । ब्रह्म के स्वरूपगत आनन्द को जो जीव अनन्त विभिन्न और विशेषरूपों में अनुभव करता है, उन सारे विभिन्न रूपों की समष्टि ही जगत् है । ब्रह्म के स्वरूपगत अनन्त आनन्द को विशेष-विशेष रूप में दर्शन करने के निमित्त ही जीव-शक्ति का प्राकट्य है । अतएव जीवस्वरूप

१- जिसका एकान्त अक्षर`पाद` के नाम से श्रुति ने वर्णन किया है ।

२-`चिदंश`का प्रयोग स्वामी निम्बार्काचार्य ने स्तोत्रों में चित्-अणु` के लिए किया है ।

व्यष्टि दृष्टा है- ब्रह्म के स्वरूपगत आनन्द के विशिष्ट विशेष अंश का दृष्टा है। परन्तु ब्रह्म अपने स्वरूपगत आनन्द को अनन्त विभिन्न रूपों में समग्रभाव से एक साथ भी अनुभव करता है ।

विशेष तथा समग्र दर्शन -

समग्र दर्शन :- श्री निम्बार्काचार्य ने उपर्युक्त सभी अनन्त रूपों का समग्र दर्शन करने वाले रूप में ब्रह्म को `ईश्वर` की संज्ञा दी है । अतएव ईश्वररूपी ब्रह्म सर्वज्ञ है । समग्र-दृष्टा ईश्वर के दर्शन के अंग रूप में व्यष्टि दर्शनकारी प्रत्येक जीव का विशेष-विशेष दर्शन है ।

विशेष-दर्शन :- समग्र-दर्शन में जो कुछ है, उसको अतिक्रम करके तदन्तर्गत विशेष दर्शन में कुछ नहीं रहता और न रह सकता है । अतएव विशेष-दर्शनकारी जीव सर्वदा ही ईश्वर के आधीन है । वह ईश्वर को कदापि अतिक्रम नहीं कर सकता।

ब्रह्म,जीव तथा जगत् :- निम्बार्काचार्य दर्शन में जीव और जगत् का नियन्ता होने के कारण ब्रह्म की `ईश्वर`संज्ञा है । यह ईश्वररूपी ब्रह्म ही सर्वरूप,सर्वज्ञ,सर्वप्रकाशक तथा सृष्टि स्थिति प्रलय का एकमात्र कारण है । ईश्वरब्रह्म,जीवब्रह्म,और जगत् ब्रह्म -यह त्रिविध रूप अक्षरब्रह्म में ही प्रतिष्ठित है ।

निर्गुण-ब्रह्म:-

इस प्रकार ब्रह्म को ही `निर्गुण ब्रह्म` अथवा `सद्ब्रह्म` कहते हैं । यह चिदानन्द स्वरूप है, जो अपने स्वरूपगत आनन्द का नित्य अनुभव करता है । इनमें किसी प्रकार की विशेष क्रिया नहीं होती है । यह ईश्वर में एकरस हो कर निमग्न रहता है ।

यह निर्गुण ब्रह्म ही जगत् का निमित्त और उपादान कारण है । ब्रह्म ही जगत् का कारण है, अतएव उसकी केवल निर्गुण रूप में व्याख्या नहीं की जा सकती ।

माया-

सृष्टि के प्रारम्भकाल में ईश्वर ने अपनी ईश्वरीय शक्ति को उद्बोधित करके क्रमशः अपनी प्रकृति (माया) नामक शक्ति को उद्बोधित करते हैं। सत्व, रज और तम्-ये तीन प्रकृति के गुण हैं।

भक्ति:-

परिभाषा- सर्वरूप और अरूप, सर्वरूपमय और सर्वरूपातीत, प्राकृत-गुणातीत संपूर्ण जगत के विशेषज्ञ ब्रह्म को भक्ति द्वारा ही प्राप्त कर सकते हैं। भक्ति ही इस पूर्ण ब्रह्म की प्राप्ति का पूर्ण साधन है। अपने को उपासक, विश्व को ब्रह्म रूप में चिन्तन करना भक्तिमार्ग का अंग है। भक्तिमार्ग के साधक के लिये अनात्म् नाम की कोई वस्तु ही नहीं है। वह अपने को जिस प्रकार ब्रह्म से अभिन्न रूप में चिन्तन करता है, उसी प्रकार परिदृश्यमान समस्त जगत् को भी ब्रह्म से अभिन्न रूप में चिंतन करता है।

इस भक्तिमार्ग की उपासना की, केवल सगुण उपासना के रूप में, व्याख्या समीचीन नहीं है।

भक्ति के अंग:-

निम्बार्काचार्य ने भक्ति अथवा उपासना के तीन अंग बताये हैं। उपासना इन तीन अवस्थाओं में से होकर ही पूर्ण कहलाती है। वे अंग निम्न हैं --

(१) जगत् का ब्रह्म रूप में दर्शन

(२) जीव की ब्रह्म रूप में भावना

(३) जीव और जगत से अतीत, सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान्, सर्वप्रिय और आनन्दमय रूप में ब्रह्म का ध्यान।

साधना के प्रथम दो अंगों के द्वारा साधक का चित्त सर्वतोभावेन निर्मल हो जाता है। और तृतीय अंग के द्वारा ब्रह्मसाक्षात्कार सम्पन्न होता है।

भक्त-साधक तथा उसकी उपासना:-

भक्त की दृष्टि में ब्रह्म सगुण और निर्गुण दोनो ही

है । जागतिक कोई भी वस्तु केवल गुणात्मक नहीं है, ब्रह्म से विच्छिन्न हो कर गुण रह ही नहीं सकते । गुणों की स्वतंत्र सत्ता नहीं है । भक्त-साधक जिस किसी मूर्ति का दर्शन करते हैं,उसी को ब्रह्म समझ कर उसकेप्रति स्वभावत: प्रेमयुक्त हो जाते हैं । इस प्रकार चित्त के निर्मल हो जाने पर शास्त्र में `परामक्ति` के नाम से उल्लेख किया गया है । इसी के द्वारा परब्रह्म का साक्षात्कार होता है ।

भक्ति की प्राथमिक अवस्था को `साधन-भक्ति` कहते हैं । इसके द्वारा चित्त प्रसारित होकर जब अनन्तता को प्राप्त होता है, तब परा-भक्ति नामक भक्ति की चरम अवस्था उपस्थित होती है ।

साधक एवं उपास्य देवता:-

परम पुरुष ही जगत् की सृष्टि,स्थिति और संहार करने के लिए इन तीनों गुणों को धारण करके क्रमश: ब्रह्मा,विष्णु और महेश्वर संज्ञा को प्राप्त होते हैं । प्रकाश्य जगत् में निर्मल सत्व ही ज्ञान और आनन्द के आदर्श का स्थान ग्रहण करता है । इस सत्वगुण से अधिष्ठित पुरुष के रूप में ब्रह्म की `श्रीकृष्ण` और `विष्णु` संज्ञाएं होती हैं । वे ब्रह्म के अमूर्त और मूर्तरूप के मध्यस्थान में सेतु के स्वरूप में स्थित होकर साधारण जीवों के मोक्ष के प्रधान हेतु बनते हैं । प्रकृति के गुणों से युक्त रहने पर भी वे सच्चिदानन्दमय के शुद्ध-सत्व स्वरूप में निर्मल पद के एकमात्र अधिकारी हैं ।

मूल दार्शनिक चिन्तनधाराओं के विवेचन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि भक्तिकाल पर आगे चल कर इन्हीं धाराओं का पूर्ण प्रभाव पड़ा है। किन्तु प्रस्तुत प्रबन्ध की दृष्टि से यह आवश्यक है कि भक्तिकाल की सीमाएं और विस्तार के सम्बन्ध से उसका काल निर्धारण स्पष्ट किया जाय,अन्य कालों से उसकी विशेषता स्पष्ट करके भक्तिकाल के उद्भव और विकास की रूपरेखा अंकित की जाय । अगले अध्याय में यही स्पष्ट किया गया है ।

भारतीय संस्कृति के इतिहास में यह चिन्तक भक्ति सम्बन्धी विविध दार्शनिक धाराएं प्रवाहित करते रहे हैं । किन्तु जहां तक प्रस्तुत प्रबन्ध के सम्बन्ध से हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल का सम्बन्ध है वहां इस तथ्य पर विचार कर लेना भी अत्यन्त

आवश्यक होगा कि उस भक्तिकाल की सीमाएं क्या थीं ? अर्थात् उसका काल निर्धारण किस सीमा तक है ? इसके अतिरिक्त भक्तिकाल की कुछ अपनी सामान्य विशेषताएं हैं जो उसे अन्य कालों से अलग करती हैं । इसके अतिरिक्त भक्तिकाल के उद्भव और विकासकी विवेचना भी इसलिए आवश्यक है कि जिसके आधार पर भक्तिकाल का पूर्ण दिग्दर्शन प्राप्त हो सके । अगले अध्याय में इसी का स्पष्टीकरण किया जायेगा ।

चतुर्थ अध्याय

भक्तिकाल की सीमाएं और विस्तार

भक्तिकाल का काल-निर्धारण और विस्तार

भक्तिकाल के सम्बन्ध में प्रमुख इतिहासकारों का काल-निर्धारण निम्नलिखित रूप में रखा जा सकता है :-

काल-निर्धारण[१]

रामचन्द्र शुक्ल	डा० रामकुमार वर्मा	डा०हजारीप्रसाद द्विवेदी
सं०१४०० से १८०० सं०तक	सं०१३७५ से १७०० तक	१४वीं-१५वीं शताब्दी
पूर्वार्द्धखण्ड — सं०१४०० से १६०० तक; उत्तरार्द्ध — सं०१६०० से १८०० तक		

भक्तिकाल का विस्तार-[२]

हिन्दी साहित्य के विभिन्न इतिहासों एवं अन्य बहिर्साक्ष्य तथा अन्तर्साक्ष्य प्रमाणों को देखते हुए भक्तिकाल के सम्बन्ध में बहुत ही मतभेद है। डा० द्विवेदी अपने 'हिन्दी साहित्य' में भक्तिकाल के विषय में कहते हैं कि "यह बात अत्यन्त उपहासास्पद है कि जब मुसलमान लोग उत्तर भारत के मन्दिर

१- विभिन्न पुस्तकों के आधार पर ।

२- ~~भारतवर्ष के मानचित्र में~~ ।

तोड़ रहे थे तो उसी समय उपेक्षाकृत निरापद दक्षिण में भक्त लोगों ने भगवान की शरणागति की प्रार्थना की । मुसलमानों के अत्याचार के कारण यदि भक्ति की भावधारा को उमड़ना था तो पहले उसे सिंध में और फिर उत्तर भारत में प्रकट होना चाहिए था, पर हुई वह दक्षिण में ।' इस प्रकार डा० द्विवेदी के अनुसार भक्तिकाल का कोई निर्धारित समय नहीं है बल्कि भक्ति काल का उद्भव चौदहवीं और पन्द्रहवीं शताब्दी है । भक्तिकाल का जन्म आचार्य द्विवेदी के अनुसार दक्षिण भारत की वैष्णव भक्ति से हुआ है ।

डा० रामकुमार वर्मा भक्तिकाल का जन्म सं० १३७५ से सं० १७०० के मध्य मानते हैं । तथा इनके मत में भक्ति का विस्तार राजस्थान और मध्यदेश में था। वह भक्तिकाल के प्रादुर्भाव का मुख्य कारण हिन्दू धर्म पर आघात मानते हैं । उनका कहना है कि' हिन्दू धर्म पर आघात होते ही यद्यपि जनता विचलित हो उठी तथापि आत्मरक्षा के विचार से किसी अंश तक हिन्दुओं ने भी इस्लाम धर्म के समझने की चेष्टा की । फलत: धार्मिक विचारों में परिवर्तन होने का सूत्रपात एक ऐसे रूप में प्रारम्भ हुआ जिसने हमारे साहित्य में एक नवीन धारा की ही सृष्टि कर दी ।'[1]

इस प्रकार डा० रामकुमार वर्मा भक्तिकाल का प्रादुर्भाव मुसलमानों के भीषण आक्रमण एवं आतंक को कारण बताते हैं ।'निस्सहाय हिन्दुओं ने नाना प्रकार के अत्याचार तथा दुर्व्यवहार से पीड़ित होकर अन्त में भगवान की शरण ली और सोचा कि भगवान ही इन दुराचारियों को इस पृथ्वी से हटा सकते हैं । इस प्रकार' इस समय हिन्दू राजा और प्रजा दोनों के विचार भक्तिमय हो गए और वीरगाथा काल की वीरमयी प्रवृत्ति धीरे धीरे शान्त और शृंगार रस में परिणत होने लगी ।'[2]

१- डा०रामकुमार वर्मा-हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास,पृ० १६२

२- वही वही पृ० १६२

डा० सत्येन्द्र के अनुसार भक्ति का उद्‌भव द्रविड़ों से मानते हैं दक्षिण के वैष्णव भक्तों से नहीं । उनकी उक्ति उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार है :- " भक्ति द्राविड़ ऊपजी लाये रामानन्द " इस उक्ति के अनुसार भक्ति का आविर्भाव द्रविड़ में हुआ । डा० सत्येन्द्र सम्भवत: यह नहीं जान पाये कि वह इन शब्दों के द्वारा कितने गहरे सत्य को प्रकट कर रहा है ।उनका द्रविड़ से अभिप्राय सम्भवत: दक्षिण देश से ही था, किन्तु जैसा संकेत किया जा चुका है नयी प्राग् ऐतिहासिक शोधों से यह सिद्ध सा होता है कि भक्ति का मूल द्रविड़ों में है और दक्षिण के द्रविड़ों में नहीं,उनके महान् पूर्वज मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के द्रविड़ों में है । जहाँ तक संसार को जितने भी साक्ष्य प्रमाण प्राप्त हैं उनसे यह सिद्ध होता है कि मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के द्रविड़ अथवा दस्यु ही ईश्वरवादी थे । उनके इस ईश्वर का नाम शिव था । ------आर्यों ने भक्ति का भाव दक्षिण से प्राप्त किया था ।"

उपरोक्त विवेचन एवं उद्धरणों से इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि भक्ति की लहर उत्तर भारत में तेरहवीं शताब्दी के मध्य से दिखलायी देती है । और उसका स्रोत दक्षिण की वैष्णव भक्ति में है । दक्षिण भारत में अलवार सम्प्रदाय रूप में प्रतिष्ठित थी। चौदहवीं शताब्दी के बाद जो हिन्दी का साहित्य रचा गया उसकी मूल प्रेरणा भक्ति ही रही है ।

हिन्दी साहित्य के समस्त काल अपनी अपनी विभिन्न विशेषताएं रखते हैं । किन्तु भक्तिकाल अपना एक विशेष एवं अलग ही महत्व रखता है ।भक्ति काल की महत्ता को देखते हुए ,[illegible] के उस कथन पर पड़ती है जिसमें उन्होंने कहा है कि कोई भी मनुष्य जिसे पन्द्रहवीं तथा बाद की शताब्दियों का साहित्य पढ़ने का मौका मिला है उस भारी व्यवधान को लक्ष्य किये बिना नहीं रह सकता जो पुरानी और नई धार्मिक भावनाओं में विद्यमान है ।हम अपने को ऐसे धार्मिक आन्दोलन के सामने पाते हैं जो उन सब आन्दोलनों से कहीं अधिक व्यापक और विशाल है जिन्हें भारतवर्ष ने कभी भी देखा है । यहां तक कि वह बौद्ध धर्म के आन्दोलन से भी अधिक व्यापक और विशाल है क्योंकि इसका प्रभाव आज भी वर्तमान है । इस युग में

धर्म ज्ञान का नहीं, बल्कि भावावेश का विषय हो गया था । यहां से हम साधना और प्रेमोल्लास के देश में आते हैं और ऐसी आत्माओं का साक्षात्कार करते हैं जो काशी के दिग्गज पंडितों की जाति की नहीं बल्कि जिनकी समता मध्ययुग के यूरोपियन भक्त बर्नर्ड आफ क्लैरवक्स, टामस-ए-कैम्पिस और सेंट थेरिसा से है ।" अत: जो इस काल के वास्तविक विकास के बारे में नहीं जानते हैं उन्हें आश्चर्य होता है कि ऐसा कैसे हुआ ?

भारत के दक्षिण में आलवार भक्तों में भक्तिमयी उपासना पद्धति वर्तमान थी । आलवार बारह बताये जाते हैं जिनमें लगभग नौ तो ऐतिहासिक व्यक्ति हैं । इनमें आण्डाल नाम की एक भक्तिन भी थी । इनमें से अनेक भक्त उन जातियों में से उत्पन्न हुए थे जिन्हें नीच एवं निकृष्ट बताया जाता है । वे बारह आलवार भक्त निम्न हैं:-

तामिल नाम	संस्कृत नाम
(१) पोयगै आलवार	(१) सोरोयोगिन
(२) भूत्त आलवार	(२) भूतयोगिन
(३) पेय आलवार	(३) महद्योगिन
(४) तिरुमलीसै आलवार	(४) भक्तिसार
(५) नम आलवार	(५) शठकोपम ध्वकपि
(६) पेरिय आलवार	(६) कुरैकार विष्णुचित्त
(७) आंडाल	(७) गोदा
(८) तोंडरडिप्पोडो	(८) भक्तिंडिठ्रेडु
(९) तिरुप्पाण आलवार	(९) योगिवाहन
(१०) तिरुमंगै आलवार	(१०) परकाल
(११) मधुरकवि	(११) मधुरकवि
(१२) कुलशेखर आलवार	(१२) कुलशेखर आलवार

इन्हीं लोगों की परम्परा में प्रसिद्ध वैष्णव आचार्य श्री रामानुजाचार्य का प्रादुर्भाव हुआ । दक्षिण में वर्तमान युग की भांति ही जाति-विचार, छुआछूत

ऊंच-नीच का विचार जटिल रूप में था । फिर भी जैसा कि प्राध्यापक निलिमोहन सेन ने लिखा है, ' इस जाति-विचार-ग्रस्त दक्षिण में रामानुजाचार्य ने विष्णु की भक्ति का आश्रय लेकर नीच जाति को ऊंचा किया और देसी भाषा में रचित शठकोपाचार्य के तिरुवैरुकुर प्रभृति भक्तिशास्त्र को वैष्णवों का वेद कह कर समादृत किया । धर्म की दृष्टि में सभी समान हैं,लेकिन समाज के व्यवहार में जाति-भेद है,इसीलिए दोनों ओर की रक्षा करके यह व्यवस्था की गई कि प्रत्येक आदमी अलग अलग भोजन करेगा ।क्योंकि जाति-पांति का सवाल तो पंक्तिभोज में ही उठ सकता है । इसी को दक्षिण में 'तैन कलाई' या दक्षिणवाद कहते हैं ।'

पन्द्रहवीं शताब्दी में दक्षिणवाद 'को अधिक स्वाधीनतापूर्ण रूप ...र वेदान्त देशिक ने 'वेदवाद' का नाम दिया । वेदान्तदेशिक ने प्राचीन दक्षिण वाद की प्राचीन रीति को पुन: प्रवर्तित कर दिया । 'तैन कलाई' वालों ने विवाह में होम और विधवा का मस्तक मुण्डन आदि आचार छोड़ दिये थे । किन्तु वेदान्त देशिक ने पुन: इन आचारों को जीवित कर दिया । अत: इस बात से स्पष्ट है कि आलवारों का भक्तिमतवाद भी जनसाधारण की चीज़ था जो क्रमश: शास्त्र का सहारा पाकर सारे ... में फैल गया । अभी तक यह स्पष्ट रूप से नहीं बता सकते कि पुराने आलवार भक्तों ने इस भक्तिवाद को कहां तक दार्शनिक रूप दिया है ? परन्तु डा० द्विवेदी के अनुसार 'बहुत संभव है जैसा कि प्राय: हुआ करता है कि अपने आप में वह उत्तर भारत के सन्तों की तरह 'अनभौ सांचा पंथ' या अनुभूत सत्यों का अव्यवस्थित रूप रहा हो जिसे बाद में शास्त्रज्ञानधारी पण्डितों ने ब्योरे बार सजाया हो और उसे दार्शनिक रूप दिया हो [१] ।'

१- डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, 'हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० ५६

वस्तुतः मैं दक्षिण का वैष्णव [illegible] ही भक्ति आन्दोलन का मूल प्रेरक है। बारहवीं शताब्दी के आस पास दक्षिण में स्वामी शंकराचार्य के [illegible] मत अद्वैतवाद की प्रतिक्रिया प्रारम्भ हो गयी थी। अद्वैतवाद मैं, जिसे आगे चल कर बादके विरोधी आचार्यों ने मायावाद भी कहा है, जीव और ब्रह्म की एकता भक्ति के लिए उपयुक्त न थी क्योंकि भक्ति के लिए दो वस्तुओं का होना अति आवश्यक है-जीव का और भगवान। प्राचीन [illegible] धर्म भी इस बात का समर्थन करता है। दक्षिण के [illegible] भक्त इस बात को मानते थे। इसीलिए बारहवीं शताब्दी में जब भागवतधर्म ने नया रूप ग्रहण किया तो सबसे अधिक विरोध मायावाद का किया गया। इस अद्वैत वाद के विरोध में चार प्रमुख सम्प्रदायों की उत्पत्ति हुई जिनके विषय में पहले बताया जा चुका है। साथ में इन सम्प्रदायों के मुख्य सिद्धान्त और भक्ति का क्या रूप था, यह भी बताया जा चुका है। इन चारों सम्प्रदायों का आपस में दार्शनिक मतभेद है किन्तु कुछ बातें ऐसी हैं जिनमें चारों सम्प्रदाय पूर्ण रूप से सहमत हैं। उनमें समन्वय की भावना निम्नलिखित बातों में है --

१- मायावाद का विरोध।

२- भगवान का अवतार धारण करना।

३- जीवात्मा भिन्न भिन्न है। वह अद्वैत वादियों के अनुसार ब्रह्म में लीन कभी नहीं होता।

हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल की समस्त काव्यसाधना पर इन सम्प्रदायों का सीधा प्रभाव एवं सम्बन्ध है।

श्रीसम्प्रदाय के प्रवर्तक रामानुजाचार्य दक्षिण के आलवार सम्प्रदाय के थे उनसे चौथे या पांचवीं शिष्य परम्परा में सुप्रसिद्ध स्वामी रामानन्द हुए। गुरु से मतभेद होने के कारण उन्होंने उस मठ को त्याग दिया और उत्तरभारत की ओर चले आये। इतनी बड़ी सम्पत्ति को सहज में त्याग देना, उस आदमी की स्वतंत्र चिन्ता-शक्ति का अनुमान सहज ही से लगाया जा सकता है। सत्य तो यह है कि मध्ययुग की समग्र स्वाधीन चिन्ता के गुरु रामानन्द ही थे। यह तो स्पष्ट ही है कि भक्ति द्रविड़ देश में उत्पन्न हुई थी। उसे उत्तरभारत में रामानन्द ले

आये और कबीरदास ने उसे सप्तद्वीप और नवखण्ड में प्रकट कर दिया।[1]

श्री क्षितिमोहन सेन ने 'भारतीय मध्ययुगीन साधना' में एक स्थल पर लिखा है कि "रामानन्द ने देखा कि भगवान के शरणागत होकर जो भक्ति के पथ में आ गया उसके लिए वर्णाश्रम का बन्धन व्यर्थ है, इसलिए भगवद्भक्त को खान-पान की झंझट में नहीं पड़ना चाहिए। यदि ऋषियों के नाम पर गोत्र और परिवार बन सकते हैं तो ऋषियों के भी पूजित परमेश्वर के नाम पर सबका परिचय क्यों नहीं दिया जा सकता ? इस प्रकार सभी भाई भाई हैं, सभी एक जाति के हैं। श्रेष्ठता भक्ति से होती है, जन्म से नहीं।" रामानन्द उच्चकोटि के महान् पण्डित थे। ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए थे। प्रभावशाली सम्प्रदाय के आचार्य गुरु थे अतः उन्होंने देशभाषा में कविता लिखी, ब्राह्मण से चाण्डाल, उच्च श्रेणी से लेकर नीची श्रेणी तक के मनुष्यों को राम-नाम का उपदेश दिया। रामानन्द के बारह शिष्य थे, उनके नाम ये हैं --

रैदास (चमार), कबीर (जुलाहा), धन्ना (जाट), सैना (नाई)
पीपा (राजपूत), भवानंद, सुखानंद, अनन्तानंद, सुरसुरानंद, परमानंद,
महानंद, श्रीआनन्द।

रामानन्द के उपर्युक्त शिष्यों में से कई तो भक्तिकाल के सुप्रसिद्ध कवि हो गये हैं। इनमें रविदास या रैदास और कबीरदास अत्यधिक प्रसिद्ध हुए हैं।

आगे चल कर इन कवियों एवं भक्तों के भक्तों ने इनके नाम पर अलग सम्प्रदायों का प्रवर्तन किया जिनमें कबीरपंथी, खाकी, मलूकदासी, रैदासी, और सैना-पंथी अधिक प्रसिद्ध हैं। रामानंद जी का अपने गुरु से अनबन खान-पान एवं ऊँच-नीच के प्रश्न पर ही हो गया था और इसी अनबन के कारण अपने

१- 'भक्ती द्राविड़ ऊपजी, लाये रामानंद।
परगट किया कबीर ने, सप्त दीप नवखंड ।।
-भक्तमाल की टीका, पृ० ८१,८२।

गुरु को तथा मठ को त्याग कर उ[illegible] मैं चले आये थे अतएव वे अपने शिष्यों के इस प्रकार के आचार-विचार पर जोर नहीं दिलवाते थे। इसीलिए बादके भक्तों में जाति-पांति का प्रश्न ही जाता रहा। [illegible] ने स्वयं रामचन्द्र के अवतार और चरित्र को ही लोक और काल के उपयोगी बताया था उपासना के क्षेत्र में भी वे जाति-पांति के बन्धन को अस्वीकार करते थे। पर [illegible] भी व्यक्ति गत मत को उन्होंने [illegible] पर लाद नहीं दिया। उनके [illegible]नुसार गुरु को आकाशधर्मी होना चाहिए जो पौधों को बढ़ने में [illegible] देता रहे। उसे शीलाधर्मी न होना चाहिए जो कि पौधों को अपने गुरुत्व से दबा कर उसका विकास रोक दे।

यद्यपि कबीरदास के समय में प्रमुख रूप से तीन धाराएं प्रचलित थीं- ये तीन धाराएं थीं—

१- उत्तर-पूर्व के नाथ-पंथ और सहजयान का मिश्रित रूप।

२- पश्चिम का सूफी मतवाद।

और

३- दक्षिण का वेदान्त-भावित वैष्णवधर्म।

तथापि कबीरदास के ऊपर रामानन्द के [illegible] का अधिक प्रभाव पाते हैं। कबीर के दोहे, पद, उलटबासियां आदि नाथ-पंथ और [illegible] के साधक के ढंग पर हैं। दूसरी धारा का [illegible] प्रभाव उनकी प्रेममूलक रूपक रचनाओं पर है, पर अन्तिम धारा ही आरम्भ में कबीर को सदा परिचालित करती रही। [illegible] शास्त्रियों को कबीर की उक्तियों में ऊटपटांग का आभास [illegible] असंभव नहीं है पर अगर वे गहराई में जायें तो उन्हें यह ज्ञात होगा कि उस युग में अर्थ-हीन जात-पांत का आडम्बर बहुत ही कठोर रूप धारण कर चुका था। आज भी यह कठोर बन्धन समाज में विद्यमान है और आज के महापुरुष भी वह चाहे जो कोई हो उस पर [illegible] करने के लिए उतावला हो रहा है।

रैदास कबीरदास से बड़े थे। एक बार ब्रह्मज्ञान के विषय में कबीर से जब पूछा गया तो, कबीर ने बताया कि "मैं बच्चा था, मां की गोदी में चढ़ कर रास्ता पार कर आया हूं, रैदास से पूछो, वे बड़े थे और मां ने उनके सिर पर कुछ

गट्ठर भी रख दिया था । वे ही रास्ता का मर्म बता सकते हैं ।`
अन्त में यह कहा जाता है कि मीराबाई ने रैदास से दीक्षा ग्रहण की थी । परन्तु हाल की खोजों में इस मत पर सन्देह प्रकट किया गया है ।[1]

कबीर के पुत्र का नाम कमाल था । कबीर के मृत्यु के उपरान्त उनके शिष्यों ने इनसे सम्प्रदाय स्थापित करने के लिए बहुत कहा, मगर कमाल राजी नहीं हुए । अपनी पूरी उम्र सम्प्रदाय न स्थापित करने में लगे रहे मगर अन्त में सम्प्रदाय की स्थापना होकर रही । सुरतगोपाल ने काशी में और धरमदास ने मध्यप्रान्त में कबीर का सम्प्रदाय स्थापित किया।

कमाल के शिष्य दादू थे । दादू की जाति के बारे में अभी भी मतभेद है । कुछ लोग इन्हें मोची कहते हैं कुछ लोगों का यह मत है कि ये जाति के धुनिया थे । मगर कुछ विद्वानों का यह विचार है कि यह सारस्वत ब्राह्मण थे । पंडित चन्द्रिकाप्रसाद त्रिपाठी और प्रो० क्षितिमोहन सेन के आधुनिक खोजों से जाना गया है कि ये जन्म से मुसलमान थे । प्रो० सेन को बंगाल के बाउलों में दादू का उल्लेख मिलता है । उसमें यह स्पष्ट हो जाता है कि गुरु दादू का नाम दाऊद था । दादू में कवित्व-शक्ति आश्चर्यजनक थी । ये बहुत ही प्रभावशाली एवं प्रतिभाशाली व्यक्ति थे ।अन्य भक्तों की भांति ये भी सम्प्रदाय गत शास्त्रीय संस्कारों से मुक्त थे, इसलिए ये सभी स्थानों से निर्भीक भाव से सत्य ग्रहण करते थे ।

दादू के अनेक शिष्य थे जिनमें से कुछ का स्थान भक्तिकाल के अच्छे कवियों में है जैसे- सुन्दरदास,रज्जब,जगगोपाल,जगन्नाथ,मोहनदास,खेमदास आदि इनमें साहित्यिक उल्लेख के योग्य दो हैं- सुन्दरदास और रज्जब । कहा जाता है कि सुन्दरदास जी बहुत ही छोटी उम्र से ही दादू के शिष्य हो

१- परशुराम चतुर्वेदी,`मीराबाई की पदावली` पृ० ७२

गए थे और उन्होंने छोटी उम्र से ही काशी में रह कर शास्त्राभ्यास किया था। इसलिए उनकी कविताओं में पांडित्य की मात्रा अधिक पाई जाती है। सन्तों में अगर किसी ने काव्य चमत्कार में छत्र बन्ध,मुरजबन्ध आदि बाह्य आलंकारिता को आश्रय दिया तो वे सुन्दरदास ही हैं। रज्जब पढ़े-लिखे अधिक नहीं थे इसलिए उन्होंने अपनी भावनाओं को सरल एवं सरस रूप से व्यक्त किया है। दादू के शिष्यों में रज्जब सबसे अधिक चिन्तनशील और भावुक हैं।

दादू की शिष्य-परम्परा में जगजीवनदास हुए जिन्होंने सतनामी सम्प्रदाय चलाया। निर्गुण भक्तों की परम्परा में मलूकदास का नाम है। और भी कई प्रसिद्ध सन्त हो गये हैं, जिन्होंने हिन्दी में अपनी अमरवाणियां लिखी हैं। इनमें तुलसी साहब,गोविन्दसाहब,भीखा साहब,पल्टसाहब आदि मुख्य हैं।

रामानन्द भक्तों की दूसरी श्रेणी में महाकवि गोसांई तुलसीदास जी हुए। उन्होंने राम को अपने काव्य का आधार माना था तथा अपने समस्त ग्रन्थों में राम के सगुणोपासना पर विशेष महत्व दिया। उन दिनों हिन्दी साहित्य में ,लोकगीत के जितने रूप प्रचलित थे तुलसीदास जी ने सबको अपनी प्रतिभा द्वारा अपने में अपना लिया। दोहे,सवैये,कवित्त,पद,सोहर,भजन आदि सभी क्षेत्रों में तुलसीदास जी ने अपनी प्रतिभा का चमत्कार दिखाया है। हिन्दू 'रामचरितमानस' को बाइबिल के सदृश्य मानने लगे। हिन्दी साहित्य के इतिहास में इतना महत्व-पूर्ण प्रबन्धकाव्य तुलसीदास के अतिरिक्त अन्य कोई भी अभी तक नहीं लिख सका है। प्रबन्धकाव्य में तुलसीदास इतनी चरम सीमा पर पहुंच चुके हैं कि उस स्थान के आगे जाना संभव नहीं है।

तुलसीदास राम-भक्ति के उपासक थे। समाज में वर्णाश्रम व्यवस्था के वे पक्के समर्थक थे पर इनमें अन्दर एक विशेषता थी कि उपासना के क्षेत्र में वे जांति-पांति के भेद भाव में विश्वास नहीं करते थे। दार्शनिक मत में बहुत कुछ वे शंकराचार्य के अद्वैतवाद के समर्थक थे। यद्यपि ज्ञान की अपेक्षा वे भक्ति को ही अधिक काम्य समझते थे।

बल्लभाचार्य की शिष्य-परम्परा में एक और उल्लेखनीय भक्त हो गए हैं वे हैं - अग्रदास जी के शिष्य नाभादास जी। अभी तक इनके जन्म एवं वंशज का

ठीक से प्रामाणिक रूप नहीं मिल सका है मगर कुछ लोगों का कथन है कि ये भी नीच जाति के थे । इनका `भक्तमाल` और इस पर इनके शिष्य प्रिया-दास जी की टीका भक्तों में अत्यधिक लोकप्रिय मानी जाती है । तुलसीदास जी की `रामचरितमानस` के बाद मध्ययुग में `भक्तमाल` ही अधिक लोकप्रिय पुस्तक रही है ।

(२) ब्राह्म संप्रदाय -ब्राह्म सम्प्रदाय के प्रवर्तक स्वामी मध्वाचार्य पहले शैव थे ,बाद में वैष्णव हो गए । जहां तक इस सम्प्रदाय का सम्बन्ध है हिन्दी साहित्य पर इसका कोई प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं दिखता । यद्यपि चैतन्य देव इसी सम्प्रदाय में पहले दीक्षित हुए थे तथापि बाद में वे गौडीय वैष्णवमत बाद रुद्र-सम्प्रदायान्तर्गत बल्लभाचार्य के मत से अधिक साम्य रखता है ।

हिन्दी साहित्य में चैतन्य देव के एक मात्र दीक्षा-प्राप्त शिष्य गोपाल भट्ट का महत्वपूर्ण स्थान है ।

चैतन्य सम्प्रदाय के प्रसिद्ध भक्त जीवगोस्वामी के साथ हिन्दी की अमर भक्ति कवि मीराबाई का सम्बन्ध है । मीराबाई ने पहले जीवस्वामी से ही दीक्षा ग्रहण की थी ।

(३)रुद्र सम्प्रदाय - विष्णुस्वामी द्वारा स्थापित रुद्र सम्प्रदाय वास्तव में बल्लभाचार्य के प्रवर्तित सम्प्रदाय के रूप में ही जीवित है ।इसकी एक दो अन्य शाखाएं भी बतायी जाती हैं । परन्तु उनका कोई विशेष महत्व हिन्दी साहित्य पर नहीं दिखाई पड़ता है । स्वामी बल्लभाचार्य के पुत्र गोसांई बिट्ठलनाथ बाद में आचार्य पद के अधिकारी हुए थे ।इन दोनों पिता पुत्र के चार-चार शिष्य हिन्दी भक्ति साहित्य के आदि युग में के उन्नायक हैं । गोंसाई बिट्ठल नाथ ने इन आठ को लेकर अष्टछाप की स्थापना की थी । इन आठ शिष्यों के नाम ये हैं :- (१) सूरदास (२)कुंभनदास (३) परमानन्ददास (४)कृष्णदास (५)छीतस्वामी (६) गोविंदस्वामी (७) चतुर्भुजदास (८)नन्ददास ।

भक्तिकाल की विशेषता-

१- दर्शन एवं भक्ति सम्बन्धी रचना-

हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल की सबसे प्रमुख विशेषता यह है कि इस काल में दर्शन और भक्ति सम्बन्धी उच्चकोटि की रचना हुई है।

२- हिन्दु-संस्कृति और आचार-विचार की रक्षा-

भक्तिकाल की दूसरी विशेषता हिन्दू संस्कृति और आचार-विचार की पूर्णत: रक्षा है। जब मुसलमानों का राज्य उत्तरी भारत में पूर्णतया प्रतिष्ठित हो गया था और मुसलमानी धर्म के आक्रमण हिन्दू धर्म पर हो रहे थे, तब भारतीय संस्कृति और धर्म की रक्षा भक्ति काव्य द्वारा ही हुई। भक्ति काव्य में ऐसी धार्मिक भावनाओं की उद्भावना हुई जिनका मुसलमानी धर्म से कोई विरोध न था तथा उनमें भारतीय संस्कृति के मूल तत्वों का भी समावेश था। इस प्रकार भक्तिकाव्य में जहां भारतीय रक्षा का नाम दीख पड़ता है, वहां हिन्दू और मुसलमानी धर्म के समन्वय की भी भावना मिलती है। यह समन्वय केवल धार्मिक क्षेत्र में ही उपलब्ध नहीं होता है वरन् अन्य प्रमुख क्षेत्रों में भी दिखाई पड़ता है।

भक्तिकाल के इसी समन्वयवाद के आधार पर बाबू श्यामसुन्दरदास ने अपनी हिन्दी साहित्य में लिखा है "हिन्दी की चरम उन्नति का काव्य भक्ति काव्य का काल है, जिससे उसके साहित्य के साथ हमारे जातीय लक्षणों का सामंजस्य स्थापित हो जाता है।"

३- काव्य- दर्शन-

भक्तिकाल की रचनाओं में जहां उच्चकोटि की धार्मिक रचनाएं प्राप्त हैं उसके दूसरे पक्ष में धर्म की उच्च व्याख्या भी होती है। उच्चकोटि के काव्य के दर्शन अन्य कालों की अपेक्षा इस काल में उच्चकोटि की मिलती है। मुख्यत: नवधा भक्ति के प्रत्येक प्रकार का विवेचन इस काव्य में मिलता है।

यह ६ प्रकार की उपरोक्त नवधा भक्ति मोटे तौर पर तीन विभागों में विभक्त है—

(१) श्रवण, कीर्तन, स्मरण (नाम-महिमा)

(२) पादसेवन- अर्चन, वन्दन (मूर्ति-उपासना)

(३) दास्य-सख्य, आत्मनिवेदन (श्रद्धा-विशेष)

(४) गुरु महिमा- भक्तिकाल की एक मुख्य विशेषता गुरु महिमा है जिसे क्या निर्गुण क्या सगुण प्रत्येक साधक ने श्रद्धा सहित गाया है।

संतकाव्य के प्रवर्तक एवं महान् सन्त कबीरदास जी भी गुरु की महिमा तथा महत्ता पर बल देते हुए कहते हैं कि-

" साधो भजन-भेद है न्यारा।
कर माला मुद्रा के पहिरे चन्दन घसे लिलारा ।।
मूड़ मुड़ाये जटा रखाये अंग लगाये छारा।।
का पानी पाहन के पूजे कन्द मूल फलहारा।
कहा नेम तीरथ व्रत कीन्हे जो नहीं तत्व विचारा ।।
का गाये का पढ़ि दिखलाये का भरमे संसारा।
का संध्या तरपन के कीन्हे का षटकर्म अचारा ।।
जैसे बधिक ओट टाटी के हाथ लिये विष चारा।
ज्यों बक ध्यान धरे घट भीतर अपने अंग विकारा ।।
दे परचे स्वामी होई बैठे करे विषय व्यवहारा।
ज्ञान ध्यान को मरम न जाने बाद करे निःकारा ।।
फूंके कान कुमति अपनी से बोझा लियो सिर मारा।
बिन सतगुरु के कैतिक बहिगे लोग लहर की धारा ।।
गहिर गंभीर पार नहिं पावै खंड अखंड से न्यारा।
दृष्टि अपार चलन को सहजे करे भस्म के जारा ।।
निर्मल दृष्टि आतमा जाकी साहब नाम अधारा।
कहत कबीर वही जन आवै "तै" "मैं" तजै विकारा ।।

(कबीर ग्रन्थावली)

इस प्रकार कबीरदास के गुरु की महत्ता को बताते हुए कहते हैं कि इस असार संसार रूपी भवसागर से पार लगाने वाला पतवार 'सतगुरु' ही है ।

नवधाभक्ति में प्रभु के नाम-स्मरण में सब संसार को भूल कर प्रभु में ही ध्यान केन्द्रित करना चाहिए। काठ की माला में काठ और सुमेरु की उलझने हैं । श्वास की माला ही सर्वश्रेष्ठ है । इसी माला के फेरने से मन ईश्वर में लीन हो जाता है ।

(४) सुमिरनविवेचन- कबीरदास के निम्न दोहों में नवधा भक्ति का श्रवण, कीर्तन स्मरण (नाम-महिमा) प्रत्येक में स्पष्ट दिखायी पड़ता है । सुमिरन विवेचन का वर्णन करते हुए एक स्थल पर कबीरदास कहते हैं कि-

'दुख में सुमरिन सब करै, सुख में करै न कोय।
जो सुख में समरिन करै, तो दुख काहे का होय।।८।।
सुमरिन सो मन लाइये, जैसे नाद कुरंग ।
कह कबीर बिसरे नहीं, प्रान तजै तेहि संग ।।६।।
माला फेरत जुग भया, फिरा न मन का फेर।
कर का मन का डारि दे, मन का मनका फेर ।।११।।
कबिरा माला काठ की, बहुत जतन का फेर ।
माला स्वांस उसाँस की, जामे गांठ न मेर ।।१३।।
आज कहै कल्ह भजूंगा, काल कहै फिर काल ।
आज काल के करत ही, औसर जासी चाल ।।१५।।

५- नवधा भक्ति - ईश्वर सर्वशक्तिमान है । वह अपनी कृपा से मनुष्य को संसार के कष्टों से मुक्त कर सकता है । संसार की समस्त वस्तुएं अनित्य हैं, वही एक नित्य है, अत: वही ईश्वर वन्दनीय है । कबीर के निम्नलिखित साखीयाँ से यह भाव स्पष्ट होता है ---

'साहिब तुमहि दयाल हो, तुम लगि मेरी दौर ।
जैसे काग जहाज को, सूझै और न ठौर ।।२१।।

साईं तेरे बहुत गुण , अवगुण कोई नाहिं ।
जो दिल खोजो आपना, सब अवगुण मोंहि मांहि।।२३।।
मैं अपराधी जनम का, नख सिख भरा विकार।
तुम दाता दु:ख भंजना, मेरी करो उबार ।।२४।।
सुरत करो मेरे साइयां, हम हैं भव-जल मांहि।
आपहि हम बह जायेंगे, जो नहिं पकड़ो बांहि।।२५।।
अन्तरयामी एक तू, आतम को आधार।
जो तुम छोड़ो हाथ तो,कौन उतारे पार।।२६।।

कवि सम्राट गोस्वामी तुलसीदास जी ने मानस में श्री राम जी के मुख-कमल से शबरी को नवधा भक्ति इस प्रकार सुनायी है -

`नवधा भगति कहउं तोहि पाहीं।सावधान सुनु धरु मन मांही ।।
प्रथम भगति संतन्ह कर संगा । दूसरि रति मम कथा प्रसंगा ।।

+ +

`अब मोहि भा भरोस ब हनुमंता । बिनु हरि कृपा मिलहिं नहिं संता ।।`
` कुलिस कठोर निठुर सोइ छाती । जिन्हहिन रघुपति कथा सुहाती ।।`
`राम कथा के तेइ अधिकारी । जिन्ह कहं सतसंगति अति प्यारी ।।`
` मन कामना सिद्धि नर पावा। जो एहि कथा सुनैं अरु गावा ।।`

+ +

` गुर पद पंकज सेवा तीसरि भगति अमान ।
चौथि भगति मम गुन गन करइ कपट तजि गान ।।`

गुरु की महत्ता तथा गुरुसेवा का वर्णन करते हुए गोस्वामी तुलसीदास जी कहते हैं ---

` गुर बिनु भव निधि तरै न कोई।जो बिरंचि संकर सम होई ।।
मम गुन गावत पुलक सरीरा ।गदगद गिरा नयन बह नीरा ।।
मंत्र जाप मम दृढ़ बिस्वासा।पंचम भजन सो बेद प्रकाशा ।।`

हिन्दू-धर्म के प्रत्येक क्षेत्र में धर्म का अस्तित्व भरा हुआ है इसलिए व्यर्थ के कामों से विरत होकर मनुष्यों का यह धर्म होता है कि वे रात दिन अखण्ड रूप से भगवान के भजन में लगे रहें । उदाहरण स्वरूप गोस्वामी जी अपने `रामचरितमानस` में एक स्थल पर कहते हैं --

` सातवं सम मोहि मय जग देखा।मोते संत अधिक करि लेखा ।।
जड़ चेतन जग जीव जत सकल राम मय जानि।
बंदउं सब के पद कमल सदा जोरि जुग पानि।।

नवम भक्ति श्री रामचन्द्र जी सबसे छलरहित-सीधा रहना बताते हैं और कहते हैं कि मेरा भरोसा रख कर हर्ष शोक या दीनता मन में नहीं लानी चाहिए।

` नव महुं एकउ जिन्ह के होई । नारि पुरुष सचराचर कोई ।।
रामभक्ति तजि चह कल्याना । सो नर अधम सृगाल समाना ।।
राम भक्ति मनि उर बस जाके । दुख लवलेश न सपनेहुं ताके ।।`

इस प्रकार संक्षिप्त रूप में भक्ति के नौ अंग तथा भक्ति की व्याख्या का पूर्ण रूपेण विवेचन एवं व्याख्या भक्तिकाल की रचनाओं में प्राप्त होता है-

१- कथा सुनने में -काग-भिशुंड,उद्धव,जनमेजय आदि आदर्श उदाहरणस्वरूप हैं।
२- कीर्तन में- ~~विदुर,केवट,शबरी आदि~~ नारद,शंकर आदि ।
३- स्मरण में- विदुर,केवट,शबरी आदि।
४- पादसेवन में -सीता,निषादराज आदि उल्लेखनीय हैं ।

पाद-सेवन में सीता को देखिए-

`पद छिनु छिनु प्रभु पद कमल बिलोकी।
रहिहउं मुदित दिवस जिमि कोकी।।`

निषादराज की चतुराई देखिए-

`पद पखारि जलु पान करि ।

अंगद हनुमान की सेवा का यह उदाहरण-

`बड़भागी अंगद हनुमाना।चरन कमल चांपत बिधि नाना।।`

अहिल्या की भक्ति -

`चरन-कमल रज चाहती`

जटायु का प्रेम -

`आगे परा गीधपति देखा।सुमिरत राम चरन जिन्ह रेखा।।

बाली की गूढ़ भक्ति परखिये-

`राम चरन दृढ़ प्रीति करि, बालि कीन्ह तनु त्याग ।`

५- अपने मन की भावना के अनुसार किसी की मूर्ति की पूजा करना अर्चन (पूजन)कहलाता है । इस श्रेणी में धन्ना,मीरा,नामदेव आदि की गणना की जा सकती है ।

६- वन्दन की महत्ता-

`तेउ सुनि सरन सामुहें आए ।सकृत प्रनाम किए अपनाए ।।

ते सिर कटु तुम्बरि सम तूला । जे न नमत हरि गुर पद मूला।।

७- दास्य भक्ति में हनुमान,विदुर और भरत प्रसिद्ध हैं -

`मोरे मन प्रभु अस बिस्वासा । राम ते अधिक राम कर दासा।।

८- सख्यभाव में- उद्धव,सुग्रीव,गुह आदि की गणना की जाती है ।

आत्मनिवेदन के अन्तर्गत गोपियां और गोप आते हैं ।

(६) भक्तिभावना की प्रधानता-

उपर्युक्त विवेचन के पश्चात् भक्तिकाल में जहां उच्चतम धर्म की व्याख्या है वहां उसमें उच्चकोटि के काव्य के भी दर्शन मिलते हैं । उसकी आत्मा भक्ति है, उसका जीवन स्रोत रस है,उसका शरीर मानवी है । जैसा कि ऊपर के उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि भक्ति तथा नवधा के अंगों का पूर्ण रूप से विवेचन इस काल में हुआ है ।

रस की दृष्टि से भी यह साहित्य सर्वश्रेष्ठ है । रसराज शृंगार का इतना सुन्दर और सांगोपांग चित्रण कहीं नहीं हुआ ,विरह की आकुलता और मिलन के उल्लास को इतनी पूर्णता के साथ कहीं भी चित्रित नहीं किया गया । मनुष्य की अन्तर्प्रकृति का और उसके स्वभाव का जितना सुन्दर चित्रण मानस में मिलता है,अन्य कहीं नहीं मिलता ।वह अत्यन्त सूक्ष्म और विस्तृत है।

राधा-कृष्ण और राम-सीता के रूप में स्त्री और पुरुष के सौन्दर्य के इतने अनमोल चित्र इतनी अधिक परिस्थितियों में अन्यत्र कालों में कठिनता से प्राप्त होते हैं ।जानकी का मर्यादापूर्ण रूप-वर्णन करते हुए तुलसीदास जी कहते हैं कि --

` सिय सोभा नहिं जाइ बखानी। जगदंबिका रूप गुन खानी ।।
उपमा सकल मोहि लघु लागीं । प्राकृत नारि अंग अनुरागी ।।
सिय बरनिअ तेइ उपमा देई । कुकबि कहाइ अजसु को लेई ।।
जौं पटतरिअ तीय सम सीया । जग असि जुबति कहां कमनीया।।
गिरा मुखर तन अरध भवानी । रति अति दुखित अतनु पति जानी।।
बिष बारुनी बंधु प्रिय जेही । कहिअ रमासम किमि बैदेही ।।
जौं छबि सुधा पयोनिधि होई । परम रूपमय कच्छपु सोई ।।
सोभा रजु मंदरु सिंगारू । मथै पानि पंकज निज मारू ।।

एहि बिधि उपजै लच्छि जब,सुंदरता सुख मूल।
तदपि सकोच समेत कबि कहहिं सीय समतूल ।।

अर्थात् जिस सागर को मथने के लिए परम रूपवान् भगवान ने कठोर कछुए का रूप धारण किया एवं मंदराचल पर्वत तथा शेष नाग ने रस्सी का रूप धारण किया। सुर और असुरों ने जिसे मथ कर लक्ष्मी प्राप्त किया और उस प्रकार सुन्दरता एवं सुख की मूल लक्ष्मी प्राप्त हुई, फिर भी कविगण ऐसी लक्ष्मी की तुलना सीता जी के सौन्दर्य से करने में सकुचाते हैं ।

ई- स्वान्त:सुखाय रचनाएं:`भक्तिकाल` के विकास एवं विस्तार की चर्चा करते हुए पिछले अध्याय में कहा जा चुका है कि इस काल का आगमन मुसलमानों के आतंक

एवं अत्याचार के कारण हुवा उसके पहले आदिकाल की रचनाएं राज्याश्रित थीं। दरबारों में राजा की प्रशंसा करना मात्र ही कवियों की काव्य साधना थी । इस युग की रचनाओं में यह बात नहीं थी ,रचना के राज्याश्रित न होकर स्वान्तः सुखाय होती थीं। इस काल के कवियों ने अपने काव्य में अपने हृदय का रसघोला और अपनी इच्छानुसार जो मन में आया गाया ।उनकी वाणी उनके हृदय की वाणी थी। सच्ची कला वही है जो हृदय से निकले । बाह्य प्रलोभनों एवं दबावों से मुक्त हो । इस काल की रचनाओं में स्थल स्थल पर यह बात परिलक्षित होती है ।

९- शील और सदाचार की अभिव्यक्ति:-

भक्तिकाल के काव्य में जो शील और सदाचार की अभिव्यक्ति हुई है वह भी अपनी अलग विशेषता रखती है । यह स्वाभाविक ही है क्योंकि भक्ति का पहला सोपान शील और सदाचार का संग्रह है । भक्त सदैव यह प्रयत्न करता है कि वह श्रेष्ठतम वैयक्तिक और सामाजिक गुणों की प्राप्ति करे और अन्त में भगवद् कृपा का अधिकारी बने ।तुलसी की भांति वह सोचता है --

`कबहुंक हौं यहि रहनि रहौंगो ।
यथा-लाभ सन्तोष सदा,काहू सौं कछु न चहौंगो ।
परहित निरत, निरन्तर मन क्रम बचन नेम निबहौंगो।
परुष बचन अति दुसह श्रवण सुनि तेहि पावक न दहौंगो।
बिगत-मान समशीतल मन पर गुनु नहिं दोष कहौंगो ।
परिहरि देह-जनित चिन्ता दुख-सुख सम बुद्धि सहौंगो।
`तुलसीदास` प्रभु यहि पथ रहि अविचल हरि भक्ति लहौंगो।

इस शील और सदाचार की साधना में अन्य अनेक सामाजिक गुण स्वयं अपने आप ही प्राप्त हो जाते हैं ।

१०- समन्वय की भावना- भक्तिकाल के रूप महासागर में चार प्रमुख धाराएं --- निर्गुण मत की ज्ञानाश्रयी शाखा, निर्गुण मत की प्रेमाश्रयी शाखा, सगुण भक्तों की रामभक्ति शाखा और कृष्ण भक्ति शाखा आकर मिलती हैं । लेकिन समुद्र की

गंभीरता के सदृश्य ये चारों प्रमुख तथा विभिन्न धाराएं इस प्रकार मिलकर एक हो जाती हैं कि विभिन्नता का पता लगाना एक कठिन कार्य हो जाता है। यह इस काल की विशेषता रही है कि इन चारों धाराओं में कुछ ऐसी समान भावनाएं पाई जाती हैं जिनके कारण वे सब एक ही नाम से पुकारी जाती हैं। यह विशेषता अन्य कालों में नहीं मिलती। उदाहरणस्वरूप आधुनिक युग के नाना वादों में इतनी विभिन्नता और विषमता है कि उनमें कोई समान भावना नहीं मिल सकती। भक्तिकाल में समन्वय की भावना निम्नलिखित भावनाओं में है--

(१) नाम की महत्ता- चारों शाखाओं ने ईश्वर की महत्ता के गुणगान गाये हैं।

(२) गुरु की महत्ता- संत कवि कबीर, सूफी कवि जायसी तथा सगुण भक्तों की रामभक्ति के प्रमुख कवि गोस्वामी तुलसीदास तथा कृष्णभक्ति के कवि सूरदास सभी ने गुरु की महत्ता बतायी है। इन सभी कवियों का कथन है कि बिना गुरु के मोक्ष तथा इस भवसागर से पार उतरना असंभव है।

(३) भक्ति-भावना का प्राधान्य- इस युग की प्रमुख एक प्रमुख विशेषता है।

(४) अहंकार का त्याग- सभी संतों ने अनिवार्य बताया है।

(५) शील, सदाचार की ओर प्रवृत्ति सभी भक्तों की रही है। जैसा वे गाते थे वैसा ही वे जीवन व्यतीत करते थे।

इस प्रकार उक्त सभी बातें प्रत्येक शाखा के काव्य में समान रूप से पाई जाती है।

(११) लौकिक जीवन का वर्णन- भक्तिकाल के सभी सम्प्रदाय यद्यपि आध्यात्मिक भावनाओं को लेकर अग्रसर हुये थे तथापि उन सब का सम्बन्ध लौकिक जीवन से भी था। निर्गुणवाद भी लोक-पक्ष-युक्त हिन्दू-मुस्लिम एकता तथा शूद्रों के प्रति सहानुभूति उत्पन्न करता है। जायसी ने लौकिक अथवा सांसारिक उपदेशों का सुन्दर उदाहरण 'पद्मावती' के मानसरोवर खण्ड में मिलता है। नैहर एवं ससुराल के सम्बन्धों का सुन्दर चित्र प्रस्तुत करते हुये एक सखी कहती है ---

ए रानी मन देख विचारी ।
एहि नैहर रहना दिन चारी ।
जौ लगि अहै पिता कर राजू ।
खेल लेहु जो खेलहु आजू ।
पुनि सासुर हम गमनब काली ।
कित हम कित यह सखर पाली ।

+ +

सासु ननद बोलिन्ह जिउ लेहीं ।
दारुन ससुर न निसरै देहीं ।
पिउ पियार सिर ऊपर पुनि सो करै दहुं काह ।
दहुं सुख राखै की दुख दहुं कस जनम निबाह ।।

+ +

फूलि लेहुं नैहर जब ताईं ।
फिर नहिं फूलन देहव साईं ।

+ +

कित यह धूप कहां यह छांहां ।
रहब सखी बिनु मन्दिर मांहां ।[1]

और इस निष्कर्ष पर पहुंचती है --

कित यह रहस जो आउब करना ।
ससुर अन्त जनम दुख मरना ।[2]

१- जायसी ग्रन्थावली (१६३५) पृ० २७-२७

२- वही पृ० २८

स्पष्ट है कि कवि ने यह सारा का सारा खण्ड एक मात्र ससुराल एवं नैहर का विश्लेषण करने के लिए लिखा है और वह कर्तव्याकर्तव्य का उपदेश देता है । इसी प्रकार सांसारिक उपदेश देने के अन्य उदाहरण भी दिए जा सकते हैं।

इसी प्रकार सूर ने भी कृष्ण को बाल्य और यौवनकाल की लोक रंगिनी लीलाओं का वर्णन करके जीवन के सौन्दर्य पक्ष का उद्घाटन किया है- सूर ने अपनी रचनाओं में इस पृथ्वी पर स्वर्ग बनाने का प्रयास किया है ।जिस प्रकार सूर ने जीवन के सौन्दर्य पक्ष की झांकी दिखा कर मरणोन्मुख हिन्दू जाति की जीवन के प्रति आस्था उत्पन्न की है उसी प्रकार तुलसी ने उसके उत्थान की ओर प्रयत्न किया है ।

इस प्रकार हिन्दी का भक्ति काल का काव्य लोक-परलोक दोनों को एक साथ स्पर्श करता हुआ दिखायी पड़ता है ।

(१२) दार्शनिकता एवं आध्यात्मिकता :-

भक्तिकाल की सबसे अन्तिम और प्रमुख विशेषता यह थी कि इस काव्य से हृदय मन और आत्मा तीनों की आवश्यकताओं की एक साथ पूर्ति होती है ।`सत्यं शिवं सुन्दरम्` आध्यात्मिकता का यह पक्ष अछूता नहीं दिखता है । बल्कि इन तीनों का बड़ा ही सांगोपांग विवेचन इस काव्य में पाया जाता है । हृदय और मन के लिए तो उच्च कोटि का काव्य -सौन्दर्य और धार्मिक भावनाएं ही पर्याप्त हैं । इसके अतिरिक्त आत्मा की तुष्टि के लिए दार्शनिकता और आध्यात्मिकता भरी पड़ी है । ब्रह्म-माया-लौकिक-अलौकिक सृष्टि ,परा-अपराशक्ति,विद्या-अविद्या आदि की अलग-अलग व्याख्या हमें इन काव्यों में मिलती है ।

ईश्वर संसार के कण-कण में विद्यमान है । अत: वह हृदय में भी है । फिर मीलों तीर्थयात्रा कर ईश्वर को खोजने का तर्क ही व्यर्थ है । ईश्वर तो एक है और वह समान रूप से सर्वत्र व्याप्त है । केवल सच्चे प्रेम से ईश्वर में ध्यानावस्थित होते ही ईश्वर की प्राप्ति हो जाती है ।

कबीरदास ब्रह्म का वर्णन करते हुए कहते हैं कि --

`तेरा साईं तुझ्क में, ज्यों पुहुपन में बास ।
कस्तूरी का मिरग ज्यों फिर फिर ढूंढे घास ।।२८।।

समझे तो घर में रहै, परदा पलक लगाय ।
तेरा साहब तुझ्क में , अनत कहूं मत जाय ।।३०।।

`माया` का वर्णन करते हुए कबीरदास का यह पद देखिए-

माया महा ठगिनी हम जानी ।
तिरगुन फांस लिये कर डोलै बोलै मधुरी बानी ।।
केशव के कमला ह्वै बैठी शिव के भवन भवानी ।
पण्डा के मूरति ह्वै बैठी तीरथ में भई पानी ।।
योगी के योगिनि ह्वै बैठी राजा के घर रानी।
काहू के हीरा ह्वै बैठी काहू के कौड़ी कानी ।।
भक्तन के भक्तिन ह्वै बैठी ब्रह्मा के ब्रह्मानी ।
कहे कबीर सुनो हो सन्तों यह सब अकथ कहानी ।।

जीव - यह संसार क्षणिक और नश्वर है । माया-मोह के जाल में पड़ जो लोग यह जीवन नष्ट कर देते हैं, उनका कल्याण कभी नहीं हो सकता ।इसलिए हमें जीवन में सत्कर्म करना आवश्यक है ।

` कबिरा गर्व न कीजिये, काल गहे कर केस ।
ना जानों कित मारिहै, क्या घर क्या परदेस ।।
पानी केरा बुदबुदा , अस मानुष की जात ।
देखत ही छिप जायगा, ज्यों तारा परभात ।।
आछे दिन पाछे गये, गुरु से कियान हेत ।
अब पछतावा क्या करे,चिड़िया चुग गई खेत । ।

उपर्युक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह काव्य पिछली कई शताब्दियों से हमारी आध्यात्मिक साधना की भूख मिटाता रहा है ।

भक्ति-काल की अन्य कालों से विशेषता

हिन्दी साहित्य का प्रत्येक काल अपनी विशेषता रखता है किन्तु भक्ति-काल भी अन्य कालों से अपनी अलग ही विशेषता रखता है । इस विशेषता को दो दृष्टिकोणों से आकें तो अन्य कालों की अपेक्षा इस काल का स्थान सर्वश्रेष्ठ है । वे दो पक्ष निम्न हैं :-

(१) भाव पक्ष

(२) कला पक्ष

भाव पक्ष - हिन्दी साहित्य में भक्ति काल की रचनाएं राज्याश्रित न रह कर या तो स्वान्त: सुखाय लिखी गयी अथवा लोक हिताय । इस काल के कवि गण राज्याश्रय की चिन्ता नहीं करते थे । `दर्शन और धर्म शास्त्र की सूक्ष्म चिन्ताएं इसको ऊपर से ही प्रभावित कर सकी थीं आगे चल कर हम देखते हैं कि ऐहिकतापरक या सैक्यूलर काव्य के सम्बन्ध में भी यह युग अपना रास्ता अधिकांश में स्वयं ही ले कर रहा था । पूर्व के सहजयानी और नाथ पंथियों की साधना मूलक रचनाएं तथा पश्चिम की अपभ्रंश -धारा की वीरत्व,नीति और शृंगार विषयक कविताएं उस भावी जन-साहित्य की सृष्टि कर रही थी जिसके जोड़ का साहित्य सम्पूर्ण भारतीय इतिहास में दुर्लभ है ।`[1] जैसा कि डा० ग्रियर्सन ने कहा है ` कोई भी मनुष्य जिसे पन्द्रहवीं तथा बाद की शताब्दियों का साहित्य पढ़ने का मौका मिला है उस भारी व्यवधान (gap) को लक्ष्य किये बिना नहीं रह सकता जो (पुरानी और नई) धार्मिक भावनाओं में —विद्यमान है । हम अपने आप को ऐसे धार्मिक-आन्दोलन के सामने पाते हैं जो उन सब आन्दोलनों से कहीं अधिक विशाल है जिन्हें भारतवर्ष ने कभी देखा है ,यहां तक कि वह बौद्ध धर्म के आन्दोलन से भी अधिक विशाल है। क्योंकि इसका प्रभाव आज भी वर्तमान है । इस युग में धर्म ज्ञान नहीं बल्कि भावावेश का विषय हो गया था । यहां से हम साधना और प्रेमोल्लास(and Rapture) के देश में आते हैं ।`

१- डा०हजारीप्रसाद द्विवेदी-हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० ४४

जो लोग इस युग के वास्तविक विकास को नहीं सोचते उन्हें आश्चर्य होता है कि ऐसा अचानक कैसे हो गया ? इस बात को डा० ग्रियर्सन स्वयं फिर लिखते हुए कहते हैं कि "बिजली की चमक के समान अचानक इस समस्त पुराने धार्मिक मतों के अन्धकार के ऊपर एक नई बात दिखायी दी । कोई हिन्दू यह नहीं जानता कि यह बात कहां से आई और कोई भी इसके प्रादुर्भाव का काल निश्चित नहीं कर सकता, इत्यादि ।" लेकिन हिन्दी साहित्य की भूमिका में डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी जी ने डा० ग्रियर्सन के इस अचानक बिजली की चमक के समान फैल जाने का खंडन किया है । डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार "उसके लिए सैकड़ों वर्षों से मेघखण्ड एकत्र हो रहे थे फिर भी उसका प्रादुर्भाव तो एकाएक हो ही गया । इस एकाएक प्रादुर्भाव का कारण विचारणीय रह जाता है ।"[१]

हिन्दी साहित्य के अन्य काल के कवि एकांकी रचनाएं करने में अधिक चतुर दिखाई पड़ते हैं, लेकिन भक्तिकाव्य में लोक-परलोक को एक साथ स्पर्श करता है । भक्तिकाल के सभी सम्प्रदाय यद्यपि आध्यात्मिक भावनाओं को लेकर अग्रसर हुए थे तथापि सबका जीवन सम्बन्ध था । निर्गुणवाद भी लोक पक्ष-युक्त हिन्दू मुस्लिम एकता तथा शूद्रों के प्रति सहानुभूति उत्पन्न करता है । जायसी ने लौकिक कहानियों को आध्यात्मिक महत्व देकर लोक जीवन से सम्बन्ध स्थापित किया है । इसी प्रकार सूर ने कृष्ण की बाल्य और यौवन काल की लोकरंजिनी लीलाओं का वर्णन करके जीवन के सौन्दर्य पक्ष का उद्घाटन किया ।

हिन्दी साहित्य का आदि काल अथवा वीरगाथाकाल की काव्य साधना राज्याश्रित थी । अपने शासक एवं राजा की प्रशंसा करना मात्र ही काव्य का उद्देश्य था । हिन्दी साहित्य के रीतिकाल में शृंगार प्रधान काव्य की प्रमुखता पाई जाती है । शृंगार रस का वृहद् रूप से वर्णन इस काल की विशेषता है । भक्ति-काव्य की महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि इस काव्य से हृदय , मन और आत्मा

१- डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी-"हिन्दी साहित्य की भूमिका", पृ० ४५

तीनों की आवश्यकताओं की एक साथ पूर्ति होती है जो कि अन्य कालों में नहीं मिलती । हृदय और मन के लिए तो उच्चकोटि का काव्य सौन्दर्य और धार्मिक भावनाएं ही पर्याप्त हैं । किन्तु आत्मा के लिए उस दिव्य सन्देश की भी आवश्यकता होती है जो एक अन्त:प्रेरणा,स्फुरण,जागृति एवं भावी जीवन का आशान्वित रूप दे सके । और वास्तव में भक्तिकालीन साहित्य ने इन सभी आवश्यकताओं की पूर्ति की है ।

पिछले अध्याय में देख चुके हैं कि भक्तिकाल के काल निर्धारण के सम्बन्ध में अन्य कालों की ही भांति कोई निश्चित संवत् अथवा तिथि इस रूप में नहीं दी जा सकती, जो निर्विवाद हो । भक्तिकाल तो इतिहास का एक वह विशेष खण्ड है जिसमें अनेक प्रकार के परिवर्तनों तथा संस्कृति के अन्तर्गत आने वाले विविध प्रभावों की चेतना से एक ऐसी सामान्य स्थिति उत्पन्न हुई जिसने कला-पक्ष तथा भाव पक्ष की दिशा से एक उन्नतिमय साहित्य की सर्जना की । भक्तिकाल के इस आचार-विचार ,रहन-सहन तथा रीति परम्परा का जनजीवन के इतिहास की दृष्टि से भी जो साहित्यिक उपलब्धि मूलक योग रहा है उसके प्रकाश में यह आवश्यक है कि भक्तिकाल की सम्पूर्ण चेतना का मूल्यांकन किया जाय।इस दृष्टि से अगले अध्याय में भक्तिकाल की सांस्कृतिक स्थिति पर विचार किया जायेगा । इसके अन्तर्गत इतिहास के सन्दर्भ में राजनीतिक, सामाजिक दार्शनिक तथा धार्मिक स्थितियों पर ऐतिहासिक परम्परा के तथा आलोच्य विषय के सन्दर्भमें इस तथ्य का विवेचन किया जायेगा कि भक्तिकाल के विकास में वे तत्व कहां तक उत्तरदायी रहे हैं ?

पंचम अध्याय

भक्ति-काल की सांस्कृतिक स्थिति

(क) राजनैतिक दशा -

भक्तिकाल की वास्तविक स्थिति को समझने के लिए सर्वप्रथम तत्कालीन राजनीतिक दशा पर विचार कर लेना उचित होगा । हिन्दी साहित्य के भक्ति-काल ने गुलामवंश, खिलजीवंश, तुगलक वंश, सैय्यद वंश और लोदी वंश का शासन देखा। यह सन् १२०० ई० से १५२६ ई० तक रहा ।

१५२६ के पश्चात् बाबर ने मुगलवंश का सूत्रपात किया । इस कथन में अत्युक्ति न होगी कि हिन्दू जनता और उसकी साहित्यिक, सांस्कृतिक भाव-धाराओं ने अनेक विपत्तियों का सामना किया । जिस बुद्धिमत्ता विवेक और महानता से उसने बाहर से आई हुई अभिनव प्रवृत्तियों और उसकी विशिष्टताओं का अपने साहित्य और चिन्तन में विलयन किया, वह अद्वितीय है ।

गुलामवंश के शासनकाल में जनता की उत्तेजना स्वाभाविक रूप से अपनी चरमावस्था पर थी । भारतीय जनता इसके पूर्व कभी भी पराधीनता में नहीं रही थी , अतएव यह परीक्षा की घड़ी थी ।धीरे-धीरे जनता ने अपने को विदेशी शासन के अनुकूल बनाया परन्तु वह स्वतंत्र विचार प्रकाशन और कलात्मक सृजन प्रक्रिया शेष न रही जो स्वतंत्रता काल में सम्भव थी अत: इस काल में साहित्यिक प्रतिभाएं कुम्हला गयीं, उनमें कुण्ठा, भय और निराशा ने घर कर लिया ।

गुलामवंश के कुछ ही दिनों पूर्व या अपभ्रंश काल में भी वीर आस-पास हिन्दी साहित्य के संधिकाल (७५०-१२००) और चारण-काल में भी वीर रस की उत्कृष्ट रचनाएं हुई हैं । किन्तु मुसलमानों के आक्रमणों, हिन्दू राजाओं के पराभव और उनके पतन ने हिन्दी साहित्य की जड़ें हिला दीं।हिन्दू-राजाओं का भविष्य खतरे से बाहर नहीं रहता था । कवियों के आश्रय और संरक्षण न मिलने के कारण काव्यचेतना पंगु-सी हो गई ।

केवल राजस्थान और दक्षिण भारत में हिन्दू राज्य स्वतन्त्र थे ।वहीं पर काव्यस्रोत कुछ सुरक्षित रह पाया था । परन्तु अलाउद्दीन खिलजी के दक्षिण विजय से यह सम्बल भी समाप्त हो गया । राजपूताने के अधिकांश भाग पर भी

उसका आधिपत्य स्थापित हो गया ।

इस प्रकार हिन्दू जनता अपने नरेशों और सामन्तों के साथ ईश्वर की शरण में गई । जब सर्वत्र निराशा का आधिपत्य हो गया तो लोगों को परमपिता परमेश्वर की याद आई । तब तक कवियों के आश्रयदाताओं का वैभव-सूर्य अस्त हो चुका था । वे प्रशंसा के गीत गाते भी किसके ? अत: कवियों का भक्ति की ओर आकर्षित होना स्वाभाविक ही था इसलिए वीर गाथा काल का शौर्यवर्णन धीरे-धीरे शान्तपूर्ण और शृंगार रस में परिणत होने लगा। डिंगल साहित्य का ह्रास द्रुतगति से हो रहा था, परम्परागत डिंगल भाषा नाम मात्र को साहित्यिक रह गई । उसका उच्च स्तर गिर रहा था और वह केवल व्यावहारिक भाषा बनती जा रही थी ।

मुसलमानों को भारत में शासन करते हुए जब कुछ समय व्यतीत हो गया तब उन्हें भारतीय कला और साहित्य में कुछ रुचि हुई । कभी-कभी उन्होंने धर्म का प्रभाव भारतीय कला और साहित्य पर जबरदस्ती लादने की चेष्टा भी की है । परन्तु वे धीरे-धीरे भारतीय संस्कृति को भली भांति समझ कर मैत्री भाव से उसके और भी निकट आ गये ।इसी मैत्री ने हिन्दी साहित्य में नवीन साहित्यिक धारा `संत साहित्य` को जन्म दिया । इस साहित्य धारा ने अपने लक्ष्य में ऐसे साहित्य सृजन को सुनिश्चित किया जिसमें ईश्वर निर्गुण और सगुण दोनों सेपरे रह कर, पुष्प-सुगंधि से भी अधिक सूक्ष्म है और सर्वव्यापक होने के साथ साथ सर्व ग्राह्य भी है ।

भक्तिकाल के शासन में पराधीनता की बेड़ियां उतनी कड़ी नहीं रह गई थीं, जितनी पूर्ववर्ती शासनों में थीं अतएव कबीर ऐसे खरे और निर्भय कवि सन्तों की वाणी सभी के कानों से टकराथीं । उनमें हिन्दू-मुसलमान दोनों को खरी-खरी सुनाई गई थी ।

इस प्रकार साहित्य में उपदेशात्मक तत्व स्पष्ट, सरल और सुबोध रूप से आने लगे । उनमें धार्मिक और सामाजिक वाह्याडम्बरों का प्रबल खण्डन किया गया । इस प्रकार भक्तियुगीन साहित्य अपने सामाजिक प्रतिबिम्बों को उदरस्थ करता हुआ विविध धाराओं में विकसित होता रहा ।

इस कथन में अत्युक्ति न होगी कि यह भक्ति युग का सौभाग्य था कि तत्कालीन मुगल राज्य कला और साहित्य के विरोधी नहीं निकले बल्कि कुछ शासकों ने सांस्कृतिक और कलात्मक विकास में अपना योगदान सक्रिय रूप में भी दिया । इन्हीं समस्त कारणों से भक्तियुग हिन्दी साहित्य का स्वर्ण युग माना जाता है ।

भक्तिकाल की सामाजिक दशा

जहां तक भक्तिकाल की सामाजिक दशा का सम्बन्ध है वह राजनीतिक दशा से कुछ अधिक महत्वपूर्ण थी , उसी ने जन जीवन में बल दिया । भक्ति-काल की सामाजिक स्थिति अत्यन्त कोलाहलपूर्ण थी । उसमें आये दिन परि-वर्तन हो रहे थे और परिवर्तन की वह धारा अत्यन्त छिन्न-भिन्न और निराशा पूर्ण थी । सामाजिक प्रगति का मार्ग विभिन्न अन्धविश्वासों के कारण इतना अवरुद्ध हो गया था संगठनात्मक शक्ति का निरन्तर ह्रास हो रहा था । तत्का-लीन कुरीतियों एवं अन्धविश्वासों का भार पुरुषों की अपेक्षा महिलाओं को अधिक वहन करना पड़ता था । बालविवाह और पर्दा-प्रथा आदि का समाज पर इतना गहरा प्रभाव था कि महिला समाज के विकास के समस्त मार्ग बन्द हो चुके थे ।

भारत में मुगल बादशाहों के आक्रमण एवं शासनकाल में भक्तिकालीन सामा-जिक जीवन में कुछ क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए । अपनी सामाजिक स्वतन्त्रता के रक्षार्थ हिन्दुओं को सामाजिक मर्यादा की सीमाएं निर्धारित करनी पड़ीं यद्यपि सीमाएं उनके सामाजिक विकास का मार्ग अवरुद्ध करती थीं तथापि वह उनकी नैतिक विवशता थी, सामाजिक अपूर्णता । उस समय चारित्रिक पवित्रता ही सामाजिक प्राणी की प्रतिष्ठा एवं मान्यता का द्योतक थी अत: सामाजिक नियमों पर ,भले ही वे कितने कटु क्यों न हों, लोग बड़ी सावधानी के साथ चलते थे ।

उल्लेखनीय है कि बौद्ध एवं जैन धर्म के प्रभाव ने भी भक्तिकालीन सामाजिक जीवन को काफी सीमा तक क्षति पहुंचाई थी ।

एक ओर उनसे सामाजिक स्वतन्त्रता नश्वरता का आघात लगा था तो दूसरी ओर उनके उपदेशों से प्रेरित जनता भक्तिवादी बन गई जिसका प्रभाव यह हुआ कि लोगों का पौरुष कुंठित हो गया और समाज में सैन्य संगठन अथवा युद्ध क्रान्ति आदि भावना का लोप सा हो गया ।

मुसलमानों द्वारा पराजित और अनुशासित होने की स्थिति में हिन्दुओं की सामाजिक चेतना स्वत: ही जागृत हुई और वे अपने सामाजिक विकास करने के लिए कटिबद्ध हुए

भक्तिकाल का दार्शनिक दृष्टिकोण:

भक्तिकाल की इसी राजनीतिक एवं सामाजिक स्थिति से प्रसूत वह दार्शनिक दृष्टिकोण उपस्थित हुआ जिसने साहित्य सर्जना को दिशा दी ।

हिन्दी साहित्य के स्वर्णयुग में, जिसे हम भक्तिकाल की संज्ञा देते हैं, अनेक दार्शनिक सिद्धान्तों की स्थापना हुई और उन सभी का थोड़ा या अधिक प्रभाव हिन्दी साहित्य पर स्पष्ट रूप से पड़ा ।

सर्वप्रथम हम वैष्णवों को लेते हैं । महाभारत का नारायणी उपाख्यान हमें यह बताता है कि वैष्णवों का विकास या आविर्भाव नारायण-नारद वार्ता से आरम्भ हुआ ।

एक बार नारद ने स्वयंभु मन्वन्तर के युग में उत्पन्न नारायण ऋषि से पूछा, `सभी लोग तो आपकी पूजा किया करते हैं लेकिन आप किसका ध्यान करते हैं ?`

उन्होंने उत्तर दिया, मैं उस परमात्मा का स्मरण करता हूं जो अन्तरात्मा ,त्रिगुणातीत और त्रिगुणात्मकता एवं प्रकृति का जनक है । वह सत,असत,रूप परमात्मा, हम दोनों की उत्पत्ति का कारण है । हम दोनों (नर-नारायण) उसकी पूजा किया करते हैं ।

यह ध्यान देने की बात है कि वैष्णवों के अनुसार जो महाभारत को भारत शब्द मानते थे, ईश्वर की चार अवतारमयी विभूतियां हुई । नर, नारायण,हरि और कृष्ण ।

हरि एवं कृष्ण के विषय में महाभारत मौन है किन्तु नर-नारायण का उसने उल्लेख किया है । वे बदरिकाश्रम में तप करते थे ।महाभारत में पूजा की विधि में ज्ञानयोग का उल्लेख मिलता है, जो धारणा से सम्बन्धित है।

वास्तविक रूप में अवतारवाद की सजीव और क्रियाशील श्रृंखला श्रीकृष्ण से आरम्भ हुई ।

अर्जुन नर और श्रीकृष्ण नारायण के अवतार माने गये और उनको पृथ्वी का उद्धारक रूप दिया गया । गीता ने ज्ञान,भक्ति और कर्म का जो अपूर्व समन्वय किया वह भी इसी दार्शनिक दृष्टिकोण का द्योतक है कि पृथ्वी पर धर्म की रक्षा के लिए ईश्वर समय-समय पर अवतार धारण कर लेते हैं ।

इस संदर्भ में `ज्ञानपंथ` का उल्लेख अतीव आवश्यक होगा । वेदों-उपनिषदों में स्पष्ट रूप से ज्ञानपंथ का प्रतिपादन किया गया है । उपनिषदों की `एकोहम् द्वितीयोनास्ति` की भावना ज्ञान पंथ की ही भावना है,इसके द्वारा अनेक दार्शनिक दृष्टिकोणों की सृष्टि हुई है । जैसे ,अद्वैतवाद,शुद्धाद्वैतवाद, द्वैतवाद,एवं विशिष्टाद्वैतवाद आदि । इसके पश्चात् निर्गुणवाद का प्रवाह चला । कालान्तर में ऐसे - ऐसे सन्त-महात्मा होते रहे जिन्होंने इन दार्शनिक भावों को और भी परिमार्जित रूप में प्रतिपादित किया ।

बौद्धधर्म की आधारशिला दार्शनिकता से ओत-प्रोत थी । उनके`वज्रयानी` शाखा के कवियों ने जो रचनाएं की हैं उनमें स्पष्टतः द्वैताद्वैतवाद की झलक मिलती है ।

`नाथ पंथी` सन्तों ने भी निर्गुणवाद का ही अनुसरण किया है तत्कालीन काव्य में निर्गुणवाद का पूर्णतः प्रभाव पड़ा है भारतीय ब्रह्मवाद और मुसलमानों के एकेश्वरवाद के पीछे, भारत में अलौकिकता लाने का एक महान् दार्शनिक दृष्टिकोण निहित था । इन दोनों वादों ने मिल कर अपने नवीनतम रूप में जन जीवन को प्रभावित किया, इसमें दो विशेष कल्याणकारी भावनाएँ निहित थीं, प्रथम- यह कर्मकाण्डों से सर्वथा अलग थी और इसमें जाति-पांति का भेद-भाव न था । यह सबके लिए समान रूप से था और

इसके द्वारा सभी 'ईश्वरता' का अनुभव कर सकते थे ।

नाथपंथियों द्वारा इस दार्शनिक धारणा का प्रसार अत्यधिक हुआ । इसमें जन जीवन का कल्याण विशेष था, अत: इसे हम 'सामान्य धर्म' के नाम से भी सम्बोधित कर सकते हैं ।

महाराष्ट्र के सुविख्यात सन्त स्वामी नामदेव ने इस सामान्य धर्म को विशेष रूप से प्रोत्साहित किया परन्तु कबीरदास ने इसमें क्रान्तिकारी परिवर्तन किये, उनके द्वारा इस दृष्टिकोण(निर्गुणवाद) का सर्वाधिक प्रचार-प्रसार हुआ । जहां नाथपंथी योगियों ने धर्म साधना में शुष्कता एवं नीरसता व्याप्त कर रखी थी, कबीर ने प्रेम एवं धार्मिक अनुभूतियों से इसे मानव-हृदय के निकट ला दिया । इस प्रकार हम देखते हैं कि भक्तिकाल की दार्शनिकता को ज्ञानाश्रयी शाखा से सर्वाधिक प्रेरणा मिली है ।

यह शाखा भक्ति के ज्ञानमय स्वरूप को आधार मान कर आगे बढ़ी है। इसके द्वारा ज्ञान की महत्ता को अत्यधिक शक्ति मिली है । हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल में, प्रारम्भ में दो मुख्य दार्शनिक धर्म प्रचारक सन्तों का योगदान अत्यन्त महत्वपूर्ण रहा है (१) स्वामी रामानन्द (२)वल्लभाचार्य ।

स्वामी रामानुज की परम्परा में रामानंद हुए थे । उन्होंने अपने संप्रदाय में रामानुज द्वारा प्रतिपादित कर्मकाण्डों में संशोधन किया । स्वामी रामानन्द ने राम को परब्रह्म,लक्ष्मण को जीव और सीता को प्रकृति माना ।इस भक्ति के निम्नलिखित उपाय है --

१- विवेक   २- विनोद   ३- आभास   ४- क्रिया

५- कल्याण   ६- अनवसाद   ७- अनुद्धर्ष

उन्होंने अयोध्या को बैकुण्ठ माना । लक्ष्मीनारायण का सच्चा उपासक ही उसमें प्रवेश पा सकता है, ऐसा उनका दृढ़ मत था । इस सिद्धान्त का प्रभाव सभी राम-भक्त कवियों पर पड़ा, यह जनता की चित्तवृत्ति के अनुकूल भी था, ईश्वर धरती पर अवतार धारण करके, मनुष्यों में धर्म की स्थापना

करने आते हैं, यह अपने आप में एक महान् संदेश था । तुलसीदास द्वारा पुष्टउवकी भक्ति हिन्दी साहित्य में इसी दर्शन की प्रेरणा है ।

आचार्य वल्लभ ने अपने पुष्टिमार्ग के सिद्धान्त द्वारा भक्ति को नई दिशा दी । कर्मकाण्डों ,व्रत,उपवासों द्वारा शारीरिक कष्टों की अवहेलना की। यह भक्ति जीवन की सार्थकता में बहुत बड़ी आस्था रखती थी ।पुष्टि-मार्गीय सन्त और भक्त जीवन के आडम्बरों से दूर रह कर अनन्त लीला का आनन्द उठाते हैं, उसमें किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं है ।

आचार्य वल्लभ ने कृष्णधारा से हिन्दी साहित्य को हरीतिमा प्रदान की । भक्तिकाल के साहित्य में तीसरा दार्शनिक सिद्धान्त सूफियों का था। वे अत्यन्त सरल जीवन और पवित्रता पर विश्वास करते थे । वे कुरान की नसीहतों को महत्व देते थे और मिताहार,एकान्तवास आत्मशिक्षा, तथा स्वार्थत्याग द्वारा सत्य प्राप्ति पर अधिक बल देते थे हिन्दुओं और मुल्लाओं में किसी प्रकार का वैर नहीं था । वे हिन्दुओं के प्रति बड़ी श्रद्धा और सहानु-भूति रखते थे ।सूफी कवियों द्वारा भक्तिकाल में प्रेमकाव्य का यथेष्ठ विकास एवं प्रचार हुआ । यद्यपि वे सूफी मतानुयायी थे परन्तु भारत की प्रेमात्मक साधनाओं का गहरा रंग उन पर चढ़ा हुआ था ,भारतीय लोक जीवन को उन्होंने अपने साहित्य में अनुपम लौकिक रंगों से रंग दिया ।

जायसी के द्वारा प्रेममयी भावनाओं का चित्रण रहस्यवादी ढंग से बड़ी मार्मिकता के साथ हुआ है वे प्रेमाश्रयी शाखा के सर्वश्रेष्ठ कवि हुए हैं। उनके प्रेम का लक्ष्य अलौकिक है,यद्यपि उनकी प्रेमकथा इसी लोक की है परन्तु उसके पात्र इसी लोक के रक्तधारी मनुष्य हैं ,निस्सन्देह अपनी प्रेमकथाओं में उन्होंने अलौकिकता की कल्पना की है । उन्होंने अपनी प्रेम कथा में नायकों और नायिकाओं को आत्मा, ब्रह्म एवं प्रकृति के रूप में ग्रहण किया है ।

भक्तिकाल की धार्मिक दशा :-

धर्म दर्शन का व्यावहारिक रूप है । भक्तिकाल में धर्म ही वह स्वरूप था जिसका सीधा सम्बन्ध जन-जीवन से था, इसीलिए भक्तिकाल की धार्मिक दशा पर विचार कर लेना आवश्यक होगा ।भक्तिकाल की धार्मिक दशा इतनी सुदृढ़ एवं चिरस्थायी हो चुकी थी कि तत्कालीन व्यवधान और विरोध उसे अस्थिर एवं आहत न कर सके ।

उत्तरभारतमें मुगल बादशाह औरंगजेब की कुटिलता,दुर्व्यवहार और साम्प्रदायिकता ने उसे विशेष रूप से प्रतिफलित होने का प्रोत्साहन दिया। धर्मानुभूति एवं स्वधर्म प्रियता ने हिन्दु,मुस्लिम दोनों को जागृत किया और अपने स्वाभिमान,संस्कृति तथा कर्तव्य से प्रेरित होकर वे विभिन्न क्षेत्रों में प्रगति,संघर्ष तथा विजय और सफलता के लिए प्रोत्साहित हुए ।

यदि भक्तिकाल की पूर्व दशाओं और परिस्थितियों पर हम दृष्टिपात करते हैं तो ज्ञात होताहै कि बौद्ध धर्म और जैन धर्म के ह्रासोपरान्त सनातन धर्म ने अपनी जड़ें जमा ली थीं।इसी सनातन धर्म की छत्र-छाया में भारत की प्राचीन सभ्यता एवं संस्कृति पूर्ण गरिमापूर्ण अवस्था में पुष्पित एवं पल्लवित हो रही थी ।

संस्कृत के महान् कवियों,नाटककारों एवं विद्वानों की कलाकृतियां अभिनव रूप-सज्जा में प्रतिष्ठित हो रही थीं।

संक्षेप में वह हिन्दुओं के पुनरुत्थान का स्वर्ण युग था ।

गंभीर अध्ययन से पता चलता है कि वह युग वैष्णव धर्म के उत्थान का पंचम चरण था जब हिन्दुओं के दो स्तम्भ-- स्तम्भ-- पृथ्वीराज चौहान एवं जयचन्द यवनों द्वारा पराजित और नष्ट हो चुके थे । वैष्णवों के विकास का यह चरण अत्यन्त महत्वपूर्ण है । इसने अत्यन्त साहसपूर्ण तरीके से यवनों के विविध अत्याचारों ,उत्पीड़नों अन्यायों और अनाचारों का सामना करते हुए शीश नहीं झुकाया ।

यद्यपि भारत पराधीन हो गया परन्तु अपनी सांस्कृतिक चेतना और

आध्यात्मिक संचेतना का स्वरूप संरक्षण,गौरवपूर्ण ढंग से बनाये रखा ।

जिस समय यवनों का दमनचक्र भारतवर्ष में अपनी चरमावस्था की ओर अग्रसर हो रहा था उसी समय जन-मानस में ईश्वर के प्रति आस्था एवं विश्वास की लहरें उठने लगीं।यह बहुत बड़ी विडम्बना थी । आध्यात्मिकता का राग अलापने वाला भारत,जो समस्त विश्व को आध्यात्मिक पाठ पढ़ाता था,स्वयं नतमस्तक हो गया । वह विभ्रान्त हो गया, अपने पथ से । यह प्रवृत्ति देश के सांस्कृतिक पतन का द्योतक थी । अतएव इस युग में विभिन्न धार्मिक आन्दोलनों के प्रवर्तकों ने ईश्वर के अस्तित्व को जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में पुनः प्रतिष्ठित किया।

इन सम्प्रदाय प्रचारकों ने ईश्वरोपासना के विविध रूप जनता के समक्ष प्रस्तुत किये । इन सभी मतों में उत्कृष्ट दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रस्फुटन था।

सूक्ष्म दार्शनिक तत्वों और विचार धाराओं ने अनेक व उपविभाग ,एक ही सम्प्रदाय में करके गंभीर चिन्तन को व्यावहारिक रूप और महत्व प्रदान किया।

स्वामी रामानन्द ने रामानुज की धार्मिक चिन्तन मिश्रित भक्ति भावना को परिवर्द्धित एवं संशोधित करके जनता के सामने रक्खा। स्वामी रामानुज की परम्परा में वैष्णव सम्प्रदाय के नियमों और विधि-विधानों के अनुसार वर्णाश्रम मर्यादा-पालन तथा संस्कृत भाषा प्रधान थी ।लेकिन स्वामी रामानन्द ने इसमें युगानुकूल परिवर्तन किये और इसेजन-सुलभ एवं सुबोध बनाया । वर्णाश्रम-मर्यादा को मिटा कर प्रभु प्राप्ति का क्षेत्र जन-साधारण के लिए उन्मुक्त कर दिया।

उन्होंने केवल ब्राह्मण,क्षत्रिय एवं अन्य निम्न जातियों के भेद-भाव को ही नहीं मिटाया वरन् किसी प्रकार का जातिगत भेद-भाव रहने ही न दिया।

राधा-कृष्ण के स्थान पर उन्होंने सीताराम की अनन्य भक्ति को अपने सम्प्रदाय की भक्ति का मूल आधार बनाया ।

रामानन्द के अनुसार— राम ईश्वर हैं,लक्ष्मण जीव और सीता प्रकृति । इस तत्वत्रय की त्रिमूर्तियां समय-समय पर तत्कालीन समय से अब तक रामानन्दी मंदिरों में प्रतिष्ठित होती रही हैं । गुरु-महिमा और अयोध्यापुरी का महत्व भी उन्होंने माना और भगवत्-भक्ति के लिए इनको आवश्यक पद प्रदान किया।

भक्तिकाल में धर्म ने एक ओर स्वामी रामानुजाचार्य के अभिनव संयोजक स्वामी रामानन्द से राममक्ति, कृष्णाभक्ति की दो धाराएं पाईं तो दूसरी ओर इन्हीं ~~इनमें~~ दोनों धाराओं में उत्पन्न भक्त कवियों द्वारा साहित्य के में अनुपम स्थान प्राप्त किया।

ऐसे तो भारत में सदा से धर्म ने साहित्य को प्राणपण से अनुप्राणित किया है किन्तु भक्तियुग में वह जिस पराकाष्ठा की प्राप्ति कर सका, वह अन्यत्र दुर्लभ है।

एक ओर राम-कृष्ण की युगल भक्ति धारायें सगुणोपासना की नवीन पद्धतियों का प्रकाशन एवं प्रस्फुटन कर रही थीं तो दूसरी ओर निर्गुणोपासना की भक्ति-धारा अपनी पूर्ण निर्भीकता में मौलिक विकास पाती रही।

स्वामी रामानन्द के पश्चात् दूसरे महान् दार्शनिक भक्त-चिन्तक आचार्य बल्लभाचार्य जी हुये। वे तैलंग ब्राह्मण थे। उनका जन्म सं० १६२६ या सं०१५३५ माना जाता है। वे रामानुज से प्रारम्भ होने वाले शंकराचार्य के मायावाद या विवर्तवाद के विरुद्ध बोलने वाले आचार्यों में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

शंकराचार्य संसार को माया और मिथ्या कहते थे। किन्तु बल्लभाचार्य जी ने ब्रह्म-जीव को एक माना और जड़,जीव को भी इसी में समाविष्ट ही माना।

माया के कारण जो विभेद दृष्टिगत होता है वह भगवद् भक्ति से ही सम्भव है। बल्लभाचार्य ने व्रत, उपवास आदि कर्मकाण्डों का विरोध किया और मोक्ष प्राप्ति या (ईश्वर प्राप्ति) के लिए शुद्ध हृदय से ईश्वरोपासना पर ही बल दिया।

उन्होंने उपनिषद् वाक्यों और बादरायण के ब्रह्मसूत्रों के आधार पर ब्रह्म को उभय लिंग अर्थात् सगुण व निर्गुण दोनों सिद्ध किया। उन्होंने 'सर्ववाद' को स्वीकार करते हुए सब धर्मों को ही ब्रह्म माना है।

अत: यह स्पष्ट है कि बल्लभाचार्य जी के मतानुसार पवित्र लौकिकता श्रेष्ठ ठहराई गई है। इसलिए विलासी उच्च वर्ग भी इससे बहुत प्रभावित हुआ। इस भक्ति पद्धति का दुरुपयोग उत्तरवर्ती शृंगार-परम्परा में स्पष्टत: परिलक्षित होता है।

इसी काल में ,बंगाल में चैतन्य महाप्रभु ने कृष्ण-भक्ति के नवीन स्वरूप का प्रचार किया । उनकी कृष्ण-भक्ति ,सच्चे हृदय से भजनों और गीतों पर आधारित थी । तुलसी की भांति वे भी अपने प्रभु को समस्त संसार में व्याप्त देखते थे ।

ज्ञानाश्रयी शाखा ने एक अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य किया । हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिक भावना की खाई पाटने का श्रेय इसी धारा को है ।

कबीर ने मानवता को प्रधानता दी । उनमें हिन्दुओं और मुसलमानों के धार्मिक पचड़े और कर्म कर्मकाण्डों का नामो-निशान नहीं था । वरन् उनके द्वारा इसका कट्टर विरोध भी हुआ ।इससे मुसलमान भी हिन्दुओं के प्रति सहानुभूति से उन्मुख हुए और धार्मिक द्वेष की खाइयां प्राय: समाप्त हुईं।

इस निष्कर्ष से हम यह कुछ कह सकते हैं कि धर्म ने भक्तिकाल में अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका निभाई । प्रत्येक परिस्थिति में इसने अपने पर संयम और नियंत्रण रक्खा ।अपना उत्तरदायित्व धर्म ने यथासम्भव जिस गौरवशाली रूप में निभाया वह चिरस्मरणीय रहेगा ।

भक्तिकाल की दार्शनिक स्थिति से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि किन प्रेरक शक्तियों के द्वारा भक्ति काल अपने वास्तविक स्वरूप में स्थित हो सका । इस सम्बन्ध में यह आवश्यक है कि भक्तिकाल के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए भक्तिकाल की उन सब सामान्य भावनाओं पर विचार किया जाय, जो समान रूप से भक्तिकाल के सभी चिन्तकों,भक्तों तथा कवियों की विचार-धाराओं में प्राप्त होती हैं। अगले अध्याय में इसी पर प्रकाश डाला जायगा।

षष्ठम अध्याय

भक्ति काल की सामान्यभावना एवं महत्व

भक्तिकाल की सामान्य भावना एवं महत्व

भाव पक्ष-

भक्तिकाल का आविर्भाव देश की सामाजिक ,धार्मिक और राजनैतिक परिस्थितियों के मध्य हुआ है । जैसा कि `भक्तिकाल उसकी सीमाएं और विस्तार` नामक अध्याय में स्पष्ट हो चुका है । इस साहित्य को प्रेरणा देने वाला तत्व `भक्ति` है इसलिए यह साहित्य अपने पूर्ववर्ती साहित्य से पूर्ण रूपेण भिन्न है । भक्ति के इस महान् साहित्य में कुछ ऐसी सामान्य प्रवृत्तियां पाई जाती हैं जो कि इस साहित्य की सभी धाराओं निर्गुण-सगुण सभी प्रकार के भक्तों की रचनाओं में एक सदृश्य पाई जाती हैं । इस सामान्य भावनाओं के कारण ही इस महान् साहित्य को भक्तिकाल के नाम से सुशोभित किया जाना अनुचित नहीं जान पड़ता।

भक्तिकाल के प्रमुख एवं सामान्य भावनाओं की विवेचना इस युग के समस्त कवियों की रचनाओं को देखते हुए निम्नांकित रूप में ये हैं -

(१) नाम की महत्ता- जप,कीर्तन,भजन आदि सन्तों,सूफियों और सगुणोपासक कवियों में समान रूप से दिखाई पड़ते हैं । सूफियों और कृष्ण भक्त कवियों में कीर्तन की प्रधानता है । तुलसी एवं कबीर जो कि सगुण एवं निर्गुण विभिन्न धाराओं के अनुयायी हैं,राम के नाम को राम से बड़ा माना है । नाम में निर्गुण और सगुण दोनों का समन्वय हो जाता है ।

उदाहरणार्थ-

> निर्गुण की सेवा करो, सगुण को करो ध्यान ।
> निर्गुण सगुण से परे तहां हमारो ज्ञान ।।
>
> (कबीर)

कबीरदास ईश्वर को निर्गुण से परे मानते हैं उनका कथन है कि उसकी प्राप्ति भक्ति और योग के सम्मिलन के द्वारा हो सकती है । उसका नाम अलख पुरुष या सत्पुरुष है ।

> मेरा साहब एक है दूजा कहा न जाय ।
> साहिब दूजा जो कहूं साहब खरा रिसाय ।।

इस प्रकार सगुण धारा के प्रमुख कवि सूर और तुलसी भी नाम और कीर्तन की महिमा का वर्णन करते हुए कहते हैं -

`अगुन सगुन दुइ ब्रह्म स्वरूपा । अकथ अगाध अनादि अनूपा ।।
मोरे मत बड़ नाम दुहूंते । किये जेहि निज बस निज बूते ।।

(तुलसी- रामचरितमानस)

और भी -

` तुलसी अलखहिं का लखै राम नाम जपु नीच ।`

(तुलसीदास)

प्रेममार्गी कवि जायसी की रचनाओं में भी स्थान स्थान पर इस सामान्य भावना की झलक हमें दिखाई पड़ती है - जैसे-

(क)`सुमिरौं आदि एक करतारू।जेहि जिउ दीन्ह कीन्ह संसारू ।।`

(पद्मावत)

(ख)`परगट गुपुत सकल महं पूरि रहा सो नावँ ।`

(२) गुरु महिमा -

निर्गुण धारा के प्रवर्तक संत कबीर ने तो`गुरु` या`गोविन्द` को ईश्वर से अधिक माना है । गुरु द्वारा ही ईश्वर तक पहुंच सकते हैं ।गुरु के बिना `जीव` इस संसार सागर में भटकता ही फिरता है । गुरु ही उसको पार लगाता है । निम्नलिखित दोहे से गुरु की महत्ता और अधिक स्पष्ट हो जाती है-

`गुरु गोविन्द दोऊ खड़े काके लागों पांय ।
बलिहारी वा गुरु की जिन गोविंद दिया मिलाय ।।

(कबीर)

प्रेममार्गी एवं सूफी मत के प्रवर्तक जायसी गुरु की महिमा का वर्णन करते हुए कहते हैं कि -

`तन चितउर मन राजा कीन्हा ।हिय सिंघल बुधि पदमिनि चीन्हा।
गुरु सुआ जेई पन्थ दिखावा । बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा ।।

(पद्मावत)

मुहम्मद तेह निश्चित पथ जेहि संग मुरसद पीर ।
जेहि के नाव औ खेवक बेगि लाग सौ तीर ।।

इस प्रकार जायसी की भांति सगुण धारा के मानने वाले सूर और तुलसी की रचनाओं में भी गुरु की महत्ता का वर्णन स्थान स्थान पर दृष्टिगोचर होता है । जैसे -

' बन्दौ गुरु पद कंज, कृपा सिन्धु नररूप हरि ।
महा मोह तम पुंज , जासु वचन रविकर निकरि।।

(तुलसी)

तथा-

' बन्दौ गुरु पद पद्म पराका ।'

(तुलसी)

गोस्वामी तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' के प्रारम्भ में गुरु की महिमा का अत्यधिक वर्णन किया है । कृष्ण-भक्त कवि सूरदास जी गुरु की महिमा का वर्णन करते हुए कहते हैं कि -

' श्री वल्लभ नख चन्द्र छटा बिनु सब जग मांहि अंधेरो ।]

(सूरदास)

इस प्रकार सगुण-निर्गुण एवं सूफी सभी सम्प्रदायों के कवियों ने गुरु की महत्ता ईश्वर की महत्ता से अधिक बतलाई है ।

३- भक्तिभावना का प्राधान्य-

भक्तिकाल में प्रमुखत: चार सम्प्रदाय ज्ञानाश्रयी शाखा, प्रेममार्गी शाखा राममक्ति शाखा और कृष्णभक्ति शाखा की प्रधानता रही है । इन चारों सम्प्रदायों के भक्तों की रचनाओं में मुख्य रूप से भक्तिभावना पाई जाती है । कबीरदास निर्गुण ईश्वर के उपासक होते हुए भी, भक्ति भावना को प्रधानता देते हैं । उनका कथन है कि बिना भक्ति के ज्ञान की प्राप्ति अत्यन्तकठिन है ।

इसलिए ज्ञान-प्राप्ति एवं ईश्वर की प्राप्ति के लिए पूर्ण भक्ति होना आवश्यक है। कबीर के निम्न दोहे से यह पूर्ण रूप से व्यक्त हो जाता है -

'हरि भक्ति जाने बिना बूड़ि मुआ संसार।'

(कबीर)

इसी प्रकार प्रेममार्गी कवि जायसी के अनुसार प्रेम भक्ति का ही रूप है और भक्त तो भक्त ही है -

'नवौं खण्ड नवौं पौरी उनै बज्र केवार
चारि बसेरे सो चढ़े, सत सों उतरे पार।।

(जायसी)

इसमें जायसी ने शरीयत, तरीकत, हकीकत और मारिफत चारों साधनाओं को भगवद्भक्ति का साधन माना है। राम भक्त कवियों ने तथा कृष्ण भक्त कवियों ने तो भक्ति भावना को प्रधानता दी है, चाहे जिस पद तथा किसी भी चौपाई को उठा लीजिए वह भगवद्भक्ति से ओतप्रोत होगी। इस प्रकार तुलसी एवं सूर की रचनाओं का आधार ही भगवद्भक्ति है। इसी भावना की प्रधानता के फलस्वरूप ये दोनों शाखाएं सरस एवं महान् बन गयी हैं। कभी कभी यह प्रश्न सम्मुख आ जाता है कि सगुण और निर्गुण धारायें पूर्ण रूप से भिन्न हैं? क्योंकि सगुण साकार या मूर्ति के उपासक हैं जो बहुदेव वाद में भी विश्वास करते हैं और दूसरे निर्गुण निराकार या अमूर्ति के उपासक हैं जो अवतारवाद या बहुदेववाद के विरोधी हैं और एकेश्वरवाद में विश्वास करते हैं। यह तर्क ठीक है। दोनों के ही मार्ग उचित है। सूर और तुलसी ने जब देखा कि इस निर्गुण भक्ति के उपदेश (जो निर्गुण शाखा के सन्त कवियों के द्वारा किए जा रहे थे) जनता पर इतना प्रभाव नहीं डाल रहे थे जैसा कि डालना चाहिए उनका प्रभाव केवल अनपढ़ एवं निम्न वर्ग के लोगों तक ही सीमित था क्योंकि उसमें शिक्षित एवं उच्च वर्ग के लिए कोई आकर्षण की बात नहीं थी इसलिए सूर ने जनता का दु:ख दूर करने के लिए तथा भक्ति की ओर अग्रसर करने के लिए कृष्ण का लोक रंजनकारी रूप उपस्थित किया जिसमें जनता को नवीनता तथा आकर्षण मिला। दूसरी ओर तुलसी ने आर्य-सभ्यता को जनता के सम्मुख उपस्थित किया जिस पर आर्य गर्व करते थे। अत: सूर दास, नन्ददास एवं तुलसीदास की रचनाओं में यदा कदा

निर्गुण भक्ति का खंडन किया गया है । वह वास्तव में ज्ञान का विरोध नहीं, केवल भक्ति विरोधी ज्ञान का खण्डन है :-

उदाहरणस्वरूप :-

" मधुकर कान्ह कही नहिं नहिं होहीं ।
नागरमनि जे सोभा-सागर जग जुबती हंसि मोही।
लियो रूप दै ज्ञान ठगौरी, भलो ठग्यो ठग वोही।
है निरगुन कुबरी सरवरि अब घटी करी हम जोही।
सूर सो नागरि जोग दीन जिन तिनहिं आज सब सोही।।"

(४) अहंकार का त्याग -

सच्ची भक्ति अहंकाररहित होती है । जब तक भक्त के अन्दर 'अहम्' की भावना है तब तक उसे ईश्वर के दर्शन होना दुर्लभ है । 'अहम्' तथा 'मैं' शब्द अहंकार का प्रतीक माना गया है । जब तक कबीरदास में 'अहम्' भाव था तब तक भगवद्भक्ति प्राप्त न कर सके । और जब उनके अन्दर से 'अहम्' की भावना निकल गयी तभी उन्हें हरि भक्ति प्राप्त हो गयी । भक्तिकाल के सभी शाखाओं के कवियों की रचनाओं में चाहे वह निर्गुणवादी हो, चाहे ~~सगुण~~सगुण- या प्रेममार्गी सभी की रचनाओं में 'अहम्' का त्याग दिखाई पड़ता है । सूर एवं तुलसी के काव्य का अध्ययन करते हुए हम यह देखते हैं कि स्थान ~~स्थान~~ पर ये दोनों भक्त भगवान के प्रति कहते हैं कि " प्रभु हौं सब पतितन को टीकौ" । 'प्रभु अब की राखि लेउ लाज हमारी' । इन पंक्तियों को देखने से पता चलता है कि उन्होंने भगवान के सामने अपने को कितना नीच, पापी, कुटिल तथा कामी समझा है । यह उनके हृदय की निष्कपटता तथा सच्ची भावना का उज्ज्वल उदाहरण है ।

(५) शील सदाचार की ओर प्रवृत्ति-

भक्ति का सबसे प्रमुख गुण 'शील' एवं 'सदाचार' है । इसके बिना भक्ति अधूरी ही रह जाती है । लेकिन भक्ति काल के समस्त कवियों की रचनाओं में

चाहे वह सगुणवादी हों या निर्गुणवादी- प्रेममार्गी हों या सूफी- सभी की रचनाओं में 'शील' तथा 'सदाचार' स्थान-स्थान पर मिलता है । भक्त का प्रत्येक क्षण इस प्रयत्न में जाता है कि वह श्रेष्ठ व्यक्तित्व और सामाजिक गुणों की प्राप्ति करे और अन्ततः भगवद् कृपा का अधिकारी बने । तुलसीदास जी एक स्थान पर कहते हैं-

' कबहुंक हौं यहि रहनि रहौंगो।
यथा-लाभ सन्तोष सदा काहू सों कछु न चहौंगो ।
परहित निरत, निरंतर मन क्रम बचन नेम निबहौंगो।
परुष बचन अति दुसह श्रवण सुनि तेहि पावक न दहौंगो।
विगत -मान सम शीतल मन पर गुनु नहि दोष कहौंगो ।
परिहरि देह-जनित चिन्ता दुख-सुख सम बुद्धि सहौंगो ।
'तुलसीदास' प्रभु यहि पथ रहि अविचल हरिभक्ति लहौंगो।।

(६) आडंबर का खंडन:-

आडम्बर रहित होना भक्ति में अति आवश्यक है । ईश्वर की प्राप्ति में आडम्बर एक प्रकार की बाधा है । संत कवि कबीर ने तो जगह जगह पर इस आडम्बर का विरोध किया है -'पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ, हुआ न पंडित कोय।
दो अक्षर राम का, पढ़े सो पंडित होय।।'
(कबीर)

इस प्रकार कबीर के अनुसार आडम्बर छोड़ कर सच्चे मन से ईश्वर भजन करने वाले भक्त ही ईश्वर को पा सकते हैं ।इसी प्रकार सूर एवं तुलसी की रचनाओं में भी हम इसी भावना का समन्वय पाते हैं । प्रेममार्गी सूफी कवि जायसी की रचनाएं भी आडम्बर रहित भावना से ओतप्रोत हैं ।

(७) सादा एवं सरल जीवन में विश्वास:-

ईश्वर की प्राप्ति में लीन व्यक्ति सांसारिक बाह्य आडम्बरों से दूर

सादा एवं सरल जीवन व्यतीत करता है । उसे उसी में आनन्द का अनुभव होता है । बाह्याडंबर एक प्रकार का विघ्न बन कर उसके कार्य में आ जाता है ।अत: भक्त सदैव संसार के मायाजाल से दूर कहीं एकान्त में बैठ कर ईश्वर भजन करता है ।ईश्वर का सच्चा भक्त वही है जो सादा एवं सरल जीवन व्यतीत करे । इस बात की पुष्टि भक्ति काल के समस्त कवियों की रचनाओं में हमें स्थान-स्थान पर प्राप्त होती है । कबीर तिलक,छाप,माला,रोजा-नमाज़ आदि की भर्त्सना करते हुए कहते हैं-

(क) `दुनिया ऐसा बावरी, पाथर पूजन जाय ।
घर की चकिया कोई न पूजे, जेहिका पीसा खाय ।`

(ख) `कनवा फराय जोगी जटवा बढ़ौले
दाढ़ी बढ़ाय जोगी होय गैले बकरा`
जंगल जाय जाय जोगी धुनिया रमाले
काम जराय जोगी बन गैले हिजरा ।`

इस प्रकार भक्ति साहित्य के अथाह सागर में विभिन्न सम्प्रदाय रूपी नदियों के सम्मिलन से उसका स्वरूप असीम हो गया है । लेकिन सभी सम्प्रदायों के सिद्धान्त विभिन्न होते हुए भी उनमें अन्तर्निहित लक्ष्य एक है । उस लक्ष्य की प्राप्ति में सभी सम्प्रदायों के पंथ विविध हैं परन्तु इन सभी रास्तों में समन्वय की भावना हमें साहित्य में स्थान-स्थान पर प्राप्त होती है। सभी शाखाओं का लक्ष्य `भक्ति` है ईश्वर की प्राप्ति में सभी कवि, चाहे वह निर्गुणवादी हों या सगुणवादी, कृष्ण का उपासक हो या राम का , प्रेममार्गी हो अथवा ज्ञानमार्गी ,सभी मग्न हैं । उस भक्ति को प्राप्त करने में सबके रास्ते एक हैं । भक्त में आडम्बर रहित सादा जीवन, नाम की महत्ता ,गुरु की महिमा,अहंकार का त्याग -इन सब बातों का होना अति आवश्यक मानते हैं । बिना इन सब बातों के `भक्ति` की प्राप्ति करना कठिन कार्य है ।

आध्यात्मिकता की प्राथमिकता :-

निष्कर्ष यह है कि वे अपने समस्त लौकिक जीवन केसाधन का चरम-साध्य ईश्वर की भक्ति ही मानते हैं दूसरे शब्दों में यदि हम कहें तो वे आध्यात्मिकता को ही प्राथमिकता देते हैं यही तथ्य स्पष्ट तथ्य है । अन्य बातें केवल सहायक रूप में ही आती हैं ।

'रामचरितमानस' में भी तुलसीदास के राम को पूर्ण ब्रह्म मानते हुए कहते हैं ---

> ' गौतम नारी श्राप बस उपल-देह धरि धीर ।
> चरण-कमल-रज चाहति कृपा करहु रघुबीर ।।
> परसत पग पावन सोक नसावन प्रगट भई तपपुंज सही।
> देखत रघुनायक जनसुखदायक सनमुख होइ कर जोरि रही ।।'[1]

राम पूर्ण ब्रह्म हैं इसलिए तो वे अहल्या को प्रणाम भी नहीं करते,प्रत्युत गंभीरता से वे अपने के पवित्र पदों का स्पर्श उसे करा देते हैं । इस प्रकार तुलसीदास का अपने आराध्य के प्रति भक्तिपूर्ण एवं आध्यात्मिक दृष्टिकोण है । इस प्रकार का विचार तुलसीदास ने'रामचरितमानस' में अनेक स्थलों पर प्रकट किया है।

व्यक्तिगत एवं सार्वजनिक दु:ख से छुटकारा पाने के लिए कबीर ने अनेकत्व में एकत्व को ढूंढते हैं । दु:ख से छुटकारा पाने के लिए किया गया प्रयास भी आध्यात्मिक एवंदार्शनिक प्रयास है । दु:ख से छुटकारा पाने के लिए आत्मसंयम की विधि बताते हुए कहते हैं कि -

> ' तुम्ह जिनि जानों गीत है, यहु निज ब्रह्म विचार ।
> केवल कहि समझाइया , आतम साधन सार रे।।'[2]

इस प्रकार हम क्या है ? हमारा क्या स्वरूप है ? ब्रह्म क्या है ? आत्मा क्या है ? ब्रह्म और आत्मा का क्या संबंध है ? आदि प्रश्नों का निराकरण किया जा सकता है ।

1- राम-चरित मानस — बालकाण्ड
2 - कबीर ग्रन्थावली - पद सं - १५.

भक्तिकाल की सामान्य भावना एवं महत्व से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि भक्तिकाल के सभी चिन्तक तथा भक्त समान रूप से सरल जीवन पर बल देते हैं तथा [illegible] मक्रूथान है , किन्तु भक्तिकाल की विविध धाराओं में अपनी अपनी निजी विशेषताएं भी थीं । उन सब के गन्तव्य तो एक थे, किन्तु सबके मार्ग माध्यम तथा साधन अलग-अलग थे । भक्तिकाल की चार प्रमुख धाराओं- संत,सूफी,राम तथा कृष्ण—को सुविधा की दृष्टि से दो मार्गों— निर्गुण धारा एवं सगुण धारा— में रखा जा सकता है । इन धाराओं के दार्शनिक दृष्टिकोण का विवेचन प्रस्तुत प्रबन्ध की दृष्टि से अत्यधिक महत्व रखता है । अस्तु अगले अध्याय में निर्गुण धारा के दार्शनिक दृष्टिकोण का विवेचन किया जायगा ।

१- तुलसी ग्रन्थावली, पहला खण्ड(मानस)पृ० ६२

२- कबीर ग्रन्थावली, पृ० ८६

सप्तम अध्याय

निर्गुण-धारा का दार्शनिक दृष्टिकोण

निर्गुण धारा :-

'भक्तिकाल की सीमाएं और विस्तार' तथा 'भक्तिकाल की सांस्कृतिक स्थिति' नामक अध्याय में भक्तिकाल के पूर्वार्द्ध एवं उत्तरार्द्ध की सामाजिक ,राजनीतिक तथा दार्शनिक दशा का वर्णन करते हुए यह बताया जा चुका है कि १० से १४ वीं शताब्दी का समय सांस्कृतिक द्वन्द्व का काल माना गया है । देश की राजनीतिक एवं सामाजिक दशा डांवाडोल-सी थी । मुसलमानों के आगमन से जातिप्रथा की कठोरता के कारण संकोचनशील प्रवृत्ति निरन्तर बढ़ती गई । धार्मिक दृष्टिकोण से भी समाज में हाहाकार मचा हुआ था, जाति-पांति तोड़ने वाले धर्म सम्प्रदाय के संपर्क में आने से हिन्दुओं ने कच्छप वृत्ति अपना ली और वे अपने आप में सिमट कर संकीर्ण और कठोर होते गए । नाना प्रकार के राजनीतिक,सामाजिक दार्शनिक एवं धार्मिक विचारों के होने के कारण यदि इस युग को 'टीकाओं के युग' की संज्ञा दें तो तो कोई अतिशयोक्ति न होगी । समाज में यह विचार एवं भावना फैल गई थी कि जो समस्याएं तथा चिन्तन के विषय थे उन सब समस्याओं एवं चिन्तन को हमारे पूर्वजों ने सुलझा दिया है अब कोई स्वतन्त्र चिन्तनीय विषय शेष नहीं बचा है अत: इस युग में स्वाधीन चिन्तन के लिए विरोध उत्पन्न हो गया था । 'टीकाओं की टीका और उसकी भी टीका लिखने में इस काल के पंडितों ने अपनी सारी शक्ति लगा दी । ऐसी ही स्वाधीन चिन्ता की कुंठा के समय बौद्ध और नाथ सिद्धों ने अपनी अक्खड़ शैली में बाह्याचार और निरर्थक रूढ़ियों का प्रचार किया परन्तु उनके पास देने लायक कोई नयी सामग्री नहीं थी । वे केवल अर्थहीन आचारों का विरोध भर करते रहे[१] ।'

निर्गुण सम्प्रदाय के संत भक्तों की रचनाओं को देखने से प्रतीत होता है कि उस समय समाज में धर्म के नाम पर नाना प्रकार के बाह्याडंबरों का प्रचलन था । देश के सम्पूर्ण समाज में उत्तर से दक्षिण एवं पूर्व से पश्चिम तक नाना प्रकार की

१- डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी :हिन्दी साहित्य ,पृ० सं० १९५२, पृष्ठ १०१ ।

साधनाएं प्रचलित थीं । कोई वेद का पाठ करता था कोई सन्यासी बना देश भर में भ्रमण करता था, कोई दिगम्बर था तो कोई सुरापान में ही मुक्ति की खोज कर रहा था । कोई तंत्र-मंत्र में मस्त था ,कोई तीर्थव्रती था, कोई धूम्रपान से ही शरीर को काला बना रहा था । ऐसी परिस्थिति में इसी समय दक्षिण भारत से भक्ति की एक नई धारा उत्तरभारत की ओर आई । दक्षिण से आया हुआ भक्तिवाद समाज में प्रचलित वर्ण-व्यवस्था और ऊंच-नीच मर्यादा को स्वीकार करके भी उसकी कठोरता को ~~निर्बल~~ शिथिल करने में समर्थ हुआ । इनके पास अनन्तशक्ति,ऐश्वर्य और प्रेम के आकार लीला मय भगवान् की शक्ति का संबल था । एक बार भगवान की शरण में आ जाने पर नीच से नीच व्यक्ति भवसागर पार कर सकता था । दक्षिण सन्तों की यह भक्ति गृहस्थाश्रम के लिए एक महत्वपूर्ण वस्तु थी जो कि उत्तरभारत के बौद्ध,जैन,सिद्ध नाथों ने नहीं दी थी । आडम्बर भक्तों की रचनाओं का संग्रह `प्रबन्धम्` नामक ग्रन्थ में हुआ है । `प्रबन्धम्` का पाठ करने वाले को `अरैयार` कहते हैं जो मंडप के समक्ष खड़ा होकर इसका उच्चारण एक निश्चित ढंग से करता है, वह व्यक्ति किसी भी जाति या वर्ण का हो सकता है । `प्रबन्धम्` के पदों से आडम्बार भक्तों के भक्ति के रूप का थोड़ा बहुत पता लगता है । उसमें तिरुमल सईं का मऴिसार जो कि चौथे आडवार थे उन्होंने एक स्थल पर यह कहा है कि `हे नारायण, मेरे ऊपर आज दया करो, कल भी करो और सदा कृपा बनाये रहो । मुझे विश्वास है कि न मैं तुम्हारे बिना हूं और न तू ही मेरे बिना हो ।`[1]

एक स्थल पर नम्म आडवार या शठकोप ने भी कहा है कि `हे भगवन्, चाहे जो कुछ भी कष्ट मुझे झेलने पड़ें ,मैं तुम्हारे चरणों के अतिरिक्त शरण के लिए अन्य कोई भी स्थान नहीं जानता । यदि बालक को उत्पन्न करने वाली माता क्षणिक रोष में आकर उसे फेंक भी दे ,फिर भी उसके ही प्रेम

१- के० एस० कुमार ,`हिम्स आफ दि आडवार्स `पृ० १२ ।

का भूखा बच्चा किसी और को ध्यान में नहीं ला सकता और मेरी भी दशा ठीक वैसी ही है।`[१]

इस प्रकार हम देखते हैं कि आळवारों ने अपनी भक्ति में सख्य, वात्सल्य एवं माधुर्य तीनों भावों को साधन बनाया और नम्म तथा आंडाल ने अपने पदों में माधुर्य भाव को विशेष रूप से अपनाया है। आगे चल कर इन तीनों भावों को भक्तिकाल के सगुण सम्प्रदाय सूर, तुलसी, मीरा आदि ने अपनी अपनी रचनाओं में समावेश कर लिया। इन आळवारों की रचनाओं में भक्ति के अन्तर्गत जीवात्मा एवं परमात्मा के मध्यवर्ती एक अलौकिक प्रेम का अंश भी विद्यमान है। `निर्गुणधारा` ने अपनी भक्ति में भी इस अलौकिक प्रेम अंश का दर्शन किया और उस अलौकिक प्रेम अंश को जिसे प्रत्यक्ष रूप से देखा नहीं जा सकता, व उसे भक्त अपनी साधना द्वारा केवल अनुभव ही कर सकता है, इस पर इन साधकों ने अनेकों भक्ति के पद लिख दिये। जो कि भक्ति काल में `निर्गुण सम्प्रदाय` नाम से विख्यात हुए, सन्तकवि कबीर, दादू, रैदास आदि अनेक सन्तों की रचनाओं में उस अलौकिक भक्ति का वर्णन पाते हैं।

इस प्रकार वैदिक काल में जिसको कि पौराणिक युग की भी संज्ञा दी गई है उस युग में भक्ति का इतना अधिक प्रचार था कि उस समय भारतीय दर्शन के अतिरिक्त संसार में अन्य किसी दार्शनिक विचार धारा का चिन्ह मात्र तक नहीं था।

आळवारों के पश्चात् दक्षिण भारत में वैष्णव धर्म का प्रचार करने वाले भक्त `आचार्यों` के नाम से पुकारे जाने लगे। ये आचार्य अधिकतर आळवारों के `प्रबन्धम्` ग्रन्थ के उपदेशों को मानते एवं उसका प्रचार करते थे। इन आचार्यों में मुख्यत: रंगनाथाचार्य या नाथमुनि का नाम मुख्य रूप से दसवीं शताब्दी में लिया जाता है। इनके बाद यामुनाचार्य के जिन्होंने `श्रीसम्प्रदाय`

१- `नम्म आळवार` (जी०ए०नटेसन, मद्रास) पृ० ६

की स्थापना की । इनके सिद्धान्तों को रामानुजाचार्य ने अपनाया और इन्होंने आळवारों की रचना `प्रबन्धम्` को भी गंभीरतापूर्वक अध्ययन किया जैसा कि पिछले अध्याय मेंबताया जा चुका है कि रामानुजाचार्य ने अपने विशिष्टाद्वैत संप्रदाय का स्थापना की और विशिष्टाद्वैत सिद्धान्तों का प्रचार करना प्रारम्भ किया। विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के अनुसार जीवात्मा और जगत् सम्भवत: परमात्मा के गुणविशेषा हैं और उसे एक विशिष्ट रूप प्रदान करते हैं । वह विशिष्ट ब्रह्म अद्वितीय है और उसकी प्राप्ति केवल ज्ञान मात्र के आधार पर न होकर वेदनिहित कर्मानुष्ठान एवं विविध भक्ति-साधनाओं के द्वारा संभव हो सकती है । रामानुजाचार्य के पश्चात् इनके विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के अनुयायी बहुत भी भक्त हुए । जिसका वर्णन आगे हो चुका है ।

दक्षिण भारत के अन्तिम वैष्णव आळवार भक्तों के समय में उत्तर की ओर कश्मीर प्रदेश में कतिपय शैव भक्तों का प्रादुर्भाव होने लगा ये शैव भक्तों-का-भी ~~के-प्रवर्तक-भी~~ `कश्मीरी शैव सम्प्रदाय` के नाम से अन्त में विख्यात हुए ।यह सम्प्रदाय भी वैष्णव-सम्प्रदाय की भांति कतिपय दार्शनिक सिद्धान्तों पर आश्रित था और इनके आचार्यों ने भी अपने मत का प्रचार अपनी योग्यतानुसार किया । `कश्मीरी शैव सम्प्रदाय` के मूल प्रवर्तक `वसुगुप्त` थे, उनका वर्णन नवीं शताब्दी में उत्तरार्द्ध में पाया जाता है , वे थे । `शिवसूत्र` इनकी रचना है ।

वसुगुप्त के दो प्रमुख शिष्यों का वर्णन पाया जाता है । कल्लट तथा सोमानंद। सोमानन्द ने प्रत्यभिज्ञा मत का प्रचार किया । इन दोनों शिष्यों का दार्शनिक मत `ईश्वराद्वयवाद` के नाम से प्रचलित हुआ । शंकराचार्य के `ब्रह्माद्वैत वाद` से `ईश्वराद्वैतवाद` भिन्न था । `ईश्वराद्वयवाद` के प्रचारकों का कथन था कि ईश्वर ब्रह्म की भांति निष्क्रिय नहीं किन्तु स्वतंत्र कर्ता-स्वरूप है और माया उसकी स्वतंत्र शक्ति का रूप मात्र है । वह अपनी इच्छानुसार नटवत् ,लीला करने के लिए इसे प्रयोग में लाया करता है । `विमर्श` आत्मा का स्वभाव है ,ज्ञान और क्रिया में वहां कोई भी अन्तर नहीं है ।

अत: मोक्ष न केवल ज्ञान से संभव है और न कोरी भक्ति से ही । `मोक्ष` पाने के लिए ज्ञान और भक्ति दोनों का सामंजस्य होना अति आवश्यक है ।

केवल भक्ति की साधना में द्वैत भाव होता है जो अज्ञानता का परिचायक है। और जिसके कारण मोह का भी उत्पन्न हो जाना संभव बना रहता है। किन्तु ज्ञान द्वारा की गई भक्ति द्वैत-मूलक होती है इसमें मोह उत्पन्न होने की आशंका नहीं रहती है यही भक्ति वस्तुत: नित्य कहलाने वाली भक्ति की संज्ञा दी जा सकती है। तथा भक्ति करने योग्य है। 'प्रत्यभिज्ञा' का भी अर्थ यही है कि साधक अपनी ज्ञात वस्तु को ही फिर से जान कर प्रसन्न होता है। जिस अद्वय ईश्वर का ज्ञान उसे न्यूनाधिक अस्पष्ट रूप में प्राप्त रहता है, उसे ही वह अपने गुरु की अनुकम्पा से पूर्णत: पहचान कर अपना लिया करता है और इस प्रकार की स्वानुभूति उसके भीतर एक अनोखे आनन्द व उल्लास का कारण बन जाती है। इस प्रकार अद्वैत भाव में द्वैतभाव की कल्पना और निर्गुण भाव में भी सगुण भाव का काल्पनिक आरोप इस मत की विशेषता थी, जिसे आगे चल कर संतों ने भी किसी न किसी रूप में अपनाया।

बंगाल प्रान्त में चैतन्य देव के पहले 'सहजिया'[१] सम्प्रदाय के मत का बहुत ही अधिक प्रचार था। सहजिया सम्प्रदाय के पूर्वकालीन भक्तों में चंडीदास का नाम विशेष रूप से लिया जाता है। विक्रम की पंद्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में इनका प्रादुर्भाव हुआ था। इन्होंने श्रीकृष्ण एवं राधा से सम्बन्ध रखने वाले अनेक पदों की रचना की तथा उनकी नित्य-लीला का वर्णन किया। उनके अलौकिक प्रेम की व्याख्या करते हुए डा० दिनेशचन्द्र सेन लिखते हैं कि 'वैसी प्रीति कभी न कहीं देखी गई और न सुनी ही गई। उन दोनों के प्राण व हृदय स्वभावत: एक दूसरे से बंधे हुए हैं और एक दूसरे के समक्ष सदा रहते हुए भी वे भावी वियोग की काल्पनिक आशंका से रो पड़ते हैं।'[२]

१- डा० मजुमदार, 'हिस्ट्री आफ बंगाल' पृ० ४२४

२-डा० दिनेशचन्द्र सेन, 'बंगाली लैंग्वेज ऐंड लिटरेचर', पृ० १३० :१ पर उद्धृत।

इस प्रकार प्रेम की इस स्वाभाविकता के कारण इसको `सहजभाव` की संज्ञा दी गई है । `सहज` शब्द के महत्ता से इसका नाम` सहज-सम्प्रदाय` पड़ा । बौद्ध दर्शन के परमतत्व का रूप यह `सहज` भाव है । जिस प्रकार इन बौद्ध सहजिया लोगों ने इसे `प्रज्ञा` एवं`उपाय` का युगनद्ध रूप मान रखा था, उसी प्रकार इन वैष्णव सहजिया लोगों ने भी इसे`राधा`एवं`कृष्ण` के नित्य प्रेम का रूप दे डाला और इसी को सारे विश्व का महत्वपूर्ण अंश मान सृष्टि-क्रम की कल्पना की । ये वैष्णव सहजिया सम्प्रदाय के मतानुसार प्रत्येक व्यक्ति के अन्तरतम् में कृष्णतत्व विद्यमान है वह उसका`स्वरूप` है । उसी प्रकार प्रत्येक स्त्री के भीतर राधातत्व का अंश विराजमान रहता है । मानव शरीर में जो अन्य निम्नतर तत्व पाये जाते हैं वैष्णव सहजिया सम्प्रदाय ने केवल इन तत्वों को`रूप` की संज्ञा दी है । इन`रूप` और `स्वरूप` के मौलिक एकत्व को क्रिया रूप में लाने के लिए वैष्णव कवियों ने राधा एवं कृष्ण की नित्य-लीला का प्रत्यक्ष अनुभव करना साधक का परम ध्येय माना है । इस`लीला` या`केलि` को ये लोग अत्यन्त ऊंचा एवं महत्वपूर्ण स्थान देते हैं भक्ति काल में कृष्ण काव्य भी इसी विचार से ओतप्रोत है । तथा`कृष्ण`और`राधा की लीलाओं को परम महत्व दिया है ।`कृष्ण`उस परमतत्व के अंश एवं `राधा`जीवात्मा का अंश मानी गयी हैं । साधक राधा कृष्ण की लीलाओं को देख कर अपने को धन्य समझने लगता है एवं संसार से छुटकारा पाकर दिन रात उन्हीं लीलाओं को देखने में लीन रहता है ।

वैष्णव सहजिया सम्प्रदाय के कालान्तर में जयदेव कवि ने अपनी रचना `गीतगोविन्द` में भी राधा और कृष्ण की यमुना-तट पर होने वाली रहस्य-मयी`केलि` या`लीला` को जय जयकार मंगलाचरण प्रारम्भ किया है । जयदेव के पश्चात् चंडीदास एवं विद्यापति ने भी इसी प्रकार की लीलाओं का गुणगान किया है ।`मानव प्रेम अपनी सर्वोत्कृष्ट व शुद्ध दशा में ईश्वरीय प्रेम बन जाता है`[१] इसी भावना से प्रेरित होकर तथा सूफी सम्प्रदाय, और वैष्णव सहजिया

१- परशुराम चतुर्वेदी : उत्तरी भारत की संत-परंपरा , पृ० ६३

सम्प्रदायों से प्रभावित होकर आगे चल कर बंगाल प्रान्त में `बाउल-सम्प्रदाय` का उदय हुआ ।

`तेरहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में दक्षिण भारत के पंढरपुर नामक स्थान के आस पास `वारकरी सम्प्रदाय` अधिक प्रसिद्ध था । इसके सर्वश्रेष्ठ प्रवर्तक ज्ञान देव या ज्ञानेश्वर नाम के व्यक्ति थे । ज्ञानेश्वर की सर्वप्रसिद्ध रचना `ज्ञानेश्वरी `श्रीमद्भगवद्गीता` पर एक सुन्दर भाष्य है । इस भाष्य में वारकरी सम्प्रदाय के व दर्शन एवं सिद्धान्तों का वर्णन किया गया है । यह पुस्तक मूल रूप में मराठी भाषा में लिखी गयी है । इस ग्रन्थ में निर्गुण व निराकार परमात्मा की भक्ति का अद्वैतवाद की भावना के अनुसार वर्णन किया गया है।

ज्ञानेश्वर के शिष्य नामदेव थे । नामदेव की रचना `तीर्थावली` है । भक्तिकाल के संत कवियों ने नामदेव का नाम बहुत ही श्रद्धा से लिया है ।नामदेव के पश्चात् इस सम्प्रदाय के`नाथ` वा `तुकाराम` का भी नाम कहीं-कहीं पर मिलता है । कुछ समय पश्चात् वारकरी सम्प्रदाय के अन्तर्गत चार शाखाएं हो गयीं जिनको क्रमश: चैतन्य सम्प्रदाय,स्वरूप सम्प्रदाय,आनन्द सम्प्रदाय और प्रकाश सम्प्रदाय के नाम से अभिहित किया गया । वर्तमान समय में भी इनके अनुयायी महाराष्ट्र, बरार, गुजरात, कर्नाटक एवं आन्ध्र प्रदेश में पाये जाते हैं । इन मतों का वर्णन विशेष रूप से मराठी भाषा में पाया जाता है किन्तु कुछ अनुवाद हिन्दी भाषा में भी हुआ है ।

`वारकरी सम्प्रदाय``वारी` एवं `करी` इन दो शब्दों से बना है । `वारकरी` का अर्थ होता है`परिक्रमा करने वाला` ।`वारकरी` सम्प्रदाय का यह विश्वास था कि पंढरपुर के मंदिर में स्थापित विट्ठल भगवान की प्रतिमा की प्रतिमास की दोनों एकादशी में की परिक्रमा करनी चाहिए । वारकरी वारकरी सम्प्रदाय के अनुयायी ऐसा करते थे । प्रत्येक अनुयायी का यह कर्तव्य था कि वह कम से कम आषाढ़ वा कार्तिक में इस प्रतिमा की परिक्रमा अवश्य कर ले । आगे चल कर भक्तिकाल में लगभग सं० १४७२ से १५३८ के मध्य में नरसी मेहता एवं मीराबाई गुजरात व राजस्थान की ओर इसका प्रसार करने

लगे । सं०१५४२से १५६० के मध्य में चैतन्य देव ने इस मत का प्रसार बंगाल व उड़ीसा प्रान्त में किया । सम्प्रदायों के अनुयायी अपने इष्टदेव के भजन में लीन होकर नृत्य व गान करते करते बहुधा भावावेश में आ जाते थे और इनकी भक्ति का मूल अद्वैती स्वरूप द्वैतभाव से पूर्णत: प्रभावित था । भक्तिकाल के सगुणोपासक भक्तों में तथा इनमें कोई विशेष अन्तर नहीं लक्षित होता है ।

सगुणोपासक भक्तों तथा इन सम्प्रदाय के अनुयायियों में यह अन्तर अवश्य था कि वारकरी सम्प्रदाय के भक्त भजन कीर्तन एवं राधा कृष्ण की लीला में लीन रहते हुये भी वर्णाश्रम के नियमों से पृथक रहकर अकृत्रिम जीवन व्यतीत करना, सामाजिक विशेषताओं की उपेक्षा करना,प्रवृत्ति मार्ग को स्वीकार करना आदि इन भक्तों की विशेषता थी जो कि सगुणोपासक भक्तों में नहीं थी । 'वारकरी सम्प्रदाय' के इन भक्तों को इसी कारण 'संत' की संज्ञा प्रथमत: मिली ।

'वारकरी सम्प्रदाय' परमात्मा को निर्गुण ब्रह्म बतलाते हुये तथा अद्वैतवाद के समर्थक होते हुये भी इसके अनुयायीग भक्ति-साधना को सर्वोत्तम ठहराते हैं । सम्प्रदाय स्मार्त सम्प्रदाय है जिसमें पंच-देवों की पूजा का विधान है । इस सम्प्रदाय के इष्ट जैसा कि पूर्व बताया गया है कि विट्ठल भगवान हैं । इनकी यह भक्ति अद्वैतभक्ति अथवा अभेद भक्ति है ।' देव देऊळ परिवारू। कीजे कोरूनि डोंगरू। डोंगरू । तैसा भक्तिचा वेव्हारू । कां न व्हावा ।[1]। अर्थात जिस प्रकार एक ही पहाड़ के भीतर देवता देवालय एवं भक्त-परिवार का निर्माण खोदकर किया जाता है उसी प्रकार भक्ति का व्यवहार भी एकत्व के रहते हुये सर्वथा सम्भव है इसमें सन्देह नहीं ।

एक स्थल पर इस सम्प्रदाय का वर्णन करते हुये पांगारकर ने कहा है कि ; तभी तो अन्त में जाकर देव देवत्व में घनीभूत हो जाता है, भक्त-भक्तिपन में विलीन हो जाता है और दोनों का ही अन्त हो जाने पर अभेद का स्वरूप अनंत हो कर प्रकट होता है । जिस प्रकार गंगा समुद्र से भिन्न रूप होने से कभी मिल नहीं सकती,[2]वैसे ही परमात्मा के साथ तद्रूप हुए बिना भक्ति का होना कभी सम्भव नहीं ।'

१- ज्ञानेश्वर, अमृतानुभव,प्रकरण ६

२- लक्ष्मण रामचन्द्र पांगारकर,श्री ज्ञानेश्वरचरित्र'(हिन्दी अनुवाद) गीता प्रैस, गोरखपुर सं० १९९० पृ० २२१ ।

इस प्रकार रामानन्द की मध्यकालीन उत्तर भारत की प्रगतिशील चिन्ता-धारा के एकमात्र कर्मठ महापुरुष और आर्वतक थे । यदि इन्हें प्रेरणास्रोत एवं जन्मदाता मानें तो अतिशयोक्ति नहीं होगी । भक्ति की वेगवती धारा जो दक्षिण से उत्तर की ओर प्रवाहित हुई और जिसके द्वारा समस्त उत्तरभारत को भक्ति-रस से सींचा गया, इस भक्ति-रस के मूल में इन्हीं आळवार गायकों, वारकरी सम्प्रदायों की सहृदयता और मार्मिकता का मधुर पुट था ।

इस कथन में अतिशयोक्ति न होगी कि हिन्दी साहित्य के भक्ति परम्परा के विकास प्रवाह में इन आळवार भक्तों एवं वारकरी सम्प्रदाय का महत्वपूर्ण स्थान है । ये आळ्वार अनन्य भक्त एवं आत्मानिष्ठ साधक थे । उत्तर में जब सिद्ध साधक वेद की निन्दा कर रहे थे जन सामान्य को मूर्ति-पूजा, तीर्थव्रत, यज्ञ-योग और वर्णाश्रम धर्म से विमुख बना रहे हैं, उसी समय दक्षिण भारत के आळ्वार एवं वारकरी भक्त शिव तथा विष्णु की भक्ति में मुग्ध हो कर जनता को प्रेम का सन्देश सुना रहे थे । जैसा कि पिछले अध्यायों में यह बताया जा चुका है कि ये आळ्वार संख्या में १२ थे जिनका नाम पिछले अध्याय में दिया जा चुका है । ये आळ्वार निम्न जाति के होने के कारण शिक्षा दीक्षा, वेश विन्यास से हीन होते हुए भी विनम्र थे, वे सब प्रकार से, तन मन धन से अपने को भगवान के चरणों में अर्पित कर देते थे । आत्मसमर्पण भाव, अर्थात् नारायण के प्रति अनन्य भावना, अत्यन्त सादा जीवन यापन , सांसारिक विभवों के प्रति विरक्ति , कृष्णावतार की विविध लीलाओं का गायन -- यही इन आळ्वार सन्तों की साधना के प्रमुख अंग थे । इस प्रकार प्रपत्ति, शरणागति, आत्मार्पण और एकान्त निष्ठा से परिपूर्ण भक्ति का सम्यक् विकास , इन आळ्वार सन्तों की वाणियों में भलीभांति देखा जा सकता है । इन सन्तों ने लगभग चार सहस्र मधुर गीतों की रचना की है, जिसको नाथ मुनि ने दसवीं शताब्दी में `नालायरप्रबन्धम्` में संकलित किया है । आळ्वार भक्तों में विष्णु चित्त की पोष्यपुत्री गोदा आंदाळ ने अपना सर्वस्व भगवान् श्री कृष्ण को अर्पित कर दिया था । हिन्दी साहित्य की भक्ति-साधिका मीरा ने भी गोदा आंदाळ की भांति अपना ब्याह `गिरधर गोपाल` से कर लिया -` मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरा न कोय` । गोदा आंदाळ इनसे पूर्व

अपना ब्याह 'रंगनाथ' से कर चुकी थीं । अन्त में ये स्वयं भी 'रंगनाथ' की प्रतिमा में लीन हो गयी । इन आड्वारों के गीतों में साधक की श्रद्धाभक्तिपूर्ण कातर पुकार से भरी हुई है । सच्चे वैष्णव हृदय का पता भी इनकी रचनाओं से मिलता है । आड्वार दर्शन में जिस प्रकार स्त्री का एक मात्र अपने पति का ही सहारा होता है उसी प्रकार भक्त को भी भगवान् के आश्रय में रहना अनिवार्य है। इस सम्प्रदाय के भक्त प्रभु के जिस प्रेम का वर्णन करते हैं वह शाश्वत, ~~निरन्तर~~ नित्यस्वरूप, पावन एवं सुगम है । अपनी चरम अनुभूति में पहुंचकर इसकी संज्ञा अनिर्वचनीय हो जाती है एवं साधक भी मूक एवं नीरव बन जाता है । इस प्रकार इनकी भक्ति में दास्य,वात्सल्य एवं दाम्पत्य-- इन तीनों भावों का सरस संगम हो जाता है । वे उस ब्रह्म को विभिन्न नामों से पुकारने लगते है ।

आड्वारों के पश्चात्, आठवीं शताब्दी के प्रारम्भ में अन्य मीमांसकों का प्रादुर्भाव पाया जाता है जिन्होंने याज्ञिक कर्मकाण्ड को फिर से महत्ता देना प्रारम्भ किया । स्वामी शंकराचार्य ने सं० ८४५-८७७ में 'स्मार्त मार्ग' की साधना की स्थापना की । आचार्य शंकर ने ब्रह्म को सत्य तथा जगत् को मिथ्या बतला कर जीव और ब्रह्म के बीच एकता स्थापित करते हुये अपने अद्वैत मत का प्रतिपादन किया है । इनके इस अद्वैत मत से प्राय: सभी सम्प्रदाय यहां तक की हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल के भी विभिन्न सम्प्रदाय प्रभावित हुये । अद्वैतवाद का मूल सिद्धान्त' ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापर:' अर्थात ब्रह्म ही सत्य है, जगत् मिथ्या है, जीव ब्रह्म से किसी भी प्रकार भिन्न नहीं है । यही चार इस सिद्धान्त अद्वैत मत की आधार शिलायें हैं ।[१] इस प्रकार निर्गुण भक्ति का मूल स्रोत दक्षिण भारत में आड्वार सम्प्रदाय द्वारा उत्तर भारत की और अग्रसर हुआ । धीरे धीरे उत्तर भारत के हिन्दी साहित्य के अन्य सम्प्रदायों ने इस रूप को अपनाया एवं अपनी साधना को पूर्ण बनाने की चेष्टा की ।

१- श्री बलदेव उपाध्याय, शंकराचार्य, द्वितीय संस्करण, पृ० २८७

(क) हिन्दी सन्त-साहित्य का दार्शनिक दृष्टिकोण- "हलके हलके तिर गये, डूबे जिन सिर भारी" कबीर के इस दोहे से यह स्पष्ट होता है कि दर्शन का दर्पण जब तक अनुभूति की आभा से आलोकित नहीं होता तब तक कोई आत्म-स्वरूप का प्रति बिम्ब देख पाना दुर्लभ है। समस्त संत- साहित्य की दार्शनिक विचार धारा ने उपनिषदों, सिद्धों, नाथों और सूफियों की प्रेममयी अनुभूतिशील चिन्तनशीलता कोआधार-स्वरूप मानकर अपने रूप का निर्माण किया है ये तत्व सीधे शास्त्र से नहीं आये,वरन् शताब्दियों की अनुभूति-तुला पर तुल कर,महात्माओं की व्यावहारिक ज्ञान की कसौटी पर कसे जा कर, सत्संग और गुरु के उपदेशों से समृहीत हुये। यह दर्शन स्वार्जित अनुभूति है। जैसे सहस्त्रों पुष्पों की सुगंधि मधु की एक बूंद में समाहित है, किसी एक फूल की सुगन्धि मधु में नहीं है, उस मधु-निमाण में भ्रमर की अनेक पुष्प-तीर्थों की यात्रायें सन्निहित हैं, अनेक पुष्पों की क्यारियां मधु के एक-एक कण में निवास करती हैं, उसी प्रकार सन्त-सम्प्रदाय का दर्शन अनेक युगों और साधकों की अनुभूतियों का समुच्चय है[1] सांसारिकता और शास्त्रों के प्रति उदासीनतासंत-प्रकृति की निजी विशेषतायें हैं। किन्ही एक दृष्टिकोण-विशेष से लिखे जाने वाले शास्त्र साम्प्रदायि कता के संक्रामक दोषों से लिप्त हो कर उस परम तत्व के निकट पहुंच कर पथ भ्रष्ट कर देते हैं। शास्त्रों का पठनपाठन वाक्य ज्ञान मे निपुणता तो अवश्य ला देते हैं, किन्तु अहंकार के बोझ से आक्रान्त साधक साधना-क्षेत्र में पहले डूबता है।

संत-साहित्य की दार्शनिक विचारधारा किसी विशेष शास्त्र पर आधारित न हो कर संतों की आत्मानुभूति पर विशेष रूप से आधारित है। इसआत्मानुभूति के लिये इन संतो ने किसी भी विशेषविशेष धर्म ग्रन्थों की प्रामाणिकता स्वीकार ही नही की है। वे सदैव यही कहते हैं कि जिन वेद, कुरान आदि धर्म ग्रन्थोंका आश्रय ग्रहण कर सर्वसाधारण अपने-अपने मतोंका अनुसरण करते हैं, वे तो स्वयं ही विभिन्न भ्रमात्मक बातों से परिपूर्ण हैं और उनके भाष्यकारों ने उन्हें और भी पेचिदा बना दिया है। अत:

१- डा० रामकुमार वर्मा, अनुशीलन,पृष्ठ ६६ ७७।

चार वेदों के ज्ञाता, पंडित उसकेभीतर, तत्व से अपरिचित रह कर मरते-पचते रहते हैं,षट् दर्शन और ज्ञानके पारवण्डों के आधार पर तर्क वितर्क करनेवाले कभी भी शान्ति नही पाते ।न तो उन्हें ज्ञान की ही प्राप्ति होती है और न उनके संशय का निराकरण होता है[1]। इस प्रकार ये संत धर्म ग्रंथों में न उलझ कर स्वानुभूति पर बल देते थे जो कि चिरस्थाई होता है । संत कबीर स्थान -स्थान पर आपुहि आपु विचारियै तब केता होय आनन्द रे। अधिक जोर देते हैं और उपदेश देते थे । एक स्थल पर कबीरने यहां तक स्पष्ट किया है कि उनके स्वयं विचार करते-करते वह सत्य उनके मन में स्फुरि हो उठा । इसके लिये उन्हें कही आना-जाना नही पड़ा । इस अनिर्वचनीय तत्व की उपलब्धि की कथा भी अकथनीय है क्यों कि जिनके हृदय में यह सत्य-भाव से उत्पन्न होता है, वह उसमें रमण करता हुआ उसी में लीन हो जाता है।[2]

सन्तों के सामान्य दार्शनिक सिद्धान्त--समस्त संतों का दार्शनिक सिद्धान्त चार तत्वों पर आधारित है, वे चार तत्व हैं ब्रह्म, जीव, माया और जगत् । इन चारों तत्वों पर समस्त संत साहित्य की लगभग एक ही विचार धारा पाई जाती है ।

ब्रह्म-- संत- साहित्यने ब्रह्म की संज्ञा परमतत्व सेदी है । इनके मतानुसार परमतत्व के विवेचन में वैज्ञानिक तत्व का अभाव या दीरवता है । इसका कारण जैसा कि पूर्व विवेचन में बताया जा चुका है कि वे तर्क पर या अन्य धर्मशास्त्रों पर बल न दे कर के स्वानुभूति पर बल देते थे जिसका वैज्ञानिक वर्णन में सीधे सादे साधक नहीं कर सके । इन्हो ने उस परमतत्व को अनेक संज्ञाओं से सुशोभित किया । राम, रहीम, खुदा, खालिक, केशव, करीम,बिस्मिल्लाह, सत्, सतनाम्, अपरम्पार, अलख, निरंजन,पुरुषोत्तम निरगुण,निराकार, हरि, मोहन आदि । उन्हो ने सत् अथवा सत्यको परम तत्व के अस्तित्व के बोधक रूप में स्वीकार किया है । सन्तों ने सर्वज्ञनामकी

१- कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ३८, ३६, साखी १०, पृ० ६६, पद ३४ ।

२- कबीर ग्रंथावली, पृ० ६६, पद २३,तथा पृ० ६३ पद १४ ।

महिमा का गान करते हुए उसके महत्व का प्रतिपादन किया है, क्यों कि नाम उस वस्तु के उस अंश-विशेष की ओर संकेत करता है जिसकी ब अनुभूति साधक के व्यक्तिगत जीवन में हो चुकी है। इसी लिये संत कवि सद् की अनुभूति को निरन्तर एक सो बनाये रखने के लिये बहुत जोर देते हैं। परमतत्व के स्वानुभूति होने के कारण उस परमतत्व की दार्शनिक व्याख्या करने में ये सन्त असमर्थ रहते हैं और वे किसी मूर्तभाव की स्पष्ट अनुभूति नहीं करा पाते। सन्तों ने इस असमर्थता का भी वर्णन कर दिया है।परमतत्व को वे अवर्णनीय वाणी के सीमित बन्धनों में नहीं बांधा पाते। इनके मतानुसार यद्यपि आप कितने भी प्रयत्न उसको बांधने के लियेइ करें परन्तु उस विराट स्वरूप के एक क्षुद्र अंश का ही बोध हो पाता है।

परमतत्व के बारे में कबीर का सिद्धान्त सदैव यही रहा है कि राम नाम की चर्चा करने वाले तो सभी हैं परन्तु उसके वास्तविक रहस्य को वे नहीं जानते। इस लिये जो लोग उस अवर्णनीय तत्व का निरूपण हल्के तौर से करते हैं उनकी बात मुझे नहीं जंचती, उसका आनन्द तो वही पाता है जो प्रत्यक्षानुभूति से उसे हृदयंगम करले।यह बात केवल कहने सुनने के लिये नहीं है। उस तत्व को बिना उसका परिचय प्राप्त किये जानना परम दुर्लभ है। कबीर के आध्यात्मिक स्वरूप का निरूपण करते हुए आचार्य क्षिति मोहन सेन ने एक स्थल पर लिखा है कि "कबीर की आध्यात्मिक क्षुधा और आकांक्षा विश्व-ग्रासी है।वह कुछ भी छोड़ना नहीं चाहती, इसी लिये वह ग्रहणशील है,वर्जनशील है नहीं। इसी लिये उन्हों ने हिन्दू, मुसलमान, सूफी,वैष्णव योगी, प्रभृति सब साधनाओं को ज़ोर से पकड़ रखा है।[1]" अतःसन्त कवियों के मतानुसार परमतत्व का वास्तविक स्वरूप ज्ञान सामूहिक न हो कर व्यक्तिगत होता था, किन्तु इनके मतानुसार उस परमतत्व का ज्ञान कोई भी साधक कर सकता है। कबीर के निम्न दोहे से उक्त सिद्धांत स्पष्ट हो हो जाता है वे कहते है कि --

"अस तु अस तोहि कोई न जानइ। लोग कहै सब आनहि आंन।[2]"

१-कल्याण, योगांक, पृ० २६६।

२- कबीर ग्रंथावली, पद ४७।

अर्थात वह परमतत्त्व है जिस रूप में है उसका पूर्ण ज्ञान किसीको नहीं है । सब अपनी-अपनी व्यक्तिगत अनुभूति के ही बल पर उसका निरूपण किया करते है ।

इस प्रकार सामान्य रूप से सन्त-साहित्य का दार्शनिक सिद्धांत ब्रह्म, जीव, जगत् और माया के निरूपण में शंकर के अद्वैतवाद से प्रभावित दिखाई पड़ता है जिसका पूर्ण विवेचन पिछले अध्याय में हो चुका है । साधना के क्षेत्र में उनकी सीमा रेखा सूफियों की इश्क भावना से प्रभावित है जिसका विवेचन इस अध्याय में न करके अगले अध्याय में किया गया है। नाथ सम्प्रदाय के हठयोग और विशिष्टाद्वैत के भक्ति-सिद्धांतको स्पर्श करती है ।

संतो के " ब्रह्म" अथवा परमतत्त्व के विषय में कीकुछ सामान्य सिद्धांत है । वे सामान्य दार्शनिक दार्शनिक सिद्धान्त परमतत्त्व का सर्वव्यापी होना, एकेश्वरवाद, निर्गुणब्रह्म, शून्य एवं अनहद तत्त्व, सगुण ब्रह्म इत्यादि है।

सर्वव्यापकता -

वह परमतत्त्व सर्वत्र समाया हुआ है, जिधर दृष्टि जाती है उधर वही दिखता है । कण कण में उसका अस्तित्व विराजमान है । वह एक है, साथ ही अनेक भी है । माया में लिप्त होने के कारण व्यक्ति उस परमतत्त्व को पहचानने में असमर्थ रहता है । उनमें में जो माया को छोड़ उस परमतत्त्व की आराधना में लीन रहते हैं वह उसकी अनुभूति कर लेते हैं । वह परमतत्त्व अथवा परमात्मा जगत् की प्रत्येक वस्तु में और प्रत्येक वस्तु उसमें समायीहुई है । जिस प्रकार जल की लहरें, फेन और बुलबुले जल से पृथक् नहीं, उसी प्रकार ब्रह्म की लीला है । जब तक भ्रम अर्थात् माया में मन विचर रहा था, तब तक सत्य पर आवरण पड़ा था उसे देख नहीं पाया किन्तु गुरु के उपदेश से वह भ्रम एवं माया का पर्दा हट गया और मन स्थिर होकर उस सत्य का अनुभव करने लगा । नामदेव भी इसी सिद्धान्त का वर्णन करते हुए कहते हैं कि "इसको भलीभांति हृदय में समझ लो कि मुरारी ही एक मात्र प्रत्येक प्राणी में और सर्वत्र निरन्तर व्याप्त है[१]।"

१- सन्त सुधासार, नामदेव महाराज, पद १

संत नामदेव एक पद में कहते हैं कि -

" आप देव देहुरा आपन, आप लगावे पूजा ।
जल ते तरंग तरंग ते है जल,कहन सुनन को दूजा ।
आपहि गावे आपहि नाचे, आप बजावे तूरा ।
कहत नामदेव तूं मेरो ठाकुर जन ऊरा तूं पूरा ।।"[1]

संत नामदेव ब्रह्म की सर्वव्यापकता पर प्रकाश डालते हुए उक्त पदमेंकहते हैं कि मुझे तो सर्वत्र देव परमात्मा ही दिखाई पड़ते हैं । समस्त पृथ्वी परमात्मामय है । मैं इसी में पूर्ण आनन्द का अनुभव करता हूं । कोई उसे निकट बतलाता है और कोई उसे दूर, किन्तु जिसने उसको पहचान लिया है वह उसे अपने में छिपाये रहता है । वस्तुत: वह हमारी आत्मा में समाया हुआ है और जैसे जैसे हमें उसका अनुभव होने लगता है वैसे-वैसे स्वत: ध्वनि निकल पड़ती है ।तब भक्त और भगवान् दोनों एक दूसरे से अभिन्न हो जाते हैं ,जिस प्रकार किसी घड़े का जल, जल में डुबो कर एकाकार हो जाता है । उसी प्रकार मैं भी उस परमात्मा में लीन होकर परमात्मा मय हो जाता हूं फिर मेरा अपना अस्तित्व कुछ भी नहीं रहता ।नामदेव का दूसरा पद भी ईश्वर की सर्वव्यापकता को स्पष्ट करता है -

" ऐसो राम राइ अन्तरजामी । जैसे दरपन माहि बदन परवानी ।।
रहाउ ।।
बसै घटाघट लीपन छीपै, बन्धन मुकता जाउ न दीसै ।।१।।
पानी माहि देखु मुखु जैसा । नामे को सुआमी बीठलु ऐसा[2] ।।२।।

अर्थात् सब घट में राम बोल रहे हैं । राम के बिना और कौन बोल सकता है ? हाथी और चींटी में वही निवास कर रहा है , भले ही शारीरिक आकार-प्रकार में भेद हो । स्थावर-जंगम ,कीट-पतंग सब में वह समान भाव से विराजमान् है ।

१- पं० परशुराम चतुर्वेदी द्वारा सम्पादित सन्तकाव्य, पृ० १४५

२- वही वही पृ० १४६

जैसे दर्पण में मुखाकृति प्रतिबिम्बित होती है वैसे ही प्रत्येक घट में वह वर्तमान है किन्तु प्रत्यक्ष होता नहीं जान पड़ता ।

इस प्रकार इन संतों का ब्रह्म निरूपण दार्शनिक सिद्धान्त अद्वैतवाद और द्वैतवाद इन दोनों भावनाओं से ओतप्रोत है । उनकी भक्ति का स्वरूप विशुद्ध निर्गुण भक्ति का स्वरूप है । जाति-पांति ,धर्म आदि का भेद भाव न रखते हुए हिन्दू मुसलमान सब समान हैं और सब को केवल उस निर्गुण ब्रह्म की आराधना करनी चाहिए ।

निर्गुण ब्रह्म :-

`निर्गुण राम जपहु रे भाई,अविगति की गति लखी न जाई ।`[1]

उक्त पद में सन्त कबीर ने सांसारिक व्यक्तियों को निर्गुण राम जपने का उपदेश दिया है । समस्त संत साधकों के आराध्य देव निर्गुण ब्रह्म हैं । उन्हीं की उपासना निर्गुण वादी कवियों को इष्ट है । किन्तु उस निर्गुण ब्रह्म की जिसका न तो कोई रूप है न रंग ,उसकी उपासना लोगों को आश्चर्य में डाल देती है । निर्गुण ब्रह्म का वर्णन करते हुए डा० हजारीप्रसाद जी कहते हैं कि-` यदि कहो कि जो वाणी और मन से गोचर है ही नहीं उसकी उपासना कैसे हो सकती है, तो उल्टे तुम्हीं से प्रश्न किया जा सकता है कि जो वस्तु वाणी और मन से परे है अर्थात् जिस तक न तो वाणी पहुंच सकती है और न मन, उसका अनुभव भी तो सम्भव नहीं है, उसका ज्ञान लेना भी तो सम्भव नहीं होता । फिर यदि यह सम्भव है तो उपासना क्यों नहीं सम्भव है ?`[2]

ये संत साधक निर्गुण ब्रह्म को अनेक नामों से सम्बोधित करते हैं किन्तु `राम नाम` ही उनको विशेष रूप से प्रिय है । कई स्थलों पर उन्होंने `राजाराम` की भी संज्ञा दी है किन्तु इसमें उनका `राजाराम` से दशरथ के राम

१- कबीर ग्रन्थावली , पद ४६

२- डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी,`कबीर` पृ० ११२

से तात्पर्य न होकर ...इन्द्रिय व्यवहारों से पृथक् तथा उससे ऊपर संसार में व्याप्त अगम, अपार परब्रह्म राम से होता है जो सारे शरीर और कण कण में व्याप्त मान हैं। कबीर ने ब्रह्म को एक कहने के साथ साथ उपनिषदों के ढंग पर उसकी अद्वैतता भी सिद्ध की है तथा उसकी ... एवं एकरसता पर विशेष जोर दिया है। उसे आदि मध्य और अन्त तक सदा अविरुद्ध और अभंग बतलाया है। कबीर निम्न पद में कहते हैं कि-

` जाके मुंह माथा नहीं, नाहीं रूप अरूप ।
पुहुप बांस थै पातरा, ऐसा तत्त अनूप ।।`[१]

अर्थात् जिसका न तो रूप है न अरूप, वह तो पुष्प की सुगन्ध की भांति अति सूक्ष्म है जिसको न तो छू सकते हैं न देख। केवल अनुभव कर सकते हैं।

सगुण ब्रह्म :-

संत भक्त को निर्गुण ब्रह्म के निरूपण में जब तृप्ति नहीं मिलती तो वे उसे सगुण विराट् रूप में दिखलाने लगते हैं। उसके रूप, माधुर्य, ऐश्वर्य का विभिन्न प्रकार से चित्रण करने लगते हैं। कभी कहने लगते हैं` कहै कबीर सुननहु रे लोई। मांवड़ घड़ण संवारण सोई[२]।` अर्थात् उसे सृष्टिकर्ता बतलाते हुए कहते हैं कि उसने स्वयं कर्ता बन कर कुम्हार की भांति विविध सृष्टि की रचना की वही बनाने, सुधारने और बिगाड़ने वाला भी है। ईश्वर विराट् रूप का वर्णन करते हुए कबीर कहते हैं-

` कोटि सूर जाके परगास । कोटि महादेव अरु कविलास ।।
दुरगा कोटि जाके मरदनु करै। ब्रह्मा कोटि वेद उचरै --।।`[३]

१- कबीर ग्रन्थावली, पीव पिछांणन को अंग ४

२- वही पद २७३

३- सन्त कबीर, रागु भैरउ २०

यहां तक ही नहीं कभी वे 'जाके नाभि पदम सुउदित ब्रह्म,चरन गंग तरंग रे' के रूप में विष्णु के पौराणिक रूप का वर्णन करते हैं ।

कभी-कभी ये सन्त कवि सगुण-निर्गुण कुछ भी न कह कर इन दोनों से परे बताते हैं । वे कहते हैं कि -

'संतो धोखा कासूं कहिये । गुन में निरगुन,निरगुन में गुन बाट छाड़ि क्यों बहिये'[1] ।।

अर्थात् उनका निर्गुण राम वही है जो अजर अमर दोनों से अतीत,पिंड-ब्रह्मांड दोनों से ऊपर तथा अरूप और सवर्ण दोनों से ऊपर उठा हुआ है ।

एकेश्वरवाद:-

पिछले अध्याय में यह कहा जा चुका है कि पूर्ण भक्तिकाल की सामाजिक राजनैतिक दशा बहुत ही उथल पुथल मयी थी देश गुलाम हो गया था तथा मुसलमानों का बोलबाला था । ऐसी परिस्थिति में हिन्दू मुसलमान दोनों धर्मों को साथ लेकर चलना ही श्रेयस्कर एवं उचित था ।

सन्त भक्तों का उदय भी इसी समय हुआ अत: इन सन्तों ने भी युग की आवश्यकतानुसार हिन्दू और मुसलमान दोनों के एकेश्वरवाद का संदेश एवं उपदेश सुनाया । द्वितीय कारण यह था कि उस समय हिन्दू वेदान्त के ~~अद्वैतवा~~ अद्वैतवादी सिद्धान्त से परिचित होने पर भी बहुदेववादी ही रहे थे । उधर मुसलमानों के 'अल्लाह' भी संकुचित होकर काफिरों का भगवान बनने में असमर्थ था । संतों ने ऐसी उग्र परिस्थिति देखते हुए उग्र रूप से बहुदेववाद की आलोचना करना आरम्भ किया । प्यारे राम को छोड़ कर अन्य देवी देवताओं के उपासक को वेश्यापुत्र की उपाधि दी तथा मुसलमानों को

१- कबीर ग्रन्थावली , पद १८०

सम्बोधित करते हुए कहा कि तुम्हें किसने भरमा दिया । दो भगवान् कहां से आए ? अल्लाह-राम ,करीम -केशव, हरि-हजरत ,वस्तुत: दोनों एक हैं । एक ही सोने से बने हुए विभिन्न नामरूपधारी गहने हैं उनमें किसी प्रकार की द्वैत-भावना लाना व्यर्थ है । उनमें कहने सुनने भर के लिए नानात्व भावना है, नमाज और पूजा की पृथक् पृथक् उपासना-पद्धतियाँ हैं, मूलत: वे दोनों एक और अद्वैत हैं ।[1]

गुरु नानक देव के अनुसार वह एक है --

'ओमकार सति नामु करता पुरखु निरभउ,निरवैरु अकाल-
मूरति अजूनी सैभं गुर प्रसादि जपु जी ।।

गुरु नानक कहते हैं कि वह सत्य स्वरूप, सबका सृष्टा, परम समर्थ निर्भय, अजन्मा, स्वयंभ तथा कालातीत अस्तित्व वाला है । वह भूत वर्तमान भविष्य तीनों कालो में केवल सत्य स्वरूप रहने वाला है । चिन्तन करने से वह समझ में नहीं आता, भले ही लाखों बार फिर फिर उसका चिन्तन किया जाय। सन्त दादूदयाल भी इस मत का समर्थन करते हुए कहते हैं कि -

' बाबा, नाहीं दूजा कोई ।
एक अनेक नांउ तुम्हारे, मो पै और न होई ।।
अलह इलाही एक तूं , तूं ही राम रहीम ।
तूं ही मालिक मोहना, केसो नाउं करीम ।।'[2]

सन्त कवि-कबीर कहते हैं कि -

'हमारे राम रहीम करीमा केसो, अलह राम सति सोई ।
बिसमिल मेटि बिसम्भर एकै, और न दूजा कोई ।।'

1- कबीर शब्दावली , भाग ४ , पृ० ७५
2- सन्तसुधासार, स्वामी दादूदयाल , पृ० ४३५, ३८

'तुरक मसीति देहुरे हिन्दू, दहूंण राम खुदाई ।
हिन्दू तुरक का करता एकै, ता गति लखी न जाई।'[1]

इस प्रकार सन्त कवियों ने बारम्बार हिन्दू और मुसलमान दोनों का एक ही कर्ता-धर्ता परमात्मा होने की घोषणा की है । इनके मतानुसार उस परमात्मा की गति लिखी नहीं जा सकती है । सन्त कवि उस परमतत्व के उपासक हैं जो निर्गुण-सगुण,सत्-असत् ,भाव-अभाव सबसे परे हैं । वह निर्गुण होते हुए भी सगुण है और सगुण होते हुए भी निर्गुण है । वह न तो द्वैत का ही विषय और न तो अद्वैत का ही । उस परमतत्व में एकता होते हुए अनेकता है ।अत: सन्त साधकों की दृढ़ आस्था ऐसे ब्रह्म के प्रति केन्द्रित है जो तीनों गुणों से परे, द्वैत-अद्वैत से अतीत,गोचर है । कबीरदास ने लोक-व्यवहार के लिए सगुण की सेवा तथा निर्गुण का ज्ञान प्राप्त करने की बात भ कही है किन्तु उसका ध्यान तो'निर्गुण सगुन के परे' ही है ।' सत्य के वर्णन में हम उसे निश्चित रूप से ' है' मात्र ही कह सकते हैं और इसके सिवाय उसे 'केवल' 'नित्य' 'पूर्ण' 'स्वरूप' वा 'सर्वव्यापी' आदि बतलाना भी उसके उक्त परिचय की व्याख्या कर उसे अधिक स्पष्ट करना मात्र है ।'[2]

' हिन्दू की हदि छाड़ि कै, तजी तुरक की राह ।
सुन्दर सहजै चीन्हिया, एकै राम अलाह ।।'[3]

अर्थात् सन्त सुन्दरदास'राम अलाह' से साक्षात्कार तभी सम्भव मानते हैं जब हिन्दू और मुसलमान धर्म की संकुचित सीमाओं का अतिक्रमण कर प्राप्त सहज भाव से उसे खोजने की चाह मन में जगा है ।

१- कबीर ग्रन्थावली , पद ५८

२- पं० परशुराम चतुर्वेदी-'उत्तरी भारत की सन्त परम्परा, पृ० १९६

३- सन्त सुधाकर , पृ० ५६७

इन सन्तों ने वेदान्त के मतानुसार उस परमतत्व को सर्वत्र व्याप्त मान देखते हैं । दादू ने उसे `घीव दूध में रमि रहा व्यापक सब ही ठौर` बतलाया है । वृहदारण्यकोपनिषद् में भी एक ऋषि ने कहा है कि -

` ओम् पूर्ण है यह, पूर्ण से निष्पन्न होता पूर्ण है ।
पूर्ण में से पूर्ण को यदि लें निकाल, शेष तब भी पूर्ण ही रहता सदा।[1]`

अर्थात् वह पूर्णरूप से व्याप्त होने पर भी वह पूर्णरूप से उसके परे भी है । वृहदारण्यकोपनिषद् के उक्त भाव को कबीर भी प्रकट करते हुए कहते हैं कि-

`सुनु सखी पिउ महि जिउ बसै, जिय महि बसै कि पीउ ।
जीउ पीउ बूझौं नहीं, घट महि जीउ कि पीउ ॥[2]`

सन्त साधकों के मतानुसार जब साधक के अन्तरतम में उक्त आत्म परमात्मा संबंधी अभिन्नता आ जाती है तब उसे पूर्ण सत्य की प्राप्ति हो जाती है ।

जीव :-

सन्तों ने ब्रह्म और जीव की अद्वैतता स्वीकार की है इन सन्तों ने जीव और ब्रह्म में अन्तर न मान कर उनकी एक ही सत्ता को स्वीकार किया है । इनके मतानुसार चराचर सृष्टि में परमात्मा से पृथक् किसी भी वस्तु को वे सत्ता स्वीकार करने को सहमत नहीं हैं । वे तुच्छ से तुच्छ पदार्थों में भी ब्रह्म का निवास पाते हैं । कबीर,दादू सुन्दरदास आदि के अनुसार प्रत्येक वस्तु एवं व्यक्ति के भीतर परमात्मा का निवास बताते हैं । लेकिन भ्रमवश वह इस ज्ञान से अनभिज्ञ है । किन्तु जब व्यक्ति उस भ्रम को दूर कर देता है तब समझ जाता है कि जीव और ब्रह्म भिन्न नहीं हैं । ये सन्तसाधक तो यहां तक कहते हैं कि जो लोग ब्रह्म और जीव को भिन्न समझते हैं उनकी स्थूल बुद्धि पर तरस खाते हुए ऐसे व्यक्तियों

१- श्री सियारामशरण गुप्त,वृहदारण्यक २,५,१६ के`पूर्णमद:पूर्णमिदम्`का अनुवाद

२- कबीर ग्रन्थावली , साखी ८६

को वे अलग ही समझते हैं कबीर ने एक स्थल पर इसी भाव से प्रेरित होकर लिखा है कि -

> `हम तो एक एक करि जानां ।
> दोई कहैं तिनहीं को दो जग,जिन नाहिंन पहिचानां।।`[1]

सुन्दरदास भी इसी मत का समर्थन करते हुए कहते हैं कि-

> सूधी और न देखई, देखै दर्पण पृष्ट ।`[2]

इस प्रकार जीव अपने वास्तविक स्वरूप की विस्मृति के कारणवश स्वयं को ब्रह्म से पृथक् मान लेता है और आत्मतत्व को भूल कर पंच तत्वों को ही अपना चरम तत्व मान कर उन्हीं में अपने वास्तविक स्वरूप की पूर्णता मानता है ।

ब्रह्म एवं जीव :-

संत कवियों के अनुसार ब्रह्माण्ड और पिण्ड में ब्रह्म की ही सर्वगत,स्वयंभू चेतना परिव्याप्त है । स्वजातीय विजातीय, किसी प्रकार का भी भेद-भाव आत्मा परमात्मा में नहीं । सर्वगत चैतन्य प्रवाह सीम में जब अंत:करण द्वारा अविच्छिन्न होता है तब उसकी `जीव` की संज्ञा होती है । कबीर के मतानुसार `सब घटि अंतरि तूं ही व्यापक , धरै सरूपै सोई` है परन्तु `माया मोहे अर्थ देखि करि काहे कूं गरबांनी` के कारण जीव और ब्रह्म की अभिन्नता को व्यक्ति पहचान नहीं पाता किन्तु जब व्यक्ति भ्रम के आवरण को हटा कर अपने अन्तर्रूप की ओर देखता है तो `ज्यूं दरपन प्रतिब्यंब देखिए,आप दवासूं सोई ।संसौ मिट्यो एक को एकै` तब उन्हें ज्ञात होता है कि अभी तक मैं भ्रम में था । मैं तो पूर्ण ब्रह्म स्वरूप था, मैं तो कभी भी उससे भिन्न नहीं हूं ।

संतों ने आत्मा और जीव के भेद को स्पष्ट करने का बहुत कम प्रयत्न किया है। आत्मा और परमात्मा निश्चयात्मक भिन्नता वास्तविक न होकर व्यावहारिक है ।

१- कबीर ग्रन्थावली , पृ० १०५

२- सन्तबानी संग्रह भाग १, पृ० १०७ सुन्दरदास ।

संत मतानुसार संसार में जो आकाश चहुं ओर व्याप्त है वही एक घड़े में प्रतिबिम्बित होता है, उसी प्रकार असीम ब्रह्म ससीम जीव में अपने को प्रदर्शित करता है। इस प्रकार ब्रह्म बिम्ब है और संसार उसका प्रतिबिम्ब। कबीरदास कुम्हार की उपमा देकर ब्रह्म एवं जीव के भेद को स्पष्ट करते हैं। वे कहते हैं कि- 'माटी एक अनेक भांति करि, साजी साजन हारि'। आगे वे कहते हैं कि माटी एक भेष धरि नाना ता माहिं ब्रह्म पहचाना।'[1] अर्थात् जिस प्रकार मिट्टी एक है उससे कुम्हार विभिन्न रूप की वस्तुएं बनाता है उसी भांति यह जीवात्मा, परमात्मा का अंश है और यह उसी प्रकार नहीं मिट सकता जिस प्रकार मिट्टी की वस्तुएं नष्ट हो जायेंगी किन्तु मिट्टी का अस्तित्व वैसे ही बना रहेगा।

जीव और ब्रह्म में अन्तर :-

जीव-ब्रह्म की अद्वैतता स्वीकार करते हुए भी सन्त साधक दोनों में भेद कर देते हैं। संत साधकों के मतानुसार जीवात्मा परमात्मा तो है परन्तु वह स्वयं अपने में पूर्ण नहीं है। परमात्मा अंशी है और जीवात्मा उसका अंश। जैसा कि पिछले पृष्ठों में यह वर्णन किया जा चुका है कि जीव और परमात्मा का सम्बन्ध 'बूंद और समुद्र' कुम्हार एवं मिट्टी' आदि का दृष्टान्त देकर जीव एवं ब्रह्म के सम्बन्ध को स्पष्ट किया जा चुका है। आचार्य शंकर ने अग्नि और स्फुलिंग की उपमा देकर जीव और ब्रह्म के सम्बन्ध को स्पष्ट किया है वे कहते हैं कि जिस प्रकार चिनगारी अग्नि से निकल कर पुनः उसी में विलीन हो जाती है उसी प्रकार जीवात्मा भी परमात्मा से निकल कर पुनः उसी में लीन हो जाती है। कबीर ने जीव और ब्रह्म का निरूपण अथवा सम्बन्ध वेदान्त के सदृश्य दिया है। वेदान्त सूत्र में बताया है कि जीव ब्रह्म का अंश और तन्मय भी है। कबीर भी जीव और ब्रह्म का सम्बन्ध 'बूंद समानी समुद्र में' तथा 'ज्यूं दरपन प्रतिब्यम्ब देखिए' प्रतिबिम्बवाद की ही पुष्टि करते हैं।

जीव एवं ब्रह्म का सम्बन्ध :-

सन्तों के मतानुसार जीव माया के आवरण से अज्ञान बना रहता है। माया

1- सन्त कबीर, पृ० १०७

का आवरण सद्गुरु के उपदेशों द्वारा दूर होता है । इन संतों ने ब्रह्म के रूप को जानने के लिए प्रतीकों का आश्रय लिया है । समस्त संत साधक पति, प्रिय, माता-पिता आदि सम्बोधनों को अपनाकर ये प्रतीक सम्बन्ध स्थापित करते हैं । दाम्पत्य-भाव में प्रेम की प्रगाढ़ता होने के कारण समस्त प्रतीकों में 'प्रियतम' का प्रतीक ही महत्वपूर्ण एवं प्रभावशाली माना है । वे अपने निर्गुण ब्रह्म में भी गुणों का आरोप करते हुए उसे प्रियतम तथा स्वयं को प्रिय-विरह में दुखित वियोगिनी के रूप में देखते हैं । संत-साधक उस निर्मोही की बाट जोहते-जोहते विरहिणी की आँखें पथरा जाती हैं और उसका नाम रटते रटते जीभ में छाले पड़ जाते हैं । कबीर भी 'इस तन का दिवा करौं ------' कहते हैं तन को दीपक बना कर, प्राणों की बाती डाल कर, अपने रक्त स्नेह से सींच कर भी प्रिय के मुखड़े को देखना चाहती है ।

दादू दयाल ने भी विरह की तीव्र अनुभूति का वर्णन करते हुए कहा है कि-

'रोम रोम रस प्यास है, दादू करहि पुकार ।
रांम घटा दल उमंगि करि, बरसहु सिरजनहार ।।
प्रीति जु मेरे पीव की, पैठी पिंजर मांहि ।
रोम रोम पिव-पिव करै, दादू दूसर नाहिं ।।'[१]

ब्रह्म एवं जीव का मिलनवीथिका तत्वदर्शी कवियों के द्वारा रहस्यवाद के माध्यम से स्पष्ट की गयी है अन्यथा माया के प्रभाव के कारण जीव और ब्रह्म का मिलन सम्भावित ही न था । डा० वर्मा जी का कथन सत्य है कि यदि इन प्रतीकों की स्थापना न होती तो रहस्यवाद की भी सृष्टि नहीं हो सकती थी । योग के नाड़ी-साधन तथा षट् चक्र वेधन से

१- संत सुधासार, पृ० ४६०।३०-३१

सहस्र दल कमल स्थित ब्रह्म की अनुभूति समाधि द्वारा सम्भव है किन्तु जीव के लिए सरल मार्ग प्रतीकों द्वारा ब्रह्म का नैकट्य प्राप्त करना ही है ।[१]

रहस्यवाद एवं अद्वैतवाद :-

इस प्रकार सन्त साधकों के निर्गुण सगुण भावना से रहस्यवाद की भावना समाविष्ट सी हो गयी है । ब्रह्म जीव का मिलन कभी रहस्यवाद के अधीन आता है और कभी अद्वैतवाद की सीमा में बंध जाता है । लेकिन सच तो यह है कि इन संतों के इस रहस्यवाद एवं अद्वैतवाद में कोई तात्विक अन्तर नहीं है । क्योंकि एक स्थल पर कबीर इस द्वन्द्व को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि `पानी ही ते हिम भया हिम ही गया बिलाय ।कबिरा जो था सोई भया, अब कछु कहा न जाय ।` अर्थात् अद्वैतवाद में ब्रह्म के सिवाय अन्य कीकिसी भी सत्ता का अस्तित्व नहीं है । रहस्यवाद में जीव की सत्ता ब्रह्म में अन्तर्भुक्त होते हुए भी `सेवक सेव्य भाव के अनुसार` अपनी पृथक् सत्ता रखती हैक्योंकि संयुक्त हो जाने पर तो जीवात्मा ब्रम्ह मिलन-सुख की अनुभूति ही न कर सकेगी ।`लाली मेरे लाल की, जित देखो तित लाल` अत: उस ब्रह्म की सर्वत्र व्याप्त लालिमा में स्नान कर स्वयं भी लाल हो जाती है अर्थात् जीव ब्रह्ममय हो जाता है । सगुण निर्गुण ब्रह्म से आत्मा का तादात्म्य योग द्वारा भी सम्भव है । इस प्रकार का यौगिकता का सम्बन्ध रहस्यवाद से है । इसके पूर्व कई स्थलों पर यह स्पष्ट किया गया है कि जीवात्मा और परमात्मा में कोई तात्विक अन्तर न होने के कारण भी जो भेद दिखलाई पड़ता है उसका मुख्य कारण माया है । इस माया के बंधन से छूट जाने पर जीव जीवित अवस्था में या मरणोपरान्त ब्रह्म में समाविष्ट हो जाता है ।

१- डा० रामकुमार वर्मा, अनुशीलन, पृ० ७६

इस प्रकार सन्त कवियों के आत्म-तत्व चिन्तन औपनिषदिक् परम्परा पर है । तथा शंकर के मायावाद का भी प्रभाव इन संतों पर पड़ा दृष्टि-गोचर होता है ।

माया :-

संत दर्शन के मतानुसार आत्मा-परमात्मा के मध्य अन्तर डाल कर दोनों को भिन्न कराने वाली शक्ति`माया` है । इन्द्रियों के द्वारा यह चेतन जीव नाना प्रकार के विषयों का आनन्द लेता हुआ ऐसी अवस्था में पहुंच जाता है जब वह अपने उद्गम मूल रूप आत्मतत्व को भूल कर इस शरीर को ही आत्मा या सब कुछ समझने लगता है । यही उसके अज्ञान ,अविद्या का आरम्भ है । इसी को संत दर्शन में`माया` की संज्ञा दी है ।

माया के सम्बन्ध :-

(१)विशुद्ध सत्य चेतन स्वरूप ब्रह्म (निर्गुण)अर्थात् जो माया चैतन्य स्वरूप ब्रह्म को ईश्वर रूप में प्रकट करती है वह सत्व गुण प्रधान है ।

(२) मायोपाधि संयुक्त ब्रह्म (सगुण)

(३) मायोपाधि संयुक्त आत्मा (जीव)

(४) अविद्या मायाग्रस्त संसारी जीव ।

माया से अलग होने पर सगुण ब्रह्म का स्वरूप धारण करती है जो इस संसार के सृजन,पालन और संहार का कारण होती है ।`सत रज तम थै कीन्हीं माया आपण मांझै आप छिपाया`[१]।माया भगवान की शक्ति है। माया और मायी का सम्बन्ध शाश्वत है । मायी परब्रह्म अपनी मायाशक्ति का विस्तार कर उसी में अपने आपको छिपाकर रखने से क्रीड़ा करता है ।

१-कबीर ग्रन्थावली , सतपदी रमैणी ,१ ।

शंकर ने अपने मायावाद`माया` की संज्ञा`भ्रमरूप` दिया है । इन्द्रियों के अज्ञान से भूल कर ब्रह्म में कल्पित हुए नामरूप को`माया` कहा है । कबीर ने भी इसी भ्रमवश पत्थर के पुतले को कर्ता मान कर पूजने वाले संसारी जीवों को काली धार में डूबना कहा है । इन संतों के मतानुसार भ्रमवश पत्थर को ईश्वर समझने का भाव रस्सी को सर्प समझने की ही भांति है ।फिर भी सत -रज-तमो गुण युक्त माया स्वयं मिथ्या नहीं है वह सक्रिय रूप से जीव को सन्मार्ग से हटा कर पथभ्रष्ट करने वाली है । माया की ही सत्ता से निर्गुण सगुण और निष्क्रिय ब्रह्म सक्रिय बना हुआ है परन्तु यह सत्ता स्वतन्त्र न होकर राम के हीआधीन है । सन्त दर्शन में माया का मानवीकरण ठगिनी,डाकिनी सबको खाने वाली नागिनि और मुनि पीर जैन जोगी दिगम्बर का शिकार करने वाली अहेरिनि के रूप में किया गया है । इस माया ने अपना जाल समस्त सृष्टि में फैला रक्खा है । ब्रह्म की भांति माया का भी निरूपण सन्त कवियों ने निर्गुण रूप में किया है और उसे अनिर्वचनीय बतलाया है ।

माया के विभिन्न रूप :-

निर्गुण सन्तों ने इस माया को विभिन्न दृष्टान्तों से समझाने का प्रयत्न अपनी अपनी रचनाओं में किया है । कहीं यह माया सर्पिणी का रूप धारण कर लेती है तथा सर्पिणी के नाम से सुशोभित होती है,कहीं `ठगनी` बन जाती है तो कहीं सुन्दर नारी रूप धारण करके व्यक्तियों को लुभाती रहती है ,कहीं मृग-तृष्णा बन कर लोगों को धोखे में डाले रखती है । इतना हीनहीं माया को नकटी,चोरटी,पिशाचिनी ,डाइन आदि नामों से इन संतों ने पुकारा है । इस प्रकार यह`माया` अपने जाल में फंसा कर समस्त जीवों को उसी जाल में भरमाया करती है । जो व्यक्ति इसके विभिन्न रूपों को पहचान कर उस जाल में से निकल गया है वही उस परम तत्व को पाने योग्य है । सर्पिणी माया का वर्णन करते हुए कबीर[१] कहते हैं कि-

`कबीर माया डाकणीं, सब किस ही कौं खाइ ।`

१- कबीर ग्रन्थावली, पृ० ३४।

तथा

`इहि सर्पनी ताकी कीती होई,बल अबल क्या इसते होई[1]।`

अर्थात् यह माया डंकनी है यह सब को खा लेती है । यह सर्पणी के सदृश्य है यह सब कुछ करती है ।

`पांच तत तीनि गुण जुगति करि संन्यासी अष्ट बिन होतक्ष नहीं कुंम काया।

पाप पुन बीज अंकूर जामैं मरै,उपजि बिनसै जेती सर्व माया[2] ।।`

अर्थात् पांच तत्व तीन गुण आदि तथा अष्टधा प्रकृति,सभी विकार,उत्पन्न होना एवं विनाश होना यह सब माया ही है । माया ही के द्वारा यह सभी कार्य किए जाते हैं ।

माया का प्रमुख स्वभाव है चंचलता तथा परिवर्तनशीलता । यह क्षण प्रति क्षण अपना स्वरूप परिवर्तित करती रहती है वह वायु के समान सदा-सर्वदा अविरल धारा से प्रवाहित होती रहती है । नामदेव ने माया को`चित्र-विचित्र` और`विमोहिनी` बतलाया है । वे कहते हैं कि -

` माया चित्र-विचित्र विमोहिनी विरल बूझै कोई[3] ।`

इस माया के स्वभाव को विरला ही व्यक्ति समझ सकता है । नामदेव आगे इस माया का वर्णन करते हुए कहते हैं कि -

` जैसे मीन पानी महि रहै । काल -जाल की सुधि नहिं लहै ।।

जिह्वा स्वादी लीलति लोह। ऐसे कनक-कामिनी बांध्यौ मोह।।

ज्यूं मधुमाखी संचै अपार । मधु लीनां मधु दीनीं छार[4] ।। (आदिग्रन्थ)

कबीर ने इस माया को सुन्दरी रूप में ठगनी एवं दुराचारिणी बताया है ।वे

१- कबीर ग्रन्थावली, पृ० ३२७

२- वही , पृ० १५६

३- सन्तसुधाकर, पृ० ४५

४- वही , पृ० ४६

'कहत कबीर सुहाग सुन्दरी, हरि भजि ह्वै निस्तारा ।
सारा खलक खराब किया है, मानस कहा बिचारा[1] ।।

यह अत्यन्त सुन्दर, आकर्षक एवं मनमोहक है । इसने सकल संसार को भ्रष्ट कर दिया है । मनुष्य तो इसके समक्ष कुछ भी नहीं है । इसने महान् से महान् योगी और साधुओं को भी नहीं छोड़ा । प्रभु भजन बिना इसको दूर नहीं किया जा सकता है ।

इस प्रकार इन सन्तों के मतानुसार इस मोहिनी माया का प्रभाव सर्वत्र फैला हुआ है । पानी में मछली को माया ने आबद्ध कर लिया है । दीपक की ओर उड़ने वाला पतंग भी माया से छेदा गया है । हाथी को भी काम की माया व्यापती है । सर्प और भृङ्ग० भी माया में नष्ट हो रहे हैं । संसार के समस्त जीव को इस माया ने ठग रखा है । इस माया से छुटकारा पाना अत्यन्त दुर्लभ कार्य है । कबीर एक स्थल पर इस भाव को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि -

'माया तजूं तजी नहीं जाई। फिर फिर माया मोहि लपटाई।।
माया आदर माया मानं । माया नहीं तहां ब्रह्म गियानं ।।
माया मारि करे व्यौहार। कहै कबीर मेरे राम अधार[2] ।।'

यही माया अनेक रूप धारण करके विष्णु के भवन में लक्ष्मी के रूप में, शिव के पार्वती रूप में, पण्डा के मूर्ति रूप में, तीर्थों में जल रूप में, योगी के योगमुद्रा के रूप में, राजा के घर रानी बन कर कहीं सम्पत्ति रूप में, कहीं दारिद्र्य रूप में, भक्तों के भक्तिन के रूप में तथा ब्रह्मा के ब्रह्माणी रूप में अधिकारिणी बन कर बैठ गयी है । इस प्रकार यह माया भांति भांति की अपनी लीलायें इस समस्त सृष्टि में फैलाए हुए है । इसी माया ने अपनी इन

१- कबीर ग्रन्थावली, पृ०१२२
२- वही , पद ८४

लीलाओं से समस्त सृष्टि के प्राणीमात्र की बुद्धि को भ्रम में डाल रखा है तथा बुद्धिभ्रष्ट कर रखी है ।

इस प्रकार सांख्य और वेदान्त की भांति ये संत साधक भी माया को अव्यक्त मानते हैं । इस माया का निवास स्थान मन है -

`इक डाइनि मेरे मन मैं बसै रे, नितउठि मेरे जिय कौं डसै रे।[1]
या डाइंन्य के लरिका पांच रे, निसदिन मोहि नचावै नाच रे ।।`

मन के समस्त दुर्गुण आशा,तृष्णा,काम,क्रोध,मद,मत्सर आदि को माया ने अपना साथी बना रखा है ।

सन्त रैदास मनकी उपमा कूप में पड़े मेढक से देते हुए कहते हैं कि मन मायाग्रसित होने के कारण उसे कुछ भी ज्ञान नहीं होता है ।` मैं अरु ममता ` में सारा संसार बिंधा हुआ है । रैदास के मतानुसार मन जिन-जिन वस्तुओं को सार्थक समझ कर पाने का प्रयत्न करता है और उस वस्तु के समीप पहुंचता है उसे वह वस्तु निरर्थक प्रतीत होती जाती है । रैदास इस भवसागर से छुटकारा पाने के लिए एक स्थल पर कहते हैं कि-

`मैं तैं तोरि मोरि असमझि सौं,कैसे करि निस्तारा ।
कहि रैदास कृस्न करुणामय, जै जै जगत् अधारा ।।`[2]

शरीर और माया का वर्णन करते हुए कहते हैं कि -

`थोथो जनि पछोरी रे कोई।जोइरे पछोरी जा मैं निज कन होई।।`[3]

`माया के भ्रम कहा भुल्यो,जाहुगे कर भारि।
यहु माया सब थोथरी रे, भगति दिस प्रति हारि।
कहि रैदास सत बचन गुरु के, सो जिव तै न बिसारि।।`[4]

१- कबीर ग्रन्थावली , पद २३६
२- सन्तसुधासार, पृ० १८८
३- वही , पृ० १६१
४-

उक्त माया के भ्रम में भूले हुए मनुष्य को खाली हाथ फाड़ कर संत रैदास ने जाने की चेतावनी दी है ।

गुरुनानक ने अपनी रचनाओं में माया का वर्णन विस्तृत रूप में यदाकदा करते हुए कहते हैं कि ' जब तक मन को मार कर उसे अपने अधीन न कर लिया जाय तब तक कार्य सिद्ध नहीं हो सकता । यह तभी वश में हो सकता है जब इसे राम के गुणगान में लगा दिया जाय । सब वस्तुओं में भूला हुआ मन उस एक ब्रह्म में स्थिर होकर पूर्ण निश्चल हो जाता है ।[१] '

गुरु तेगबहादुर ने इस दुराग्रही मन की स्थिति कुत्ते की दुम के समान बतलाई है जिसे चाहे कितना ही सुधारा जाय किन्तु सदा टेढ़ी ही बनी रहती है । उन्होंने 'माइआ-सुख' को बालू की दीवाल कहा है जो कि स्थायी नहीं है । माइआ-सुख का वर्णन करते हुए कहते हैं कि -

' बारू भीति बनाई रचि पचि रहत नहीं दिन चारि।
तैसे ही इह सुख माइआ के उरझिओ कहा गवार ।।[२] '

इस प्रकार इस 'माइआ-सुख' में पड़ कर मनुष्य बावला और अज्ञानी बना रहता है । उसे तनिक भी ज्ञान नहीं सूझता ।

संत गुरु रामदास ने मन एवं माया की उपमा बालक से दी है -

'काइआ नगरि इकु बालकु वसिआ, खिनु पलु थिरु न रहाई ।
अनिक उपाव जतन करि थाके, बारं बार भरमाई ।।[३] '

संत गुरु अमरदास ने कबीर की भांति माया को मोहिनी माना है-

' एह माइआ मोहिणी जिनि एतु भरमि भुलाइआ। [४]
माइआ त मोहणी तिनै कीती जिनि ठगउली पाईआ।। '

१- आदिग्रन्थ , पृ० ६०५
२- सन्तसुधासार, पृ० ३८७
३- सन्तकाव्य, पृ० २७६
४- सन्तसुधासार , पृ० २८५

अर्थात् इस माया में मुग्ध होकर लोग बेखबर हो जाते हैं और मन के विकार उनके देखते देखते सद्गुणों की चोरी कर लेते हैं ।

शेख फरीद ने माया का बहुत मार्मिक वर्णन निम्न पद में किया है-

'सरवर पंखी हेकड़ो, फाही बाल पचास ।
इहु तनु लहरी गड्ड थिया, सचे तेरी आस ।।'[1]

तालाब में पक्षी तो अकेला एक है और फसाने के माया-जाल पचास हैं, यह शरीर लहरों में डूब रहा है । हे मेरे सच्चे मालिक अब मुझे केवल तेरा ही भरोसा है ।

हरिदास निरंजनी ने भी माया को अन्य संतों की भांति 'मृगतृष्णा', 'झूठा' आदि की संज्ञाएं दी है-

'काया माया झूठ है सांच न जाणो वीर।
कहि काकी भागी तृषा , मृग तृष्णा को नीर ।।'[2]

सन्त रज्जब, कबीर , हरिदास निरंजनी एवं दादूदयाल की ही भांति माया के विषय में कहते हैं कि -

'संतो, आवै जाइ सु माया ।
आदि न अंत मरै नहिं जीवै, सो किनहूं नहिं जाया।।
लोक असंख भये जा माहीं, सो क्यूं गरभ समाया ।
बाजीगर की बाजी ऊपर, यहु सब जगत भुलाया ।।
ज्यूं मुख एक देखि दुइ दर्पन, गहला तैता गाया ।
जन रज्जब ऐसी विधि जानैं, ज्यूं था त्यूं ठहराया ।।'[3]

१- सन्तसुधासार, पृ० ४२३
२- वही , पृ० ५०६
३- वही , पृ० ५१४

इस माया के प्रति सन्त सुन्दरदास का कथन है कि `ख्याली ! तेरे ख्याल का कोई अन्त नहीं पा सका । तूने यह खेल रूपी माया का प्रसार कब से फैला रखा है,इसके विषय में कुछ कहते नहीं बनता । यह मायावी जगत् अखण्डित सरित्-प्रवाह की भांति है जो रीते हुए भी सदैव पूर्ण प्रतिभासित होता है । जिस प्रकार दीप निरन्तर जलते हुए क्रमश: क्षीण होता जाता है किन्तु ऊपर से देखने पर उसमें कोई परिवर्तन नहीं दिखलाई पड़ता ,उसी प्रकार यह संसार है । जिस प्रकार कुम्हार का चक्र चारों ओर घूमता दिखायी देता है किन्तु निश्चय रूप से यह अपना स्थान छोड़ कर कहीं नहीं जाता, उसी प्रकार यह माया का कार्य-व्यापार न होते हुए भी होता सा प्रतीत होता है ।`[१]

कबीर की भांति दादूदयाल ने भी अपने पदों एवं साखियों में माया के विभिन्न रूपों का वर्णन विस्तृत रूप से किया है । वे भी माया को नागिनि, डाकिनी,कामिनी आदि रूपों में वर्णन करते हैं । इस माया रूपी सर्पिणी से डसा हुआ व्यक्ति किस प्रकार से जी सकता है ।

`बिना भुवंगम हम डसे, बिन जल डूबे जाइ ।
बिनहीं पावक ज्यों जले, दादू कछु न बसाइ ।।

कनक-कामिनी होकर इस माया ने सब को अपने वश में कर लिया,ब्रह्मा-विष्णु, महेश तक इसके आकर्षण से नहीं बच पाए ।माया की व्यापकता और विचित्रता के बारे में दादूदयाल और आगे कहते हैं कि -

`घर के मारे बन के मारे, मारे स्वर्ग पयाल ।
सूक्षिम मोटा गूंथि करि, मांड्या माया जाल ।।
बाबा कहि मिले, माई केहि केहि साइ ।
पूत पूत कहि पी गई, पुरिषा जिन पतियाई।।[२]

१-सन्तकाव्य, पृ० ३८७
२-दादूदयाल की बानी,भाग १,साखी ७,२०,२६,३४,३५,३६,७०, ८१,६६,६७, १३७,१५६,१६५,१६७ ।

एक स्थल पर इन्होंने मन एवं माया दोनों कार्यव्यापारों के बारे में कहा है-

` नक्टी आगै नक्टा गावै, नक्टी ताल बजावै ।
नक्टी आगै नक्टा गावै ,नक्टी नक्टा भावै ।
दादू मन ही माया ऊपजै, मन ही माया जाई
मन ही राता राम सौं, मन ही रह्या समाइ ।।[1]`

इस प्रकार हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल का संत दर्शन माया को ब्रह्म की भांति निर्गुण और अनिर्वचनीय बतलाया है । इस माया का प्रसार सर्वत्र है और उसने सबको किसी न किसी रूप में अपने बंधन में बांध रखा है । सन्तों का मायावाद, शंकर के मायावाद से ही पूर्णरूपेण प्रभावित हुआ है क्योंकि शंकर की ही भांति सन्त कवियों ने भी माया को अनिवर्चनीय माना है । कहीं-कहीं पर माया के संबंध में संत दर्शन के ऊपर सांख्य का भी प्रभाव दिखाई पड़ता है । सांख्य की ही भांति इन संत दर्शन से भी माया को त्रिगुणात्मिका एवं प्रसवधर्मिणी माना है । सूफी-दर्शन का भी प्रभाव कुछ संतों में, जैसे दादू ,रज्जब आदि के पदों में पड़ा दिखाई देता है ।

जगत :-

प्राय: सन्तदर्शन ने जगत् की क्षणभंगुरता और निस्सारता का विवेचन किया है । इन संतों के विचार से चेतन पुरूष और जड़ प्रकृति ये दो पदार्थ अनादि हैं । जगत् के उत्पत्ति के पूर्व एकमात्र आत्मा ही थी, इसके पश्चात् उस आत्मा के अन्दर ईश्वर के रूप की उत्पत्ति हुई। माया में छिपे हुये चेतन रूप ईश्वर ने यह इच्छा कि मैं विभिन्न रूपों में प्रकट होऊं । इस प्रकार ईश्वर की इच्छा से उत्पन्न सृष्टि या जगत् में सर्वप्रथम ब्रह्मा,विष्णु और महेश की उत्पत्ति हुई । उक्त तीनों देव

१- दादूदयाल की बानी,प्रथम भाग,साखी ३६।साखी १३४।

~~२- बीजक रमैनी -१~~

गुण त्रय` की उपाधि से विख्यात हुए ।इनके कार्य क्रमश: सर्जन,पालन और संहार थे । तत्पश्चात् मायोपाधिक ईश्वर ने शरीर की रचनायें करके उनमें जीव रूप से प्रवेश किया । शरीर रचना हो जाने के पश्चात् उस जीवात्मा में विभिन्न आवश्यकताओं को पूरा करने एवं कार्यों को करने के लिए जीवात्मा के हृदय में प्रथम माया रूप सूक्ष्म इच्छा की उत्पत्ति हुई ।

बीजक रमैनी में जगत् का वर्णन करते हुए कबीर दास जी कहते हैं कि-

` प्रगटे ब्रह्म बिस्नु शिव सक्ती, प्रथमै भक्ति कीन्हें जिव उक्ती ।
प्रगटे पवन पानि औ छाया, बहु बिस्तारक प्रगटी माया ।
प्रगटे अंड पिंड बरमंडा, प्रिथिमी प्रगट कीन्ह नवखंडा ।
जीव सीवु प्रगटे सबै , वे ठाकुर सब दास ।
कबीर अवर जाने नहीं, राम नाम की आस ।`[1]

इस समस्त सृष्टि चक्र को भगवान् की माया माना गया है । पृथ्वी,जल,तेज,वायु,-- ये चार तत्व अपनी आणविक अवस्था में जगत् के मूल कारण हैं । दूसरी बीजक रमैनी में और अधिक विस्तृत वर्णन करते हुए कहते हैं कि -

`अंतर जोति सबद एक नारी, हरि ब्रह्मा ताके त्रिपुरारी ।
इच्छा रूप नारि अवतरी , तासु नाम गायत्री धरी ।।`[2]

सन्त साहित्य में परम ब्रह्म से ही सृष्टि के सब सजीव और निर्जीव पदार्थों की उत्पत्ति स्वीकार की गई है । इस जगत् की सत्ता के विषय में संतों के विभिन्न दार्शनिक मत हैं तुलसीदास जी अपने विनय पत्रिका में जगत् का वर्णन करते हुए कहते हैं कि -

`कोउ कह सत्य,झूठ कह कोऊ,जुगल प्रबल कोउ मानै ।
तुलसीदास परिहरै तीनि भ्रम, तब आतम पहिचानै ।

१- बीजक रमैनी १
२- वही २
~~३- सन्तकबीर,रा०न०८, कबीर ग्रन्थावली, पृ० २३३,२७१~~

इस प्रकार कबीर से तुलसी का जगत सम्बन्धी मत बिल्कुल भिन्न है। कबीर 'सपन करि लेखा' एवं 'ज्यों जल बुंद तैसा संसार, उपजत विनसत लगै न बार' कह कर संसार को नश्वर एवं मिथ्या ठहराया है[1]। कबीर ने आचार्य शंकर की भांति जगत का मूल अधिष्ठान पर ब्रह्म को माना है। शंकर की भांति कबीर भी कहते हैं कि इस विविधता पूर्ण संसार में सत्य नहीं है वह जगत जिससे स्थित है वह तत्व अगम और अगोचर है -

> ' जो तुम देखो सो यह नाहीं ।
> यह पद अगम अगोचर माहीं ।।[2]

तथा-

> 'जब नहीं होते पवन न पानी । तब नहीं होती सृष्टि उपानी ।।
> जब नहीं होते प्यण्ड न बासा। तब नहीं होते धरनि अकासा ।।
> उस मति की गति क्या कहूं, जस कर गांव न नांव ।
> गुन बिहून का देखिये , का का धरिये नांव ।।[3]

इस प्रकार कबीर शंकराचार्य के मत से पूर्णरूपेण प्रभावित हैं।

कबीर के विचारों का समर्थन करते हुए उनके अन्य समकालीन संत सुन्दरदास ,दादू आदि संतों ने भी सृष्टि का मूल उपादान कारण ब्रह्म को ही बतलाया है।

यह समस्त सृष्टि जिसको हम ज्ञानेन्द्रियों द्वारा देख एवं छू रहे हैं दादू ने उसे अगम-अगोचर के अन्तर्गत स्वीकार किया है किन्तु यह असत्य जगत् मायावी लोग सत्य रूप में ही देखते हैं जिस प्रकार से रात्रि में रस्सी को देख सर्प का भ्रम हो जाता है उसी प्रकार यह जीव भी माया के भ्रम में भूला असत्य को सत्य मान लेता है इस भ्रम का वर्णन करते हुए दादूदयाल कहते हैं कि --

---

१-कबीर ग्रन्थावली, पृ० १३३
२- वही पृ० २३८
३-

`निसि अंधियारी कछु न सूझै,सबै सरप दिखावा ।
ऐसे अंध जगत् नहिं जाने, जीव जेवड़ी खावा ।।

उक्त दृष्टान्त को सुन्दरदास ने एक व्यवहारिक ढंग से अन्य दृष्टान्त द्वारा समझाया है । वे कहते हैं कि` विभिन्न पात्रादि के मूल में मिट्टी ही है, मिट्टी ही पात्रों के रूप में सुघटित होकर अनेक नाम धारण करती है, इसी प्रकार ब्रह्म ही जगत् के विभिन्न रूपों में परिवर्तित होकर संसारी जनों की आखों से ओझल हो जाता है[१] ।`

सांख्य शास्त्र में सृष्टि-तत्व का बहुत ही वैज्ञानिक विवेचन मिलता है । सांख्य दर्शन में जगत् पर विचार प्रकट करते हुए दो महत्व पूर्ण एवं स्पष्ट तत्त्व दिखाई पड़ते हैं वे तत्त्व हैं- शाश्वत और परिवर्तनशील तथा चेतन और जड़ । ` इन दोनों का सम्बन्ध केवल योग्यता का सम्बन्ध है, किन्तु दूसरे आचार्य हैं जो मानते हैं कि वस्तुत: इन दोनों की सत्ता नहीं,दूसरा पहले की ही शक्ति है, पहले को आत्मा कहते हैं सांख्यवादी इसे`पुरुष` कहते हैं और दूसरे तत्त्व को `प्रकृति` या`माया` कहते हैं[२] ।` सांख्यवादियों के अनुसार पुरुष अनेक है जो निर्गुण,अमूर्त,अकर्ता,विशुद्ध चेतन स्वरूप और नित्य स्वतंत्र है ।`प्रकृति` इनके अनुसार अव्यक्त,जड़ विवेकशून्य एवं त्रिगुणात्मिका है (सत्त्व,रज और तम की साम्यावस्था है) सांख्यवादी के विचार से संसार की कोई भी वस्तु नष्ट नहीं होती है । प्रत्येक वस्तु अन्त में अपने अपने कारण में विलीन हो जाती है। इस प्रकार निर्गुण कवियों के जगत् सम्बन्धी विचारों में सांख्य दर्शन का परिचय मिलता है । इन कवियों एवं संतों ने अपनी रचनाओं में तीन,पांच,पच्चीस आदि शब्दों का प्रयोग स्थल -स्थल पर किया है । ये`तीन` पांच``पचीस` क्रमश: तीन गुणों (सत,तम,रज)`पांच तत्त्वों(क्षिति,जल,पावक,गगन,समीर) इसके अतिरिक्त पांच इन्द्रियाँ एवं मन चित्त ,बुद्धि ,अहंकार,महत्त्व तथा पुरुष और प्रकृति इत्यादि अन्य पच्चीस प्रकृतियों के सम्बन्ध में है । कबीर इसी को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि -

----

१- सुन्दरविलास , अंग ३४।४

२- डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी-कबीर,पृ० १०१-२

'ए संसा मोहि निस दिन व्यापै, कोई न कहै समझाई ।
नहीं ब्रह्मण्ड प्यण्ड पुनि नाहीं, पंच तत्त भी नाहीं ।
इला प्यंगुला सुषमन नांही, ए गुंणा कहां समांही ।[१]'

पूर्ववर्ती सन्तों ने निरंजन को भी, जिसे कुछ पिछले सन्तों ने परब्रह्म का एक विवर्त माना है, पूर्ण ब्रह्म के पर्याय के रूप में ग्रहण किया था । समस्त संसार को प्रणव का शरीर माना है और प्रणव सारी सृष्टि का आत्मा है । इस प्रकार प्रणव सृष्टि कारण और उपादान दोनों है किन्तु सन्त कवि ने सृष्टि को सृष्टिकर्ता से भिन्न मान कर द्वैतभावना को प्रश्रय नहीं दिया है । सन्त कबीर का तो स्पष्ट कहना है कि -

'तैतो आहि निनार निरंजनां, आदि अनादि न आंन ।
कहन सुनन कौं कीन्ह जग, आपै आप भुलान ।।
जिंमि नटवै नरसारी साजी, जो खेलै सो दीसै बाजी।
करि बिसतार जग धंधै लाया अंध काया कै पुरिष उपाया।।
जिहि जैसी मनसा तिहि तैसा भावा, ताकूं तैसा कीन्ह उपावा।।[२]'

ब्रह्म का विवर्त रूप प्रणव,पंचतत्त्व ,घट आदि की भावना के रूप में प्रकट होता है सन्त दादूदयाल ने भी कबीर की भांति एक स्थल पर वर्णन किया है कि-

'पहली कीया आप थैं, उत्पती ओंकार,ओंकार है उपजै,पंच तत्त आकार।
पंच तत्त थैं घट भया,बहुविधि सब बिस्तार,दादू घट तै ऊपजै मैं-तैंवरण
- बिचार।।

गुरु नानक का सृष्टि-क्रम विषयक विचार नाथपन्थी विचारधारा के अनुरूप हठयोग से प्रभावित है । इनके विचार से आदि में शून्य (आकाश)था ।शून्य से पवन उत्पन्न हुआ, पवन से जल ।सबसे प्रथम जब कुछ भी नहीं था उस समय केवल सत्य रूप परमात्मा था । परमेश्वर की इच्छा से सृष्टि एवं सृष्टि के समस्त आकार

१- कबीर ग्रन्थावली, पद २३
२- कबीर ग्रन्थावली-सतपदी रमैणी,पृ० २२५- २२६

(जीव) बने । उसी की अनिर्वचनीय आज्ञासे जीवों का सृजन होता है।[1]'

संत दादूदयाल ने भी गुरुनानक के सदृश्य ही सृष्टि की रचना की है । वे कहते हैं कि-

'पहली कीया आप थैं, उत्पनो ओंकार ।
ओंकार थैं उपजे पंच तत आकार ।।
पंच तत थैं घट भया , बहुबिधि सब बिस्तार।
दादू घट मैं ऊपजे, मैं तैं बरण विचार ।।
निरंजन निराकार है, ओंकार आकार ।
दादू सब रंग रूप सब, सब विधि सब बिस्तार।।
आदि सबद ओंकार है, बोलै सब घट माहिं।
दादू माया बिस्तरी , परम तत यहु नाहिं ।।
पैदा कीया घाट घड़ि, आपै आप उपाइ ।
हिकमत हुनर कारीगरी , दादू लखी न जाइ ।।[2]'

सन्त सुन्दरदास का सृष्टि-निरूपण सांख्य दर्शन से प्रभावित है उनका कथन है कि-

'ब्रह्म से पुरुष अरु प्रकृति प्रकट भई ।
प्रकृति हूं तैं महत्तत्व पुनि अहंकार है ।।
अहंकार हूं ते तीन गुण सत्,रज,तम ।
तमहूं मैं महाभूत विषय पसार है ।।
रजहूं तैं इन्द्रिय दस पृथक पृथक भई ।
सतहूं तैं मन आदि देवता विचार है ।।
ऐसे अनुक्रम करि सिष्य सूं कहत गुरु।
सुन्दर सकल यह मिथ्या संसार है।।[3]'

१- सन्तसुधासार-अष्टुली २

२- दादूदयाल की बानी-भाग १,सब्द कौ अंग ८,९,११,१२,१३

३- सुन्दर बिलास - सांख्य ज्ञान कौ अंग ७

इस प्रकार निर्गुणोपासक संत कवियों का जगत् सम्बन्धी दार्शनिक मत वेदान्त, कहीं-कहीं सांख्य दर्शन से प्रभावित है। इन संत कवियों और सांख्य सम्बन्धी जगत् के मतों में केवल अन्तर यह है कि ये संत साधक सांख्यों के द्वैतवाद को न अपना कर अद्वैतवादियों की तरह ब्रह्म और जगत् का सम्बन्ध मानते हैं।

इस सम्बन्ध में निर्गुण सन्तों के दार्शनिक सिद्धान्तों की विवेचना से यह बात और भी अधिक स्पष्ट हो जायगी।

(ख) कबीर

कबीर का दार्शनिक सिद्धान्त (आध्यात्मिक पक्ष)

आध्यात्मिक पक्ष के अन्तर्गत ब्रह्म, जीव, माया, जगत् एवं मोक्ष का विवेचन पाया जाता है। पिछले अध्याय में भक्तिकाल के निर्गुण सम्प्रदाय के सामान्य दार्शनिक एवं आध्यात्मिक पक्ष का विवेचन किया जा चुका है। इस अध्याय में निर्गुणोपासक प्रमुख संत कवि तथा उनके आध्यात्मिक एवं साधना पक्ष के ऊपर प्रकाश डाला गया है। यों तो संत कवियों का आध्यात्मिक एवं साधना पक्ष अथाह समुद्र की भांति है, जितनी ही गहराई में जाया जाये उतनी ही अमूल्य निधि प्राप्त होती जाती है। संत साहित्य को देखा जाय तो एक अलग ही रचना एवं साहित्य की रचना हो सकती है। सौभाग्य की बात तो यह है कि संत साहित्य के विभिन्न विषयों पर विभिन्न व्यक्ति अपने अपने अनुसंधान भी कर चुके हैं और बहुत से व्यक्ति कर भी रहे हैं। विषय की दृष्टि से इस स्थल पर संतों के आध्यात्मिक एवं साधना पक्ष पर संक्षिप्त प्रकाश डालना आवश्यक है।

हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल के निर्गुणोपासक साधना में सर्वप्रथम संत सम्प्रदाय आता है जिसमें सर्वप्रथम संत कबीर का वर्णन मिलता है। हालांकि संत कबीर के पूर्व अन्य संत जैसे संत जयदेव, सधना, लालदेव, वेणी, नामदेव, त्रिलोचन आदि संतों का वर्णन मिलता है किन्तु इन संतों का साहित्य एवं साधना का साहित्य पूर्व भक्तिकाल के पूर्व का है अत: इन संतों को भक्तिकाल के अन्तर्गत रखना उचित नहीं है। किन्तु यहां एक बात ध्यान देने योग्य अवश्य है कि ये संत पूर्व भक्तिकाल के संत होते हुए भी इनके प्रभाव हमारे भक्तिकाल के संत कवियों पर पूर्ण रूपेण प्रत्यक्ष रूप से दिखाई पड़ता है।

हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल में सर्वप्रथम कबीरदास का नाम आता है। निर्गुणोपासक कबीर का प्रादुर्भाव ऐसे समय में हुआ था जब कि धर्म के क्षेत्र में न केवल हिन्दू व मुसलमान दो वर्गों में बंट कर आपस में लड़-भिड़ रहे थे, विभिन्न प्रकार के धर्म एवं मत देश भर में फैले थे तथा ये विभिन्न मतावलम्बी अपनी ढपली अपना

राग अलाप रहे थे। सभी मत एक दूसरे से इर्षा द्वेष रखते थे तथा विभिन्न मार्गों द्वारा उस सत्य की खोज में लगे हुये थे। समाज के अन्दर भी विभिन्नता का बोलबाला था वर्ण के अन्दर उप वर्ण बने हुये थे। हिन्दू मुसलमान दोनों ही धर्म फैले हुये थे। हिन्दुओं के भीतर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र इन चार वर्ण के अतिरिक्त भी वर्ण के के उपवर्ग बन रहे थे। जातियों के अन्दर भी उपजातियां बन रही थी। समाज में जाति-पाति, ऊंच-नीच, कुलीन-अकुलीन, निरक्षरता, कुल-अकुल, आदि भावनायें जोरों से बढ़ रही थी। लोग बाह्याडम्बरों एवं अन्धविश्वासों में अटूट विश्वास करते थे। प्रत्येक व्यक्ति बाहरी व बनावटी कार्यों एवं बातों से व्यस्त रहता था। सच्चे मार्ग, और हृदय की सच्चाई के उपर कोई भी ध्यान नही देता था। ऐसी उथल पुथल की परिस्थिति में संत कबीर दास का प्रादुर्भाव हुआ जिन्होंने देश का और समाज की समस्त कठिनाईयों को दूर करने में अपनी जिन्दगी दे दी। सर्व प्रथम ये स्वंय ही सत्य को भलीभांति जान लेने के प्रयत्न में लगे रहे। स्वयं सत्यताको जान लेने के पश्चात् ये समाज में उतरे और व्यक्तियों को सच्चे मार्ग का उपदेश दिया।

कबीर की सत्यानुभूति स्वयं की अन्वेषण की हुई अनुभूति है, इन्होंने किसी भी ग्रन्थ या मत का समर्थन पूर्णरूपेण नहीं किया है। इनका मत है की वेद पुराण एवं कुरान आदि जो विभिन्न धर्म एवं ग्रन्थ हैं उनमें बहुतसी बातें भ्रमात्मक हैं। व्यक्ति इनही शास्त्रों एवं मतों मे उलझा रहता है तथा उलझ कर अपना समस्त जीवन भी इन पर न्यौछावर कर देता है किन्तु फिर भी उस परमतत्व को, सत्य को नहीं ढूंढ पाता है। कबीर और भी आगे कहते हैं कि व्यक्ति शास्त्रों एवं ग्रन्थों के शब्दों में ही उलझे रहते हैं वे उसके अर्थ पर ध्यान नहीं देते। अत: स्वयांनुभूति ही सत्य है तथा सत्यता एवं परमतत्व तो सचमुच देखा जाय तो स्वयं अपने अन्दर ही विराजमान है। भ्रमवश व्यक्ति इधर इधर उधर बाह्याडम्बरों में उलझा रहता है। जितना ही व्यक्ति गहराई में सोचेगा वहां तक उसका अनुभव गहरा एवं विस्तृत होता जायेगा। इस प्रकार कबीर की सत्यान्वेषण-पद्धति व्यापीविधि- परक (In- -ductive) है।

कबीर का ब्रह्म अथवा परमतत्व :-

'ब्रह्म' के विषय में कबीर दासकहते हैं कि-

' बरन अबरन कथ्यौ नहीं जाई।सकल अतीत घट रह्यौ समाई[१]।'

अर्थात् कबीर के मतानुसार ब्रह्म मूलतत्व है । ब्रह्म ही पारमार्थिक सत्य है । वह काल,देश और अवस्था से परे अर्थात् सकल अतीत है । विश्व की कोई भी सीमा उस परम तत्व अथवा ब्रह्म को बांध नहीं सकती । वह तो-

'पंच पदारथ भाखि लैहा,जरि बरि जाइगी कंचन देहा।

कहत कबीर सुनो रे लोई, राम नाम बिन और न कोई[२]।'

विश्व का आधार होते हुए भी अविनाशी है । विश्व के सभी पदार्थ बिनाशशील एवं परिवर्तन शील हैं किन्तु वह ब्रह्म अविनाशी अपरिवर्तनीय है ।

'बांयै न दाहिनै आगै न पीछू, अरध न उरध रूप नहीं कीछू[३]।'

वह न तो बांये है और न तो दाहिने । न आगे है न पीछे, न इधर है न उधर, उनका तो कोई रूप भी नहीं है । वह तो सर्वत्र है । वह निर्गुण और सगुण दोनों रूपों में है । वह परमतत्व सामूहिक अथवा साम्प्रदायिक न होकर व्यक्तिगत है । व्यक्ति जितना स्वयं अनुभव करेगा और उसकी गहराई में स्वयं ही अनुभूत होगा उतना ही उसके स्वरूप का ज्ञान उसे हो सकता है ।

' जस तूं तस तोहि कोई न जांन,लोग कहैं सब आनहिं आन[४]।'

उक्त पद से यह स्पष्ट है कि कबीर पूर्ण सत्य को पूर्ण रूप में जान लेने का स्वयं कहीं भी दावा नहीं करते और न दूसरों के द्वारा ऐसा किया जाना वे पसंद ही करते हैं । उस परमतत्व का जो सत्य रूप है वह उस सत्य रूप को कोई नहीं जान

१- कबीर ग्रन्थावली ,पृ० २३१

२- वही पृ० २११

३- वही पृ० २४२

४- वही पद ५७,पृ० १०३

पहचान सकता । जिसकी जैसी अनुभूति उस परमतत्त्व के बारे में हुई है वैसा ही वह उसका वर्णन एवं विवेचन करता है इस प्रकार उस परमतत्त्व के विषय, रूप आदि के बारे में सत्य क्या है इसका वर्णन करना असंभव है । उसे कोई नहीं जान सकता ।

उस परमतत्त्व का आगे वर्णन करते हुए कहते हैं कि-

'वोहै तैसा वोही जानै, ओही आहि आहि नहीं आनै ।'[१]

वह जैसा है वैसा उसे ही विदित है, वही केवल है ही, अन्य कुछ भी नहीं ।

कबीर के मतानुसार ब्रह्म -

'जस कथिये तस होत नहीं, जस है तैसा सोई ।'[२]

उसका जैसा वर्णन किया जाता है वैसा ही उसका पूर्ण रूप में होना सम्भव नहीं, वह जैसा है वैसा ही है । किन्तु अपने वास्तविक रूप में 'हरि जैसा है वैसा रहो, तूं हरिषि हरिषि गुण गाइ'[३] हमें तो केवल अपनी पहुंच भर उसे जान कर ही आनंद में मग्न होना है । वह जिस किसी भी व्यक्ति के अनुभव एवं साधना में जिस प्रकार अपने को व्यक्त कर उसे अनुप्राणित करता है उसी प्रकार वह उसका वर्णन किया करता है । साधक के स्वयं अनुभव एवं ज्ञान के अनुसार उसका वर्णन होता है ।

इस प्रकार ब्रह्म इन सभी भेदों से परे है । उसे मनुष्य भी नहीं कहा जा सकता तथा उसे मनुष्य से भिन्न 'देव', 'यति', 'योगी', 'अवधूत' आदि भी नहीं कहा जा सकता है, ब्रह्म के रूप का स्पष्ट वर्णन करते हुए निम्न साखी में कहते हैं कि-

'ना इहु मानुष ना इहु देव । ना इहु जती कहावै सेव ।
ना इहु जोगी न अवधूता । ना इहु बाप न काहू पूता ।।'[४]

वह अभेद्य है ।

१- कबीर ग्रन्थावली, रमैणी ६, पृ० २४१

२- कबीर ग्रन्थावली, रमैणी ३ पृ० २३०

३- वही , साखी २, पृ० १७

४- वही ,, पृ० ३०१

ब्रह्म निर्गुण है , वह सत् ,रज् , तम तीनों गुणों से परे है । वह गुणातीत भी है । जगत् की भांति नाना रूपों में ब्रह्म उत्पन्न भी नहीं होता है न तो वह बढ़ता या वृद्धि ही करता है । जगत् के पदार्थों की भांति न तो वह नष्ट ही होता है । जगत् में नानाप्रकार के उथल-पुथल एवं परिवर्तन होता रहता है किन्तु वह अविनाशी सर्वशक्ति के रूप में सदैव सम और एक समान बना रहता है । संसार के परिवर्तनों का प्रभाव उसके ऊपर रंचमात्र भी नहीं पड़ता ।जगत् में जो खेल होते रहते हैं वह उसके गुणों का खेल होता है । यह संसार असत् है ।उसकी स्वयं की कोई पारमार्थिक सत्ता नहीं है । व्यक्ति अज्ञानता एवं माया के भ्रम में पड़ कर संसार सत्य मान बैठा है । मनुष्य अपने भ्रम में उसी प्रकार पड़ा है जिस प्रकार अंधकारपूर्ण रात्रि में रस्सी को देख कर सांप का भ्रम उत्पन्न हो जाता है। साथ ही साथ भ्रमपूर्ण मनुष्य में भय का संचार हो जाता है जब कि तत्त्वत: सर्प का भ्रम असत्य है और रस्सी तत्त्वत: सत्य है ।`गुणातीत जस निरगुण आप, भ्रम जेवड़ी जग कीयौ सांप[1] ।`इस प्रकार ब्रह्म ही परमसत्य है और जगत् असत्य है ।

वह निराधार निर्गुण है । वर्णविहीन है । इसका कोई रंग नहीं बताया जा सकता। न वह श्यामल वर्ण का है और न श्वेत वर्ण का ही । (` बरन बिबरजित ह्वै रह्या नां सौ स्यांम न सेत[2] `)

` अपरं पारं रूप मगु, रूप निरूप न माय ।
बहुत ध्यान के खोजिया,नहिं तेहि संख्या आय[3] ।।`

वह एक है अनेक इसको भी नहीं बताया जा सकता क्योंकि वह असंख्य एवं अनन्त है । उसका आदि मध्य और अन्त निर्धारित नहीं किया जा सकता । ब्रह्म के सभी पदार्थ चैतन्यपूर्ण हैं,अत: ब्रह्म चैतन्य है, वही सत्य तत्त्व है,पूर्ण है,निर्विशेष है । जैसे पानी से हिम बन जाता है और हिम गल कर पुन: जल बन जाता है और जल

१- कबीर ग्रन्थावली, पृ० ११८
२- वही पृ० २४३
३- कबीर बीजक पृ० ८६

घुल कर हाथ में उड़ कर अरूप में विलय हो जाता है । वह अरूप सदा से बना था, अरूप में विलय हो गया, उस भेद का भी वर्णन नहीं कर सकते हैं, ब्रह्म अवर्णनीय, एवं निराकार है । उक्त भाव कबीर के निम्न पद से स्पष्ट रूप से प्रकट हो जाता है वे कहते हैं -

> `पांणी ही थैं हिम भया, हिम ह्वै गया बिलाय ।
> जो कछु था सोई भया, अब कछू कह्या न जाय[1] ।।`

संतों के सामान्य दार्शनिक सिद्धान्त` अध्याय में यह कहा गया है कि इन समस्त संतों ने ब्रह्म को अविनाशी, निराकार बताया है उसी भाव को कबीर भी मानते हैं और कहते हैं कि-

> `निज रूप निरंजनां, निराकार अपरंपार अपार[2]` ।

ब्रह्म का कोई आकार नहीं है, क्योंकि आकारवान् पदार्थ कभी भी निस्सीम और अनन्त नहीं होता , वह अनन्त है, अपार है । `अलख निरंजन लखै न कोई, निरभै निराकार है सोई।` वह ब्रह्म इन्द्रियातीत है उसे आखों से देखा नहीं जा सकता ।वह अकथ है, वाणी से उसके सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता ।उसका आदि, मध्य एवं अन्त कुछ भी नहीं है जिसका वर्णन किया जा सके ।

इस प्रकार कबीर कभी उसे `तत्` `परमतत्` अनूपतत्` कहते हैं ,कभी `आतम` `आत्मा`, `सार` कभी` सबद` अनहद` कह कर संकेत करते हैं तो कभी `परमपद` `निजपद` `चौथापद` `अभैपद` बतला कर उसकी सूचना देते हैं । वे उसे कभी कभी `सहज` `सुनि` `सति` `ग्यान` अनंत` `अमृत` `उन्मन` `ध्यान` ज्योति` सीव` `ब्रह्म` आदि अनेक पर्याय-वाची शब्दों का वर्णन इनके साहित्य में मिलता है जिसका यहां विस्तार से प्रकट करना असंभव कार्य है । कुछ मुख्य शब्दों का वर्णन ऊपर किया जा चुका है सत्यता तो यह है कि ब्रह्म सम्बन्धी विभिन्न शब्द इनके द्वारा अनुभूत सत्य के उन प्रतीकों के ही द्योतक हैं जिन्हें इन्होंने अपनी अनुभवानुकूल एवं स्वयं की धारणाओं के अनुसार निर्धारित किया है।

1- कबीर ग्रन्थावली पृ० १३
2- वही पृ० २२७

संत साहित्य की यह विशेषता है कि जब व्यक्ति ब्रह्म के निराकार अथवा निर्गुणोपासना से संतुष्ट न हो सका तो वे उनको ब्रह्म के सगुण रूपों द्वारा भी वर्णन करके व्यक्ति को उस ब्रह्म को जान लेने की तथा उससे निकटतम सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न किया है इसके लिए ये संत ब्रह्म के सगुण एवं सगुणोपासक मार्ग का भी वर्णन करते हैं। कबीर ने भी उस ब्रह्म को सगुण व साकार रूप में भी दिखलाने का प्रयत्न किया है कबीर ब्रह्म के सगुण रूप का वर्णन करते हुए कहते हैं कि-

'आपन करता भये कुलाला, बहु बिधि सृष्टि रची पराहाला ।।
बिधना कुंभ कीये द्वै बानां। प्रतिबिंबता माहि समाना ।।
बहुत जतन करि बांनक बाना, सौंज मिलाय जीव तहां ठाना।।[1]

ब्रह्म ने स्वयं कर्ता बन कर कुंभार की भांति विविध सृष्टि की रचना की और सामग्रियों को एकत्र कर जीव के रूप में उसके भीतर प्रतिबिम्बित हो गया तथा उसके पालन-पोषण एवं रक्षा हेतु लग गया। 'भांनड़ घड़ण संवारण सोई'[2] वही गढ़ने वाला, सुधारने एवं नष्ट करने वाला भी है।

अतः कबीर की आध्यात्मिकता तर्क पर आधारित न थी। वे तो स्वानुभूतिपरक व्यक्ति थे एवं इनके आध्यात्मिक सिद्धान्त स्वानुभूतिपरक सिद्धान्त हैं। कबीर की जीवनी एवं अन्य प्रकार की किंवदन्तियों को पढ़ कर यह सार निकलता है कि निश्चय ही कबीर का जीवन आध्यात्मिक तथ्यों की शोध एवं अन्वेषण में बीता था। उनके समकालीन विभिन्न मत-मतान्तरों, धार्मिक सम्प्रदायों एवं दार्शनिक विचार धाराओं से उन्होंने बहुत कुछ प्राप्त किया। समस्त सन्त साहित्य के आध्यात्मिक पक्ष को यदि देखा जाय तो ब्रह्म के दो रूपों का उल्लेख मिलता है - एक तो व्यक्त अथवा सगुण रूप, दूसरे अव्यक्त अथवा निर्गुण रूप।

कबीर ने विशेष रूप से ब्रह्म के अव्यक्त एवं निर्गुण स्वरूप का ही प्रतिपादन किया है किन्तु कहीं - कहीं पर वे उस परम तत्व ब्रह्म का सगुण वर्णन करने में भी

१- कबीर ग्रन्थावली रमैणी ५, पृ० २४०

२- वही पद २७३ पृ० १८१

नहीं चूके हैं। कबीर के निर्गुण एवं सगुण दोनों का ही वर्णन करने वाले अनेक उदाहरण मिलते हैं। किन्तु जैसा कि इसके पूर्व कहा जा चुका है ऐसे उदाहरण अथवा कथन उनके स्वयं के अनुभूति सत्य का स्पष्टीकरण करते हैं। वे उनके हृदय के उद्‌गार एवं अनुभूति है। इस प्रकार सत्य तो यह है कि न तो कबीर को निर्गुणवादी ही कहा जा सकता है और न तो सगुणवादी। कबीर दर्शन के अनुसार वह परमतत्व अथवा सत्य इस सगुण और निर्गुण दोनों से परे है। वह साधक के अनुभव में आने पर भी अकथनीय एवं अनिवर्चनीय है।

जीव अथवा आत्म-तत्व :-

कबीर ने आत्मतत्व अथवा आत्मविचार को जीवन का चरम लक्ष्य माना है। स्थान-स्थान पर कबीर कहते हैं कि-

'आप ही आप बिचारिये तब केता होइ आनन्द रे।'[1]

तथा

'कहै कबीर जै आप विचारै मिटि गया आवन जानां।।'[2]

अर्थात् आत्मविचार करने से कितने सुख व शाश्वत आनन्द की प्राप्ति होती है। मनुष्य जब अपने सच्चे स्वरूप को जान लेता है तब वह जन्म-मरण से छुटकारा पा जाता है। व्यक्ति जब अपने सच्चे स्वरूप को जान लेता है तो वह ब्रह्म को जान एवं पहचान लेता है जो ब्रह्म को पहचान और पा लेता है उसे 'परमपद' की प्राप्ति हो जाती है। ऐसे व्यक्ति सदैव के लिए इस जनम-मरण के चक्कर से छुटकारा पा जाते हैं।

एक स्थल पर कबीर अपने स्वयंानुभव को बताते हुए कहते हैं कि-

'जब थैं आतम तत विचारा।
तब निरबैर भया सबहिन थै, कांम क्रोध गहि डारा।।'[3]

१- कबीर ग्रन्थावली, पृ० ८६
२- वही पृ० ६०
३- वही पृ० १५०

जब से मैंने आत्म तत्त्व को पहचान लिया तब से काम,क्रोध,मोह,लोभ आदि विकारों से छुटकारा हो गया तथा अब मैं बैररहित निर्भय हो गया हूं ।

आत्म तत्त्व के बारे में कबीर का यह मत है कि आत्मतत्व अन्ततम् सत्य है सर्वत्र जगत् में आत्म-तत्व व्याप्त है ,आत्मा ही सत्य है, वह अनन्त है ,त्रिकालातीत है, वे निम्न पद में कहते हैं कि -

`हम सब मांहि सकल हम मांही,थैं और दूसरा नांही ।
तीनि लोक मैं हमारा पसारा, आवागमन सब खेल हमारा।
षट दरसन कहियत हम भेखा, हमहीं अतीत रूप नहीं रेखा।
हमहीं आप कबीर कहावा, ~~शब्द~~ हमहीं अपनां आप लखावा[1] ।।`

सभी दर्शनों ने आत्म-तत्त्व के विषय में वर्णन किया है । आत्म-तत्त्व अतीत है, निर्गुण है, निराकार है, वही दृश्य है और वही दृष्टा । वही ज्ञाता है और वही ज्ञेय है ।

कबीर आत्म-तत्त्व के विषय में और आगे कहते हैं कि -

`जीउ एक और सकल सरीरा।
इस मन कौ रवि रहै कबीरा[2] ।।`

अर्थात् कोठरी में रखा हुआ एक ही दीपक अपने प्रकाश से समस्त कोठरी को प्रकाशित करता है, इसी प्रकार चैतन्य आत्म-तत्त्व भी जगत् के समस्त विभिन्न पदार्थों को चैतन्यता-युक्त कर देता है ।

भांति-भांति के घड़े अलग-अलग दिखाई पड़ते हैं परन्तु वे समस्त घड़े एक ही मिट्टी के बनाए गए हैं[3] ।

`पंच बरन दस दुहिये गाइ,एक दूध देखौ पतिआइ[4] ।`

१- कबीर ग्रन्थावली , पृ० १५० २०१
२- वही पृ० ३२८
३-`नांना भांति घड़े सब भांड़े,रूप धरे धरि मेले ।`-कबीर ग्रन्थावली, पृ० १५१
४- कबीर ग्रन्थावली, पृ० १०५

अर्थात् भांति-भांति के रंगवाली यदि दस गायों को दुहा कर जाता है तो भी एक ही रंग का दूध निकलता है। अलग-अलग रंग का नहीं। इस प्रकार कबीर ने अनेक दृष्टान्तों एवं उपमाओं द्वारा यह समझाने का प्रयत्न किया है कि विभिन्न प्रकार के नामरूप -संसार में एक ही आत्मयतत्व है व्याप्त है। यह आत्म-तत्व किसी पदार्थ में अधिक या किसी पदार्थ में कम नहीं है बल्कि उनके मतानुसार आत्मतत्व समान रूप से सर्वत्र जगत् में व्याप्त है।

कबीर के मतानुसार ब्रह्म तथा आत्मा का अटूट सम्बन्ध है वे कहते हैं कि-

'ना इहु मानुष ना इहु देव। ना इहु जती कहावै सेव।
ना इहु जोगी ना अवधूता। ना इहु माइ न काहू पूता।
या मंदर महं कौन बसाई। ताका अंत न कोई पाई।
ना इहु गिरही ना ओदासी। ना इहु राज न भीख मंगासी।।
ना इहु पिंड न रकतु राती। ना इहु ब्रह्म न ना इहु खाती।।
ना इहु तपा कहावै सेख। ना इहु जीवै न मरता देख।।

... ...

कहु कबीर इहु राम की अंसु। जस कागद पर मिटै न मंसु[1]।।

जिस प्रकार पक्की स्याही का कागज पर किया गया धब्बा नहीं मिट पाता, उसी प्रकार ब्रह्म और आत्मा कभी भी पृथक् नहीं हो सकते।

इस प्रकार कबीर का आत्म-तत्वदर्शन उपनिषद् एवं गीता के सदृश्य ही है। गीता के मतानुसार आत्मतत्व अविनाशी है। कबीर भी आत्मा को निराकार अनन्त एवं निर्विकार मानते हैं। वे कहते हैं कि वहां न जन्म लेता और न तो मरता ही है[2]। कहीं-कहीं पर कबीर ने आत्मा को 'अद्वैत' कहा है। उनका यह विश्वास है कि आत्मा एक है। कबीर के अनुसार जो लोग अद्वैतवाद में विश्वास करके आत्मा को भी 'अद्वैतवाद' की दृष्टि से विवेचन करते हैं ऐसे व्यक्ति अज्ञान-वश आत्मतत्व के सच्चे रूप का अनुभव नहीं कर पाते और ऐसे लोग सदैव नरक को प्राप्त होते हैं निम्न पद में कबीर इसी बात को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि-

---

१- कबीर ग्रन्थावली, पृ० ३०१

२- 'कहै कबीर हम नांही रे नांहीं, नां हम जीवत न मुवले मांही। कबीरग्रन्थावली, पृ० २००

"हम तौ एक एक करि जानां,
दोइ कहै तिनही कौं दो जग,जिन नांहिन पहिचांनां ।[१]

वह तो सर्वव्यापी है ।माया के कारण आत्मा और ब्रह्म की अद्वैतता नहीं पहचान पाते । सर्वत्र एक ही तत्व है चाहे उसे आत्मा कहा जाये , या ब्रह्म ।

पहले कहा जा चुका है कि जीव की संख्या के सम्बन्ध में विविध दर्शनों का विविध प्रकार का मतभेद है । प्राचीन भारतीय दर्शनों से ज्ञात होता है कि न्याय, वैशेषिक आदि जीव की अनेक संख्या मानते हैं । सांख्यवादी जीव को स्वतंत्र और अनादि अवश्य मानतेहैं परन्तु बद्ध-पुरुष की ये भी अनेक संख्या मानते हैं । अद्वैतवादी जीव की अनेकता में विश्वास नहीं करते उनका मत है कि जीव एक और अद्वैततत्व है । कबीर ने आत्म-तत्व की एकता एवं अद्वैतता पर बहुत ही स्पष्ट एवं सुन्दर दृष्टान्त दिया है जिसका वर्णन इसी अध्याय में पहले हो चुका है कि पांच रंग की दस गायों को दूध निकालने पर भी दूध का रंग एक ही होता है । अलग अलग रंगों का दूध नहीं होता व इसी प्रकार भांति भांति के भीतर एक अद्वैत तत्व भी व्याप्त है ।

इस प्रकार कबीर आत्मा को निर्गुण,निराकार,निर्विकार,अजर-अमर, नित्य,अनन्त,सत्य-स्वरूप ,अद्वैत मानते हैं ।

सृष्टि अथवा जगत् :-

सृष्टि-उत्पत्ति के सम्बन्ध में कबीर के अनेक विचार इनकी रचनाओं में पाये जाते हैं ।कबीर के मतानुसार ~~मुख्य रूप से~~ निम्न कारणों से सृष्टि की रचना हुई के कारण ये हैं :-

(१) ऊंकार से सृष्टि-रचना
(२)प्रकाश अथवा नूर से सृष्टि-रचना

१- कबीर ग्रन्थावली , पृ० १०५

(३)माया से सृष्टि की उत्पत्ति

(४) गुणात्मकों द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति

(५) कारण कार्य द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति

~~(६)~~

इस प्रकार मुख्यतः उक्त कारणों से सृष्टि की उत्पत्ति हुई है । कबीर के मतानुसार सृष्टि उत्पत्ति के पूर्व निम्न प्रकार की स्थिति थी , वे कहते हैं कि -

`जब ~~नर्हीं~~ नहीं होते पवन नहीं पानी, तब नहीं होती सृष्टि उपानीं।
जब नहीं होते प्यंड न वासा,तब नहीं होते धरनि अकासा ।
जब नहीं होते गरभ न मूला, तब नहीं होते कलीन फूला ।
जब नहीं होते सब्द न स्वाद,तब नहीं होते विद्या न वाद ।
जब नहीं होते गुरु न चेला, गम अगमें पंथ अकेला[1] ।`

सृष्टि-उत्पत्ति के पूर्व न तो वायु थी,न पानी था । न सृष्टि ही उत्पन्न हुई थी । न प्राण थे, न शरीर था । तब न पृथ्वी थी और न आकाश । न बीज था न फल-फूल ।न विद्या थी, और न वाद-विवाद था । न गुरु था न शिष्य ही था । उस समय केवल वही एक इन्द्रियातीत अपने स्वरूप में स्थित था।

कबीर ने कहीं-कहीं पर सृष्टि की उत्पत्ति`ऊंकार` से बतायी है । इस` ऊंकार` का तात्पर्य कबीर का यही था कि नाम रूपात्मक जगत् के मूल में वही चैतन्य तत्व है जोसदा सर्वदा सर्वत्र,समस्त रूपों में सर्वत्र व्याप्त है । `ऊंकार` से सृष्टि के बारे में ~~कहते हुए~~ कबीर कहते हैं कि-

`ओंकार आदि है मूला, राजा परजा एकहि मूला[2] ।`

अर्थात् जितने भी नाम रूप हैं उन सबमें वही ब्रह्म व्याप्तमान है ।

`ऊंकारै जग ऊपजै, बिकारै जग जाइ।
अनहद बैन बजाइ करि, रह्या गगन मठ छाई[3]।।`

१- कबीर ग्रन्थावली, पृ० २३८
२- वही , पृ० २४४
३- वही पृ० १२६

कबीर की 'ऊंकार' से सृष्टि-उत्पत्ति का विचार वेदों एवं उपनिषदों के सम्यक् है ।

'नूर' उर्दू का शब्द है जिसका अर्थ 'प्रकाश' होता है । कहीं-कहीं पर कबीर 'नूर' से सृष्टि की उत्पत्ति बताते हैं । वे कहते हैं कि-

'अला एकै नूर उपनाया, ताकी कैसी निंदा।
ता नूर थै सब जग कीया, कौन भला कौन मंदा।।'[१]

ईश्वर ने एक प्रकाश फेंका जिस प्रकार अग्नि की चिनगारियों से प्रकाश होता है उसी प्रकाश से जगत् की उत्पत्ति हुई । इस प्रकार की उत्पत्ति उपनिषदों में भी पाई जाती है । उपनिषदों में कहा गया है कि ब्रह्म से अग्नि की चिनगारियों के समान जगत् के सभी पदार्थों की उत्पत्ति का वर्णन द्वितीय 'मुण्डक' में पाया जाता है।

माया से सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन कबीर ने बहुत अधिक किया है। सृजनहार ने सृष्टि की रचना की । त्रिगुणमयी माया के द्वारा पांच तत्वों के सम्मिश्रण से जरायुज,अण्डज,स्वदेज तथा उद्भिज नाम की चार जीवों की कोटियों का निर्माण हुआ । इन जीवों के लिए क्रमश: पाप,पुण्य,मान,अभिमान आदि बन्धनों का निर्माण हुआ, उक्त भाव कबीर के निम्न दोहे से स्पष्ट होता है-

' एक बिनांनी रच्या कीन्हीं माया, सब अयांन जौ आवै जांन।
सत रज तम थैं कीन्हीं माया, चारि खानि बिस्तार उपाया।
पंच तत ले कीन्ह बंधान, पाप पुनि मांन अभिमान।
अहंकार कीन्हैं माया मोहू, संपति बिपति दीन्हीं सब काहू।।'[२]

इस प्रकार कबीर ने ब्रह्म को ही मूल तत्व बताया है इनके मतानुसार यह जगत् केवल व्यावहारिक सत्ता मात्र है । ब्रह्म इस जगत में प्रतिबिंबित होता रहता है।

१- कबीर ग्रन्थावली, पृ० १०४
२- वही पृ० २२६

उदाहरण ब्रह्म की सब व्यावहारिक सत्ता स्वयं कुम्हार बन कर इस जगत में झलकती रहती है । ब्रह्म एक ही जगत् में उसके विभिन्न एवं पृथक पृथक् रूप दृष्टिगोचर होते हैं। यहां पर कबीर की सृष्टि-उत्पत्ति अद्वैत वेदान्त के अनुकूल है ।

सांख्य-वादियों के गुण-परिणामवाद के अनुरूप कबीर ने भी सृष्टि की रचना का वर्णन किया है । वे कहते हैं कि -

'सत रज तम थैं कीन्हीं माया,चारि खानि विस्तार उपाया।
पंच तत्त ले कीन्ह बंधानं , पाप पुंनि मांन-अभिमानं।[१]

इस माया ने पांच तत्वों एवं तीन गुणों (पांच तत्व-क्षिति,जल,पावक गगन, समीर) (तीन गुण- सतो,तमो,रजोगुण) के संयोग से सृष्टि की उत्पत्ति की है । कबीर तथा सांख्य के सृष्टि-दर्शन में केवल इतना ही अन्तर है कि सांख्य-वादियों के मतानुसार सृष्टि-विकास-क्रम में कर्म,एवं माया ,मोह आदि बंधनात्मक विकारों का संकेत नहीं मिलता है किन्तु कबीर ने अहंकार,माया मोह,संपत्ति विपत्ति,अनेकत्व का भाव पांच स्वाद,निन्दा,स्तुति आदि सभी विकारों की रचना का उल्लेख किया है वे कहते हैं कि -

'पंच स्वाद ले कीन्हां बंधू, बंधे काम जो आहि अबंधू ।[२]

स्वाद और विकारों की उत्पत्ति की गयी । भ्रम से नित्य,मुक्त,शुद्ध,बुद्ध आत्मा ने कर्म का भोक्ता स्वयं को समझ लिया है और बंधन में पड़ गया है ।

इस प्रकार माया से उत्पन्न सृष्टि मत पर कबीर का दर्शन,वेदान्त,सांख्य एवं उपनिषदों से प्रभावित जान पड़ता है ।एक ही वस्तु की अव्यक्त और व्यक्त अवस्थाओं को क्रमशः कारण-कार्य की संज्ञा दी जाती है । कार्य-कारण का सम्बन्ध अटूट एवं अभिन्न ह । मेज लकड़ी से भिन्न नहीं है । मिट्टी का घड़ा

१- कबीर ग्रन्थावली, पृ० २२६
२- वही , पृ० २२६

अपने सत्य रूप में मिट्टी ही है । कपड़ा धागों से अलग कोई वस्तु नहीं है । अत: कार्य-कारण का सम्बन्ध अभिन्न है । ब्रह्म और जगत का सम्बन्ध भी कार्य-कारण का सम्बन्ध है । जगत के समस्त वस्तुओं में ब्रह्म व्याप्त है अत: बिना ब्रह्म के जगत् और बिना जगत् के ब्रह्म का होना असंभव सा है ।

कबीर कहते हैं कि-

'खालिकु खलक ,खलक महि खालिकु पूरि रहिओ सब ठांई ।'[1]

अर्थात् सृष्टि कर्ता में ही सृष्टि है और सृष्टि में सृष्टिकर्ता ओतप्रोत है ।

माया-तत्त्व :-

कबीर ने मानव-बुद्धि में भ्रम को'माया' की संज्ञा दी है । इनके मत के अनुसार इस भ्रम ही के कारण मनुष्य को नामरूपात्मक जगत्,उसका अपना शरीर,इन्द्रियां आदि सत्य दिखाई पड़ते हैं । जैसा कि इसके पूर्व कहा जा चुका है मनुष्य उस भ्रम की अज्ञानता में सत्य को समझ नहीं पाता और वह संसार एवं माया के मोह में उलझा रहता है तथा मूलतत्व को भूला बैठा है ।कबीर माया को न सत् ही कहते हैं और न असत् ही । माया का उभय रूप भी नहीं है,माया का स्रोत जगत् है । जगत का क्षेत्र होने के कारण माया परिवर्तनशील भी है अत: माया का सत रूप नहीं है ।किन्तु उन्हें बन्ध्या पुत्र के समान सर्वथा असत् या तुच्छ भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि उनमें भी सत्ता है,जो उनके रूप में आभासित हो रही है । इस कारण माया अनिवर्चनीय है । कबीर माया को अनिवर्चनीय बताते हुए कहते हैं कि-

' जो काटो तो डहडहीं सींचों तो कुम्हलाय ।
इस गुणवन्ती बेल का कुछ गुण कहा न जाय[2] ।।'

१-'आदि ग्रन्थ'राग विभास प्रभाती, पद ३

२- कबीर ग्रन्थावली , पृ० ८६

माया रूपी बेल विरोधात्मक गुण सम्पन्न है । इसको जितना ही काटो हरी होती जाती है । काटने पर लोगों को और अधिक आकर्षित करती जाती है। यदि इसे ईश्वर ध्यानरूपी जल से सींचा जाता है तो स्वयं वह अपने आप कुम्हला जाती है अर्थात् साधक के मन में वैराग्य भाव उत्पन्न हो जाता है और उसे माया की अपेक्षा नहीं होती । ऐसी अनोखी बेल को न अभिन्न और न भिन्न ही तथा उभयरूप भी नहीं कहा जा सकता । यह न तो अंग एवं रूप ही वाली है और न अंग एवं रूपरहित ही है । इसलिए वह अनिर्वचनीय है ।

कबीर ने कई स्थलों पर माया को काल्पनिक और सारहीन भी कहा है। वे कहते हैं कि -

`आंगणि बेलि अकास फल, अण व्यावर का दूध।
ससा सींग की धूनहड़ी, रमैं बांझ के पूत ।।`[१]

माया का असत् रूपशशक के सींग के सदृश्य कुछ भी नहीं है । बंध्या स्त्री से पुत्रोत्पत्ति की आशा व्यर्थ है काल्पनिक ही है और बिना बियाई गाय से दूध की आशा करना व्यर्थ है । आंगन में बेल है और फल उसका आकाश में लगा है,तो उस फल को कौन तोड़ सकता है ? उसके लिए वह फल बेकार ही है। इसी प्रकार माया काल्पनिक है तथा उसका जगत् सारहीन एवं असत् है।

संत दर्शन के मतानुसार माया प्रसवधर्मिणी है । यहां पर संत दर्शन का माया सम्बन्धी सिद्धान्त सांख्य के प्रकृति से साम्य रखता है । सांख्य दर्शन के इस मत से कबीर भी अछूते नहीं । कबीर के समस्त मत स्वयंानुभूति एवं स्वयं अनुभव के मत है किन्तु कहीं कहीं पर कबीर संतों के सामान्य दर्शन के समर्थक दिखाई पड़ते हैं । माया को इन्होंने भी संसार अथवा सृष्टि की रचयित्री माना है वे कहते हैं कि -

---

१- कबीर ग्रन्थावली , पृ० ८६

` कबै कम

` सत रज तम थैं कीन्हीं माया, चारि खानि विस्तार उपाया।
पंच तत लै कीन्ह बंधान, पाप पुंनि मान अभिमान ।
अहंकार कीन्हें माया मोहू, संपति विपति दीन्हीं सब काहू[1] ।`

तीन गुणों के संयोग से माया के द्वारा चार कोटि अर्थात् जरायुज,अण्डज, स्वेदज तथा उद्भिज आदि के रूप में सृष्टि का विस्तार किया गया है । पांच तत्वों के संयोग से सृष्टि की उत्पत्ति हो गयी तथा इसके साथ-साथ पाप पुण्य,अभिमान,अहंकार,मोह संपत्ति और विपत्ति आदि के रूप में जीव के लिए बंधन भी तैयार हो गये । कबीर जहां माया को सृष्टि की रचयिता मानते हैं वहां दूसरी ओर वह माया को संहारिका भी कहते हैं वे कहते हैं कि -

पांच तत तीनि कर्म गुण जुगति करि संन्यासी,अष्ट बिन होत नहीं
क्रंम काया ।
पाप पुन बीज अंकुर जामैं मरै,उपजि बिनसै जेती सर्व माया[2] ।।`

इस प्रकार पांच तत्व, तीन गुण आदि तथा अष्टधा प्रकृति ,सभी विकार ,उत्पन्न होना एवं विनाश होना यह सब माया ही के कार्य हैं ।

यह माया बहुत ही चंचल एवं परिवर्तनशील है -

`कबीर माया डोलनी पवन बहै हिव धार ।
जिन बिलोया तिन पाइया अवन बिलोवनहार[3]।।`

वह वायु के सदृश्य सदा सर्वदा अविरल धारा प्रवाह में प्रवाहित होती रहती है।

माया व्यभिचारिणी भी है । माया के व्यभिचारिणी स्वभाव का विस्तार-पूर्वक वर्णन करते हुए कबीर कहते हैं -

----

१- कबीर ग्रन्थावली, पृ० २२६
२- वही , पृ० १५६
३- वही पृ० २५७

'माया तजूं तजी नहीं जाइ , फिरि फिरि माया मोहि लपटाइ ।
माया आदर माया मांन, माया नहीं तहां ब्रह्म गियांन ।।
माया रस माया कर जांन , माया कारणि तजै परांन ।।
माया जप तप माया जोग, माया बंधे सब ही लोग ।।'[1]

यह माया अत्यन्त मोहक और आकर्षक है, प्रयत्न करने पर भी यह पीछा नहीं छोड़ती । कभी आदर और मान के रूप में उपस्थित होकर जीव को फंसाती है और कभी धन-सम्पदा के रूप में उपस्थित होकर अपने पाश में जकड़ लेती है । मनुष्य माया को आनन्द जान कर उसके लिए प्राणों तक का उत्सर्ग करता है । स्वर्ग एवं मोक्ष की सकाम-भावना से किए गए जप-तप भी माया के रूप हैं । इस प्रकार माया ने अपना जाल फैला कर समस्त विश्व को अपने जाल में जकड़ रखा है ।

कबीर के मतानुसार माया व्यभिचारिणी के अतिरिक्त ' कनक' ;'कामिनी' 'दुराचारिणी' 'कुटिल' 'पापिनी' 'डाइन' 'ठगनी' 'सर्पनी' 'पिशाचिनी' 'चौरटी' 'नकटी' आदि नाना रूपों में इस जगत् के ऊपर अपना शासन जमाये हुए है । इस माया का स्थान यह समस्त विश्व है इसी विश्व पर वह विभिन्न रूपों से घूमा करती है तथा समस्त सृष्टि में अपना अधिकार किये हुए है ।

कबीर ने माया को ब्रह्म की लीला की शक्ति माना है । वह उसे जादूगर का खेल कहते हैं । उस जादूगर के करामातों से दर्शकों में भ्रम उत्पन्न हो जाता है, परन्तु स्वयं जादूगर के ऊपर किसी भी प्रकार का प्रभाव नहीं पड़ता है । उस तमाशे में जो जादूगर के करामातों(Tricks) को जान लेते हैं वैसे व्यक्ति उसके भ्रम में नहीं पड़ते और उन्हें तत्वज्ञान हो जाता है तथा संसार के माया मोह से मुक्ति मिल जाती है ।

' तै तौ आदि निनार निरंजना, आदि अनादि न आंना ।
कहन सुनन कौं कीन्ह जग , आपै आप भुलांना ।।'[2]

१- कबीर ग्रन्थावली, पृ० ११४

२- वही , पृ० २२७

ब्रह्म एक ,अद्वैत ,निष्फल,आनन्दस्वरूप है । उसके आदि-अन्त नहीं अर्थात् ब्रह्म निर्गुण,निराकार,निर्विकार है । कहने सुनने अर्थात् दूसरे शब्दों में व्यावहारिकता के हेतु उसने जगत् की रचना की और स्वयं अपने आप ही उसमें छिप गया। इस प्रकार कबीर का यह मत है कि निर्गुण ब्रह्म से जगत् की रचना नहीं की जा सकती । जगत् की सत्ता व्यावहारिक सत्ता है । माया के आवरण -शक्ति के कारण मनुष्य भ्रम से सत्य तत्व ब्रह्म को नहीं समझ पाता । जगत् पारमार्थिक सत्य नहीं है ।

समस्त संसार को माया अपने भ्रमजाल में भरमाये रहती है किन्तु माया को स्वतंत्र नहीं कहा जा सकता । माया ब्रह्माश्रित है। वह ब्रह्म से ऐसे ही अभिन्न है जैसे अग्नि से दाहकता तथा मन से संकल्प । ब्रह्म का माया से सीधा एवं स्पष्ट सम्बन्ध है । कबीर एक स्थल पर कहते हैं कि -

'दास कबीर राम की सरनैं, ज्यूं लागी त्यूं तोरी ।'[१]

कबीर राम की शरण में पहुंच गये , इसी से उन्होंने माया को त्याग दिया अर्थात् माया के स्वामी ने कबीर पर कृपा की और माया का उन पर प्रभाव न हुआ ।

कबीर के मतानुसार इस माया के अनेक भेद हैं जैसे - भ्रमरूप माया,कर्मरूप माया,विद्या-रूपिणी माया । इस प्रकार कबीर का माया सम्बन्धी मत स्वानुभूति के आधार पर आश्रित है । कहीं-कहीं पर वे सांख्य-वेदान्त,उपनिषद् के मतों का समर्थन करते हुए पाये जाते हैं । इनके अनुसार विश्व की रचना, स्थिति,लय आदि सब माया के ही द्वारा होता है ।

मोक्ष अथवा मुक्ति :-

कबीर के मतानुसार जन्म-मरण का मूल कारण जीव की अज्ञान अवस्था है । भ्रमवश जीव अपने को कर्ता,भोक्ता आदि समझ लेता है । और जगत् के नाम रूप में उलझ कर दु:ख उठाता रहता है इसी माया के बन्धन में उलझा होने के

१- कबीर ग्रन्थावली, पृ० १५१

कारण वह आवागमन से छुटकारा नहीं पाता । उसके `मुक्ति` प्राप्त करने के रास्ते में माया, मोह, ईर्ष्या, द्वेष रोड़ा बन कर आकर खड़े हो जाते हैं और उसे आगे बढ़ने में असमर्थ कर देते हैं । कबीर के अनुसार साधना द्वारा इन भव-बन्धनों से निर्बन्ध होना ही `मुक्ति` है ।

उक्त भाव का स्पष्टीकरण कबीर के निम्न दोहे से हो जाता है-

`कहै कबीर भवबंधन छूटै। जोतिहि जोति समानी[1] ।`

जब व्यक्ति माया के भवबंधन से छुटकारा पा जाता है तो उसे ज्योदि ज्योति दिखाई पड़ने लगता है । जब तक चित्त में विकार और परिणाम होते रहते हैं तब तक उन पर आत्मा का प्रकाश पड़ता रहता है और विवेक -ज्ञान के अभाव में वह उन्हीं में अपने को देखने लगता है । अन्त में वह सांसारिक विषयों से सुख-दु:ख का अनुभव करने लगता है । और उनमें राग-द्वेष के भाव रखने लगता है । इसी को कबीर `भ्रम`; `बन्धन` तथा आत्मा के लिए `भ्रम रूप अज्ञान` की संज्ञा देते हैं । इस `भवबन्धन` तथा `भ्रम रूप अज्ञान` से छुटकारा पा जाना ही मुक्ति है । मन का विकार रहित होना मुक्ति को पाना मानते हैं । निम्न दोहे में वे यही कहते हैं -

` जै मन नहीं तजै विकारा, तो, क्यूं तिरियै भौ पारा ।।
जब मन छाड़े कुटिलाई, तब आइ मिलै रामराई[2] ।।`

कबीरदास के अनुसार शान्तचित्त, अथवा विकाररहित मन विवेक -ज्ञान से परिपूर्ण हो जाता है । साधक को सभी प्राणियों में अपना ही स्वरूप दिखाई पड़ने लगता है । साधक का शुद्ध-सात्विक हृदय सद् व्यवहार में लीन रहता है इसी शान्त-अवस्था ~~ईश्वर~~ को कबीर ने निर्वाण-~~प्राप्ति~~ प्राप्ति की अवस्था कहा है । वे कहते हैं कि--

` आपा पर सब एक समान, तब हम पाया पद निर्वाण ।
कहै कबीर मन भया संतोष, मिले भगवन्त गये दुख दोष[3] ।।

१-कबीर-ग्रन्थावली, पृ० १११ ।

२- वही, ,, पृ० १४५ ।

३-वही, ,, पृ०१४४ ।

कबीर ने निर्वाण-पद को "निर्भैपद " भी कहा है ।सर्वहित में लगा हुआ साधक, जो समदर्शिता के भाव से परिपूर्ण है, उसे भय का तो कोई कारण ही नहीं रह जाता। कबीर ने एक स्थल पर कहा है--

"अपने परचै लागी तारी,अपन पै आप समानां ।
कहै कबीर जे आप बिचारै,मिटि गया आपन जानां ।।[१]

उक्त दोहे में कबीर ने परमपद को अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित होने की बात कही है । कबीर ब्रह्म तथा जीवात्मा में तात्विक विभेद नहीं मानते,ये दोनों मूलत: अद्वैत-तत्व है । भ्रम से यह भेद उत्पन्न हो जाता है।ज्ञान के द्वारा भ्रम तथा अज्ञान का निराकरण हो जाता है ।और दोनों का तादात्म्य हो जाताहै अथवा आत्मा अपने नित्य-मुक्त स्वभाव में प्रतिष्ठित हो जाता है।`मुक्ति` को न तो उत्पन्न किया जा सकता है और न वह पहले से अप्राप्त है । वह तो सत्य एवं शाश्वत रूप में सदैव से है। उसकी अनुभूति ही`मुक्ति` है ।

`रामं मोहि तारि कहां लै जैहौ ।
सो बैकुंठ कहौ धूं कैसा, करि पसाव मोहि दे हौ।
जो मेरे जीव दोइ जांनत हौ, तौ मोहि मुकति बताओ।
एकमेक रंमि रह्या सबनि में, तौ काहे भरमावौ ।।
तारण तिरण जबै लग कहिये, तब लग तत न जानां।
एक रांम देख्या सबहिन मैं, कहै कबीर मन मानां ।।[२]

मुक्ति तो अपना मुक्त स्वभाव ही है । मुक्ति पाकर कहां जाना होता है, अर्थात् कहीं भी नहीं। बैकुंठ आदि काल्पनिक ही है । ब्रह्म और जीवात्मा पारमार्थिक दृष्टि से दो नहीं है । जब दोनों का एक ही स्वरूप है, तब मुक्ति देना और पाना भ्रम मात्र ही है । सर्वत्र एक अन्ततम अस्तित्व अथवा मूलतत्व व्याप्त है,अज्ञान ही से विभेद प्रतीत होता है । जब तक तत्वज्ञान नहीं हो जाता, तभी तक उपास्य और उपासक का भेद दिखाई पड़ता है । आत्मानुभूति के लिए कबीर ने कई दृष्टान्त

१- कबीर ग्रन्थावली , पृ० ९०
२- वही , पृ० १०५

प्रस्तुत किए हैं । एक दृष्टान्त प्रस्तुत करते हुए कबीर कहते हैं --

> 'ज्यों बिम्बहि प्रतिबिम्ब समांनां,उदक कुंभ बिगरानां।।
> कहै कबीर जांनि भ्रम भागा, जीवहि जीव समांनां ।।'[1]

मिट्टी के घड़े में जल भरा हुआ है । उसमें बिम्ब का प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ता है। घड़े के फूट जाने पर बिम्ब प्रतिबिम्ब एकमेक हो जाते हैं और इसी प्रकार तत्व-ज्ञान से जीवात्मा एवं ब्रह्म का विभेद नष्ट हो जाता है और आत्मा अपने शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वरूप में स्थित हो जाती है ।

कबीर की मुक्ति-भावना उपनिषद् एवं अद्वैत वेदान्त के अनुकूल है ।कहीं कहीं उस पर योग,बौद्ध एवं जैन दर्शन की छाया दिखाई देती है । कबीर मोक्ष को पूर्ण मुक्तावस्था मानते हैं । उनका विश्वास है कि मोक्ष की अवस्था में सब प्रकार के बन्धन मुक्तात्मा को अभिभूत नहीं कर पाते । सब प्रकार के बन्धनों से मुक्त होकर आत्मा अविनाशी -स्वरूप अर्थात् शुद्ध,बुद्ध,मुक्त ब्रह्म-स्वरूप हो जाता है। कबीर के मतानुसार मुक्त की दो अवस्थायें होती हैं ।प्रथम जीवन्मुक्त ,द्वितीय विदेह मुक्त । मुक्तात्मा की इस अवस्था को जीवन्मुक्ति अवस्था कहते हैं । जीवन मुक्त अवस्था में साधक को जीवितावस्था में ही मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। ऐसे साधक भ्रम और संशय से रहित हो जाते हैं कबीर जीवन्मुक्त मुक्ति की प्रशंसा करते हुए कहते हैं कि-

> 'जन सम द्रिष्टि सीतल सदा दुविधा नहीं आवै ।
> कहै कबीर ता दास सूं मेरा मन मांनै ।।'[2]

जीवन्मुक्त विकारहीन होता है । उसके हृदय की अज्ञान ग्रन्थि का उच्छेद हो जाता है वह निष्काम ,निर्विषय तथा निस्संग हो जाता है ।

कबीर के मतानुसार स्थूल और सूक्ष्म शरीर का जब अन्त हो जाता है, तब जीवन्मुक्त को जो अवस्था मिलती है उसे 'विदेहमुक्ति' कहा जाता है । इस अवस्था

१- कबीर ग्रन्थावली , पृ० १५८

२- वही पृ० २०६

का आरम्भ होते ही साधक की शारीरिक क्रियाओं में निष्क्रियता आ जाती है। वह हंसना-बोलना,चलना-फिरना आदि शारीरिक क्रियाओं के प्रति उदासीन हो जाता है। विदेह मुक्त साधक की अवस्था निम्नप्रकार की हो जाती है -

`हंसै, न बोलै उन्मनी, चंचल मेल्हा मारि ।
कहै कबीर भीतर भिद्या सद्गुरु का हथियार[1]।।`

इस प्रकार विदेह मुक्त साधक अपनी अन्तरात्मा में ही ध्यानावस्थित रहता है। अपनी आत्मा में लीन रहता है, अपने नित्य मुक्त स्वभाव का परपरस उसे बाहरी संसार में उलझने नहीं देता है। उसे अपने शरीर की सुध भी नहीं रह जाती। वे कहते हैं कि-

`हरि रस पीया जांणिये, जे कबहु न जाइ खुमार ।
मैमंता घूमत रहै, नांही तन की सार[2]।।`

विदेहावस्था साधक को सहजता एवं सरलता से प्राप्त नहीं होती। इसको विरले साधक ही प्राप्त कर पाते हैं। इस अवस्था को प्राप्त करने के हेतु साधक को ज्ञानमार्ग,योगमार्ग,भक्तियोग तथा निष्काम कर्मयोग की साधना करनी अनिवार्य है।

इस प्रकार इस अध्याय में कबीर के`आध्यात्म पक्ष` का संक्षिप्त विवेचन किया गया है किन्तु जैसा कि दर्शन और धर्म में अन्तर है दर्शन अथवा अध्यात्म,व्यक्ति की साधना एवं चिन्तन द्वारा अनुभव एवं विचार से बनता है आगे चल कर वही उनका दर्शन बन जाता है। दर्शन का व्यावहारिक रूप नहीं हो पाता जब दर्शन का व्यावहारिक रूप दिया जाता है तो वह दर्शन धर्म भक्ति अथवा साधना के नाम से पुकारा जाने लगता है। दर्शन लक्ष्य है साधना अथवा

१- कबीर ग्रन्थावली , पृ० २

२- वही पृ० १६

भक्ति उस लक्ष्य को पाने के लिए मार्ग है । उस लक्ष्य को पाने के लिए कौन सा मार्ग अपनाया है तथा उस मार्ग पर चलने के लिए क्या नियम तथा बन्धन है इस बात का विवेचन भक्ति एवं साधना में होता है । हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत भक्तिकाल में जितने ही मत मतान्तर हैं उनमें उतने ही प्रकार की साधनाएं मिलती हैं । साधना एवं दर्शन में विभिन्नता होते हुए भी एकत्व है जिसका विवेचन पहले हो चुका है अतएव यहां पर उसका विवेचन करना अ युक्तिसंगत न होगा । अभी तक कबीर के अध्यात्म पक्ष,ब्रह्म,जीव,सृष्टि,माया,मोक्ष के विषय में वर्णन किया गया है अगले अनुच्छेदों में उनके`साधना पक्ष` का विश्लेषण किया जायेगा । उसके बाद आगे चल कर दादूदयाल,सुन्दरदास,रैदास तथा मलूकदास इत्यादि अन्य निर्गुणियें सतों की मान्यताओं के विवेचन से उनके दार्शनिक विचारों का अधिक स्पष्टीकरण किया जा सकेगा ।

कबीर का साधना पक्ष

मुख्यत: साधना पक्ष के अन्तर्गत चार धाराएं - ज्ञान,योग,भक्ति एवं कर्म आदि अपना अपना पृथक् -पृथक् महत्ता प्रतिपादित करती है ।

कबीर के समय में मुस्लिम सभ्यता एवं धर्म देश में विस्तार पा रहे थे । अत: मुस्लिम साधना पर भारतीय और भारतीय साधना पर मुस्लिम प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था । कबीर एक साधक थे अपनी स्वयंानुभूति के द्वारा जो प्राप्त किया उसको उन्होंने समाज एवं व्यक्तियों को उपदेश रूप में बता दिया । अत: कबीर के आध्यात्मिक एवं साधना पक्ष की यह विशेषता है कि ये दोनों ही पक्ष उनके स्वानुभूतिमय पक्ष हैं । जो कुछ उन्होंने कहा है वह सब स्वयं अनुभव द्वारा कहा है उस पर रंचमात्र का भी बाह्य या अन्य शास्त्रों का प्रभाव नहीं पड़ा दिखाई देता। कुछ वस्तुएं अवश्य ही इनके पहले वेद,उपनिषद् सांख्य भागवत गीता तथा अन्य विभिन्न मतों एवं शास्त्रों में वर्णित हो चुकी थीं किन्तु कबीर ने उन वस्तुओं को तभी सत्य माना जब उन समस्त वस्तुओं की उन्होंने स्वयं अनुभूति कर ली ।

कबीर की साधना :-

कबीर की साधना एवं भक्ति के अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है कि कबीर की भक्ति और साधना क्रमानुसार एवं व्यवस्थित रूप में है । सद्गुरु की सेवा में रह कर उन्होंने ज्ञान-विचार किया । मन अथवा बुद्धि के द्वारा तत्व के गुण ,स्वरूपादि का विचार कर सकते हैं । बुद्धि की जहां तक पहुंच है वहां तक ज्ञान विचार में अग्रसर हो सकते हैं । चरम सत्य को पाने के लिए बुद्धि एवं ज्ञान की आवश्यकता होती है । ज्ञान विचार से मन अथवा बुद्धि प्रखर ,सबल तथा तीव्र होते हैं और उनका स्वरूप निखर आता है । इसलिए कबीर ने ज्ञान-विचार को मन एवं बुद्धि को शुद्ध करने के लिए आवश्यक कहा है । वे कहते हैं कि मन सूधा कौ कूंच कियौ है, ग्यांन बिथरनी पाई ।।[१]

१- कबीर ग्रन्थावली, पृ० १८६

२- इस साधना पक्ष में कठिनता से सरलता की ओर जाना है । अगमन से निगमन की ओर जाना साधना की दूसरी विशेषता है । साधना के आडम्बर पूर्ण एवं मिथ्या स्वरूप को कबीर ने बिल्कुल नहीं अपनाया ।उनका यह मत रहा है कि दार्श-निक तथ्य तथा साधना -पद्धति जन-साधारणके लाभ की तथा व्यावहारिक होनी चाहिए।

३- मन को विकारशून्य करने तथा उसकी चंचलता और उत्पात का निराकरण करने के लिए कबीर ने योग-साधना को अपनाया । कबीर के युग में कई योग पद्धतियों का प्रचलन था । उन सबका कबीर ने परिचय प्राप्त किया और अन्त में उन सबका अपने स्वयं के हठयोग,शब्द सुरति-योग ,सहजयोग आदि साधनों द्वारा सत्य की कसौटी पर कसा । कठिन योग साधनाओं के स्थान पर योग-युक्ति का वर्णन किया है ।

४- कबीर के मतानुसार बुद्धि केवल मार्ग को स्वच्छ कर सकती है नामरूपात्मक जगत् एवं पदार्थ का ज्ञान मात्र करा सकती है किन्तु वह जीवन की गहराई अथवा चरमतत्व के स्वरूप का प्रत्यक्ष करा सकने में असमर्थ है । ज्ञान-साधना के द्वारा कबीर ने इस बात को अच्छी तरह से समझ लिया था । उनके मत में ज्ञान-विचार से चरमसत्य तथा माया की जानकारी अवश्य हो जाती है किन्तु मन की चंचलता में विशेष सुधार नहीं हो पाता।

५- `कबीर मन पंषी भया, बहुतक चढ़्या अकास ।
उहां हीं तै गिरि पड़्या, मन माया के पास ।।`[१]

योग-साधना द्वारा यह काया सशक्त एवं परिशुद्ध होती है । साधक का ~~मन~~ मन संयमित तथा केन्द्रीभूत होने का अभ्यासी हो जाता है । मन विकारशून्य होने लगता है । पर यह उतना अनूठा है कि मृतप्राय दीखता हुआ भी,माया में उलझ पड़ता है।

१- कबीर ग्रन्थावली , पृ० ३०

६- कबीर के भक्ति का लक्ष्य यह था कि मन केन्द्रीभूत होकर विश्व के महान् केन्द्र ब्रह्म अथवा आत्मा में संयुजित करे साथ ही साथ सत्य-स्वरूप में अवस्थित हो जाय ।

७- भावों को परिशुद्ध होने एवं निराकार देव का प्रत्यक्ष करने के लिए कबीर ने भाव-भक्ति की साधना की ।

८- भाव-भक्ति के द्वारा कबीर ने ज्ञान, योग तथा भक्ति साधना के द्वारा मन, बुद्धि ,हृदय,भाव जगत् आदि को परिशुद्ध किया और सभी वृत्तियों को अन्तर्मुखी करके उन्हें वासना रहित,निरासक्त और निर्विषय किया।

९-निष्काम कर्म-योग के द्वारा कबीर ने मुक्ति पाई । संसार में रहते हुए,निरासक्त एवं निस्पृह भाव से सभी प्राणियों के रक्षार्थ कर्म किया । मुक्ति कहीं बाहर से नहीं लाई जाती, वह तो हमारे हृदय और मन की स्वाधीन दशा है ।

१०- कबीर ने ज्ञान-विचार द्वारा मन एवं बुद्धि को तीव्र और प्रखर बनाया ।योग-साधना द्वारा शरीर को सशक्त तथा मन को केन्द्रीभूत किया। भाव-भक्ति के द्वारा भाव-जगत् को परिशुद्ध तथा केन्द्रीभूत किया तथा प्रेम शक्ति एवं निष्काम सेवा-भाव द्वारा अपनी मुक्त दशा प्राप्त की । सिद्धावस्था प्राप्त करके उन्होंने लोक कल्याण के लिए निष्काम कर्म करने की प्रेरणा दी और साधकों के लिए सच्ची मुक्ति के लिए मौलिक विचार प्रस्तुत किये ।

११- ज्ञान,योग,भक्ति निष्काम कर्म जो साधना के चार मुख्य अंग अथवा धाराएं थीं उन पर अभी तक सभी शास्त्रों और मतों ने पृथक् पृथक् विचार विमर्श किया था । कबीर ने साधना के उक्त चारों धाराओं को एक दूसरे से सम्बन्धित कर उसका समन्वित रूप दिया । यह कबीर की अपनी मौलिक देन है । कबीर का मत था कि जब तक ये चारों धाराएं जब एक कड़ी में एक दूसरे से जुड़ेंगी नहीं तब तक साधना सफल नहीं हो सकती और न तो साधक मुक्ति अथवा मोक्ष को ही प्राप्त कर सकता है।

> 'मोहि आग्या दई दयाल,दया करि काहू कूं समझाइ ।
> कहै कबीर मैं कहि कहि हार्यो,अब मोहि दो न लाइ ।।'[1]

अर्थात् कर्म के योग द्वारा कबीर ने मुक्तावस्था प्राप्त की है । संसार में रहते हुए निरासक्त एवं निस्पृह भाव से सभी प्राणियों के कल्याणार्थ कर्म किया । मुक्ति कहीं बाहर से नहीं लाई जाती, वह तो स्वयं हृदय और मन की स्वाधीन दशा है।

इस प्रकार हिन्दी भक्ति काल के लिए कबीर की साधना एक मौलिक स्थान रखती है ।

कबीर की भक्ति-साधना:-

'भक्ति' का अर्थ ,उसकी परिभाषा,महत्ता आदि विषयों पर प्रथम अध्याय में विवेचन किया जा चुका है । अत: यहां पर भक्ति के विषय में वर्णन करना पुनरावृत्ति के ~~विषय में~~ अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है । इस स्थल पर विशेष रूप से कबीर की भक्ति पर विवेचन किया जायेगा।

कबीर ने मन को केन्द्रीभूत करने के हेतु भक्ति की योजना की । भक्ति-साधना के पूर्व कबीर ज्ञान तथा योग-साधना का अनुभव प्राप्त कर चुके थे इसी कारण उनकी भक्ति में उन दोनों का प्रभाव दिखाई पड़ता है ।

कबीर ने गुरु से भक्ति की दीक्षा ली । इनके मतानुसार बिना गुरु के साधना एवं मुक्ति का पाना असंभव कार्य है । भक्ति को ही इन्होंने अपने जीवन का लक्ष्य बनाया । जगत् के मायावी विषयों में उलझे रहना मनुष्य-जीवन का कर्तव्य अथवा लक्ष्य नहीं है । मनुष्य-जीवन का आदर्श भक्ति है वही लक्ष्य भी है ।

कबीर की निर्गुण-भक्ति-साधना की चार निम्न अवस्थायें हैं--

१- प्रथमावस्था में कबीर जिज्ञासु भक्त की भांति भाव-भक्ति के द्वारा हरि-गुण आदि का वर्णन एवं गुणगान करते दिखाई पड़ते हैं।

२- दूसरी अवस्था में निष्काम-भक्ति की साधना की है, इसमें कबीर भावों की निर्मलता के द्वारा भक्ति की योजना करते दिखाई पड़ते हैं ।

३- तीसरी अवस्था में वे प्रेम-लक्षणा-भक्ति के सहारे भगवान का सान्निध्य प्राप्त करने के हेतु भक्ति करते हुए दिखाई पड़ते हैं ।

भक्ति के क्षेत्र में यह देखा गया है कि भिन्न भिन्न भक्तों की भिन्न-भिन्न

रुचि होने के कारण विभिन्न उपास्य देवों की आवश्यकता भक्ति में पड़ती है। इसी कारण भक्ति-क्षेत्र में भिन्न भिन्न उपास्य देवों की कल्पना भी इन भक्तों ने की है। उपासना,वन्दना,पूजा-पाठ एवं आराधना आदि मानव-हृदय की निष्काम एवं समर्पण-बुद्धि की अभिव्यक्ति है। यह क्रिया उपास्य देव के व्यक्त एवं अव्यक्त दोनों स्वरूपों के प्रति की जा सकती है। यह सत्य है कि जब तक अव्यक्त का पूर्ण परिचय प्राप्त न हो जाय तब तक व्यक्त का सहारा लेना ही पड़ता है। इस प्रकार यह व्यक्त मार्ग अव्यक्त तक पहुंचने का मार्ग है। इसीलिए भक्ति की प्रारम्भ की अवस्था में निर्गुण भक्तों ने अव्यक्त में गुणों का आरोप करके भक्ति-साधना आरम्भ की है।

भक्तिकाल के पूर्व एवं समवर्ती भक्तों ने भगवान के तीन भाव माने हैं। वे तीन भाव हैं- गुणातीत,अथवा निराकारभाव, चिन्मयी शक्ति युक्त सगुण भाव तथा विश्वरूप विराट् भाव। भक्त उक्त तीनों भावों में से किसी भी भाव को उपास्य के रूप में ग्रहण कर उस भाव की भक्ति में लगाते हैं।

कबीर ने भगवान के गुणातीत निराकार भाव को भक्ति के लिए स्वीकार किया। भक्तों को समस्त तीनों भावों को उन्होंने निराकार भाव में ही पाया। वे कहते हैं कि -

'अविगत अपरम्पार ब्रह्म ग्यानं रूप सब ठामं।'[१]

वह अनन्त ,ज्ञान रूप है। वे भगवान के गुणों का और वर्णन करते हुए कहते हैं कि - 'तौ तौ आहि अनन्द स्वरूपा।'[२]

वह आनन्द-स्वरूप और आनन्दमय है।

१- कबीर ग्रन्थावली , पृ० २४१

२- वही पृ० २२५

'अबरन एक अकल अविनासी, घटि घटि आप रहै ।
तोल न मोल माप कछू नाहीं, गिणती ग्यांन न होई ।
नां सो भारी नां सो हलवा, ताकी पारिष लषी न कोई ।।[१]

उस निराकार ब्रह्म की न माप है न तौल और न उसकी गिनती ही है तथा न वह हल्का है न भारी, उसका भेद अगम है ।

'करता कैरै बहुत गुंण, औगुंण कोई नाहि ।'[२]

वह सभी विशिष्टताओं का भंडार है ।

कबीर स्थान-स्थान पर यह स्वीकार एवं संकेत करते दिखाई देते हैं कि उनका उपास्य देव निर्गुण निराकार ब्रह्म है वह कहते हैं कि-

' पूजा करूं न निमाज गुजारूं,
एक निराकार हिरदै नमस्कारूं[३] ।'

साथ ही साथ उन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि उनके उपास्य राम, दाशरथि राम अथवा कोई पुरुषावतार नहीं है । उनके राम ने न तो कोई अवतार लिया है न लंका के राजा रावण को ही मारा है, न देवकी की कोख से उत्पन्न हुआ और न यशोदा की गोद ही में उसने खेला । वह ग्वालों के साथ भी नहीं घूमा और न उसने पर्वत ही उठाया।उसने वामनावतार भी नहीं लिया और उसने राजा बलि से तीन डग वसुधा ही दान में ली । ये सब कथाएं केवल जगत्-व्यवहार अथवा कहने सुनने के ही लिए हैं । उनका राम तो निम्न गुणों वाला है । अपने राम का वर्णन करते हुए कहते है कि -

'ना जसरथि धरि औतरि आवा,ना लंका का राव सतावा ।
देवै कूख न औतरि आवा,ना जसवै लै गोद खिलावा ।।

१- कबीर ग्रन्थावली , पृ० १४४
२- वही पृ० ८५
३- वही पृ० २०२

ना वा गवालनि के संग फिरिया,गोबर धन ले न कर धरिया।
बांवन होय न बलि छलिया, धरनी वेद ले न उधरिया ।
कहै कबीर विचारि के ये झूठे व्यवहार ।
या ही थे जे अगम है सो बरति रह्या संसार ।।[1]

कबीर ने स्पष्ट कहा है कि -
'निरगुंण राम निरगुंण राम जपहु रे भाई ।
अविगत की गति लखी न जाई ।।[2]

कबीर के उपास्य अव्यक्त,अचिन्त्य,अविगत निर्गुण ब्रह्म है ।

कबीर का समस्त जीवन मूर्तिपूजा,अनेक देवी-देवताओं की पूजा,बाह्योपचार,आदि का खंडन करने में व्यतीत हुआ था । कबीर ने अवतारवाद को कभी भी स्वीकार नहीं किया अत: वे सदैव ही अवतारवाद का खंडन करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं ।

भक्त अपने आराध्य में विशिष्ट गुणों का आरोप करता है अत: वह अनेक नामों एवं संज्ञाओं से पुकारता है । कबीर ने भी अपने उपास्य देव के लिए राम,माधव,गोविन्द,कृष्ण,मुरारी,त्रिपुरारी ,विष्णु ,बनवारी, मधुसूदन,भगवान ,चिन्तामणि,गोपाल,केशव,कमलापति ,नारायण,ब्रह्म, महेश,हरि,ईश्वर,सारंगपानी,शिव अल्लाह,खुदा,करीम आदि नामों का प्रयोग किया है । इतने अनन्त व नामों को देने के पश्चात् भी वे यही कहते हैं कि ये सब नाम उसी एक के हैं जो भी नाम लिया जाय उसी से भगवान् समझना चाहिए । इनके मत में असंख्य नाम वाला, अनन्त,सर्वव्यापी,जगत् का अधिष्ठान,त्रिकालाबाधित,सामर्थ्यवान् सर्वातीत,अलख,निर्गुण ब्रह्म ही है।

१- कबीर ग्रन्थावली , पृ० २४३
२- वही पृ० १०४

कबीर ने अव्यक्त की भक्ति करने के लिए उसमें व्यक्त गुणों का आरोप किया है। इन्हीं गुणों को सापेक्ष गुण कहा गया है। सापेक्ष गुणों के कारण ही कबीर ने उसे सृष्टिकर्ता,संहारक,कर्मफलदाता,सर्वशक्तिमान,सर्वव्यापक, त्रिभुवननाथ, जगदीश ,दयालु,भक्तवत्सल,दु:खसुखरहित,अखंड,एकरस,अविनाशी, ठाकुर आदि कहा है। भक्त के समस्त गुणों को वह जानता रहता है कबीर कहते हैं कि-

'जन की पीर हो राजाराम भल जानैं,कहूं को मानै।
नैन का दु:ख बैन जानै, बैन का दुख श्रवणां।।
प्यंड का दुख प्रान जानैं, प्रांन का दुख नीर।
भगति का दुख राम जानै , कहै दास कबीर।।[१]

अत: भक्त और भगवान् दोनों एक दूसरे से सम्बद्ध हैं। एक का दु:ख दूसरा अवश्य ही जानता रहता है।

रामानुज की शिष्य-परम्परा में होने के कारण कबीर की भक्ति में प्रपत्ति-मार्ग का समावेश भी पाया जाता है। एक स्थल पर भक्ति के विषय में बताते हुए कबीर कहते हैं कि -

'षट नेम कर कोटड़ी बांधी,वस्तु अनूप बिच पाई।[२]

इससे यह प्रकट होता है कि उन्होंने भक्ति के छ: अंगों अथवा नियमों की साधना करके शरीर को एवं मनादि को पवित्र किया और उसके द्वारा उन्होंने मोक्ष प्राप्ति की। इस प्रकार इनकी भक्ति में प्रपत्ति-मार्ग के छ: नियम भी पाये जाते हैं।

इसी प्रपत्ति-मार्ग द्वारा कबीर भाव-भक्ति की साधना में आगे बढ़ते दिखाई देते हैं। 'भाव-भक्ति हृदय-प्रसूत होती है। पूजा के आडम्बर में मन का लगना आवश्यक नहीं है। विधि-विधान एक नियमित अभ्यास चाहते हैं। हृदय की भाव-भूति से उनका स्पर्श हो भी सकता है और नहीं भी। अधिकतर यही देखा गया है

१- कबीर ग्रन्थावली , पृ० १८५
२- वही , पृ० ३२४

कि नियम सर्वप्रथम बुद्धि से आविर्भूत होता है, तदुपरान्त वह बुद्धि से भी असंयुक्त हो जाता है और गतानुगतिकता का रूप धारण कर लेता है[१] ।` कबीर ने भाव भक्ति को विशेष रूप से अपनाया और उच्च भक्ति बताया है । कबीर के मत से भाव-भक्ति में उपदेश, ज्ञान-चर्चा, आदि सब व्यर्थ है । भाव-भक्ति द्वारा ही साधक भगवान से सम्बन्ध स्थापित कर सकता है । भाव-भक्ति में साधक की नव अवस्थाएं अथवा भाव पाए जाते हैं जिसका वर्णन पूर्व अध्याय में हो चुका है । वे नव अवस्थाएं अथवा भाव ये हैं-

शरणागत-भाव, कान्ताभाव, पतिव्रता भाव, नवोढ़ा भाव, चातक भाव, ~~अन्यभ~~ अनन्याभाव, मधुरा भाव, विशुद्ध ~~नवोढ़ा भाव, चातक भाव,~~ प्रतीति भाव तथा तन्मयता भाव । प्रत्येक भाव क्रमश: एक दूसरे से ऊंचा उठता जाता है । और अन्त में साधक भगवान में तन्मय अथवा लीन हो जाता है । संसार की समस्त वस्तुएं उसे भगवानमय अथवा ब्रह्ममय दिखाई देने लगती हैं । कबीर की साधना में ये सभी भाव पाये जाते हैं ।

भक्ति-भाव के नव भावों अथवा अवस्थाओं का विस्तृत विवेचन पिछले अध्याय में हो चुका है । कबीर कहां तक इन समस्त अवस्थाओं में सफल हुए हैं इस अध्याय में विचार कर लेना उचित होगा ।

शरणागत-भाव भक्ति की वह अवस्था है जिसमें भक्त भगवान् ही की शरण में जाने की लालसा रखता है । कबीर भगवान् की शरण में जाने को व्यग्र एवं व्याकुल दिखाई देते हैं । वे कहते हैं कि -

` अब मोहि रांम भरोसा तेरा, और कौन का करौं निहोरा[२]।।`

कबीर को भगवान् की सामर्थ्य में पूर्णत: विश्वास है । भगवान् के अतिरिक्त वे किसी अन्य के पास नहीं जाना चाहते ।

१- डा० मुंशीराम शर्मा, `भक्ति का विकास` पृ० ४७२

२- कबीर ग्रन्थावली , पृ० १२४

कान्ता-भाव -भक्ति,भावभक्ति की दूसरी अवस्था है । इसमें भक्त अथवा साधक के हृदय में अहंकार एवं कर्तापन का अभाव रहता है । आध्यात्मिक भाव के द्वारा भक्त स्वयं स्त्री होने की तथा भगवान को अपना पुरुष मान कर दाम्पत्य सम्बन्ध की कल्पना करता है। दाम्पत्य-जीवन में स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध प्रेमानुभव का सर्वोच्च एवं उत्कृष्ट सम्बन्ध माना जाता है । भक्त इस सम्बन्ध की आध्यात्मिक कल्पना करता है और प्रेम में विह्वल होकर आनन्दित होता है । कान्ता भाव की अवस्था में कबीर एक स्थल कहते हैं कि -

'हरि मेरा पीव माई ,हरि मेरा पीव ।
हरि बिन रहि न सकै मेरा जीव ।।'[१]

इस भाव के अनेक पद कबीर ने स्थान-स्थान पर कहे हैं ।

पतिव्रता-भाव में जैसा कि शब्द से ही अर्थ स्पष्ट-सा हो जाता है पतिव्रता स्त्री सहधर्मिणी एवं अर्धांगिनी होती है । वह मन,वचन,कर्म तथा अपने शरीर से सदा सर्वदा पति में ही अनुरक्त रहती है । उसके लिए पति ही सर्वस्व है ।इस भाव की परिपुष्टताके लिए भक्त को अपने शरीर एवं अहमन्यता का पूर्णत:ध्यान छोड़ना पड़ता है । कबीर का पतिव्रत-भाव हरि के अतिरिक्त अन्य किसी और जाता ही नहीं । वे अपना सर्वस्व हरि के चरणों में समर्पित करते हैं । भगवान के साथ इतना प्रेम करते हैं कि उन्हें आंखों के अन्दर बन्द करने की इच्छा रखने लगते है ।कबीर पतिव्रता-भाव से प्रेरित हो एक स्थल पर कहते हैं कि -

'नैनां अंतरि आव तूं ,ज्यूं हौ नैन झपेऊं ।
नां हौं देखौं और कूं, नां तुझ देखन देउं ।।'[२]

नवोढ़ा भाव में साधक स्वयं नवोढ़ा बाला बन अपने को अपने भावी पति को बिन देखे ही केवल भावी सम्बन्ध के निश्चय होने पर ही उसके प्रति अपने को समर्पित कर कर देती है तथा उसे वह अपना हृदयेश्वर स्वीकार कर लेती है । भावी पति की

१- कबीर ग्रन्थावली , पृ० १२५
२- वही पृ० १६

साक्षात् सेवा में प्रवृत्त होने के हेतु उसके पाने के लिए अनन्य अनुराग तथा उसका साक्षात्कार होने पर आत्मसमर्पण करने का दृढ़ निश्चय अथवा संकल्प कर लेती है उसके जीवन का ध्येय यही हो जाता है । कबीर नवोढ़ा बाला बन कर कहते हैं-

` नैनां अंतरि आंवरू ,निस दिन निरखौं तोहि।
कब हरि दरसन देहुगे, सो दिन आवै मोहि ।।`[१]

क्या कभी वह दिन आयेगा भी कि जिस दिन प्रियतम के दर्शन होंगे । उल्लासपूर्ण मिलन होगा और समस्त कामना पूर्ण होगी । कबीर इस भाव को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि -

` वै दिन कब आवैंगे माइ ।
जा कारनि हम देह धरी है, मिलबौ अंग लगाइ ।।
हौं जानूं वै हिल मिल खेलूं , तन मन प्रान समाइ ।
या कांमना करौ परिपूरन , समरथ हौ रांम राइ ।
मोहि उदासी माधव चाहै, चितवत रैन बिहाइ ।।
सेज हमारी स्यंघ भई है, जब सोऊं तब खाइ।
यहु अरदास दास की सुनिये, तन की तपति बुझाइ।।
कहै कबीर मिलै जो सांईं, मिलि करि मंगल गाइ ।।`[२]

इस प्रकार नवोढ़ा भाव में आकुलता,उत्कंठा,व्यग्रता प्रधान रूप से होती है ।भगवान् पति को पाने से ही जीवन की सफलता है वरना नहीं । साधक रात दिन,सोते-जागते ,उठते-बैठते ,खाते-पीते , सदैव उसी पति की राह देखा करता है । जब तक उस प्राण प्रियतम का दर्शन नहीं होता तब तक इस जीवन का कुछ भी आनन्द नहीं है और न मोक्ष ही मिल सकती है ।

१- कबीर ग्रन्थावली , पृ० १०
२- वही , पृ० १९१-९२

चातक -भाव की सिद्ध के लिए भक्त के चिन्तन,मनन ,श्रवण का केवल भगवान ही एकमात्र लक्ष्य होता है । साधक इस भाव की सिद्धि के लिए चातक के सदृश्य बन जाता है जिस प्रकार चातक स्वाती की बूंद को पाने के लिए लालायित एवं अनुरक्त रहता है उसी प्रकारसाधक भगवान् के प्रति अनुरक्त हो जाता है । कबीर इस भाव में स्वयं चातक बन कर कहते हैं कि -

'कबीर सुमिरण सार है, और सकल जंजाल ।
आदि अंत सब सोधिया, दूजा देखौं काल ।।'[1]

अनन्य भाव में साधक समस्त विश्व में अपने आराध्य के प्रति प्रगाढ़ प्रेम का व्यवहार करना एवं उसी को समर्थवान् समझ उसके प्रति निष्काम भाव से शीश झुकाना और उसमें अनुरक्त रहता है । दूसरे शब्दों में अपना सर्वस्व प्रभु को समर्पित करके उसी के भरोसे पर जीवित रहना अनन्य भाव है । अनन्य-भाव का अनुभव कर कबीर कहते हैं कि -

'मैं निहारौं तुझ कौं, स्रवनन सुनहु तुव नांउ ।
बैन उचारहु तुव नाम जी, चरन कमल रिद ठांउ ।।'[2]

मधुरा-भाव की साधना में भक्त की भावदशा हरि भक्ति में लीन हो जाती है । हरि-भक्ति के समक्ष विश्व की समस्त वस्तुएं साधक को नीरस लगने लगती हैं । साधक उसी हरि-भक्ति के रस में हिलोरें लेने लगता है और सदैव यही कामना करता है कि हरि उससे अलग न होने पावें । कबीर में यह भाव अपनी चरमावस्था पर है । वे कहते हैं कि -

'अब तोहि जांन न देहूं राम पियारे ,
ज्यूं भावै त्यूं होउ हमारे ।।'[3]

१- कबीर ग्रन्थावली , पृ० ५
२- वही पृ० ५
३- वही पृ० ८७

मधुराभाव के पश्चात् विशुद्ध प्रति-भाव आता है । इस भाव के सिद्ध हो जाने पर साधक के मन में निष्काम -भाव का आगमन हो जाता है । साधक को समस्त सृष्टि भगवानमय दिखाई देने लगता है । यहां उसे अपने शुद्ध बुद्ध स्वरूप का ज्ञान होता है । कबीर निज स्वरूप को पहिचान कर अन्य भक्तों को ज्ञान अथवा उपदेश देते हैं कि -

'अपनै मैं रंगि अपनपौं जानूं,
जिहि रंग जांनि ताहि कूं मानूं ।।[१]

तत्पश्चात् तन्मयता भाव का आगमन होता है। भाव-भक्ति यह नवीं एवं अंतिम सीढ़ी है । जब साधक को तन्मयता-भाव की सिद्धि मिल जाती है तब उसके भाव से द्वैत का भाव नष्ट होने लगता है । भक्त अपने उपास्य में अपने भावों को लीन कर देता है । वह अपने तथा भगवान को एकाकार रूप में देखने लगता है । कबीर को इस सिद्धि की प्राप्ति कर लेने के पश्चात् अपने में और हरि में कोई अन्तर नहीं दिखाई देता । वे कहते हैं कि-

' अब हम तुम एक भये हरि,
एकै देखति मन पतियाही ।'[२]

कबीर ने भाव-भक्ति की प्रधानता मुख्य रूप से दी है । इन्होंने अपनी इस भाव-भक्ति को नारदीय भक्ति की भी संज्ञा दी है । क्योंकि नारद-भक्ति में भाव-दशा को आसक्ति कहा गया है । आसक्ति भी हमारे भावों में ही होती है । उसमें भी ग्यारह आसक्तियों का वर्णन किया गया है जिसका विवेचन यहां करना प्रसंग के अनुकूल नहीं है । केवल इतना अवश्य है कि ग्यारह आसक्तियों का जिसका विवेचन नारदभक्ति में पाया जाता है वे समस्त आसक्तियां कबीर के नवां भाव-भक्ति के अन्तर्गत समाविष्ट दिखाई देती हैं ।अत: कबीर ने इसे कहीं कहीं पर नारदीय -भक्ति की भी संज्ञा दे दी है।

१- कबीर ग्रन्थावली, पृ० ६७
२- वही पृ० ३१६

२- निर्गुण अहेतु की भक्ति :-

भक्ति की इस अवस्था में साधक ईश्वर के प्रति निष्काम भाव से भक्ति करता है। भक्ति की यह दूसरी अवस्था अथवा स्थिति है। कबीर ने सकाम भक्ति के स्थान पर निष्काम भक्ति को श्रेष्ठ कहा है क्योंकि भगवान निष्काम स्वरूप हैं। अत: उन्हें निष्काम भक्ति द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। कबीर की सबसे मुख्य विशेषता यह है कि वह केवल भक्ति को ही जीवन का लक्ष्य मानते हैं। उन्हें तो केवल भगवान की भक्ति ही चाहिए। भक्ति की इस दूसरी अवस्था में कबीर अहेतु की भक्ति को पकड़ते हैं और भक्ति साधना में आगे बढ़ते हैं। इस निर्गुण अहेतु भक्ति के अन्तर्गत साधक विषय विकारों को दूर करने के लिए कुछ साधनों द्वारा भक्ति करता है वे साधन मुख्य रूप से -शरीर,रक्षा, साधुजन -सेवा,सत्संग,दुर्गुण एवं दुर्जनत्याग, सद्गुण अपनाना,परहितसाधन,सरल जीवन,नामस्मरण,आत्मसमर्पण,सर्वान्तरात्मा में भगवद्दर्शन का अभ्यास,निस्पृहता इत्यादि हैं। इन साधनों को पालन करते हुए साधक अहेतु भक्ति करता है।कबीर इस अहेतु भक्ति का वर्णन करते हुए कहते हैं कि-

'निरवैरी निहकांमता, सांईं सेती नेह।
विषिया सूं न्यारा रहै, संतनि का अंग एह[१]।।'

३- प्रेम लक्षणा-भक्ति :-

कबीर की भक्ति-साधना की यह तीसरी अवस्था है। कबीर के मत में भक्ति द्वारा मन, उसकी वृत्तियां एवं भाव-दशाओं की शुद्धि होती है। आत्मदर्शन के हेतु सभी प्राणियों के साथ सद्व्यवहार करना आवश्यक है। इस प्रकार प्रेम के द्वारा भक्ति करना प्रेम-लक्षणा-भक्ति है। नारदसूत्र में प्रेम लक्षणा भक्ति को सर्वश्रेष्ठ भक्ति माना है।कबीर ने भी प्रेम-भक्ति को उच्चतम माना है। इस भक्ति की महत्ता का वर्णन करते हुए कहते हैं कि-

---

१- कबीर ग्रन्थावली , पृ० ५०

'बहु कबीर जन भये खलासे, प्रेम भगति जिह जानी [1]।'

भक्ति-साधना की तीसरी अवस्था में कबीर प्रेम-लक्षणा-भक्ति की साधना में लीन हुए। इस भक्ति की सिद्धि कठिनता के साथ होती है।साधक को अपना सब कुछ न्योछावर करके इस मार्ग पर चलना पड़ता है। कबीर इस भक्ति की कठिनाइयों को बताते हुए कहते हैं कि-

'गगन दमांमां बाजिया, पड्या निसानैं घाव।
खेत बुहान्या सूरिवै, मुझ मरणें का चाव [2]।।'

अर्थात् सामोरी (रणभेरी) बजते ही शूरमा हर्षोल्लास से प्रफुल्लित हो जाता है।युद्ध क्षेत्र में घायल होने पर भी पूर्ण शक्ति से युद्ध करता है। प्राणों को न्योछावर करना उसके लिए एक परम आनन्द का कार्य होता है। इसी प्रकार प्रेम की साधना करना शूरवीर का ही काम है। इसके लिए साधक को सम्पूर्ण रूप से आत्मसमर्पण करना पड़ता है।

इस प्रकार प्रेम-लक्षणा-भक्ति के लिए कबीर का मत है कि इसकी सिद्धि तभी मिल सकती है जब साधक अपने मन को केन्द्रित कर विकार शून्य हो जाता है। सार्वभौमिक प्रेम के द्वारा सभी प्राणियों की सेवा करते रहने से भय दूर हो जाता है और अमृत रूपी आनन्द की प्राप्ति हो जाती है। तब साधक को यह विश्व आनन्द मय दिखाई देने लगता है। दु:ख संसार का नष्ट हो जाता है।

कबीर-भक्ति की मौलिकता:-

कबीर अपनी भक्ति-साधना में अन्य संतों से एक अलग ही महत्व रखते हैं सर्वप्रथम कबीर ने मन को केन्द्रीभूत करने के लिए भक्ति की योजना की। भक्ति-साधना के पूर्व कबीर ज्ञान तथा योग साधना का अनुभव प्राप्त कर चुके थे इसलिए उनकी भक्ति में इन दोनों का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखायी देता है।

१- कबीर ग्रन्थावली, पृ० ३२४
२- वही पृ० ६८

यद्यपि निर्गुण भक्ति का प्रसार विभिन्न रूपों में कबीर के पहले भी हो चुका था किन्तु उस भक्ति को स्थायी एवं व्यवस्थित रूप कबीर ने ही दिया। अन्य लोगों की भांति उपासक एवं उपास्य के भेद भाव को स्वीकार करते हुए अव्यक्त ब्रह्म में व्यक्त गुणों की कल्पना एवं आरोप करना कबीर की ही विशेषता है। निराकार, निर्विकार निर्गुण ब्रह्म का तादात्म्य अव्यक्त भावों द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है।

कबीर की भक्ति की दूसरी मौलिक देन है उसका एकान्तिक न हो कर लऊ लौकिकात्मक होना। कबीर की भक्ति व्यक्ति को सदाचरण तथा सत्शील द्वारा उसके व्यक्तित्व में विकास करके उसे लोक-संग्रहार्थ निष्काम कर्म करने की प्रेरणा देती है। इनकी भक्ति अत्यन्त व्यावहारिक एवं लौकिक है। संसार में रह कर निष्काम भाव से कर्म करते हुए ईश्वर की भक्ति करना इनकी भक्ति की विशेषता रही है। पूजा-पाठ , वेश-भूषा, आडम्बर एवं पाखंड का कोई भी स्थान इनकी भक्ति में नहीं है। इसलिए इन्होंने अपनी भक्ति को निर्गुण भाव-भक्ति कहा है। ऐसी भक्ति किसी भी समय, किसी स्थान में,सदा-सर्वदा बिना किसी विशेष उपकरण के भक्त के भावों द्वारा की जा सकती है। इस भक्ति में कोई व्यक्तिगत बन्धन नहीं ,प्रतिबन्ध नहीं कोई भी व्यक्ति किसी भी प्रकार से भक्ति कर सकता है।

इन्होंने अपनी भक्ति के लिए गुरु का होना अनिवार्य बताया है। इनके मतानुसार बिना गुरु के भक्ति का होना अत्यन्त कठिन है। कबीर कहते हैं कि-

'गुरु सेवा ते भगति कमाई, तब इह मानस देही पाई।
इहि देही कउ सिमरही देव, सो देही भजु हरि की सेव।
भजहु गोविन्द भूल मत जाउ, मानस जनम का एही लाहु ।।[१]

इस प्रकार कबीर ने अपने गुरु से भक्ति की दीक्षा ली। उन्होंने भक्ति को अपने जीवन का लक्ष्य अथवा उद्देश्य बनाया। इस प्रकार मनुष्य जीवन का ध्येय भगवत्भक्ति ही है।

१- डा० रामकुमार वर्मा,'संत कबीर' रागु भैरव ६ , पृ० २१४

कबीर की भक्ति ज्ञानात्मक,योगात्मक,भावात्मक एवं प्रेममूलक होते हुए भी सरल एवं सहज है किन्तु सरल एवं सहज के साथ साथ अत्यन्त कठिन भी है अपना सर्वस्व देकर ही अथवा आत्मसमर्पण करके ही साधना की जा सकती है। कबीर की भक्ति में अनेकता होते हुए भी एकता की सिद्धि है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि इन्होंने अपनी भक्ति में द्वैत भाव को नष्ट करके अद्वैत भाव की स्थापना की है। यह इनकी भक्ति की मौलिकता है।

कबीर एवं कर्म योग :-

'कर्म' शब्द संस्कृत के 'कृ' धातु का द्योतक है।'कृ'का अर्थ होता है करना',व्यापार,धंधा,हलचल इत्यादि। विश्व में जो नानाप्रकार के हलचल एवं धन्धे हो रहे हैं वह सब कर्म के अन्तरगत आते हैं।विश्व के समस्त प्राणी किसी न किसी कर्म में सदैव व्यस्त रहते हैं यह सृष्टि का नियम है। उपनिषदों, वेदों गीता आदि समस्त धार्मिक ग्रन्थों में कर्म और कर्मवाद का विस्तृत वर्णन किया गया है। जिसका वर्णन यहां करना अप्रासंगिक होगा। इतना अवश्य है कि वेदों में देवों की उपासना, पूजा-पाठ ,यज्ञ आदि को शुभ कर्म कहा गया है और इन्हें कर्मकांड की संज्ञा दी गयी है। तत्पश्चात् उपनिषद् काल में भी उपासना ,यज्ञ आदि के अतिरिक्त ज्ञान योग तथा तपस्वी जीवन बिताने का महत्व दिया गया है।

गीता में ज्ञानमार्ग एवं कर्ममार्ग का वर्णन आता है। इनको निवृत्ति और प्रवृत्तिमार्ग भी कहा गया है। कृष्ण ने इन दोनों मार्गों के समन्वय पर बल दिया है और इस प्रकार वे' ज्ञान-कर्म योग समुच्चय' कर्म पर विशेष महत्व देते हुए दिखाई पड़ते हैं। गीता में का मत है कि कर्म के बिना एक पल भी नहीं रह सकते। कर्म करना सबके लिए अनिवार्य है। कर्म के परिणाम पर ही क्रमशः सुख-दुःख निर्भर होता है। अच्छे एवं शुभ कर्मों का परिणाम सुख, बुरे तथा अशुभ कर्मों का परिणाम दुःख है।

जैन एवं बौद्ध दर्शन में जैसा कि पिछले अध्याय में बताया जा चुका है संयम तथा सदाचार को कर्म की संज्ञा दी गयी है।

न्यायदर्शन में विरक्त साधकों के तत्वज्ञान को कर्म कहा गया है ।

योगदर्शन में योगाभ्यास द्वारा चित्त शुद्धि को कर्म कहा गया है ।

सांख्य दर्शन में विवेक बुद्धि द्वारा किया गया कर्म बन्धनरहित बताया है। अद्वैत वेदान्त ज्ञान एवं वैराग्य द्वारा किये गये कर्म को बन्धनरहित कहा गया है ।

पौराणिक युग में तंत्रोपचार का अधिक जोर था । भांति-भांति के देवी-देवताओं की पूजा का प्रचलन हो गया था । मांस, मदिरापान का भी प्रचलन हुआ । उपासना की आड़ में नाना प्रकार के अत्याचार भी होने लगे थे। पौराणिक युग में ही कुछ समय पश्चात् सहजयानी मत ने आचार-विचार और संयमी जीवन को सद्कर्म कहा ।

नाथ-योग-दर्शन के अन्तर्गत हठयोग -साधना द्वारा चित्त शुद्धि पर सबसे अधिक बल दिया गया । इन्होंने पाखण्ड तथा आडम्बरपूर्ण साधना की बहुत कड़ी आलोचना की ।

कबीर का कर्म उक्त कर्मों से भिन्न ही प्रकार का है । इन्होंने यज्ञादि, मूर्तिपूजा,बाह्याडंबर को कर्म न कह कर 'भ्रम' कहा है । वे कहते हैं कि -

'भरम करम दोऊ बरतैं लोई,इनका चरित न जानै कोई[१] ।'

अन्य भारतीय शास्त्रों एवं दर्शनों की भांति कबीर ने भी कर्मवाद और जन्मान्तर व्यवस्था को स्वीकार किया है । वे स्पष्ट कहते हैं कि-

'लख चौरासी जीव जंत में, भ्रमत नन्द थाक्यो रे ।[२]

जीव को लाखों योनियों में जन्म लेना पड़ता है । इनके मत में भी आवागमन अकाट्य नियम है । वे कहते हैं कि' जो पहन्या सो फाटिसी, नांव धन्या सो जाइ[३] ।' अर्थात् जो वस्त्र पहिना जाता है वह अवश्य ही फटता है ।उसी

१- कबीर ग्रन्थावली , पृ० २३६

२- वही पृ० १०४

३- वही पृ० ७३

प्रकार इस संसार के रूप, नाम आते हैं और नष्ट होते हैं। यह जगत् का कर्म चक्र है। यहाँ पर कबीर का मत गीता से मिलता जुलता है।

कबीर ने मृत्यु से घबड़ाने वाले व्यक्तियों को ही मरने वाला व्यक्ति कहा है। वे कहते हैं कि-

` जिहि मरनैं सब जगत तरास्या सो मरना गुरु सबद प्रगास्या।
अब कैसे मरौं मरन मन मान्या, मर मर जाते जिन राम न जान्या।
मरनौं मरना कहै सब कोई, सहजै मरै अमर होइ सोइ[1]।।`

जो परहित-साधन में मृत्यु-भय का निराकरण करते हैं वे मृत्यु को पाकर भी अमर हो जाते हैं। उनका यश,उनकी कीर्ति विश्व में फैलकर स्फूर्ति तथा प्रेरणा देती रहती है और वे देहविहीन व्यक्तित्व के रूप में संसार में विद्यमान रहते हैं। आत्मा तो अजर अमर है। वह अजन्मा है। शुद्ध बुद्ध स्वभाव वाला आत्मा परिवर्तनशील नहीं है। इस परिवर्तनशील देह के लिए शोक करना अज्ञान है, भ्रम है।

अन्य दर्शनों की भाँति कबीर ने पौराणिक लोकों की कल्पना को स्वीकार नहीं किया है यद्यपि इनके उपदेशों में भी लोकों का वर्णन मिलता है, किन्तु इनका ~~कल्पित~~ `लोक` अन्य दर्शनों के `लोक` से अपना भिन्न एवं विशिष्ट अर्थ रखता है। इनके मतानुसार सकल विश्व स्थूल एवं सूक्ष्म तत्त्व,समुद्र तारागण एवं इस शरीर का नियन्ता, सब कुछ मानव शरीर में ही है। कबीर के निम्न पद में उक्त भाव स्पष्ट रूप से दिखायी पड़ता है। वे कहते हैं -

` इस घट अंतर बाग-बगीचे, इसी में सिरजनहारा।
इस घट अंतर सात समुन्दर, इसी में नौलख तारा।।
इस घट अंतर पारस मोती, इसी में परखन हारा।
इस घट अंतर अनहद गरजै, इसी में उठत फुहारा।।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, इसी में साँई हमारा।[2]

१- कबीर ग्रन्थावली, पृ०२६०
२- हजारीप्रसाद द्विवेदी,`कबीर` पृ० २३७

इस प्रकार लोक की बात स्वीकार करने वाला कबीर लोकों की कल्पना में नहीं उलझा सकता । अत: स्वर्गलोक या शिवलोक की कल्पना करना व्यर्थ है ।

कबीर कर्म के अन्तर्गत नैतिक संयम पर अधिक बल देते हैं । इनके अनुसार व्यक्ति को ध्वंसात्मक अनैतिक कार्य जैसे काम,क्रोध,लोभ,मोह,मत्सर,अहंकार, कपट ,तृष्णा ,मान, अभिमान,निन्दा,आलस्य,कनक कामिनी,असत्य,भाषण, कुवचन,मादक वस्तुओं का सेवन अभक्ष्य-भक्षण,हिंसा,घृणा,द्वेष आदि दोषों से सदैव दूर रहना चाहिए।`काम क्रोध तृष्णा अरे तजै,ताहि मिलै भगवान`[१] काम,क्रोध,और तृष्णा के परित्याग किये बिना भगवान् नहीं मिल सकते हैं। इस प्रकार गृहस्थजीवन का पालन करता हुआ जो साधक नैतिक संयम से चलता है वही ईश्वर को पा सकता है ।

कबीर के पूर्व विभिन्न मतावलंबियों एवं दर्शनों ने कर्म के अन्तर`निष्काम कर्म` का विवेचन किया है । इसके सम्बन्ध में प्रत्येक व्यक्ति, शास्त्रों,दर्शनों का अपना पृथक् पृथक् विचार एवं मत है तथा निष्काम कर्म की विभिन्न संज्ञाएं भी पाई जाती हैं । कबीर ने इस`निष्काम कर्म` के सम्बन्ध में अलग से कोई अपना विशेष मत नहीं दिया और न तो उन्होंने विशेष रूप से इसका वर्णन ही किया है । वे शुभ एवं अशुभ कर्मों के सम्बन्ध में अवश्य कहते हैं । शुभ-अशुभ कर्मों का वर्णन करते हुए कहा है कि-

`पहिली बुरी कमाइ करि, बांधी विष की पोट ।
कोटि करम फिल पलक में, आया हरि की ओट ।।[२]

तथा-

`काची करनी जिनि करै , दिन-दिन बधै बियाधि ।`[३]

इस प्रकार वे अशुभ कर्मों को`बुरी कमाई` तथा`कच्ची करनी` की संज्ञा देते हैं। कबीर के मतानुसार शुभ कर्मों में`भक्ति` कर्म सर्वश्रेष्ठ एवं महत्वपूर्ण है ।

१- कबीर ग्रन्थावली, पृ० ४४
२- वही पृ० ६
३- वही पृ० २५

कर्मयोग के क्षेत्र में कबीर की सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि वेविभिन्न योगियों दर्शनों की भांति कर्म के श्रेणी विभाजन अथवा भेद में विश्वास नहीं करते । कबीर गृहस्थ साधक थे, उन्होंने कभी भी गृहत्यागने की बात एवं उपदेश नहीं दिया । इनके अनुसार गृहस्थधर्म का पूर्णरूपेण पालन करते हुए, जगत में रहते हुए, जगत् के सभी नाम रूपात्मक विषयों में आसक्ति न रख कर निरन्तर लोक कल्याणार्थ कर्म करना जो ही जीवन का उद्देश्य है । यह कबीर के कर्मयोग की सबसे बड़ी विशेषता है कि अपना विशेष महत्व रखती है । कबीर के पूर्व अभी तक इस प्रकार के विचारों का प्रतिपादन नहीं हुआ था । इस प्रकार के कर्मयोग के संस्थापक सर्वप्रथम कबीर ही हैं ।

`ऊघट चले सु नगरी पहुंचे , बाट चले ते लूटे ।
एक जेवड़ी सब लपटाने, के बांधे के छूटे[1] ।।

सांसारिक विषयों में आसक्त होकर संसार के मार्ग से चलना है, मोह, माया , ममता में फंस कर विनष्ट होना है और जगत्-गति के विपरीत चलना अर्थात् निरासक्त,निस्पृह होकर निष्काम करना, कबीर का चरमलक्ष्य की पूर्ति करना है । कबीर के मत में संत के लक्षण ये हैं -

`निरबैरी निहकांमता, सांई सेती नेह ।
विषिया सूं न्यारा रहै, संतनि का अंग एह[2] ।।`

संत वासना,कामना और आसक्ति-रहित होता है । सभी प्राणियों को वह सम दृष्टि से देखता है तथा सबके साथ सहानुभूति पूर्ण व्यवहार करता है । वह निर्विकार होता है तथा प्रभु के प्रति अनन्य निष्ठा रखता है और विश्व के नाम रूप तथा विषयों में निरासक्त रहता है ।

१- कबीर ग्रन्थावली , पृ० १४७
२- वही पृ० ५०

कबीर के मत में संत समदर्शी, शान्त-चित्त एवं निश्छल होता है । वे कहते हैं कि-

'राम जपै मजै सो जांनियै, जांके आतुर नांही ।
सत संतोष लीयें रहै, धीरज मन मांही ।।
जन कौं कांम क्रोध व्यापै नहीं, त्रिष्णा न जरावै ।
प्रफुलित आनंद मैं, गोव्यंद गुंण गावै ।।
जन कौं पर निंदा मावै नहीं, अस असति न मावै ।
काल कलपनां मेटि करि, चरनूं चित राखै ।।
जन सम द्रिष्टी सीतल सदा, दुविधा नहीं आनै ।
कहै कबीर ता दास सूं, मेरा मन मांनै ।।'[१]

संत का हृदय सत्य, संतोष एवं धैर्य से परिपूर्ण होता है । काम, क्रोध, तृष्णा मोह आदि विकार आदि ऐसे आदमियों से कोसों दूर भागते हैं। वह सदैव प्रसन्नचित्त हो हरिभजन में लीन रहता है ।

ऐसे सन्त निष्काम कर्मयोगी होते हैं । उन्हें न उत्साह ही होता है और न कोई निराशा ही । कबीर की दृष्टि में ऐसा संत भगवद् समान होता है ।

कबीर के मत में निष्काम कर्म वह कर्म है जिसमें व्यक्ति अथवा साधक जगत् के व्यवहारों में कर्म करता हुआ, जगत् के विकारों से लोहा लेता हुआ भगवद्भक्ति में मन रमाये रहता है । कबीर कहते हैं कि -

'कबीर जो धंधै तौ धूलि, बिन धंधै धूलै नहीं ।
ते नर बिनठे मूलि, जिनि धंधै मैंध्याया नहीं।।'[२]

१- कबीर ग्रन्थावली , पृ० २०६

२- वही पृ० २३

कबीर कहते है कि कर्म किये बिना व्यक्ति क्षण भर भी नहीं रह सकता है, जब कर्म किया जाता है तो उसकी भलाई का फल भी उसे मिल जाता है, फिर भी कर्म करने वाला व्यक्ति बिना कर्म किये वाले व्यक्ति से अच्छा है। कर्म करते हुए भी जो हरि भक्ति में लीन रहता है उसी व्यक्ति का जीवन सफल है।

कबीर निष्काम भाव से परहित -साधन के कार्यों में लगने वाले कर्मयोगी को श्रेष्ठ मानते हैं। निष्काम कर्मयोगी जीवन के किसी भी क्षेत्र में विषमता को देख कर चुपचाप नहीं बैठ सकता। लोककल्याण की तीव्र भावना उसे विषमता को दूर करने के हेतु निष्काम कर्म करने की प्रेरणा देती है। ऐसे निष्काम कर्मयोगी की दृष्टि जन जीवन के सम्प्रदाय,मत-मतान्तर,अन्धविश्वास एवं बाह्योपचार की ओर नहीं जाती। वे किसी भी व्यक्ति ,धर्म में भेद-भाव नहीं रखता। हिन्दू पूर्व की ओर मुख करके पूजा करता है, मुसलमान पश्चिम की ओर मुख कर नमाज पढ़ता है,एक मन्दिर में जाप करता है तो दूसरा मसजिद में, किन्तु दोनों का लक्ष्य पुण्य लाभ प्राप्त करना है। इस प्रकार कबीर ने अनेकत्व में एकत्व की भावना को जनता के समक्ष रखा। मुल्ला,काजी,योगी-यती,पंडित आदि के भांति भांति के उपदेशों के द्वारा केवल विषमता का प्रसार होता है। अत: द्वैतभाव को नष्ट करना चाहिए और अद्वैत भाव का प्रचार करना आवश्यक है। वर्ण-विभेद ,ऊंच-नीच का भेद-भाव जाति-प्रथा का विरोध करते हुए समस्त व्यक्तियों को परस्पर सद्भाव से रहने का उपदेश देते हुए कबीर कहते हैं कि-

> 'ॐ कार आदि है मूला,राजा परजा एकहि सूला।
> हम तुम्ह मांहि एकै लोहू,एकै प्रांन-जीवन है मोहू ।।
> एकही बास रहै दस मासा, सूत पातग एकै आसा।
> एक ही जननीं जन्यां संसारा,कौन ग्यांन थैं भये निनारा।।[1]

१- कबीर ग्रन्थावली , पृ० २४४

अर्थात् चाहे हम धनीमानी राजा हैं, सबके शरीरों में एकसा रक्त प्रवाहित है। सबके भीतर एकसा प्राण तथा एकसा जीवन परिव्याप्त है। सवर्ण हो चाहे अवर्ण, सभी को माँ के गर्भ में दस मास रहना ही पड़ता है। एक ही प्रकृति-रूपी माँ ने सबको उत्पन्न किया है, फिर पृथक्-पृथक् समझना व्यर्थ है, यह अबुद्धि और अज्ञान का कार्य है।

इस प्रकार कबीर आत्मविश्वासी, चरम-लक्ष्यपूर्ण, निरासक्त जीवन को मुक्त एवं स्वाधीन जीवन मानते हैं। द्वैत को नष्ट कर, भय से मुक्ति पा लेना ही कबीर के मत में मुक्त दशा है।

कबीर एवं योग-साधना :-

भारतीय दर्शन शास्त्रों में योग के कई मार्गों का वर्णन मिलता है। उन समस्त मार्गों में से अष्टांगयोग, हठयोग, लययोग, मंत्र योग, राजयोग मुख्य योग बताये गए हैं। मोक्ष प्राप्ति करने की अचूक औषधि के सदृश्य है। योग के सम्बन्ध में कबीर ने कहा है कि -

> 'ना मैं जोग ध्यानं चित लाया,
> बिन बैराग न छूटसि माया[१]।'

अर्थात् माया से छुटकारा पाने के लिए वैराग्य की सिद्धि आवश्यक है और बिना योगसिद्धि के एवं ध्यान के वैराग्य-भाव का उत्पन्न होना कठिन ही है। अतएव कबीर के मत में योग-साधना एक आवश्यकीय कर्तव्य है।

कबीर की योग साधना की कई अवस्थाएं हैं जिनका संक्षिप्त वर्णन यहां दिया जा रहा है। कबीर की योग साधना में प्रारम्भ की अवस्था तथा अन्तिम अवस्था में महान् अन्तर है। प्रारम्भ की अवस्था में योग-विषयक जानकारी,

---

१- कबीर ग्रन्थावली, पृ० २०१

अभ्यास है, तथा अनुभवों की अपरिपक्व विवेचना, दूसरी अवस्था में क्लिष्ट साधना का वर्णन और अनुभूति, तीसरी अवस्था में क्लिष्ट योग साधना का खंडन एवं सहज व योग-युक्ति का मंडन है ।

पूर्व यह कहा जा चुका है कि कबीर की सम्पूर्ण धर्मसाधना का लक्ष्य सदैव ही अनेकता में एकता तथा जटिलता में सरलता स्थापित करना रहा है । कबीर अपने जीवन पर्यन्त इस लक्ष्य को कहीं भी नहीं भूले । योग-साधना में भी कबीर ने जटिल यौगिक क्रियाओं एवं साधनों की अपेक्षा सरल यौगिक क्रियाओं और साधनाओं पर बल देते हैं तथा उसी ओर उन्मुख होते हैं ।

कबीर की योगसाधना पर रामानन्द तथा नाथ सम्प्रदाय का विशेष प्रभाव दिखाई पड़ता है । सच तो यह है कि योग का अनुभव प्राप्त करने के लिए कबीर इन दोनों व्यक्तियों के पास गये ।

प्रारम्भ में कबीर हठयोगी थे इस समय अथवा इस अवस्था में कबीर ने काया-साधन तथा प्राणायाम का विवेचन किया है । प्राथमिक अवस्था का वर्णन करते हुए कबीर कहते हैं कि-

'नव दरवाजे दसूं दुवार, बूझि रे ग्यानी ग्यांन विचार ।

'चौसठि दीवा जोइ करि, चौदह चन्दा माहि ।

तिहि घटि किसकौ चानिणौं, जिहि घटि गोविंद नाहीं ।'

' द्वादस गम के अन्तरा, तहां अमृत कौ ग्रास ।'

' सात सुरति के बाहिरा, सोलह संख के पार ।

तहं समरथ को बैठका, मुनि जन करै विचार ।।'[१]

यहां कबीर ने १० द्वार, १४ चन्दा, ६४ दीपक, १२ कोप ,७ सुरति, १६ संख तथा अनेक नाड़ियों का वर्णन किया है । इस प्रकार इस अवस्था में कबीर ने काया-शोधन पर विशेष महत्व दिया है ।

१- कबीर ग्रन्थावली, पृ० १०२,२,६४,६८०

हठयोगी कबीर :-

हठयोग कबीर के मत में योगसाधना की दूसरी अवस्था है । इसमें योगी यौगिक क्रियाओं का पूर्णत: अभ्यास करता है । इस अवस्था में ऐसी यौगिक - क्रियाओं का वर्णन पाया जाता है जिन्हें हठयोग कहा जाता है । कबीर ने नाथपंथियों के हठयोग का पूर्णरूपेण समर्थन किया है तथा इनके हठयोग पर नाथ पंथ का पूर्णरूपेण प्रभाव दिखाई पड़ता है । हठयोग में महाकुंडलिनी नामक एक शक्ति है जो सम्पूर्ण सृष्टि में परिव्याप्त है । व्यष्टि में वह कुंडलिनी कहलाती है । इस कुंडलिनी शक्ति को उत्थापित करना हठयोगी का चरम लक्ष्य है । हठयोग में कुंडलिनी साधना सब प्रकार की यौगिक - प्रक्रियाओं का आधार है । योगशास्त्र का अपना ब्रह्मांड सिद्धान्त तथा देह-विज्ञान है । हठयोग के विषय में कबीर एक स्थल पर कहते हैं कि-

` जो पिंडे ब्रह्मांडे जांन, मानसरोवर करि असनांन ।`[१]

अर्थात् जो हमारे शरीर में है वही ब्रह्मांड में भी है इसी से योगी को अपने मन में ही परिव्याप्त चरम तत्व को खोजना चाहिए। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का कथन है` कुंडलिनी और प्राणशक्ति को लेकर जीव मातृकुक्षि में प्रवेश करता है।`[२] कबीर ने भी इस कुंडलिनी को प्राण-शक्ति और जीवन-शक्ति बताया है वे कहते हैं कि-

`फूलै भंवर पियारियां तहं फूलैं जीय मोर ।`[३]

कबीर ने इसे`जीयमोर` की संज्ञा दी है अर्थात् मेरी प्राणशक्ति` है ।

इस कुंडलिनी शक्ति को जाग्रत करने के लिए हठयोग में विभिन्न प्रकार की साधनाओं का वर्णन किया गया है जो कि इस प्रसंग में बताना प्रसंग के विपरीत जाना होगा ।

१- कबीर ग्रन्थावली , पृ० १६६

२- आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी-`कबीर` पृ० ४४

३- कबीर ग्रन्थावली , पृ० ६४

हठयोग में काया-शोधन के लिए षट्कर्म का विवेचन किया गया है। हठयोग अस्वच्छ शरीर में नहीं हो सकता। अत: सर्व प्रथम हठयोगी को अपनी काया को शुद्ध करना आवश्यक है। ये षट्कर्म छ: प्रकार के होते हैं ---
`धौति,वस्ति,नैति,त्राटक,नौलि और कपालभाति।`
उक्त छ: कर्मों द्वारा योगी अपने काया के विभिन्न अंगों की शुद्धि करण पूर्ण रूप से करता है किन्तु कबीर में षट्कर्म का नियम नहीं पाया जाता है। कबीर के मतानुसार ये षट्कर्म केवल बाह्योपचार मात्र हैं तथा ये कर्म केवल भ्रम हैं। वे कहते हैं कि-

`भरम करम दोऊ मति परहरिया,
झूंठे नांऊ सांच लै धरिया।`[1]

अर्थात् उक्त कर्म एवं भ्रम दोनों ने बुद्धि को भ्रष्ट कर दिया है और इसी से असत्य कर्म को सत्य समझ कर उसका व्यवहार करते हैं।

षट्कर्मों के अतिरिक्त हठयोग में `आसन` का भी स्थान आता है। हठयोग में अनेकों आसनोंका विवेचन मिलता है किन्तु मुख्य रूप से - शीर्षासन, सर्वांगासन,गोमुखासन,वीरासन, कूर्मासन, कुक्कुटासन,उत्तानासन,धनुरासन, मत्स्येन्द्रासन ,मयूरासन शवासन,सिद्धासन,पद्मासन,सिंहासन,भद्रासन आदि हैं। कबीर इन आसनों के प्रति भी विशेष आस्था नहीं रखते। इनके विचार से ये सब आडंबर हैं। कबीर को केवल सिद्धासन,पर आस्था है। सिद्धासन का वर्णन करते हुए कहते हैं कि-
`आसन पवन किये दिढ़ रहुरे, मन का मैल छांड़ि दे बौरे।`[2]
मन को विकार रहित करने के लिए ध्यान लगाना भी आवश्यक है। ध्यान के लिए सिद्धासन का प्रयोग किया जाता है।

हठयोग में तीसरा स्थान `मुद्रा` है। हठयोगी को मुद्राओं की साधना करनी पड़ती है। मुद्राओं की सिद्धि के बिना कुंडलिनी जाग्रत नहीं की जा सकती।

१- कबीर ग्रन्थावली , पृ० २३७
२- वही पृ० २०७

मुद्राओं की दूसरी संज्ञा 'बन्ध' भी है । कबीर में 'बन्ध' अथवा मुद्राओं के विषय में कोई व्यवस्थित एवं विशेष रूप से वर्णन नहीं मिलता है इतना अवश्य है कि कबीर ने सर्वश्रेष्ठ 'खेचरी' तथा मुद्राओं (मूलबन्ध) को ही अपनाया तथा स्वीकार किया है । एक स्थल पर कबीर कहते हैं कि-

' अवधू गगन मंडल घर कीजै ।
अमृत झरै सदासुख उपजै, बंकनालि रस पीजै ।।
मूल बांधि सर गगन समानां, सुषमन यौं तन लागी ।
काम क्रोध दोउ भया लतीला तहां जोगणी जागी ।।
मनवां जाइ दरीबै बैठा मगन भया रसि लागा ।
कहै कबीर जिव संसा नांही, सबद अनाहद बागा [1] ।।'

' हे अवधू, ब्रह्मरन्ध्र में अपने मन-प्राण को स्थित करो, और वहां सदा सुखकारी अमृत रस झरता है, उस रस का पान करो । वायु-साधन करते हुए मूलबंध लगा कर वायु से सुषुम्ना को भरपूर करो । उन्हें स्वयं इसका अनुभव है । प्राणायाम को मूलबन्ध के साथ सिद्ध किया, मन को केन्द्रित किया । सुषुम्णा को वायु से भरपूर किया, इस साधना के द्वारा काम-क्रोधादि का नाश हो गया, शक्ति जागृत हो गयी, मन केन्द्रीभूत हो गया और अमृत पान में ही लग गया, मुझे चिरसुख की प्राप्ति हो गयी, अज्ञान का निराकरण हो गया और सिद्धि प्राप्त हो गयी, आनन्द की प्राप्ति हो गयी । मूलबन्ध का वर्णन करते हुए कबीर एक स्थल पर कहते हैं कि-

'अवधू मेरा मन मतवाला ।
उन्मनि चढ़या गगन रस पीयै त्रिभुवन भया उजियारा।
गुडकरि ग्यांन ध्यांन करि महुआ भव माटी करि मारा।
सुषमन नारी सहजि समानी, पीवै पीवनहारा [2] ।।'

१- कबीर ग्रन्थावली, पृ० ११०

२- वही पृ० ११०

मूलबन्ध मुद्रा की स्थिति में कबीर कहते हैं कि इस अवस्था की साधना के फलस्वरूप उन्हें अमृत रसकी प्राप्ति हुई । भाव की भट्ठी में ज्ञान के गुड़ और ध्यान के महुए द्वारा रस चुवाया और गुरु की कृपा से उन्हें यह रस मिला जिसका उन्होंने पान किया ।

मुद्राओं अथवा बन्ध के पश्चात् हठयोग में प्राणायाम की दशा आती है। `प्राणायाम` में योगी श्वास-प्रश्वास का एक नियमित ढंग से संचालन करता है जो कि हठयोग में वायु-संचालन कहलाता है । योगी `वायु संचालन` की क्रिया को एक विशिष्ट प्रकार से करता है इस विशिष्ट प्रकार से की क्रिया को `प्राणायाम` की संज्ञा दी गई है । `प्राणायाम` की तीन अवस्थाएं होती हैं -

१- रेचक अवस्था

२- पूरक अवस्था

३- कुम्भक अवस्था

रेचक अवस्था में साधक आसन पर दृढ़तापूर्वक बैठ कर अपने श्वास को बाहर फेंकता है और फेफड़ों को वायु से खाली कर देता है ।

पूरकअवस्था में श्वास को अपने भीतर भरता है ।

कुम्भक अवस्था में श्वास को भीतर ही रोकता है ।

इनतीनों अवस्थाओं द्वारा प्राणायाम की क्रिया पूर्ण होती है ।

कबीर में वायु-संचालन का वर्णन पाया जाता है किन्तु उन्होंने कोई विशेष नाम का जैसे रेचक,पूरक,कुम्भक आदि अवस्थाओं का वर्णन नहीं ~~मिलता~~ किया। एक स्थल पर कबीर कहते हैं कि -

उलटे पवन चक्र षट बेधा, मेर डंड सरपूरा ।
गगन गरजि मन सुंनि समांनां, बाजे अनहद तूरा ।[१]

कबीर कहते हैं कि मैंने पवन का साधन किया और उसकी सहायता से षट्चक्रों को बेध लिया और मेरुदण्ड को वायु से भरपूर करके ब्रह्मरन्ध्र तक पहुंचा दिया जिससे

१- कबीर ग्रन्थावली , पृ० ९०

अनहद नाद सुनायी पड़ा, मन एकाग्र होकर शून्य में लिप्त हो गया और आनन्द की प्राप्ति हो गयी।

इस प्रकार कबीर ने अनेक स्थलों पर प्राणायाम की क्रियाओं का वर्णन किया है। एक स्थल पर श्वास के बाहर भीतर निकालने की क्रिया का वर्णन करते हुए कहते हैं कि-

'उलटि पवन कहां राखिये, कोई मरम विचारै।
साधै तीर पताल कूं, फिरि गगनहि मोरै ।।'[१]

अर्थात् जैसे तीर को लक्ष्य में छोड़ने के लिए पहले उसे पृथ्वी की ओर करके प्रत्यंचा को खींचना होता है और फिर ऊपर को साध करके तीर को छोड़ना पड़ता है, इसी प्रकार पहले पवन को श्वास द्वारा बाहर फेंकना होता है और फिर वायु को खींच कर शरीर में भरना पड़ता है, वायु खींच कर ब्रह्मरन्ध्र की ओर ले जाना होता है, यही पवन को साधने का रहस्य है।

कबीर के मत में प्राणायाम द्वारा इन्द्रिय-निग्रह और मन-धारण होता है। क्योंकि प्राणायाम के अन्तर्गत सभी इन्द्रियों का प्रयोग बताया गया है। मन को केन्द्रित करने के लिए प्राणायाम को आवश्यक बताते हुए कबीर कहते हैं कि-

'जब लग त्रिकुटी संधि न जावै,
ससिहर के घरि सूर न आवै।'[२]

तात्पर्य यह है कि जब तक इड़ा, पिंगला को प्राणायाम साधना के द्वारा संयुक्त नहीं किया जाता, ये दोनों नाड़ियां वैषम्य का परित्याग कर साम्यावस्था में होकर त्रिकुटी में नहीं मिल जातीं तब तक चरम लक्ष्य की प्राप्ति कठिन है। इस प्रकार मन को केन्द्रित करने पर कबीर ने विशेष रूप से जोर दिया है बिना मन के स्थिर होने से अज्ञानता दूर नहीं हो सकती। अतः मन की स्थिरता पर ही सत्य प्रकाश अर्थात् ज्ञान एवं चरम के लक्ष्य की प्राप्ति हो सकती है।

१- कबीर ग्रन्थावली, पृ० १३८

२- वही पृ० १५७

कबीर का कुंडलिनी-उत्थापन :-

पूर्व वर्णन में यह बताया जा चुका है कि हठयोगी का चरमलक्ष्य कुंडलिनी को जाग्रत करना है। मनुष्य की काया में सहस्रों नाड़ियां हैं किन्तु इन नाड़ियों में तीन नाड़ियां मुख्य एवं विशेष महत्वपूर्ण हैं। ये तीन नाड़ियां इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना हैं। इड़ा मेरुदण्ड के बाईं ओर है। यह सुषुम्ना नाड़ी के निकट तथा लिपटी हुई नासिका के दाहिनी ओर जाती है। पिंगला नाड़ी मेरुदण्ड के दाहिनी ओर है, यह सुषुम्ना नाड़ी से सटी और लिपटी हुई नासिका के बाईं ओ जाती है। सुषुम्ना नाड़ी इड़ा और पिंगला इन दोनों नाड़ियों के मध्य में स्थित है। यह नाड़ी नाभि प्रदेश में उत्पन्न होकर मेरुदंड के भीतर में से होती हुई ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश करती है। जब यह नाड़ी कंठ के समीप आती है तो दो विभागों में विभक्त हो जाती है। इसका एक भाग त्रिकुटी (दोनों भौंहों के बीच) में पहुंच कर ब्रह्मरन्ध्र से मिल जाता है और दूसरा भाग सिर की पीछे से होता हुआ ब्रह्मरन्ध्र में जा मिलता है।[1]

कबीर में इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना नाड़ियों का वर्णन स्थान-स्थान पर मिलता है। कबीर इन नाड़ियों की स्थिति का रूपक बांधते हुए विवेचन करते हुए कहते हैं कि `चंद सूर दोइ खंमवा बंकनालि की डोरि,

फूलै पंच पियारियां, तहं फूलै जीय मोर।`[2]

~~कबीर कहते हैं कि~~ चन्द्र सूर्य अर्थात् इड़ा-पिंगला नाड़ियों के सहारे सुषुम्ना नाड़ी की डोरी में होकर पंच वायु (प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान) संचरित होती है तथा उसी सुषुम्ना के नीचे की ओर में प्राण-शक्ति अर्थात् कुंडलिनी शक्ति स्थित है।

१- डा० रामकुमार वर्मा, `कबीर का रहस्यवाद` पृ० ७६

२- कबीर ग्रन्थावली, पृ० ६४

नाड़ियों के सम्मिलन-स्थान को 'संगम' या त्रिवेणी कहा गया है। कबीर ने भी प्राणायाम का वर्णन करते हुए इन शब्दों का प्रयोग किया है। कबीर ने प्राणायाम की साधना के द्वारा इड़ा पिंगला नाड़ियों की सहायता से मूलाधार कमल को बेध कर अन्य षट्चक्रों को बेधते हुए संगम-स्थान पर मन को ले जाने का निर्देश किया है कबीर उक्त भाव का वर्णन करते हुए निम्न दोहे में कहते हैं कि-

'अरघ उरघ की गंगा जमुना, मूल कंवल को घाट।
षट् चक्र की गागरी, त्रिवेणी संगम बाट[1]।।'

'दूसरे चक्र का नाम स्वाधिष्ठान चक्र है। इसे स्वाधिष्ठान कमल भी कहते हैं। इस कमल में छः दल होते हैं। यह लाल रंग का होता है। इस चक्र पर मनन करने वाला योगी बंधनमुक्त एवं भयरहित हो जाता है। उसे मृत्यु पर विजय मिल जाती है[2]।'

उक्त भाव का समर्थन करते हुए कबीर ने भी कहा है कि-

'षट दल कंवल निवारिया, चहुं को फेरि मिलाइ रे।
दुहुं के बीच समाधियां, तहं काल न पासैं आइ रे[3]।।

अर्थात् छः दल वाले कमल पर मननक करने वाला योगी जब इस कमल और तीनों नाड़ियों अर्थात चारों का सम्मिलन कर देता है और सुषुम्ना जो दो नाड़ियों के बीच में है, ध्यान को केन्द्रित कर देता है तब यह दूसरा कमल बिंध जाता है और सब वह मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेता है।

हठयोग में दस कमलों का वर्णन पाया जाता है किन्तु कबीर ने 'अष्ट-दल-कमल' का ही उल्लेख किया है। उनका मत यह है कि दस दल कमल पर मनन

१- कबीर ग्रन्थावली, पृ० ६४
२- 'कल्याण' का शक्ति अंक, पृ० ४५४
३- कबीर ग्रन्थावली, पृ० ८८

करने वाले विरले ही होते हैं । अष्ट-दल-कमल पर मनन करना अत्यन्त कठिन कार्य है । बिना सद्गुरु की सहायता से अष्टदलकमल का मनन असंभव कार्य है। कबीर अष्ट-दल-कमल का वर्णन करते हुए कहते हैं कि -

'अष्ट कंवल दल भीतरां, तंह श्री रंग केलि कराइ रे।
सतगुरु मिलै तो पाइये, नहीं ता जन्म अकारथ जाइ रे ।'[१]

बिना सतगुरु के अष्टदल कमल का बेधन असंभव हैक्योंकि इस कमल पर नित्य, मुक्त,आनन्द स्वरूप श्रीरंग का वास है अर्थात् इस पर मनन करने से चिर आनन्द की प्राप्ति, हर्षोल्लास एवं उत्साह की प्राप्ति होती है । अत: चरम लक्ष्य की साधना के हेतु इसका बेधन आवश्यक है ।

कबीर के अनुसार चौथा चक्र अनाहत चक्र है फिर 'विशुद्ध चक्र' 'आज्ञा चक्र' इत्यादि है इन समस्त आठों चक्रों की स्थिति क्रमश: शरीर के अन्दर भिन्न भिन्न स्थानों पर है । अनाहद चक्र की स्थिति हृदय-स्थल में है । विशुद्ध चक्र की स्थिति कंठ प्रदेश है । आज्ञा-चक्र की स्थिति त्रिकुटी (भौंहों के मध्य) में है ।

इस प्रकार योगी षट्कमल को बेधन करता हुआ साधना में निरन्तर अपने चरम लक्ष्य की ओर बढ़ता रहता है ।

आज्ञा-चक्र के ऊर्ध्व देश में सहस्र दल कमल है । यह कमल तालु-मूल में स्थित है । इसके मध्य में एक चन्द्र है । इसके त्रिकोण भाग में अमृत बहता है । यह अमृत इड़ा नाड़ी द्वारा प्रवाहित होता है । योगी इस प्रवाह को रोक कर अमृत का सूर्य के द्वारा शोषण नहीं होने देता । वह अमृत योगी के शरीर आध्यात्मिक शक्तियों की अभिवृद्धि करने में लग जाती है । योगी उस अमृत से अपना समस्त शरीर जीवन शक्तियों से भर लेता है । उसे किसी प्रकार की व्याधि नहीं सताती ।

१- कबीर-ग्रन्थावली, पृ० ८६।

इस प्रकार योगी-योग-साधना द्वारा कुंडलिनी शक्ति को उद्बुद्ध करता है। कुंडलिनी जाग्रत होकर सुषुम्ना के भीतर से ऊर्ध्वमुखी होकर प्रवाहित होती है और छ: चक्रों में परिव्याप्त होती हुई ब्रह्मरन्ध्र तक पहुंचती है।

इस प्रकार कबीर ने प्रारम्भ में हठयोग की साधना की किन्तु हठयोग साधना से भी उनकी तृप्ति नहीं हो पाई और वे उसे अरुचिकर, आडम्बर बताने लगे वे कहने लगे कि-

'डंडा मुद्रा खिंथा आधारी, भ्रम के भाइ भवै भेषधारी।
आसन पवन दूरि करि बवरे, छाँड़ि कपट नित हरि भज बवरे।।[१]

हठयोग की निन्दा कर उसे अरुचिकर, वाह्याडंबर आदि बता कर कबीर प्राणायाम द्वारा मन-साधना की ओर आकृष्ट हुए। कबीर जटिलता से सरलता की ओर जाना पसन्द करते हैं अत: वे हठयोग के जटिल स्वरूप को छोड़ सरल योग की ओर गये। वे कहते हैं कि -

'आसन पवन किए दृढ़ रहु रे, मन को मैल छांड़ि दे बौरे।[२]'

सरल योग के लिए कबीर ने 'लय योग' की स्थापना की।

लय-योग अथवा 'शब्द-सुरति-योग :-

कबीर का लय योग, कबीर पन्थ में 'शब्द-सुरति-योग' के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें कबीर ने मन को केन्द्रित करने का सरल एवं सहज मार्ग ~~बताया है~~ का वर्णन किया है। शब्द-रूप ब्रह्म की धारणा, प्राचीन दर्शनों, वेद, कठोपनिषद् गीता में पाई जाती है। कबीर शब्द-ब्रह्म में पूर्ण आस्था रखते थे। उन्होंने अनेक स्थलों पर शब्द-ब्रह्म की महत्ता का वर्णन किया है। वे कहते हैं कि -

---

१- कबीर ग्रन्थावली, पृ० २९५

२- वही पृ० २०६

'नाद विंद रंच इक खेला, आपैं गुरू आपैं चेला।
आपै मंत्र आपै मंत्रेला , आपैं पूजा आप पुजेला ।।
कहै कबीर विचारि करि, झूठा लोही चांम ।
जो या देही रहित है ,सो है रमिता रांम ।।[1]

नाद एवं बिन्दुस्वरूपी खेल खेलने वाला स्वयं वही ब्रह्म है । वह स्वयं मैत्री भी है और स्वयं मंत्र का जाप करने वाला भी , वही पूजक है वही पुजारी। राम-नाम से पुकारा जाने वाला शब्द सब में व्याप्त है ,निराकार है ।

कबीर के मत में शब्द नित्य,सर्वत्र,व्याप्त है । जहां शब्द है वहां भगवान् भी है । अर्थात् शब्द भगवान् का स्वरूप है --

'अनहद शब्द उठै झनकार, तहं प्रभु बैठे समरथ सार ।।[2]

कबीर शब्द ब्रह्म की महत्ता का वर्णन करते हुए कहते हैं कि-

'ॐ कार आदि है मूला,राजा परजा एकहि मूला ।।[3]

ॐ कार को कबीर शब्द-ब्रह्म का वाचक कहते हैं । इस ॐ कार अथवा शब्द-ब्रह्म को जगत् का मूल तत्व कहा है । सृष्टि का आदि कारण यही ओंकार है।

डा०बड़थ्वाल शब्द ब्रह्म के सम्बन्ध में कहते हैं कि'एक योग जिसके द्वारा सुरति एवं शब्द का संयोग सिद्ध होता है और उक्त सीमाएं शब्द में लीन हो जाती है,शब्द-योग अथवा सुरति-शब्द-योग कहा जाता है । शब्द सर्वप्रथम भगवत्प्रेम के रूप में तथा भगवन्नाम के रूप में मुंह से निकलता है और अन्त में स्वयं शब्द रूप ब्रह्म हो जाता है । इसे सहजयोग भी कहा जाता है ।'[4]

सहजयोग :-

कबीर के मतानुसार सहजयोग साधना का वह स्वरूप है जिसके लिए साधक को किसी प्रकार का प्रयत्न नहीं करना पड़ता । वे कहते हैं कि-

---

१-कबीर ग्रन्थावली , पृ० २४४
२- वही पृ० १९९
३- वही पृ० २४४
४- डा० बड़थ्वाल -'हिन्दी काव्य में निर्गुणवाद' पृ० २७५

`सहजै रहै समाय, न कहूं आवै न जाय।`[1]

अर्थात् सहज-साधना के लिए कहीं भी भ्रमण अथवा भटकने की आवश्यकता नहीं है। इसके लिए मुद्राओं ,आसनों,षटकर्मों की कोई आवश्यकता नहीं है । कबीर कहते हैं कि साधना सरल होनी चाहिए जो कि नित्य प्रति सहज भाव से किया जा सके । कबीर`सहज` शब्द विवेचन करते हुए कहते हैं कि`सहज` शब्द का शाब्दिक अर्थ `सरल` नहीं है बल्कि `सहज` शब्द अपना एक विशेष स्थान एवं महत्व रखता है । और वह केवल ब्रह्म के लिए प्रयुक्त होता है । अत: सहजावस्था वह अवस्था है जिसमें साधक को ब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है ।

यह सहजावस्था बिना गुरु की कृपा से नहीं प्राप्त हो सकती ।सहजयोगी जगत् के नामरूपात्मक विषयों से अलिप्त बताते हैं । वह कोई भी वाह्याडंबर नहीं करता है । ऐसे योगी ही कबीर की दृष्टि में श्रेष्ठ योगी है । किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि कबीर योगसाधना के क्षेत्र में अपनी इच्छानुकूल उसका स्वरूप निश्चित नहीं कर पा रहे थे । इस सहजयोग को उनकी योग साधना का अन्तिम रूप नहीं कहा जा सकता ।सहजयोग भी उनकी प्रयोगावस्था ही था ।

हठयोग,लययोग,सहजयोग से संतुष्टि न पाकर वे अन्त में मनोयोग की साधना का प्रयोग करने लगे । कबीर ने मनोयोग को ही योग साधना का अन्तिम रूप दिया और उसे समस्त योगों में श्रेष्ठ आडम्बररहित, सरल एवं सहज बताया । इनके अनुसार मन की साधना को मनोयोग या`योग युक्ति` शब्द का प्रयोग किया जाता है । उपनिषद् गीता आदि में भी इन मन की साधना पर विशेष बल दिया गया है । ~~अत~~ मनोयोग द्वारा मन केन्द्रीभूत हो जाता है और वह विकार-रहित होकर स्थिर हो जाता है । कबीर ने भी मन को शुद्धि एवं विकार रहित होने पर विशेष बल दिया है । इन्होंने स्वयं योग-युक्ति की जानकारी की क्योंकि इनके विचार से बिना योग-युक्ति के सद्गुरु की सीख पूर्ण नहीं की जा सकतीऔर मन को विषयरहित नहीं कि T जा सकता । वे कहते हैं कि-

---

१- कबीर ग्रन्थावली पृ०-१२३

' ऐसी लौइगा मिलबा हरि सनां, रे तू विषै विकारन तजि मनां ।
रे तै जोग जुगति जान्यां नहीं, तै गुर का सबद मान्यां नहीं ।।'[1]

इस प्रकार मन का केन्द्रीभूत हो जाना परमगति होता है । इस स्थिति में जीवात्मा अपने निज स्वरूप में अवस्थित हो जाता है । परमगति अथवा योग-युक्त यह अवस्था एकाकिक ही है । योग-युक्त योगी के महत्ता का वर्णन करते हुए कबीर और आगे कहते हैं कि इस प्रकार के योगी को किसी भी आडम्बर की आवश्यकता नही होती । उसकी साधना केवल मात्र मन पर ही आधारित एवं केन्द्रित रहती है । वह दिन-रात, प्रतिपल सजग रहता है । उसका आसन, उसकी समाधि सब मन ही रहता है । वह समस्त इन्द्रियों को अपने वश में कर लेता है । वासना को ऐसे योगी अपनी साधना द्वारा भस्म कर देते हैं । उसका उपदेश सुनासुनना अथवा उपदेश देना, या जाप करना सब कुछ उसका मनोयोग ही होता है । सहस्त्रों जाप करने से जो फल नहीं मिल सकता उसे वह मनोयोग या योग युक्ति द्वारा पा लेता है ।[2]

कबीर के मत में मनोयोग समस्त योगों से कठिन होता है । वे कहते हैं:--

' कबीर कठिनाई खरी, सुमिरता हरि नाम ।
सूली उपर नट विद्या, गिरूं त नाहीं ठांम ।।'[3]

यह मनोयोग नट के खेल की भांति कठिन कार्य है । नट बांस के ऊपर चढ़ चढ़ कर विभिन्न प्रकार के कौशल दिखाता है । पृथ्वी पर नीचे खड़ा हुआ दूसरा व्यक्ति ढोल बजाता रहता है तथा उसे प्रोत्साहित के करता रहता है । यदि नट का ध्यान तनिक भी इधर उधर हो जाये तो वह ऊपर से गिर जायेगा और उसकी हड्डी आदि टूट जाय, इसलिये वह एकाग्रचित्त अपने कार्य में लगा रहता है

१- कबीर ग्रन्थावली, पृ० ९७

२- सो जोगी जा के मन में मुद्रा, राति दिवस न करई निद्रा ।
मन में आसणं मन में रहणीं, मन का जप तप मन सूं कहनां ।
मन मे खपरा मन मन में सींगीं, अनहद बेन बजावे रंगी ।
पंच परजारि भसम करि भूका, कहै कबीर सो लहसै लंका । वही, पृ० १५८ ।

३- कबीर ग्रन्थावली, पृ० ७

ठीक उसी प्रकार योग-युक्ति कठिन कार्य है । इसमें भी साधक को एकाग्रचित्त होकर हरिस्मरण में लीन रहना आवश्यक है ।

कबीर ने योग-युक्ति में साधक के लिए कुछ नियम तथा कार्य एवं कर्तव्य भी बताये हैं वे इस प्रकार हैं-

१- मन का निश्चल करना

२- सहज आसन की सिद्धि पाना

३- मधुर वचन बोलना

४- चित्त को केन्द्रित करना

५- त्वचा एवं काया को तप द्वारा स्वच्छ एवं शुद्धि करना

६- बाह्योपचार और आडम्बरों का परित्याग करना

७- इन्द्रिय-निग्रह

८- परम सत्य में ध्यानावस्थित होना

९- हृदय को निर्मल कर ब्रह्म में लीन होना।[१]

उक्त नव नियमों तथा कर्तव्यों का पूर्ण रूपेण पालन करना, 'योग-युक्ति' साधक के लिए परम आवश्यक है । इनमें तनिक भी अनियमित होने पर साधक को परम लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हो सकती ।

कबीर ने मनोयोग के अन्तर्गत मन को विकार शून्य करने के लिए यम-नियमादि का भी प्रतिपादन किया है जैसे यम, अहिंसा,सत्य,अस्तेय ,ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह,नियम,सन्तोष तपश्चर्या,स्वाध्याय,ईश्वर-प्रणिधान,इत्यादि इन समस्त यम नियमादि के बारे में पृथक् पृथक् बहुत अधिक वर्णन किया है ।

इस प्रकार कबीर ने योग-युक्ति को सब योग मार्गों से सरल और सर्वोत्तम माना है । क्योंकि वह शुद्ध हृदय से हरि को भजता है ।

१- कबीर ग्रन्थावली , पृ० १५६

कबीर एवं ज्ञान-मीमांसा :-

कबीर के ज्ञान-मीमांसा के विषय में डा०त्रिलोकीनारायण दीक्षित का कथन है कि -`कबीर के अनुसार ज्ञान वही है जो हमारे हृदय,मस्तिष्क और चित्त से निम्न प्रवृत्तियों कलुषित भावनाओं और सभी वासनाओं को हटा कर, हममें वह ज्योति जागृत कर दे जो अंधकार में प्रकाश का संचार करती है जो ब्रह्म का स्वरूप प्रदर्शित कर देती है , जो जीवन को माया की परिधि से ~~निक~~ ऊपर उठा देती है वही ज्ञान ज्ञान है जो आत्मज्ञान,ब्रह्मज्ञान करा सके ।`[1]

ज्ञान-मीमांसा दर्शन एवं साधना का एक महत्वपूर्ण अंग है । भारतीय दर्शन में तथा अन्य शास्त्रों में ज्ञान-मीमांसा के अन्तर्गत कई एक वाद प्रचलित हैं, जो ज्ञान के सम्बन्ध में विभिन्न मत प्रतिपादित करते हैं । बुद्धिवाद,प्रतीतिवाद,समालोचनावाद अनेकों वादों का वर्णन इस ज्ञान मीमांसा के अन्तर्गत आते हैं । कबीर ज्ञान की उत्पत्ति के प्रारम्भिक अवस्था में बुद्धि के प्रयोग को स्वीकार करते हैं । इनके मत में बिना बुद्धि के ज्ञान होना असम्भव है । बुद्धिहीन व्यक्ति को भले बुरे का रंचमात्र भी ज्ञान नहीं होता वह केवल दूसरों के ऊपर आश्रित रहता है जो दूसरे व्यक्ति जो कहते और करते हैं उसका केवल बुद्धिहीन व्यक्ति अनुकरण ही करते रहते हैं । कबीर बुद्धिहीन अथवा अज्ञानी व्यक्तियों के विषय में कहते हैं कि-

`बिना बसीठे चाकरी, बिना बुद्धि के देह।
बिना ज्ञान का जोगना , फिरै लगाये खेह ।`[2]

जिस मनुष्य में बुद्धि नहीं अर्थात् जो भले बुरे का विचार नहीं करता जो दूसरों का अंधानुसरण क तो करता है परन्तु किसी तथ्य को बुद्धि की कसौटी पर नहीं कसता, वह भू-भार है । अज्ञानी है ।

१- डा० त्रिलोकीनारायण दीक्षित, मलूकदास ,चरणदास का दार्शनिक दृष्टिकोण`, पृ० १५७

२- कबीर ग्रन्थावली , पृ० १४७

तथ्यों को निश्चित कबीर बुद्धि-कौशल बुद्धिविलास तथा व तर्क-वितर्क द्वारा करना उचित नहीं मानते। कबीर कहते हैं कि-

'कहै कबीर तरक दोइ साधै, ताकी मति है मोटी।'[1]

अर्थात् जिनकी 'मोटी मति' है वही तर्क वितर्क करते एवं तथ्य की सत्यता का निर्णय करते हैं। ऐसे व्यक्तियों का तथ्य-निर्णय सत्य नहीं हो सकता। वे कहते हैं कि तर्क-वितर्क से एक तथ्य दूसरे तथ्य से कट जाता है और इस प्रकार सत्य उससे ओझल हो जाता है। तर्क वितर्क केवल अनेकत्व का सृजन करते हैं। परमार्थ सत्य के विषय में तर्क-वितर्क करना मोटी बुद्धि का काम है। अतः कबीर के अनुसार केवल बुद्धि ज्ञान ही सत्य-ज्ञान नहीं है।

सत्यज्ञान के लिए अनुभव की आवश्यकता है। बिना स्वानुभूति की कसौटी पर कसे हुए कबीर किसी भी ज्ञान को सत्य ज्ञान नहीं मानते। इसीलिए 'सद्गुरु' की आवश्यकता तथा उसका वर्णन कबीर बहुत अधिक करते हैं। 'सद्गुरु' के प्रति कबीर की अनन्य श्रद्धा है। गुरु के ~~मत में गुरु~~ उपदेश को वे अधिक महत्व देते हैं। कबीर के मत में गुरु उपदेश को भी स्वयं विचार एवं मनन करना चाहिए तत्पश्चात् स्वानुभूति की कसौटी पर अगर वह खरा उतर जाय तो वह ज्ञान सत्य है।

ज्ञान को सत्य और खरा उतरने के पश्चात् प्रश्न यह उठता है कि 'ज्ञान का स्वरूप' क्या होना चाहिए। ज्ञान के स्वरूप के विषय पर नाना प्रकार के मत एवं वाद हैं। कुछ लोग जो जगत् को सत्य समझते हैं उनके लिए भौतिक पदार्थों की जानकारी करने में ही उलझे रहते हैं। वे ऐसे लोग जड़ जगत् के भौतिक पदार्थों को लेकर उनकी परीक्षा तथा विश्लेषण करते हैं। इस प्रकार का ज्ञान भौतिक ज्ञान है। कुछ लोग इन भौतिक पदार्थों के अन्तर्गत तथा इनके परे आधिदैविक भावना रख कर पूजा-पाठ में लगते हैं। इस प्रकार का ज्ञान आधिदैविक ज्ञान है। कुछ व्यक्ति इस जगत् के मूल में एक विश्व-चैतन्य सत्ता की खोज करते हैं और अपने अनुभूत तथ्यों का प्रतिपादन करते हैं। यह आध्यात्मिक ज्ञान अथवा सत्य ज्ञान कहलाता है।

कबीर आध्यात्मवादी ब्रह्म को ही पारमार्थिक सत्ता मानते हैं। वे कहते हैं कि-

'अविगत अपरंपार ब्रह्म, ग्यांन रूप सब ठांम[१]।'

वह ब्रह्म स्वयं ज्ञानरूप है जो सर्वत्र व्याप्त है तथा प्रकाशित है। कबीर का इस प्रकार का ब्रह्म सत्यज्ञान केवल मात्र ज्ञानियों के लिए है। माया, अविद्या अथवा अज्ञान हमारे शुद्ध, बुद्ध, नित्य मुक्तस्वरूप को ओझल कर देता है और भ्रम के द्वारा व्यक्ति उसके स्थान पर भांति भांति की अनात्म-वस्तुओं की कल्पना कर बैठते हैं जिसके कारण ऐसे व्यक्ति दुःख भोगते हैं।

अज्ञान तथा भ्रम का निराकरण साधना के द्वारा ही हो सकती है। कबीर कहते हैं कि-

'संतो भाई आई ग्यांन की आंधी रे,
भ्रम की टाटी सबै उड़ाणी, माया रहै न बांधी रे ।।[२]

इस प्रकार ज्ञान का प्रथम आक्रमण माया, अविद्या तथा भ्रम पर होता है। कबीर के मत में माया, अविद्या भ्रम के दूर होने पर आत्मा का शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव रूप निखर आता है। इस प्रकार जो ज्ञान साधक के निज-स्वरूप को बताये, वही सत्य ज्ञान है वही चरम साध्य है।

कबीर ज्ञाता और ज्ञेय की अभिन्न स्थिति को ही सत्यज्ञान मानते हैं। इसे ही आत्मज्ञान अथवा ब्रह्मज्ञान की संज्ञा देते हैं।

इनके अनुसार ज्ञान, ज्ञान की सीमा, ज्ञान की स्थिति एवं ज्ञान अभिन्न होकर स्वरूप हो जाते हैं, वही सच्चे ज्ञान की अथवा अद्वैतावस्था है।

सत्यज्ञान सम्बन्धी कबीर का यह मत वेदों से मिलता जुलता है। सत्य ज्ञा स्वयं ही अपने स्वरूप को पहिचान कर ज्ञान-रूप हो जाता है। वे कहते हैं कि-

'आप पहाने आपै आप, रोग न व्यापै तीनों ताप।
कहु कबीर सुख सहज समावो, आपि न डरौ न अवर डरावो।[३]

१-कबीर ग्रन्थावली, पृ० २४१
२- वही। पृ० 242
३- कबीर ग्रन्थावली, पृ० ३१८

स्वयं ज्ञान को पहचानने के पश्चात् सभी दुःख ,क्लेश तथा त्रिविध ताप से छुटकारा मिल जाता है ।

ज्ञान-क्षेत्र में कबीर ने अद्वैत-वेदान्त का अनुसरण किया है । कबीर के मत में साधना पक्ष में ज्ञान की उपयोगिता है । ज्ञान-विचार बुद्धिकौशल अथवा बुद्धि-विलास के लिए नहीं होना चाहिए,बल्कि माया अथवा अविद्यापरक मिथ्याज्ञान के उच्छेद के लिए होना चाहिए ।कबीर कहते हैं कि -

'हरि हिरदै इक ग्यांन उपाया, तार्थं छूटि गई सब माया।।[१]

जिस ज्ञान में बुद्धि का प्रयोग है, जहां अंधानुसरण नहीं है , परन्तु जिसमें स्वानुभूति का पूर्ण संयोग है, वही ज्ञान ज्ञान है । इस ज्ञान की प्राप्ति के लिए, अथवा दूसरे शब्दों में अद्वैतावस्था की प्राप्ति के लिए तथा साधना की सफलता के लिए सद्गुरु की परम आवश्यकता है । कबीर स्थल-स्थल पर कहते हुए दिखाई पड़ते हैं कि बिना सद्गुरु के चरम लक्ष्य की प्राप्ति असंभव है ।

ज्ञान-उपलब्धियों में शरीर के अंग, मस्तिष्क ,मन ,इन्द्रियाँ तथा बुद्धि की आवश्यकता पड़ती है । ज्ञान का सम्बन्ध सर्वप्रथम व्यक्ति के मन से होता है मन के विषय में कबीर कहते हैं कि-

'इन मन का कोइ न जानै भेउ ।इहि मन लीण भये सुख देउ ।।
जीउ एक और सगल सरीरा । इस मन कौ ले रहे कबीरा ।।[२]

ज्ञान का सम्बन्ध मन से विशेष रूप से है मन किस प्रकार का है कबीर मन के रूप को बताते हुए कहते हैं कि-

'पांणी ही तैं पातला,धूवां ही तैं भीणां,पावनां -
वेग उतावला सो दोसत कबीरै कन्हीं।।[३]

१- कबीर ग्रन्थावली , पृ० १८६
२- वही पृ० ३२८
३- डा० बड़थ्वाल -योग प्रवाह, पृ० २७

मन जल से भी अधिक पतला है, धुआं से भी अधिक फीना और वायु के प्रबल वेग से भी अधिक द्रुतगामी है। यह सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्व से बना है। मन समस्त मन में व्याप्त है। कबीर व्याप्त मन को चार विभागों में बांट देते हैं। वे चार भाग- मन, बुद्धि, चित्त एवं अहंकार हैं। इन चारों के सामूहिक नाम को मन कहते हैं। मनोमय तत्व के एक भाग को देव अथवा प्रकाशक शक्ति, दूसरे भाग को धृति अथवा धारण-शक्ति है। मन चंचल है, संकल्प विकल्प का करने वाला है। अलग-अलग स्थान और कर्म के अनुकूल मन की भी विभिन्न श्रेणियां हैं जैसे देवमन, यक्षमन, प्रत्यग्मान मन, विश्वमानमन, वशीकरणमन, इत्यादि। इस प्रकार कबीर की साधना में मन के विभिन्न अंगों का वर्णन पाया जाता है। अद्वैततावस्था मन की साधना की अन्तिम स्थिति कबीर बताते हैं।

मन की चाल को चित्तवृत्तियां कहा जाता है। योग में पांच प्रकार की चित्तवृत्तियों का वर्णन है। कबीर के अनुसार इन चित्तवृत्तियों को अन्तर्मुखी करना तथा इस पर विजय प्राप्त करना सरल एवं सहज कार्य नहीं है। इसके लिए साधक को कठिन परिश्रम करना पड़ता है। जब ये चित्तवृत्तियां अन्तर्मुखी हो जाती हैं तभी साधक को ब्रह्म की प्राप्ति करता है।

सुरति-निरति :-

संत साहित्य में 'सुरति-निरति' शब्द का प्रयोग अधिकांश रूप से पाया जाता है। संत-साहित्य के विभिन्न विद्वानों एवं मर्मज्ञों ने इस 'सुरति' शब्द के विभिन्न अर्थ बताये हैं।

डा० बड़थ्वाल 'सुरति' शब्द का अर्थ 'स्मृति' बताते हैं।[१]

डा० सम्पूर्णानन्द जी ने इसकी व्युत्पत्ति स्रोत से बताई है।[२]

गुलाब साहब ने सुरति का अर्थ 'मन' किया है।[३]

१- डा० बड़थ्वाल, योग प्रवाह, पृ० २७

२- डा० सम्पूर्णानन्द-काशी विद्यापीठ, चतुर्थ पत्रिका, वाल्यूम २, पृ० १३५

३- एम० बी०, पृ० १६६

राधास्वामी मत के अनुयायी इसका अर्थ `जीवात्मा` बताते हैं ।[१]

डा० त्रिगुणायत सुरति का अर्थ प्राप्ता आत्मा और निरति का अर्थ प्राप्तव्य आत्मा बताते हैं ।[२]

आचार्य डा०हजारीप्रसाद द्विवेदी सुरति को अन्तर्मुखी वृत्ति और निरति को बाह्यमुखी वृत्ति बताते हैं।[३]

आचार्य क्षितिमोहन सेन ने सुरति का अर्थ प्रेम और निरति का प्रेम वैराग्य लिया है ।[४]

डा० रामकुमार वर्मा ने इसे सुरत्ते इलहामियां का वाचक माना है ।[५]

श्री परशुराम चतुर्वेदी ने इसका अर्थ शब्दोन्मुख चित्त किया है ।

संतों ने प्राय: एक ही पारिभाषिक शब्द कुछ तो भिन्न-भिन्न परम्पराओं के प्रभाव के कारण तथा कुछ मौलिकता प्रदर्शन की कामना से भिन्न भिन्न स्थलों पर भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयुक्त किया है ।

किन्तु कबीर ने सुरति का प्रयोग परमात्मा के लिए किया है । साधक का परम कर्तव्य मन को केन्द्रित करना होता है । अत: सुरति-निरति का सम्बन्ध कबीर ने मन से किया है । कबीर का यह मत है कि यदि साधक ने मन को जीत लिया तो वह सब कुछ पा सकता है। कबीर एक स्थल पर कहते हैं कि-

`तन को जोगी सब करैं, मन को बिरला कोइ ।
सब सिधि सहजै पाइए, जे मन जोगी होइ ।।[६]

१- डा० गोविन्द त्रिगुणायत-हिन्दी की निर्गुणकाव्य धारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि पृ० ७१०

२- डा० गोविन्द त्रिगुणायत -`कबीर की विचारधारा` पृ० १६८

३- डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी -`कबीर` पृ० २२४ (नवीन संस्करण)

४- कबीर नया संस्करण , पृ० २२४

५- कबीर साहित्य की परख - पृ० २५१ तथा `कबीर का रहस्यवाद`परिशिष्ट देखिए

६- कबीर ग्रन्थावली , पृ० ४६

अतः मन को ही वश में करना साधक के लिए अत्यावश्यक है । इसके वश में होते ही साधना में होते ही साधना-मार्ग प्रशस्त हो जाता है ।

कबीर के मत में सात सुरति प्रख्यात हैं । ये सात सुरति विश्व एवं व्यष्टि रूप जीव की मूल हैं । उसका कारण देते हुए कबीर कहते हैं कि-

'सात सुरति सब मूल है , प्रलयहु इन ही मांहि ।
इन हीं मां ते ऊपजै, इनहीं मांहि समांहि ।।[१]

सात सुरति की व्याख्या अत्यन्त मनोवैज्ञानिक है । मनोविज्ञान में भी मन के सात भागों का वर्णन मिलता है । ये मन के सात भाग सात सुरति ही हैं । साधक के लिए सुरति एक डोर है जिससे साधक चरमलक्ष्य की ओर बढ़ता है । इसकी सहायता से साधक साधना की चरमकाष्ठा पर पहुंच कर यह डोर और साधक एक रूप होकर चरम सत्य से तादात्म्य करते हैं । उस स्थिति में द्वैत का भाव नष्ट हो जाता है ।

१- कबीर ग्रन्थावली , पृ० १४६

दादू दयाल

निर्गुण-संत-साहित्य के प्रारम्भिक प्रयास एवं विकास में विभिन्न संप्रदाय उत्तर और दक्षिण भारत में फैले थे। उन समस्त सम्प्रदायों में से प्रमुख सम्प्रदाय साध सम्प्रदाय, लाल पंथ, दादू पंथ, निरंजनी सम्प्रदाय, बाबरी पंथ मूलक पंथ थे। समस्त पंथों का निर्गुण भक्ति एवं साहित्य पर इन सम्प्रदायों का पूर्ण प्रभाव और योगदान पाया जाता है।

दादू दयाल दादू पंथ के प्रमुख संत थे। इनके पश्चात् इनकी शिष्य एवं प्रशिष्य परम्परा में रज्जब जी, सुन्दरदास, गरीबदास, हरिदास, प्रागदास, राघोदास, साधु निश्चलदास जी हुए। दादू पंथ में दादूदयाल के पश्चात् अनेकों शिष्य उनके भक्ति पंथ के अनुयायी हुए किन्तु मुख्य शिष्य रज्जब जी, सुन्दर दास जी, गरीबदास जी थे।

दादूदयाल की जीवनी का कुछ प्रामाणिक भाग एवं लिखित सामग्री अभी तक प्राप्त नहीं हो सकी है। 'दादू पंथ' के अनुयायियों का कथन है कि दादू दयाल का जन्म गुजरात प्रदेश के अहमदाबाद नगर में हुआ है।[1] यों तो इनके जन्मस्थान एवं जाति इत्यादि के सम्बन्ध में अनेक किंवदन्तियां प्रचलित हैं किन्तु सत्य तो यह है कि इनके सम्बन्ध में कुछ भी प्रामाणिकता प्राप्त नहीं है।

दादू का जन्म फाल्गुन सुदी २ बृहस्पतिवार सं० १६०१ (सन् १५४४ई०) तथा मृत्यु जेठ वदी ८ शनिवार सं० १६६० (सन् १६०३ ई०) सभी मानते हैं। ऐतिहासिकता की दृष्टि से दादू अकबर बादशाह के शासनकाल में थे। दादू पर्यटन-प्रिय थे। देश भ्रमण करना तथा अपना उपदेश देना यही इनका कार्य था। कहा जाता है कि ११ वर्ष की अवस्था में जब ये खेल खेल रहे थे तब एक बुड्ढा साधु भिक्षा मांगते मांगते इनके पास आया। उस साधु ने अनेकों बार दादूदयाल को आश्चर्यजनक अपने दर्शन दिखाए जिससे दादू उस साधु से अत्यन्त प्रभावित एवं

१- 'उत्तरी भारत की संत परम्परा'-परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ४०६

आश्चर्यचकित हुए ।अन्त में दादू उसी साधु के पैरों पर गिर पड़े और उसके शिष्य हो गये । उस साधु का नाम दादू ने स्वयं अपनी रचनाओं में कहीं भी नहीं लिखा है । किन्तु उनके शिष्यों ने उसे वृद्धानन्द या बुड्ढन[1] बाबा बताया है ।

अपनी गुरु परम्परा के विषय में उन्होंने इतना ही लिखा है कि-

`गैब मांहि गुरुदेव मिला, पाया हम परसाद ।
मस्तक मेरा कर धरा , दख्या अगाध ।।[2]

अन्धकारमय प्रदेश में मुझे गुरुदेव के दर्शन हुए और मुझे उनका प्रसाद मिल गया। उन्होंने मेरे मस्तक पर अपना हाथ रक्खा और मुझे उनकी दीक्षा मिल गई ।

दादूदयाल की रचनाओं की संख्या लगभग २० सहस्र है । इनमें इनके पद ,साखियां,एवं बानियां हैं किन्तु अभी तक इन समस्त रचनाओं का कोई प्रामाणिक संग्रह प्रस्तुत नहीं हो सका है ।दादू दयाल के शिष्य संतदास एवं जगन्नाथदास ने इनकी रचनाओं का संग्रह `हरडे वाणी` नाम से तैयार किया था । तत्पश्चात् रज्जब जी ने ३१ रचनाओं को कई अंगों में` अंगबधू` संग्रह में रखा । स्व० पं० सुधाकर द्विवेदी ने रज्जब जी की प्रणाली का अनुसरण कर एक नवीन संग्रह तैयार किया जो`काशी नागरी प्रचारिणी सभा` की ओर से प्रकाशित हुआ । इसमें २६२३ साखियां तथा ४४५ पद संगृहीत हैं । इसके पश्चात् दादू की रचनाओं का प्रामाणिक संग्रह पंडित चंडिका प्रसाद त्रिपाठी ने अजमेर से संपादित एवं प्रकाशित किया । प्रयाग से`बेल वेडियर प्रेस` से भी इनका एक संग्रह प्रकाशित हुआ है जो त्रिपाठी जी के संग्रह से मिलता-जुलता है ।

राघोदास ने अपनी`भक्तमाल` की रचना में दादू दयाल के ५२ शिष्यों की सूची इस प्रकार की है ---

---

१- क्षितिमोहन सेन-`दादू` (उपक्रमणिका)पृ० ३१
२-`दादू दयाल की बानी`(भाग १)साखी (बे०प्रे०प्रयाग) पृ० १

" दादू जी के पंथ में ये बावन द्रिगसु महंत ।
प्रथम ग्रीब, मसकीन, बाई द्वै सुन्ददासा ।
रज्जब, दयालदास, मोहन ब्यारुं प्रकासा।
जगजीवन, जगनाथ, तीन गोपाल वखानूं ।
गरीबजन दूजन, घड़सी, जैमल द्वै जानूं ।
सादा, तेजा नंद पुनि प्रमानंद, बनवारि है।
साधु जनहरदास, हु कपिल, चतुर भुज पार ह्वै।
चत्रदास द्वै, चरण प्राग्र द्वै, चैन प्रह्लाद ।
वखनां,जग्गीलाल, माधू,टीला अरु चंदा।।
हिंगोल,गिर,हरि,स्यंघ,निरांदुण,जहसी,संकर।
झाझू,बांझू, संतदास,टीकूं स्यामडिवर।
माधव, सुदास, नागर,निजाम,जन राघौ वर्णिकहंत।
दादूजी के पंथ में ये बावन द्रिगसु महंत[1] ।।

इस प्रकार वे ५२ शिष्य निम्न हैं :-

१- ग्रीब२-मसकीन ३- बाई ४- सुन्दरदास दो ५- रज्जब ६- दयालदास ७-मोहन ८- जगजीवन ९- जगन्नाथ १०-गोपाल ११-गरीबदास १२- घड़सी १३-जैमलदास १४- तेजानंद १५- परमानंद १६- बनवारीदास १७- जनहरदास १८-कपिल १९-चतुरभुज २०-चन्द्रदास दो २१- चरणप्राग दो २२- चैन २३- प्रह्लादा २४- वखनां २५- जग्गीलाल २६- माधू २७- टीला २८- चंदा २९- हिंगोल ३०-गिर ३१-हरि ३२- स्यंघ ३३- निरांदुण ३४- जहसी ३५- संकर ३६- झाझू ३७-बांझू ३८-संत दास ३९- टीकूं ४०- स्यामडिवर ४१- माधव ४२- सुदास ४३-नागर ४४-निजाम ४५-राघौ ४६- वर्णिक हंत ४७- प्रकास ४८- सादा । इसके अलावा इनकी शिष्य परम्परा में दो सुन्दरदास,दो चन्नदास ,दो चरणप्राग व्यक्तियों का नाम भी मिलता है इस प्रकार ५२ शिष्यों का नाम उल्लेखनीय है जिनमें से कुछ का ही परिचय उपलब्ध है ।

१- उत्तरी भारत की संत परम्परा - परशुराम चतुर्वेदी - पृ० ४२२

दादू का आध्यात्म पक्ष (दार्शनिक सिद्धान्त)

सन्त साहित्य को देखने से यह स्पष्ट होता है कि कबीर के शिष्य दादू के उपासक थे। कबीर ने स्वयं अपनी एक साखी में कहा है कि-

'जो था कंत कबीर का सोई बरबरिहूं।
मनसा वाचा कर्मना मैं और न करिहूं।
सांचा सबद कबीर का, मीठा लागै मोहि।
दादू सुनता परमसुख, केता आनन्दहोहि ।।[1]

सन्त कवियों ने पूर्ण सत्य को पूर्ण रूप से जान लेने की बात का कहीं दावा नहीं किया और न दूसरों द्वारा ऐसा किया जाना ही उन्हें पसन्द है।दादू की स्वानुभूति से उनका मार्गप्रदर्शन हुआ है।

दादू के मत में वह परमतत्व सत्यस्वरूप ,सबका सृष्टा,परम समर्थ,निर्भय,निर्वैर, अजन्मा,स्वयंभू तथा कालातीत अस्तित्व वाला है। इन्होंने युग के अनुसार जनता को एकेश्वरवाद का उपदेश दिया है। एकेश्वरवाद की महत्ता को बताते हुए दादू कहते हैं कि-

'बाबा ,नाहीं दूजा कोई।
एक अनेक नांउ तुम्हारे, मोपै और न होई ।।
अलह इलाही एक तूं , तूं ही राम रहीम।
तूं ही मालिक मोहना, केसो नावं करीम ।।[2]

अल्लाह,राम,राम रहीम ,वस्तुत: दोनों एक है। एक ही सोने से बने हुए विभिन्न नाम-रूपधारी गहने हैं उनमें किसी प्रकार की द्वैत-भावना लाना व्यर्थ है। उनके मत में ब्रह्म अथवा परमतत्व सर्वत्र सृष्टि में व्याप्त है। इन्होंने उसे'घीव दूध में रमि रहा व्यापक सब ही ठौर' वह परमतत्व ब्रह्मरन्ध्र के रूप में है इस बात का ज्ञान निम्नपद से हो जाता है --

---

१- कबीर ग्रन्थावली , साखी

२- सन्त सुधासार, स्वामी दादूदयाल ,पृ० ४३६,४३८

'शुन्य सरोवर मन भंवर, तहां कंवल करतार।
दादू परिमल पीजिये, सनमुख सिरजनहार ।।'[1]

दादू निर्गुण ब्रह्म का वर्णन करते हुए कहते हैं कि-

'चलु दादू त तहं जाइये , जहं चन्द सुर नहिं जाइ ।
राति दिवस का गम नहीं, सहजैं रहा समाइ ।।'[2]

संत कवियों की यह सामान्य विशेषता रही है कि सदैव जटिलता से सरलता की ओर निर्गुण भक्त जाते हैं। साधक की कठिनाई को देखते हुए उन्होंने सगुण भक्ति का सरल एवं समस्त सहज मार्ग भी बताया । उस सगुण ब्रह्म को दादू ने 'तेज पुंज' की संज्ञा दी है । उस तेजपुंज के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहते हैं कि-

'दह दिसि दीपक तेज से, बिन बाती बिन तेल ।
चहुं दिसि सूरज देखिये, दादू अद्भुत खेल ।।
बादल नहिं तहं बरसत देख्या, सबद नहीं गरजंदा ।
बीज नहीं तहं चमकत देख्या, दादू परमानंदा ।।'[3]

दादू ने उस अविनाशी सहज स्वरूप अनूप तत्व के अंगों के तेज का साक्षात्कार स्वयं आंखों भर कर किया है जो उसके नेत्रों के समक्ष है, वही अन्तरात्म में भी है । जो कहीं आता जाता नहीं, दादू ऐसे प्रिय के साथ क्रीड़ा कर रहा है । उस 'अलख अलाह' का नूर सीम-असीम से परे सर्वत्र परिपूर्ण है । वह खण्ड खण्ड न होकर सर्वत्र अखण्ड भाव से एक रस होकर परिव्याप्त है, जैसा वह है वैसे ही उसका तेज भी है[4] ।

१- दादू दयाल की बानी, ६ पृ० ५१-५२
२- वही वही १, पृ० मधि कौ अंग २४
३- वही भाग १,परचा कौ अंग ,८७ ,८८,९०,९१
४- वही पद ९४,९६,१०३,१०६

दादू उस परमतत्व को सरोवर के सदृश्य मानते हैं वे कहते हैं-

'हरि सरवर पूरन सबै, जित तित पाणी पीव।
जहां तहां जल अंचतां, गई तृषा सुख जीव ।।[1]

अर्थात् उस सरोवर में नीर 'निरंजन' भरा हुआ है जिसमें 'मीन-मन' क्रीड़ा कर रहा है। दादू उसी अलख, अभेद तत्व के रस में विलस रहे हैं। उस अथाह सरोवर में आत्म हंस क्रीड़ा कर रहा है। उसमें मुक्ति रूप मोती चुन रहा है। वह बड़े सौभाग्य से अपने घर को पा गया है, ऐसे स्थान को छोड़ कर अब वह कहां जाय।

'तेज पुंज' अथवा परमतत्व को वे 'सहज' भी कहते हैं। वह 'सहज' तत्व सुख-दु:ख के पक्षों से परे मरण जीवन से अतीत निर्वाण पद राम से प्रख्यात है।'[2]

'ना घटि रह्या न बनि गया, ना कछु किया कलेश।
दादू मन ही मन मिल्या, सतगुर के उपदेश ।।'[3]

दादू ने उस देश का स्वयं अनुभव किया और उस देश का वर्णन करते हुए उक्त पद में बताते हैं कि उस देश में चन्द्र, सूर्य, नहीं रात दिन का और नहीं, सुख-दु:ख का विकार नहीं अपितु सर्वत्र सहज भाव से वह अविनाशी समाया हुआ है। उस देश में सम ऋतुएं बनी रहती हैं, जहां न उजाड़ है न बस्ती, जो न निकट है न दूर, जहां न वेद का वश चलता है न कुरान का, और आश्चर्य की बात तो यह कि उस दुर्लभ देश की प्राप्ति के लिए साधक को श्रम नहीं करना पड़ता।

1- दादू दयाल की बानी, भाग १ परचा को अंग ६२,६५,६८,६६
2- वही मधि को अंग २-३
3- वही, भाग २, पद ६३

सतगुरु की महत्ता को दादू भी स्वीकार करते हैं उनके विचार से भी बिनासदगुरु कीसहायता से साधना के मार्ग पर चलना अत्यन्त असम्भव कार्य है ।

साधना के उस मार्ग कीअन्तिम अवस्था में दादू को पूर्ण प्रज्ञा का प्रादुर्भाव होता है और वे समझ जाते हैं कि 'जीव पीव न्यारा नहीं सब संगि बसेरा ।' उस निरन्जन के सहज निवास में रात दिन, धरती अंबर, धूप-छाया और पवन-पानी का अत्याभाव है । वहां मात्र वही विराज रहा है । न तो वहां सूर्य चन्द्र का उदय होता है न काल की तुरही बजती है । उस अगम अगोचर में सुख दुख का जोर नहीं चलता । वह अलख निरंजन पाप-पुन्य से परे प्रत्येक घट में निवास कर रहा है । दादू उसी के सम्पर्क-सुख में निमग्न है ।[1]

इस प्रकार संत दादूदयाल ने किसी विशेष दार्शनिक मतवाद में न पड़कर स्वयं मनसा-वाचा-कर्मणा कबीर के द्वारा अपनाए गये परमतत्व को ही स्वीकार किया । इन्होंने कबीर द्वारा स्थापित मत को हीं अपनाया और उन्होंने अपने को कबीर के शिष्यों मैं माना । कबीर के ब्रह्म माया, जीव, संसार, मोक्ष के मत का ब इन्होंने सम भी पूर्णरूपेण समर्थन किया।

दादू भी परमतत्व को सर्वव्यापी और अद्वितीय समझते हैं ।

जीव और ब्रह्म की अद्वैतता स्वीकार करते हुए दादू कहते हैं कि 'जहं आतम तहं परमात्मा, दादू सहजि समाइ' एवं 'परआतम सौ आतमा, ज्यौं जल उदक समान । तन मन पाणी लौंण ज्यौं पावे पद निर्बाण ।।'
इस प्रकार दादू के मत में जीव और ब्रह्म का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है । जीव का सम्बन्ध ब्रह्म से आदि, अंत और मध्य में एक रस और अविच्छिन्न भाव से होता है अंत में ब्रह्म और जीव आपस में मिल कर एक हो जाते हैं

1- दादूदयाल की बानी, भाग-2, पद-73

वे कहते हैं कि-

> `आदि अंत मधि एक रस, टूटे नहिं धागा ।
> दादू एकै रहि गया, तब जाणी जागा ।।
> यै दुन्यूं ऐसी कहै, कीजै कौण उपाई ।
> ना मैं एक न दूसरा, दादू रहु ल्यौ लाई ।।[1]

इस प्रकार दादू के मत में भ्रमवश जीव इधर उधर ढूंढता रहता है वह उसी माया के भ्रम में यह अनुभव एवं समझ नहीं पाता कि वह तो स्वयं उसी के अन्तरतम में विराजमान है । भ्रमवश जीव उस ब्रह्म के अनेक भेद देखता है उसे इसी माया के कारणवश एकत्व में अनेकत्व दिखलाई पड़ने लगता है ।दादू कहते हैं कि-

> ` जब पूरण ब्रह्म विचारिये , तब सकल आतमा एक ।[2]
> काया के गुण देखिये, तौ नाना बरण अनेक ।

जब जीव में पूर्ण अद्वैत भावना आ जाती है तो वह अपने अहं का विसर्जन करके स्वयं को समर्पित करता है उसका तन,मन ,पिण्ड-प्राण सब उसी का आराध्य हो जाता है । दादू स्थान स्थान पर कहते दिखाई देते हैं कि वह` मेरा` स्वयं ` मैं` ही हूं । इस प्रकार देने और पाने वाले के मध्य कुछ भी अन्तर नहीं रह जाता, देने वाला भी लेने के स्थान पर अपने को और भी अधिक पूर्ण मानने लगता है । दादू का यह मत है कि इस तरह की भक्ति अथवा साधना के लिए किसी भी वाह्याचार अथवा बाह्याडंबर की आवश्यकता नहीं होती बल्कि उसके समस्त साधन स्वयं अन्त:करण में ही मिल जाते हैं फिर गुरु की कृपा से उस परम ब्रह्म का प्रत्यक्ष दर्शन स्वयं हो जाता है । इससे साधक के अन्दर प्रज्ञा का प्रादुर्भाव हो जाता है ।`दुई` का पर्दा उठ जाने पर मन में किसी प्रकार की भ्रान्ति शेष नहीं रह जाती है और आत्मस्वरूप का बोध होने लगता है । इस स्थिति में पहुंच कर दादू कहते हैं कि हे अलह, राम , मेरा समस्त भ्रम अब दूर हो गया । वे कहते हैं कि -

---

१- दादू दयाल की बानी, भाग १, लय कौ अंग ४३,४५
२- वही साच कौ अंग १३०

'जब दिल मिला दयाल सौं, तब अंतर कछु नाहिं ।

जब पाला पानी कौं मिला, त्यौं हरिजन हरि मांहि।।[१]

अर्थात् जब मैं तुझे प्रत्यक्ष देख रहा हूं । तूने मेरी दृष्टि बदल दी और मुझे भिन्नता के स्थान पर सर्वत्र अभिन्नता ही दिखाई पड़ती है ।

'सदा लीन आनंद मैं, सहज रूप सब ठौर ।

दादू देखन एक कौ, दूजा नाहीं और ।।

उक्त पद से यह स्पष्ट हो जाता है कि परमतत्व में लीन दादूदयाल को एक मात्र सहज रूप उस परमतत्व के सिवायऔर कुछ भी नहीं दिखाई देता है ।

जीवन माया के वश में पड़ कर अज्ञानावस्था को प्राप्त होता है । उसमें प्रकाश एवं अज्ञानता का अंधकार सदगुरु के उपदेशों द्वारा दूर होता है । इन संतों को ब्रह्म के रूप को जानने के लिए प्रतीकों का आश्रय ग्रहण करना पड़ता है । भावात्मक अनुभूति के माध्यम से पति, मित्र,माता-पिता आदि प्रतीकों का प्रयोग किया है। दादू दयाल विरह की तीव्र अनुभूति का वर्णन करते हुए कहते हैं कि-

'रोम रोम रस प्यास है, दादू करहि पुकार ।

रांम घटा दल उमंगि करि, बरसहु सिरजनहार।।

प्रीति जु मेरे पीव की, पैठी पिंजर मांहि।

रोम रोम पिव-पिव करै, दादू दूसर नाहिं ।।[२]

कबीर की भांति दादू दयाल के ~~भी अपने~~ साखियों एवं पदों में भी ~~माया~~ के विभिन्न रूपों का विस्तृत वर्णन मिलता है । कबीर की भांति वे भी माया को नागिन, डाकिनी,मायाविनी और कनक-कामिनी के रूप में स्वीकार करते हैं । माया के विचित्र कर्तव्य के बारे में दादू कहते हैं कि-

'बिना भुवंगम हम डसै, बिन जल डूबे जाइ ।

बिनहीं पावक ज्यों जलै, दादू कछु न बसाइ ।।

१- संतबानी संग्रह, भाग १, पृ० ६२

२- संतसुधासार, पृ० ४६०।३०-३१

यही प्रबल माया समस्त सुर-नर-मुनि एवं ब्रह्मा -विष्णु-महेश को अपने वश में करके सारे संसार केसिर पर खड़ी है । यह समस्त संसार की स्वामिनी है किन्तु सन्तों की चेरी है । जहां ब्रह्म का बास नहीं है वहां माया का मंगल-गान होता है । जब ब्रह्म की ज्योति जग जाती है तब मायाजनित भ्रम दूर हो जाते हैं । माया की व्यापकता और विचित्र व्यवहारों के बारे में दादूदयाल कहते हैं कि-

'घर के मारे बन के मारे , मारे स्वर्ग पयाल ।
सूक्षिम मोटा गूंथि करि, मांड्या माया जाल।।
बाबा कहि गिले, माई कैहि कैहि खाइ ।
पूत पूत कहि पी गई, पुरिषा जिन पतियाइ ।।[१]

दादू दयाल कबीर की भांति माया के साथ मन का सम्बन्ध स्थापित किया है । दादू के मत में भी जब तक जीव माया है में अनुरक्त रहेगा तब तक उसके चित्त में 'त्रिभुवन -पतिदाता' नहीं आ सकते । अपरिपक्व मन , दस दिशाओं में चंचल होकर विचरण करता है किन्तु जब वह परिपक्व हो जाता है तो निश्चल होकर ब्रह्म में समा जाता है[२] । माया के कार्य व्यापारों का इस प्रकार समन्वय स्थापित किया है । वे कहते हैं कि-

'नकटी आगे नकटा नाचे, नकटी ताल बजावै ।
नकटी आगे नकटा गावै, नकटी नकटा भावै ।।साखी ३६।।
दादू मन हीं माया ऊपजै, मन हीं माया जाइ ।
मन हीं राता राम सौं, मन हीं रह्या समाइ ।। वही[३] १३४।।

सृष्टि के विषय में दादू का सर्वप्रथम मत यह है कि'आप' अर्थात् निर्गुण,निराकार, ब्रह्म में विवर्त उपस्थित होने से माया सबल ब्रह्म से शब्द ब्रह्म उत्पन्न हुआ और इसी 'सबद' से समस्त सृष्टि की रचना हुई है । इस भाव को दादू निम्न पद में व्यक्त करते हुए दिखायी देते हैं वे कहते हैं कि-

---

१- दादू दयाल की बानी,भाग १,साखी ७,२०,२६,३४,३५,३६,७०,८१,६६,६७, १३७,१५६,१६५,१६७।

२- वही , प्रथम भाग,मन को अंग ३५,५१,५४।

३- वही साखी ३६, १३४

'सबदै बंध्या सब रहै, सबदै सब ही जाइ ।
सबदै ही सब ऊपजै, सबदै सबै समाइ ।।
दादू सबद ही सुष्मिम भया, सबदै सहज समान।
सबदै ही निर्गुण मिलै, सबदै निर्मल ज्ञान ।।'[1]

इस प्रकार शब्द-ब्रह्म औंकार से ही सारी सृष्टि का निर्माण हुआ -'एक अण्ड औंकार से सब जग भया पसार ।'[2] इस प्रकार दादू ने इस संसार को 'दुख दरिया' कहा है । एवं इसे शीघ्र तज कर सुख के सागर राम से मिलने की बात कही है । 'काल की भाल'[3] में समस्त संसार जल रहा है उससे कोई भी निकल कर बच नहीं सकता । 'एक रमता को राम ही है और समस्त सब संसार चलता है ।'[4] काल के भय से सारा संसार कांपता है, ब्रह्मा, विष्णु, महेश, सुर, नर मुनि सभी कंपित हैं ।[5]

दादू की साधना (साधना पक्ष)

सामान्यत: समस्त सन्त कवियों ने प्रारम्भ में गुरु के प्रति अपनी अमित श्रद्धा प्रकट की है । दादू दयाल की रचनाओं में भी सर्व प्रथम गुरु की महत्ता का विशेष रूप से विस्तृत वर्णन मिलता है । दादू के मत में सच्चा गुरु स्वयं भगवान् है । और लौकिक गुरु उपलब्ध मात्र । अगर वे स्वयं दया कर अपने को अभिव्यक्त न करें तो किसमें इतनी शक्ति है कि उनका ज्ञान करा दे । अत: वे लौकिक गुरु को ही उपलब्ध मान कर अपना काम करा लेते हैं । गुरु और साधक का सम्बन्ध व्यक्तिगत होता है । वे हृदय के अन्दर प्रेम की ज्योति जला कर

१- दादूदयाल की बानी, ~~सखी~~ शब्द को अंग , २,४
२- वही भाग १
३- वही भाग १, काल को अंग ४२
४- वही ५६
५- वही ८६

सब कुछ प्रत्यक्ष कर देते हैं । दादू के मत में गुरु सभी सम्प्रदाय ,सभी धर्म एवं दल के गुणों से पूर्ण होते हैं ।

ऐतिहासिक दृष्टि से यह सत्य प्रमाणिक है कि कबीर और रैदास की भांति दादू भी निम्न श्रेणी में उत्पन्न हुए थे । साथ में जन्मगत अवहेलना को लेकर इनका भी विकास एवं उदय हुआ था किन्तु इनके पूर्व कबीर की निर्गुण भक्ति अधिक लोकप्रिय हो चुकी थी । अत: दादू ने कबीर की भांति समागत उच्च नीच विधान के लिए उत्तरदायी समझी जाने वाली जातियों पर उस तीव्रता के साथ आक्रमण नहीं किया । दूसरा कारण यह था कि कबीर के समान ये अक्खड़ और मस्त स्वभाव तथा प्रकृति के नहीं थे दादू तो एक विनय-मिश्रित मधुर व्यक्ति थे। अपनी सरल एवं विनम्र प्रकृति के कारण वे कभी भी समाजिक कुरीतियों,धार्मिक रूढ़ियों और साधना सम्बन्धी मिथ्याचारों पर आघात करते समय किसी भी स्थान पर उग्र नहीं हुए हैं । भक्ति की साधना में साधक के बाह्याडम्बरों एवं वेषभूषा का खंडन बहुत ही विनम्र भाव से करते हुए कहते हैं -

जे हूं समझै तो कहां, साचा एक अलेष ।
डाल पात तजि मूल गहि, क्या दिखलावै भेष।।
सब दिखलावै आप हूं , नाना भेष बणाइ ।
जहं आपा मेटन हरि भजन, तेहि दिसि कोई न जाइ ।।
माया कारणि मूंड मुंडाया, यहु तो जोग न होई।
पारब्रह्म सूं परचा नाहीं, कपट न सीझै कोई।।
साधु बिन साई ना मिलै, भावै भेष बनाइ।
भावै करवत उरध मुखि, भावै तीरथ जाइ ।।[1]

दादू की साधना साधक को मिथ्याचार,पूजा-नमाज,शास्त्र,ऋद्धि,सिद्धि ,मतवाद, बाह्याडंबर,भेष-भूषा से रहित समभाव रखते हुए अहं को त्यागना पड़ता है । दादू ने कहा है कि आपाद मस्तक में यह जप चलता रहता है और निखिल चराचर से पूर्ण इस विश्व में सब आकार की माला निरन्तर आवर्तित हो रही है । इसी

१- दादू दयाल की बानी, भाग १, भेष को अंग, १०, ११,२८,४१

माला से वह जप कर सकता है। साधक की सम्पूर्ण साधना का फल उसी प्रियतम की प्राप्ति है।[1] इसलिए दादू का हृदय सदैव उसको पाने के लिए सम भाव से प्रार्थना करता ही रहता है।

दादू के मत में मन मतवाले हाथी के समान है यह मन सदैव स्वतन्त्र रूप से विचरण करता रहता है। और किसी प्रकार भी वश में नहीं होता सदैव यह चंचल है गीता में भी श्रीकृष्ण ने इस मन को चंचल कहा है। दादू मन की विशेषता को और आगे बताते हुए कहते हैं कि यद्यपि अनेक महावत उस मन रूपी हाथी को वश में करते करते थक गये लेकिन वह किसी के वश में नहीं हुआ।[2] मन के सुस्थिर होने पर वह सहज-भाव से मिल जाता है।

'सुरति-निरति' के बारे में इसके पूर्व विस्तृत वर्णन हो चुका है। निर्गुणियों के मतानुसार इसी स्मरण शक्ति के लिए पारिभाषिक शब्द 'सुरति' है। दादू ने भी कहा है कि सुरति को परिवर्तित कर उसे आत्मा के साथ मिला दो ---- प्रत्येक भूमि की अवस्था में हमें दूसरी स्थिति का अनुभव होता है और यदि हम सुरति को भूल जायेंगे जो वास्तव में ईश्वरीय स्थिति का बोधक है तो, हमारा ऊपर उठना अवश्य बन्द हो जायेगा और सम्भव है कि हम नीची भूमियों तक गिर भी जांय। इस प्रकार जब तक धीरे-धीरे ऊपर उठते हुए हमें उस स्थिति की अनुभूति न होने लगे जहां पर सुरति केवल स्मृति के रूप में ही न रह कर उस भाव तत्व की पूर्णता में विलीन हो जाती है तब तक सुरति की उपेक्षा नहीं की जा सकती। सुरति के अभ्यास और अनुशीलन में ही हमारा वास्तविक कल्याण है।[3]

इस प्रकार दादू दयाल का यह विश्वास था कि साधक को सदैव मध्यम मार्ग का अनुसरण करना चाहिए। साधक न तो सांसारिक अति-आसक्तियों में पड़े और न उसका त्याग करे। ऐसा ज्ञान विचारते हुए मध्यम मार्ग का अवलम्बन कर मुक्ति के द्वार तक पहुंचना सम्भव है। दादू के विचार से --

---

१-पाटल- सन्त साहित्य विशेषांक, आचार्य क्षितिमोहन सेन, दादू और उनकी धर्म साधना, पृ० ११३-४

२- दादू दयाल की बानी, भाग १, मन को अंग, ३,१३

३- डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल-हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृ०१६५-६

`आपा मरै मृतिका, आपा धरै अकास ।
दादू जहं जहं है नहीं, मध्ि निरन्तर वास।।
ना घरि रह्या न बनि गया, ना कुछ किया क्लेस।
दादू मन हीं मन मिल्या, सतगुरु के उपदेश ।।`[1]

अत: समस्त जीवों के प्रति निर्वैरी होना है, सब जगह एक ही आत्मा है जो `पर` में `आपा` को पहिचान ले, उसी को प्रिय का दर्शन होता है ।

दादू के मत में साधु की संगति सब प्रकार की भगवत् कामना की पूर्ति करती है । साधु का मिलन ब्रह्म के मिलन सदृश है । सत्संगति का विवेचन करते हुए दादू कहते हैंकि-

`साध मिलै तब हरि मिलै, तब सुख आनन्द मूर ।
दादू संगति साध की, राम रह्या भरपूर ।।`[2]

इस प्रकार दादू अन्य संत कवियों की भांति नाम-सुमिरन, अजपा और प्रपत्ति को ही विशेष मान्यता देते हैं ।

भक्ति साधना में दादू ने अपने प्राणों का आसव ही मानों खींच कर बाहर निकाल दिया है । उनकी विनम्र और कातर उक्तियों में आत्मा की मूक आकुलता सहस्र कण्ठों से मुखरित हुई है । भक्ति-साधना में वे नवजात शिशु के सदृश दिखाई देते हैं[3]। कभी वह शिशु की भांति मचल एवं रूठ जाते हैं ।और मां से नाना प्रकार प्रार्थनाएं करते एवं मां को अपने आने के लिए आग्रह करते हुए दिखाई देते हैं । कभी वह शिशु की भांति उत्तेजित होकर कहते हैं कि---

`आतमा अन्तर सदा निरन्तर, ताहरी बाप जी भगति दीजे।
कहे दादू हिवै कोड़ि दत्त आपै, तुम बिना ते अम्हे नहीं लीजे ।`[3]

` भगति मांगो बाप भगति मांगो।` मुझे तुम्हारे नाम से प्रेम है ,उसके बदले में मैं ब्रह्मपुर, शिवपुर, वैकुण्ठपुर, इन्द्रासन, मोक्ष, कुछ भी नहीं लेना चाहता, मैं तो केवल तुम्हारी भक्ति के रंग में रंगा हुआ हूं ।

१- दादू दयाल की बानी, भाग १, मधि को अंग , १०,१३
२- वही भाग १, साध को अंग, २२
३- वही , भाग २, पद १७८

(शेष अगले पृष्ठ पर)

दादू तो केवल राम मिलन की प्यास से तड़प रहे हैं । बस वे तो यही कामना करते हैं कि --

` दूजा कुछ मांगों नहीं, हम कौ दे दीदार।
तूं है तब लग एक टक, दादू के दिलदार ।।
तूं है तैसी सुरति दे, तूं है तैसा प्रेम ।
सदिकै करों समीर, ~~के-सू-है~~ कों, बेर बेर बहुत मन्त।
भाव-भगति हित प्रेम ल्यौं, खरा पियारा कन्त[1] ।।

दादू दयाल इन सारे आचारों को मिथ्या बताते हैं, क्योंकि ये सब सत्य रूपी भगवान् की प्राप्ति कराने में असमर्थ है । बाह्याचारों की निस्सारता बताते हुए वे कहते हैं कि-

` झूठे देवा झूठी सेवा, झूठा करै पसारा।
झूठी पूजा झूठी पाती, झूठा पूजणहारा।।
झूठा पाठ करै रे प्राणी, झूठा भोग लगावै ।
झूठा आड़ा पड़दा देवे, झूठा थाल बजावै ।।[2]

अपनी भक्ति-साधना के मध्य दादू ने तो केवल `एक रस पान' किया था जिसके रस एवं स्वाद के समक्ष सभी रस नीरस एवं फीके थे । जैसा कि इससे पूर्व यह बताया गया है । दादू एक मात्र प्रेम के पुजारी थे क्योंकि प्रेम ही उन्हें दीक्षा रूप में मिला था । एक बार दादू ने बुड्ढन से पूछा कि हे देव, आपने तो मुखामृत(पान की पीक)देकर मेरी जाति ले ली । लोगों के बीच तुम्हारी कौन-सी जाति ख्यात है ? बुड्ढन ने कहा- मेरी जाति-पांति कुछ[3] नहीं है । मुझे पाने के लिए प्रेम का मार्ग छोड़ कर अन्य कोई मार्ग नहीं ।

शेष- १- दादू दयाल की बानी, भाग २, पद १७६
२- वही , विरह को अंग , ४३,४४,४५
३- वही ,~~विरह-को-अंग~~,भाग २-शब्द १६७
३-`दादू पैछे देव तुम, कौन सी जाति कहाव।
बूझा जाति न पांति है, प्रीति से कोई पाव।। दादूदयाल की बानी, विरह को अंग, २५१

अकबर बादशाह ने दादू से उनकी जाति पांति जानने की इच्छा प्रकट की उसका उत्तर देते हुए दादू कहते हैं कि--

`इसक अलह की जाति है, इसक अलह का अंग ।
इसक अलह मौजूद है, इसक अलह का रंग ।।`[1]

इस प्रकार दादू ने अपनी जाति-पांति, मां-बाप सब को भुला कर केवल उस `सुरति` में ध्यान लगा `एक राम` अथवा `राम रस` पान करने में लगे थे । वे कहते हैं कि-

`आतम चेतन कीजिये, प्रेम रस्स पीवै ।
दादू भूले देह गुण, ऐसे जन जीवै ।।
नैननहु आगे देखिये, आतम अन्तर सोइ ।
तेज पुंज सब भरि रह्या, झिलमिल झिलमिल होइ ।।

इस प्रकार जब तक उसे परमतत्व का साक्षात्कार नहीं होता तब तक वह `विरहिणी आत्मा` के सदृश्य तड़पती रहती है । प्रिय के दर्शन से ही उसके अंग-प्रत्यंग की तृप्ति होती है । दादू कहते हैं कि `बिरहा दुरसन दरद सौं, हमकौं देहु खुदाय ।`[2] हे खुदा ! आप हमें विरह ही दीजिए। समस्त सन्त साहित्य में दादू की शैली सफियाना प्रेम का दर्द कठिन है । इस प्रेम में जितनी अधिक तीव्रता है उतनी अधिक गहराई भी है । जैसी व्यग्रतापूर्ण प्यास है, वैसे ही उस रस का स्वाद भी है कि चाहे उसे जितना पिया जाय किन्तु कभी अरुचि नहीं होती । किन्तु उस `एकरस` को पाना अत्यन्त दुर्लभ कार्य है । उस `एकरस` की प्राप्ति किस प्रकार हो सकती है दादू कहते हैं कि-

`जब लग सीस न सौंपिये, तब लग इसक न होइ ।
आसिक मरणै ना डरै, पिया पियाला सोइ ।।

साधक जब उस `रस` को पा लेता है तत्पश्चात् उस रस के स्वाद का वर्णन करते हुए कहता है-

`रोम रोम रस पीजिये, एती रसना होइ ।
दादू प्यासा प्रेम का, यौं बिन तृपति न होइ ।।`[3]

१- दादू की बानी, विरह कौ अंग, १५२

२- वही भाग १, विरह कौ अंग ४८

३- वही परचा कौ अंग ३२७

अर्थात् उस रस का स्वाद ऐसा अद्भुत है कि तनिक भी स्वाद पाने के पश्चात् सदैव मैं उस रस को पीता रहूं। रोम रोम मैं वह रस व्याप्त हो जाये।

'आज्ञा अपरम्पार की, बांस अम्बर भरतार।
हरे पटम्बर पहिरि करि, धरती करै सिंगार।।'[१]

अर्थात् आसिक मासूक हो गया है। इस प्रेम के स्वामी के संकेत पर ही धरती हरीतिमा को धारण कर सलोना शृंगार करती है। और आकाश आदेश को माथे पर धारण करता है।

दादू द्वैत की चरम स्थिति को ही प्रेम-साधना की सच्ची कसौटी मानते हैं। इनके मत मैं जैसा अनुपम एवं अद्भुत वह रस है वैसे ही अनूठी उस रस-सन्देश को वहन करने वाली प्रेम की पाती भी है जिसे पढ़ने वाला कोई बिरला ही है। वेद-पुराण एवं अन्य शास्त्री ग्रन्थों का पढ़ना उस 'प्रेम' के बिना बिल्कुल व्यर्थ है। उस वियोग रूपी पारस के संस्पर्श से वियोगिनी में अद्भुत परिवर्तन हो जाता है और प्रेमी प्रेमिका बन जाता है, प्रेमिका प्रेमी। दादू की यही द्वैत की चरम सीमा की स्थिति है और साधना की सच्ची कसौटी।

प्रेमिका एवं प्रेमी प्रेम-क्रीड़ा कर रहे हैं जहां कभी अब वियोग के आने की सम्भावना नहीं है। दोनों एक रंग मैं रंगे हुए हैं जिनको पृथक् एवं पहचानना असंभव हो गया है। दादू कहते हैं कि-

'रंग भरि खेलौं पीउ सौं, तहं कबहुं न होय वियोग।
आदि पुरुष अन्तरि मिल्या, कुछ पूरब के संजोग।।'[२]

जीवात्मा और परमात्मा एक रस होकर भूला फूल रहे हैं। दादू कहते हैं कि-

'दादू दरिया प्रेम का, ता मैं झूलैं दोई।
इक आतम पर आत्मा, एकमेक रस होई।।'[३]

१- दादू दयाल की बानी, भाग १, बिरह कौ अंग १५७-८
२- वही, परचा कौ अंग, ८
३- वही, परचा कौ अंग ७

दादू के 'प्रेम-साधना' में 'प्रेम-प्याला' एक विशेष महत्व रखता है। 'प्रेम प्याला' में दादू की प्रेम-सधाना का समस्त सार खिंच कर भरा हुआ है। यहां दादू के 'प्रेम-प्याला' के कुछ उदाहरण दिये जा रहे हैं -

'दादू माता प्रेम का, रस में रह्या समाइ।
अन्त न आवै जब लगी, तब लग पीवत जाइ।।
जैसे नैनां कोइ हैं, ऐसे हौहिं अनन्त।
दादू चन्द चकोर ज्यौं रस पीवै भगवन्त।।
ज्यौं ज्यौं पीवै राम रस, त्यौं त्यौं बढै पियास।
ऐसा कोइ एक है, बिरला- दादू दास।।
दादू अमली राम का, रस बिन रह्या न जाइ।
पलक एक पावै न हीं तौ, तलफि तलफि मरि जाइ[1]।।

इस प्रकार सन्त साहित्य में 'प्रेम-प्याला' अपना पृथक् एवं विशेष महत्व रखता है।

अन्तिम सत्य की अनुभूति, दादू ने स्वयं साधक को ~~अन्तिम अनुभूति के पश्चात्~~ प्रकाश अथवा ज्योति रूप में ~~दिखाई~~ देती है। दादू कहते हैं कि वह ज्योति बिना बाती और तेल के दसों दिशाओं को प्रकाशवान करती रहती है।

उस प्रकाश-पुंज को दादू ने स्वयं देखा और कहा-

अविनासी अंग तेज का, ऐसा तत्त अनूप।
सो हम देख्या नैन भरि, सुन्दर सहज सरूप।
नैन हमारे नूर मां, तहां रहे ल्यौ लाइ।
दादू उस दीदार कौं, निस दिन निरखत जाइ।।
तेज पुंज की सुन्दरी, तेज पुंज का कन्त।
तेज पुंज की सेज परि, दादू बना बसन्त[2]।।

उस 'तेज पुंज' को किसी प्रकाश स्रोत की आवश्यकता नहीं क्योंकि संसार की सारी वस्तुएं उसी के प्रकाश से प्रकाशित होती हैं। दादू उसे निरपेक्ष सत्ता बताते हुए कहते हैं कि-

---

१- दादू दयाल की बानी- भाग १, परचा कौ अंग, ३१५, ३२१, ३२४

२- वही भाग १, परचा कौ अंग, ६३, ६८, १०६

सूरज नहिं तहं सूरज देख्या, चन्द नहीं तहं चन्दा।
तारे नहिं तहं झिलमिल देख्या, दादू अति आनन्दा।
बादल नहिं तहं बरसत देख्या, सबद नहीं गरजन्दा।
बीज नहीं तहं चमकत देख्या, दादू परमानन्दा[१]।।

दादू रहस्यानुभूति के लिए सूफी मत का अनुसरण करते हुए पाये जाते हैं। रहस्यानुभूति के लिए सूफी मत में चार अवस्थाओं को पार करने का विवेचन पाया जाता है। उन चार अवस्थाओं का वर्णन दादू ने अपने 'परचा को अंग' में वर्णन किया है। वे चार अवस्थाएं सूफी दर्शन की भांति क्रमशः मुकामेहस्त (शरीयत्)अरवाह मुकामे हस्त(तरीक़त) ,माबूद मुकामे हस्त(हक़ीक़त) तथा मारिफ़त है।

कबीर की योग-साधना जो ब्रह्म-प्राप्ति के लिए अनेक प्रकार के गोरखधन्धों से युक्त क्रिया-कलापों की योजना करती है उस प्रकार कि यौगिक क्रियाओं का वर्णन दादू की बानियों एवं पदों में नहीं मिलता है। दादू की रचनाओं में त्रिकुटी,अनहद बेनु,कम्बलरस,सहज,सुन्न सरोवर आदि का प्रयोग प्रचुर मात्रा में मिलता है किन्तु वे इनके माध्यम से सहज भाव युक्त प्रेम-योग की साधना करते हैं। दादू सदैव अपने को सहज मार्ग का पथिक कहते हैं जिसमें किसी प्रकार की साधना न करने पर भी समाधि-जन्य आनन्द प्राप्त होता रहता है। और अन्त में साधक को मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। जीवनपर्यन्त दादू का यह अटल विश्वास रहा है कि साधना में किसी भी बाह्य उपचार की आवश्यकता नहीं होती है क्योंकि समस्त सामग्री स्वयं भीतर ही प्राप्त हो जाती है। दादू ने इस मत का प्रतिपादन स्वानुभूति द्वारा किया है ऐसा दादू के निम्न पद से प्रदर्शित होता है वे कहते हैं कि-

काया अन्तर पाइया, त्रिकुटी के रे तीर।
सहजै आप लखाइया, व्यापा सकल सरीर ।।
काया अन्तर पाइया, अनहद बेन बजाइ।
सहजै आप लखाइया सुन्न मण्डल में जाइ।।[२]

१- दादू दयाल की बानी , भाग १, परचा को अंग, ६०,६१

२- वही वही १०,१२

`प्राण-पवन` के द्वारा मन को त्रिकुटी के संगम में वश करने के लिए कहा है तथा पांचों इन्द्रियों को अपने प्रियतम के चरणों में बांधने के लिए जोर दिया है ।[1]

दादू आदर्श योगी के निम्न लक्षण बताते हुए कहते हैं कि-

बाबा को ऐसा जन जोगी ।
अंजन छाड़ै रहै निरंजन, सहज सदा रस भोगी।
काया माया रहै विवर्जित, प्यंड ब्रह्मण्ड नियारै।
चन्द सूर थै अगम अगोचर, सो गहि तत विचारै ।।
गुण आकार जहां गमि नाहीं, आपै आप अकेला ।
दादू जाइ तहां जन जोगी, परम पुरिष सौ मेला।।[2]

दादू की `काया बेलि` में नाथ योगियों के `काया-गढ` का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है । नाथ पंथियों की भांति दादू के बानियों एवं पदों में अनेक शब्द जैसे सिरजनहार, औंकार, आकाश, धरती, पवन, प्रकाश, सूर्य, चन्द्र, अनहदनाद तीनों लोक `सरग-पयाल` चौदह भुवन, नौखण्ड एवं अखिल ब्रह्मांड मिलते हैं जो योग साधना के प्रति जानकारी दे जाते हैं। वे उनका कथन है कि-

काया माहैं ससिहर सूर । काया माहैं बाजै तूर ।।
काया माहैं कंदलि बार । काया माहैं है कविलास ।।
काया माहैं सब ब्रह्माण्ड । काया माहैं है नौ खण्ड ।।
काया माहैं लोक सब । दादू दिये दिखाइ ।
मानसा वाचा कर्मना । गुरु बिन लख्या न जाइ ।।[3]

दादू नाथ पंथियों के यौगिक-साधना से प्रभावित अवश्य है, किन्तु दादू की योग-साधना प्रेमानुभूति योग-साधना है । दादू साधना में सबसे प्रथम तन और मन को वश करना बताते हैं । तन मन के वश में हो जाने पर साधक को त्रिगुणात्मक प्रकृति से उत्पन्न आकार-प्रकार के सभी विकास प्रभावहीन हो जाते हैं, मन जब

१- दादू दयाल की बानी, भाग १, परचा को अंग २०२

२- वही भाग २, पृ० ८६

३- वही भाग २, पद २५७, ५८

सहज दशा को पा लेता है तो उसकी आत्मा प्रेम रस का आस्वादन करने लगती है।[1] दादू के मत में साधना का मार्ग शून्यमय रहता है, सुरति को चैतन्य के पथ पर ले चलना पड़ता है और वह लय में स्वयं को लीन किये रहती है । दादू इसे न तो योग-समाधि ही कहते हैं और न भक्तियोग ही वे इन दोनों के मध्य मार्ग का प्रतिपादन कर उसे 'सहज मार्ग' की संज्ञा देते हैं । इस सहज मार्ग में साधक किसी भी प्रकार की विशेष साधना एवं योग का योग न करते हुए भी उसे समाधि का सा आनन्द मिलता है।[2]

दादू ने योग-साधना का विवेचन एवं व्यवस्थित वर्णन कहीं भी नहीं किया है किन्तु निम्न पद में योग-साधना की झलक दिखाई पड़ती है वे कहते हैं कि-

'अब तो ऐसी बनि आई ।राम चरण बिन रह्यो न जाई ।।
साईं कूं मिलिबे के कारण, त्रिकुटी संगम नीर नहाई ।।
चरण कंवल की तहं ल्यौ लागै, जतन जतन करि प्रीति बनाई।।
जे रस भीना छावरि जावै, सुन्दरि सहजै संगि समाई ।
अनहद बाजे बाजण लागै, जिभ्या-हीणै कीरति गाई।।
कहा कहौ कछु बरणि न जाई, अविगति अन्तरि जोति जगाई।।
दादू उनको मरम न जाणै, आप सुरग बैन बजाई ।।[3]

परम योग के कुछ लक्षणों को दादू बताते हुए कहते हैं कि-

इहैं परम गुर जोगं, अमी महा रस भोगं ।
मन पवना थिर साधं , अविगत नाथ अराधं ।।
तहै सबद अनाहत नादं ।।१।।
पंच सखी पर मोधं, अगम ज्ञान गुर बोधं ।
तहै नाथ निरंजन सोधं ।।२।।
सतगुर माहिं बताया, निराधार घर छावा।
तहं जोति सरूपी पावा ।।३।।

१- दादू दयाल की बानी, भाग १, लै कौ अंग ४
२- वही वही लै कौ अंग १३,१०
३- वही भाग २ -बकी पद ७२

सहजै सदा प्रकासं, पूरण ब्रह्म विलासं ।
तहं सेवग दादू दासं ।।४।।[1]

'पिव' को दादू ने अपने भीतर ही पा लिया है । जो उसमें पूर्णरूपेण रम गया है वही इस रहस्य को जान सकता है । जहां वह अखण्ड ज्योति जगती है वही राम नाम से लगन लगती है तथा वहीं समीप में ही राम का निवास है वह 'तिरवेणी तटि तीरा, तहं अमर अमोलिक हीरा। उस हीरे सूं मन लागा, तब भरम गया भौ भागा।[2] साधक जब उस हीरे से अपना मन मिला देता है तभी पूर्ण परम निधान 'हरि' को सहज भाव से लखा जा सकता है । दादू के मत में सच्चा योगी बाह्या-डंबरों से रहित काया रूपी योगी वन में पांचों चेलों के साथ ज्ञान की गुफा में एकाकी निवास करता है । उस आत्मा रूपी योगी का धीरज ही कन्था तथा स्थिरता ही आसन है, सहज भाव ही मुद्रा और 'अलख' ही अधारी है । 'अनहद नाद' ही उसका श्रृंगी है । वह दर्शन हेतु निरन्तर भ्रमण एवं जागता हुआ उस अलख नगरी में पहुंचता है ।[2]

दादू को मृत्युंजयी ज्ञान की प्राप्ति हुई है उस ज्ञान का वर्णन करते हुए दादू कहते हैं कि-

मन पवना गहि आतम खेला, सहज सुन्नि घर मेला।
अगम अगोचर आप अकेला, अकेला मेला खेला ।।
धरती अम्बर चन्दन सूरा, सकल निरन्तर पूरा।[3]
सबद अनहद बाजहि तूरा, तूरा पूरा सूरा ।।

'अनहद नाद' को दादू ने सुन लिया है, वह नाद उनके रोम रोम में रम गया है । सुख के सरोवर में मन रूपी भौंरे ने कमल का रस(ब्रह्मरन्ध्र से स्रवित अमृत) रूपी लिया है वहां आत्मा रूपी हंस मोती चुगते हैं और उनके इस आनन्द को प्रियतम देखता है ।[4]

१- दादू दयाल की बानी, भाग १, पद २१२
२- वही वही पद ७६
३- वही वही पद ७६
४- वही पद, २४२
५- वही , परचा को अंग, १०,१२,१४,६४,६६,१०६

इस प्रकार दादू की योग साधना का बल विशेष रूप से प्रेम-प्रवाह द्वारा होता है वह स्वयं कहते है कि-

> परम तेज परगट भया, तहं मन रह्या समाइ ।
> दादू खेलै पीव सौं, नहि आवै नहिं जाइ ।।
> नैनहु आगैं देखिये, आतम अन्तर सोइ ।
> तेज पुंज सब भरि रह्या, फिलमिलि फिलिमिलि होइ।।
> तेज पुंज की सुन्दरी , तेज पुंज का कन्त ।
> तेज पुंज की सेज परि, दादू बन्या बसन्त ।।[१]

तथा

> ज्ञान गुरू की गूदड़ी, सबद गुरू का भेष।
> अतीत हमारी आतमा, दादू पंथ अलेष ।।[२]

अर्थात् योगी `सबद` की सुई से `सुरति` के धागा से काया रूपी कन्था को सीता है, वह युग-युग तक पहनाता है, लेकिन कभी भी वह फटता नहीं है ।

दादू कुछ योग विषयक बातों का वर्णन करते हुए कहते हैं कि-

> `सुन्न सरोवर मन भंवर, तहां कंवल करतार ।
> दादू परिमल पीजिये, सनमुख सिरजनहार ।।
> (दादू)तन मन पवना पंच गहि, ले राखै निज ठौर।
> जहां अकेला आप है, दूजा नाहीं और ।।
> सहज सुन्नि मन राखिये, इन दून्यूं के मांहि।
> लय समाधि रस पीजिये, तहां काल भय नाहिं ।।[३]

सन्तों के `सुरति-निरति` शब्दों का विवेचन पिछले अध्याय में विस्तृत रूप से हो चुका है । दादू का मत `सुरति निरति` के विषय में अन्य सन्तों की भांति ही है । दादू `सुरति-निरति` का वर्णन करते हुए कहते हैं कि-

---

१- दादू दयाल की बानी, परचा कौ अंग ,

२- वही , भेषा कौ अंग, ४६-४७

३- वही , परचा कौ अंग, ५३,५६,६६,२८४ लय कौ अंग, १०

जब लगि सुति सिमटै नहीं, मन निहचल नहिं होइ । [१]
तब लगि पिव परसै नहीं, बड़ी बिपति यह मोहि।।

अर्थात् जब तक सुरति सिमट कर बिना टूटे हुए आत्मा में एक तान भाव से नहीं लगती तब तक लक्ष्य सिद्धि नहीं मिल सकती । इस प्रकार दादू दयाल ने`सुरति` शब्द में अपनी स्वाभाविक प्रेम-भावना दिखाई है । इस`सरति निरति` प्रेम संबंधी अनेकों पदों को दादू ने प्रेम भावना दिखाते हुए लिखा है ।

नाथ-पंथ में उलटी साधना का प्रतिपादन हुआ है । इसमेंश्वास की स्वाभाविक धारा को उलट कर ऊपर की ओर ले जाने को बताया है । यह अत्यन्त कठिन योग साधना है । सन्तों ने भीउलटी साधना का स्वरूप बिल्कुल इसी प्रकार किया है । यह साधना तलवार की धार पर चलने के सदृश्य ही है । दादू दयाल ने भी इस उलटी साधना के बारे में कहीं कहीं बताया है , वे कहते हैं-

`दादू उलटि अपूठा आप मैं, अंतरि सोधि सुजाण ।
सो ढिग तेरा बावरे, तजि बाहिर की बाणि।।
सहज योग सुख में रहै , दादू निर्गुण जाणि ।
गंगा उलटि फेरि करि, जमुना माहै आणि ।। [२]

इस प्रकार निर्गुण भक्त दादू`सहज योग` में ही`उलटी साधना` का सुख और आनन्द पाते हैं । इनके मत में सभी मार्गों का लक्ष्य एक ही है । वह उलट फेर कर किसी न किसी प्रकार उसी लक्ष्य को प्राप्त करता है।

सहज जप पर विशेष बल देते हुए कहते हैं कि-
`मन माला तहं फेरिये, जहं दिवस न परसै रात ।
तहां गुरु बाना दिया, सहजैं जापिये तात ।।
सतगुर माला मन दिया, पवन सुरति सूं पोइ।
बिन हाथौं निस दिन जपै, परम जाप यूं होइ।। [३]

१- दादू दयाल की बानी, भाग १, बिरह को अंग २६।
२- वही भाग १, लय को अंग २१,३३।
३-

सहज जाप अन्तर जाप है, यह बिना उच्चारण के पठन निरोध के साथ-साथ ध्वनि रूप में मन में स्वाभाविक रूप से उठता रहता है। यह जाप मन की माला सेसम्पन्न होता है। यह सहज जाप धीरे-धीरे करके एक दिन उस ब्रह्म से अवश्य मिला देता है।

दादू ने इस सहज जाप को राम से श्वास निरोध पद्धति से समन्वित कर दिया है। वे कहते हैं कि-

'राम सबद मुख ले रहै, पीछै लागा जाइ।
मनसा बाचा कर्मना, तेहि तत सहज समाइ।।
अन्तर्गति हरि हरि करै, तब मुख की हाजत नाहिं।
सहजै धुनि लागीरहै, दादू मन ही माहिं।।[1]

इस प्रकार दादू के मत में सहज-योग की साधना में किसी साधना विशेष का प्रयोग न होने पर भी पूर्ण समाधि का सा आनन्द मिला करता है, और साधक पर काल का कोई वश नहीं चल पाता।

दादू की भक्ति-साधना अन्य संत कवियों के सदृश्य ही है। अन्य संतों की भांति इनका भी आरती-विधान स्थूल न होकर मानसिक भाव से पूर्ण है। वे कहते हैं कि' माहैं की जै आरती, माहैं पूजा होइ।माहै सतगुरु सेविये, बूझै बिरला कोइ।[2] इनका दास्य भाव साधक और प्रभु से पितृ तुल्य है। असंख्य पाप करने पर भी पिता पुत्र को क्षमा कर सकता है।

दास्यभाव का एक उदाहरण देखिए-

'बे मरजादा मिति नहीं, ऐसे किये अपार।
मैं अपराधी बाप जी, मेरे तुम ही एक अधार।।[3]

१- दादू दयाल की बानी, भाग १, मन को अंग पृ० २१,६३
२- वही परचा को अंग २६५
३- वही बिनती को अंग ७,पृ० २४६ (वे०प्रे०प्रयाग)

दादू के मत में प्रियतम का प्रेमी अपने सिर प्र को उतार कर उसके सम्मुख रख दें और अपने प्यारे के लिये समस्त अहंभाव को (बिरह की) आग में जला दे । अपने शरीर के टुकड़े टुकड़े करके प्रिय के आगे उत्सर्ग कर दे, फिर भी वह मधुर-मिलन कटुक प्रतीत हो तभी उसे उसका साथ मिल सकता है। दादू का मत अन्य सन्त कवियों की अपेक्षा "विनय मिश्रित मधुरता " से ओत प्रोत है ।वे अपने उद्गारों को व्यक्त करते समय उनकी प्रीति और नम्रता देखने लायक होती है । दादू के बारे में डा० द्विवेदी कहते है कि " अधिकांश में उनकी उक्तियां सीधी और सहज ही समझ में आ जाती है ।इनके पदों में जहां निर्गुण, निराकार ,निरंजन को भगवान के रूप में उपलब्ध किया गया है ,वहां वे कवित्व के उत्तम उदाहरण हो गये है । ऐसी अवस्था में प्रेम का इतना सुन्दर चित्र उपस्थित किया गया है कि बरबस सूफी भावापन्न कवियों की याद आ जाती है । कबीर के समान मस्तमौला न होने के कारण वे प्रेम के वियोग और संयोग के रूपकों में वैसी मस्ती तो नहीं ला सके है पर स्वभावत: सरल और नीरीह होने के कारण ज्यादा सहज और सुलभ बना सके । कबीर का स्वभाव एक तरह के तेज से दृढ़ था और दादू का स्वभाव नम्रता से मुलायम ।।"[1]

डा० द्विवेदी का कथन पूर्णरूपेण सत्य है ।दादू का स्वभाव अत्यन्त सरल एवं मृदुल था, वे सहज भाषा में कहते हैं कि --

" आपा मेटै हरि भजै , तन मन तजै विकार ।
निर्बैरी सब जीव सौं, दादू यह मत सार।।"[2]

~~अर्थ-किसी~~ अपने अहंकार को त्याग कर हरि को भजो । तन मन के विकारों को त्याग दो और सब जीवों से मैत्री-भाव रखो, यही सार तत्व है ।

श्री क्षितिमोहन सेन दादू के लिए कहते हैं कि परमात्मा के प्रति उनकी परम-भक्ति थी । परमात्मा में उनका दृढ़ विश्वास था । परमात्मा की असीम

१- डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी-हिन्दी साहित्य, पृ० १४५-

२- दादू दयाल की बानी,

शक्ति के ऊपर निर्भर रह कर ही दादू अपने मार्ग पर अग्रसर होते रहे । दादू के मत में विचार करके सत्य का प्रत्यक्ष करना ही सब दुखों की औषधि है ।वेद, पढ़ो, इससे कोई लाभ नहीं। सृष्टिकर्ता के अन्तर के प्रेम की व्यथा ही सृष्टि में प्रकाशित हो रही है । यह एक विराट् गम्भीर रहस्य है । ब्रह्मचित से युक्त हुए बिना यह रहस्य नहीं जाना जा सकता। भगवान को अपना हृदय दो, प्रेम दो, प्रेम के द्वारा उनके मन के साथ युक्त होओ और तभी ही उनके हृदय का रहस्य क्रमशः प्रकट होता जायेगा। ऐसा करके ही सृष्टि के मर्म का रहस्य जाना जा सकता है, नहीं तो वेद-पुराण कण्ठस्थ करते-करते मरने पर भी उनके रस-राज्य में प्रवेश नहीं हो सकता । पण्डित का राज्य शास्त्र में है और रसिक का विहार प्रेम राज्य में है। वहां पण्डित के लिए स्थान कहां ?[१]

दादू का प्राण दर्शन के लिए व्याकुल है वह व्याकुलता में चिल्ला उठते हैं और कहते हैं कि-

'दरसन दे, दरसन दे हां तो तेरी मुकति न मांगो रे ।
सिधि ना मांगों, रिधि ना मांगो, तुम्हहीं मागों गोविन्दा।
जोग न मांगो, भोग न मांगो, तुम्हहीं मागों राम जी।
घर नहिं मांगो, बन नहिं मांगो, तुम्हहीं मांगो देव जी।।
'दादू' तुम्ह बिन और न जानें दरसन मांगो देहु जी ।।[२]

इस प्रकार दादू ने विरह वर्णन बहुत ही सुन्दर एवं व्यापक रूप से किया है । कबीर दास ने जहां विचार-स्वातंत्र्य एवं निर्भयता को प्रश्रय दिया है वहीं स्वामी दादूदयाल ने सद्भावना और प्रेम को अपनी साधना में प्रथम स्थान दिया है । सहज समर्पण, सुमिरण एवं सेवा की उत्कृट लालसा दादू की भक्ति-साधना की विशेषता है ।

दादू ने भक्ति साधना के समस्त अंगों पर थोड़ा बहुत प्रकाश डाला है किन्तु वे समस्त अंग सद्भावना और प्रेम से पूर्ण हैं ।

१- पाटल -सन्त-साहित्य विशेषांक पृ० २१० आचार्य सेन -दादू और उनकी धर्म-साधना

२- सन्त सुधासार , पृ० ४२६

संत रविदास वा रैदास जी

संत रविदास वा रैदास जी अपना परिचय स्वयं अपनी रचनाओं में देते हैं। एक स्थल पर अपना परिचय देते हुए वे स्वयं कहते हैं कि-

'मेरी जाति कुटवां ढला ढोर ढोवंता नितहि बानारसी आस पास।
अब विप्र परधान तिहि करहि डंडउति तेरे नाम सरणाई रविदासु दास[1]।।

उक्त पद से यह पता लगता है कि इनके कुटुंब वाले 'ढेढे' लोग थे जो बनारस के आस पास किसी स्थल पर रहते थे। इनका पेशा ढोरों व मृत पशुओं को ढो ढो कर लाना था। इस प्रकार निम्न वंश के होते हुए भी उन्हें भक्त व महात्मा मान कर सदाचारी ब्राह्मणों तक ने भी इनको प्रणाम किया। किन्तु इनके वंश एवं जाति का विषय अभी तक विवादास्पद बना हुआ है। नाभादास की 'भक्तमाल' के टीकाकार प्रियादास और भक्त चरित-लेखक अनंतदास रैदास के पूर्वजों को ब्राह्मण बताते हैं।

संत रैदास के गुरु कौन थे ? यह भी अभी तक विवादास्पद है। कुछ विद्वान् इनको रामानंद के शिष्य मानते हैं किन्तु इसका कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं प्राप्त हो सका है। इतना अवश्य है कि इनकी रचनाओं पर स्वामी रामानन्द का प्रभाव परिलक्षित होता है। और ऐतिहासिक सूत्रों से यह प्रमाणित है कि स्वामी रामानन्द जी रैदास के समकालीन थे। अतः उनकी शिष्य परम्परा में रैदास रहे हों तो इसमें किसी प्रकार की संदेहात्मकता नहीं है।

आध्यात्मिक पक्ष

सन्त कवियों के परम तत्व के विवेचन में वैज्ञानिक पद्धति का अभाव है क्योंकि वे तार्किक न होकर स्वानुभूति पर बल देने वाले सीधे-सादे भावुक भक्त हैं। उन्होंने 'अपरम्पार का नाउं अनन्त' के अनुसार उसके अनेक नाम दिये हैं। 'राम' 'रहीम' खुदा, खालिक, केशव, करीम, बीठुल राई, सतु सचानाम, अपरम्पार, अलख, निरन्जन, पुरुषोत्तम निरगुन, निराकार, हरि, मोहन आदि असंख्य नाम हैं।

१- 'ग्रन्थ साहब' रागु मलार, पद १

संत रैदास ने ब्रह्म तत्व को अनिर्वचनीय बताया है । इनके मत में वह ब्रह्म अथवा परमतत्व विमल,एकरस,कभी उत्पन्न -विनष्ट न होने वाला,उदय-अस्त से परे,सर्वव्यापी ,निश्चल,निराकार,अज,अनुपम,अगम अगोचर,अजेय एवं निर्विकार है । संत रैदास उस परमतत्व का वर्णन करते हुए कहते हैं कि-

`निश्चल निराकार अज अनुपम, निरभय गति गोविन्दा ।
अगम अगोचर अच्छा अतरक, निरगुन अंत अनंदा ।।
सदा अतीत ज्ञान घन वर्जित, निरविकार अविनाशी ।
कह रैदास सहज सुन्न सत, जिवन मुक्त निधि नासी ।।[1]

अर्थात् वह परमतत्व ही एक ऐसा तत्व है जो स्थावर-जंगम के माला में गुंथे सूत्र की भांति ओत-प्रोत है । समस्त एवं सम्पूर्ण जल में लहरों की भांति उसी में समाया हुआ है । जैसे एक ही सोने से बने हुए आभूषण पृथक् पृथक् जान पड़ते हैं और किसी पत्थर में गढ़ दी गयी अनेक प्रतिमाएं भिन्न भिन्न जान पड़ती हैं किन्तु मूलत: वे एक होती हैं जिस प्रकार दर्पण में प्रतिबिम्ब दिखलाई पड़ता है, समुद्र में नभ स्थित वस्तुओं की छाया प्रतिभासित होती है तथा वायु से विभिन्न प्रकार की गन्ध का अनुभव हुआ करता है किन्तु इनसबके होते हुए भी उक्त दर्पण समुद्र व वायु प्रतिबिम्ब छाया गन्ध से अप्रभावित रहा करते है उसी प्रकार सांसारिक विकारों से वह ब्रह्म निर्विकार रहा करता है ।इस नित्य वस्तु में प्रतिभासित होने पर भी वे मिथ्या हैं ।

रैदास का `सच सरूप` वर्णन कबीर के ` परम तत्व` के सदृश्य ही है तथा कबीर के मत का ही रैदास समर्थन करते हैं । ये कबीर के परमतत्व की भांति ही कहते हैं कि-

`जस हरि कहिये तस हरि नाहीं,है अस जस कछु तैसा ।
जानत जानत जान रह्यौ सब, मरम कहौ निज कैसा ।।
करत जान अनुभवत आन, रस मिलै न बेगर होई ।
बाहर-भीतर प्रगट गुप्त, घट घट प्रति और न कोई ।।[2]

१- रैदास की बानी , पद ५३।३-४
२- वही पद ५४।१-२

सन्त रैदास विषयों में विमुग्ध मन को कुएं में पड़े मेढक की भांति बतलाते हैं। अन्य संतों की भांति ये भी इस मत का समर्थन करते हैं कि मायाग्रस्त मन को कुछ आर-पार नहीं सूझता। व्यक्ति परम तत्व के पाने की चेष्टा न करके मायाग्रस्त विषयों में ही उलझा रहता है, साथ ही साथ वह जिन मायावी वस्तुओं का ब्रह्म अथवा परमतत्व समझता है जब उसके निकट पहुंचता है तो वह सब निरर्थक प्रतीत होती है। वे भ्रमित सांसारिक जीवों अथवा व्यक्तियों के प्रति कहते हैं कि-

`मैं तैं तोरि मोरि असमझि सों, कैसे करि निस्तारा।
कहि रैदास कृस्न करुणामय, जै जै जगत आधारा।।[1]

कबीर की भांति ये भी काया और माया को`थोथी` बताते हैं एक स्थल पर कहते हैं कि -

`थोथी जनि पछोरी रे कोई, जोई रे पछोरी जामें निज कन होई।`[2]

माया में लिप्त व्यक्तियों के विषय में कहते हैं कि-

`माया के भ्रम कहा भूल्यो, जाहुगे कर झारि।
यहु माया सब थोथरी रे, भगति दिस प्रति हारि।।
कहि रैदास सप्त बचन गुरु के सो जिव ते न बिसारि।।[3]

`संत रविदास हिंदू-समाज के नियमानुसार नीच कुलोत्पन्न एवं नीच व्यवसाय से अपना जीवन यापन करने वाले व्यक्ति थे और इनका दारिद्र्य देख कर लोग बहुधा इनकी हंसी भी उड़ाया करते थे।[4]

रैदास यह सदैव उपदेश करते एवं कहा करते थे कि इस प्रकार ही`राम` का परिचय पाने पर`दुविधा` नष्ट होती है और पिंड का रहस्य जान लेने पर मनुष्य जल के ऊपर तुंबे की भांति संसार में सदा विचरण करता है। जब तक यह `परम वैराग` की स्थिति प्राप्त नहीं होती, तब तक`भगति` के नाम पर की जाने वाली सारी साधनाएं केवल भ्रम-मात्र कही जा सकती हैं।`[5]

१- सन्त सुधासार, पृ० १८८
२- वही पृ० १६१
३- वही पृ० १६४
४- ग्रन्थ साहिब` रागु बिलावल पद १
५-`उत्तरी भारत की सन्त परम्परा-

संत दर्शन की यह सामान्य प्रवृत्ति है कि वे सबसे पहले यह मानते हैं कि भ्रम व अज्ञान ही सब दु:खों का कारण है । संत रैदास भी इस मत से अछूते नहीं हैं वे भी दु:खों का मुख्य कारण भ्रम एवं अज्ञानता मानते हैं तथा यह भी कहते हैं कि साधक का परम कर्तव्य इस भ्रम और अज्ञानता को दूर करना है । यह किस प्रकार दूर किया जाय इसका विवेचन भी इन्होंने किया है ।[१]

इस भ्रम और अज्ञानता को दूर करने के लिए बहुत से संत धर्म का निरूपण करते हैं और वेद पुराणादि के आधार पर कर्म अकर्म पर विचार करते हुए विधि-निषेधों के नियम स्थिर करते हैं किन्तु बाह्य बातों में व्यवस्था आ जाने पर भी केवल इसी के द्वारा भीतरी शान्ति नहीं मिलती और हृदय का संशय ज्यों का त्यों बना रह जाता है । रैदास का मत है कि इस संसार में अपना जीवन यापन करने वाले प्रत्येक व्यक्ति को सदा काम,क्रोध, लोभ व मोह की प्रवृत्तियों को छोड़ देना चाहिए क्योंकि उक्त समस्त प्रवृत्तियों में भ्रम व्याप्तमान है ।

इसलिए मानव-समाज में रहते हुए जब कभी उसकी उपेक्षा कर भक्ति की शरण में जाना चाहते हैं तब उसकी प्रतिक्रिया के रूप में आसक्ति प्रबल हो उठती है और जब आसक्ति के प्रभाव में आ जाते हैं तब उससे छुटकारा पा कर भक्ति की ओर भाग पड़ने को जी चाहता है । इन दो परस्पर विरोधी बातों के फेर में पड़ कर वे कष्ट फेला करते हैं और समझ में नहीं आता कि क्या करें । सबसे बड़ी समस्या तो तब आती है जब उक्त द्वन्द्व से बचने के लिए विवश होकर अपने को सभी प्रकार से भगवान् के ऊपर छोड़ देना चाहते हैं इससे उसका प्रत्यक्ष अनुभव नहीं हो पाता है । आश्चर्य है कि सब के भीतर और सबके बाहर निरन्तर विद्यमान रहता हुआ भी वह हमारे अनुभव में क्यों नहीं आया ।[२]

---

[१] रैदास की बानी (बे०प्रे०प्रयाग)शब्द ५४ पृ० २५

[२] (वही सन् १६३० ई०)पद ७५,पृ० ३७

रैदास का साधना पक्ष :-

संत रैदास की रचनाओं में किसी साधना विशेष का स्पष्ट विवेचन नहीं मिलता है। इनकी बिखरी रचनाओं में यदा-कदा प्रसंगवश इनकी साधना और भक्ति की झलक दिखाई पड़ती है। इनकी भक्ति एवं साधना की एक विशेष बात यह है स्पष्ट होती है कि इनकी 'प्रेम भगति' का मूल या लक्ष्य अहंकार की निवृत्ति करना है। गर्व,अभिमान,इत्यादि प्रवृत्तियों को वे साधना के मार्ग में बाधक मानते हैं। रैदास के मत में'अहं' द्वारा भगवान की प्राप्ति करना असंभव कार्य है। वे कहते हैं कि साधक को उस'परम तत्व' की प्राप्ति के लिए सभी बातों की आशा का परित्याग कर केवल उसी एक में अपने ध्यान को एवं अपनी सारी प्रवृत्तियों को एक स्थल पर केन्द्रित करना चाहिए तत्पश्चात् साधक को उसी एक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अपना सर्वस्वअर्पित कर देना चाहिए। साधक स्वयं अपने को एवं अपनी सत्ता को भूल जाय संत रैदास का कहना है कि'वास्तविक परिचय प्राप्त करने का रहस्य केवल सच्ची'सोहागिनी' ही जानती है जो अपने प्रिय पर अपना तन-मन-धन सब कुछ न्योछावर कर देती है और वह अपने अन्दर न तो अहम् भाव एवं द्वैतभाव ही रखती है। किन्तु जो स्त्री अपने पति से प्रेम नहीं करती तथा एकनिष्ठ भाव नहीं रखती वैसी स्त्रियां सदैव दु:ख की भगिनी होती है और सदैव ही दु:ख पाती हैं इस प्रकार की स्त्रियां दुखागिनी कहलाती हैं।'[१]

आत्म-समर्पण की उत्कृष्ट भावना का विकास कबीर की भक्ति में अधिक विस्तृत रूप से मिलता है रैदास ने भी अपनी साधना में इस आत्म-समर्पण पर विशेष बल दिया है एक स्थल पर वे कहते हैं कि :-

'मैर मिटी सुकता भया, पाया ब्रह्म बिसास।
अब मैरे दुजा को नहीं, एक तुम्हारी आस।।

अर्थात् प्रभु का विश्वास प्राप्त कर मेरा सारा अहं भाव नष्ट हो गया है। अब मेरे अन्दर द्वैत भावना नहीं रही, एक मात्र प्रभु की आशा रह गयी है।

१- श्री गुरुग्रन्थ साहिब- राग सुही , पद १

रैदास के मत में जो व्यक्ति हरि सा हीरा छोड़ कर अन्य तुच्छ वस्तुओं की आशा करते हैं वे यमपुरी जाते हैं ऐसा सत्य रैदास कहते हैं । जब तक मन की प्रवृत्तियाँ चंचल रहा करती हैं तब तक अनन्य भक्ति का होना असम्भव है । जो मन हरि से पृथक होकर कुमार्गी हो काम, क्रोध ,मद ,लोभ मोह की पूजा में लगा रहता है वह उक्त भक्ति का हो ही नहीं सकता किन्तु जब थोड़े अन्न-अदात से अपने परिवार का पोषण करता हुआ हरि भक्त और भगवान् को ही जानता हुआ अन्य सबसे सम्बन्ध विच्छेद कर लेता है वही प्रभु का निर्मल भक्त बन जाता है और रात दिन प्रभु-प्रेम में डूबा रहता है[1]।

अनन्य-परायणता में भी रैदास विश्वास करते थे वे कहते हैं कि-

' मैं अपनी मन हरि से जोर्यो । हरि से जोरि सबन से तोर्यो ।।
सब ही पहर तुम्हारी आसा । मन क्रम बचन कहै रैदासा ।।[2]

सन्त रैदास कबीर की अपेक्षा अधिक विनम्र एवं भावुक थे 'भक्तमाल' के रचयिता नाभादास एक स्थल पर रैदास के विषय में कहते हैं कि -

' रैदास जी ने सदाचार के जिन नियमों के उपदेश दिये थे वे वेद शास्त्रादि के विरुद्ध न थे और उन्हें नीर-क्षीर-विवेक वाले महात्मा भी अपनाते थे ।इनके चरणों की वन्दना लोग अपने वर्णाश्रमादि का अभिमान त्याग कर भी किया करते थे । सन्देह ग्रन्थि के सुलझाने में उनकी निर्मल वाणी पूर्ण क्षम है ।[3]'
सन्त रैदास का मत है कि बिना साधु-संगति के भाव नहीं हो सकता और बिना भाव के भक्ति का होना असम्भव है । अपनी बानी में एक स्थल पर कहते हैं कि-

'साध संगति बिना भाव नहिं ऊपजै, भाव बिन भगति नहिं होय तेरी।
कहै रविदास एक बेनती हरि सिउ, पैज राखहु राजाराम मेरी[4] ।।'

जब तक मन में किसी भी प्रकार की कामना शेष है तब तक उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती । नदी जब तक समुद्र में समा नहीं जाती तब तक उसे अपने अहं की अनुभूति रहती है । जब मन राम-सागर में मिल जाता है तब उसकी समस्त व्याकुलता समाप्त हो जाती है । तभी उसे शान्ति मिलती है । भक्ति का वर्णन करते हुए कहते हैं कि-

---

१- रैदास जी की बानी, (बे०प्रे०)साखी १ पद २५ (२)रैदास की बानी(बे०प्रे०)
३- नाभादास-भक्तमाल,छप्पय ५६। (४) रैदास की बानी २. ३

कहते हैं कि-

> 'आयो गयो तब भगति पाई, ऐसी भगति भाई ।
> राम मिल्यो आपो गुन खोयो, रिधि सिधि सबै गंवाई ।।[1]

भक्ति,योग साधन,इन्द्रिय-बन्धन ,मिताहार वैराग्य एवं अन्य ~~निष्कर्ष~~ बाह्याडंबरों में नहीं है ।

रैदास की रचनाओं को देखने से यह निष्कर्ष निकलता है कि ये भी साधना में बाह्याडंबर एवं सांसारिक जप तप पर विश्वास नहीं करते ।

> 'मन ही पूजा मन ही धूप , मन ही सेऊं सहज सरूप ।
> पूजा अरचा न जानूं तेरी । कह रैदास क्वन गति मेरी ।।[2]

इसके अतिरिक्त वे परम वैराग्य की स्थिति का होना भी आवश्यक समझते है । भक्ति के बारह भेदों में से रैदास पूजा शक्ति को विशेष महत्व देते हैं एक स्थल पर पूजा शक्ति की महत्ता को बताते हुए कहते हैं कि-

> 'जोई जोई पूजिय सोइ सोइ कांची, सहज भाव सत ~~ये~~ होई[3] ।
> कह रैदास मैं ताहि को पूंजूं जाके ठांव-नावं नहिं होई ।।

नाम-स्मरण के प्रति रैदास की असीम श्रद्धा एवं विश्वास था । उनका मत है कि जब सच्ची नाम-रट लग जाती है तब भक्त भगवान् से मिल कर एक हो जाता है । साधक की समस्त इन्द्रियां एवं प्रवृत्तियां प्रभु में ही केन्द्रित हो जाती हैं और फिर वह कहने लगता है --

> ' अब कैसे छूटे नाम रट लागी ।
> प्रभु जी तुम चन्दन हम पानी । जाकी अंग अंग बास समानी।।
> प्रभु जी तुम घन बन हम मोरा। जैसे चितवत चन्द चकोरा ।।

१- रैदास की बानी , पृ० १३
२- वही पृ० १८
३- वही पृ० ४।५

प्रभु जी तुम दीपक हम बाती । जाकी जोति बरै दिन राती ।।
प्रभु जी तुम मोती हम धागा । जैसे सोनहिं मिलत सुहागा ।।
प्रभु जी तुम स्वामी हम दासा । ऐसी भक्ति करै रैदासा[१] ।।

इस प्रकार रैदास ने नाम-स्मरण की महिमा का स्पष्ट विवेचन किया है ।

संत कवियों में कबीर,दादूदयाल,नानक देव प्रमुख कवि हैं जिनकी बानियों में योग साधना का बहुत ही विस्तृत एवं व्यवस्थित वर्णन पाया जाता है । इसके अतिरिक्त अन्य संतों की बानियों में योग-सधाना की झलक मात्र दिखायी देती है। निम्न पद में रैदास ने योग का सम्पूर्ण एवं व्यवस्थित विवेचन किया है :-

' ऐसा ध्यान धरौं बरौ बनवारी , मन पवन दै सुखमन नारी ।
सो जप जपहूं जो बहुरि न जपना, सो तप तपौं जो बहुरि न तपना।।
उलटी गंग जमुन मैं लावौं, बिनही जल मंजन ह्वै पावौं ।।
पिण्ड परै जिव जिस घर जाता , सबद अतीत अनाहद राता ।।
सुन्न मण्डल मैं मेरा बासा, ता ते जिव मैं रहौं उदासा।।
कह रैदास निरंजन ध्यावौं, जिस घर जांव सो बहुरि न आवौं।।[२]

इस प्रकार कुछ विद्वान रैदास की मुख्य साधना का पता लगाने की चेष्टा कर रहे हैं और वे कहते है कि ' गुरु परम्परा क्रम से प्रचलित उसके अंगों की चर्चा करते हुए उनका नाम ' अष्टांग साधन ' भी बताते हैं । वे उनके अंगों अंगों का वर्णन भी करते हैं वे आठ अंग क्रमश: गुरु,सेवा,संत , उसके बाह्य अंग थे- नाम,ध्यान,प्रणति उसके भीतरी अंग हैं - प्रेम, विलय अथवा समाधि उसकी अंतिम अवस्था को सूचित करते थे जिनके द्वारा साधक ब्रह्म में लीन होकर पूर्ण सिद्ध अथवा सन्त बन जाता है ।[३] '

१- रैदास की बानी, पृ० पद ८६
२- वही पद ५६
३- विश्वभारती पत्रिका, कार्तिक पौष, सं० २००२, पृ० २१५

इस प्रकार भक्तिकाल की निर्गुणधारा में संत रैदास रविदासी व रैदासी सम्प्रदाय की स्थापना की । रैदास के पश्चात् इस सम्प्रदाय के अनुयायी बहुत लोग हुए । ब्रिग्स साहब रैदास सम्प्रदाय के विषय में लिखते हैं कि `रैदासी सम्प्रदाय के अनुयायियों का पंजाब राज्य के गुड़गांव तथा रोहतक जिलों और दिल्ली राज्य के भी अनेक भागों में एक बड़ी संख्या में वर्तमान होना लिखा है और गुजरात में उनका `रविदासी` कहला कर प्रसिद्ध होना भी बतलाया है।[१]

आज भी रैदास के लाखों हरिजन भक्त पूर्वी जिलों के निम्न जातियों में पाए जाते हैं जो घूमधाम कर रैदासी मत के प्रचार के साथ-साथ भक्तों में आध्यात्मिक जागरण करके,उनके गले में कण्ठी बांध कर दीक्षान्त करते हैं । रविदास सभायें भी प्रत्येक वर्ष रविदास जयन्ती मनाती हैं और स्थान-स्थान पर रविदास मंदिरों की स्थापना हुई है । राष्ट्रीय सरकार ने भी माघी पूर्णिमा को जिस दिन रविदास जयन्ती मनायी जाती है, सार्वजनिक अवकाश की घोषणा करती है ।

१- जी० डबल्यू० ब्रिग्स :`दि चमार्स` (रैलिजस लाइफ आफ इंडिया सिरीज़) पृ० २१०

सुन्दरदास

संत सुन्दरदास दादू दयाल के प्रमुख एवं योग्य शिष्यों में से एक थे । दादू पंथ के प्रसिद्ध अनुयायियों में सबसे अधिक जानकारी अभी तक सुन्दरदास के सम्बन्ध में ही मिल सकी है । संत सुन्दरदास बूसर गोत के खंडेलवाल वैश्य थे । इनका जन्म चैत सुदी ६ सं० १६५३ को जयपुर राज्य की प्राचीन राजधानी धौसा नगर में हुआ था । इनके पिता का नाम परमानंद तथा माता का नाम सती था ।[१]

छ: वर्ष की अवस्था में ही ये दादूदयाल के शिष्य हो गये थे । इसका वर्णन सुन्दरदास ने स्वयं अपनी रचनाओं में किया है । ऐतिहासिक तथ्यों से यह ज्ञात होता है कि वे भ्रमणप्रिय व्यक्ति थे । उन्होंने पूरा जीवन देशाटन में ही व्यतीत किया। दादूपंथी तथा सुन्दरदास के अन्य गुरु भाइयों में घड़सीदास,प्राग दास,जगजीवन जी,संतदास ,बखना जी हैं । इनकी मृत्यु मिती कातिक सुदी ८ संवत् १७४६ को हुई ।

सुन्दरदास के अभीतक कुल ४२ ग्रन्थ प्राप्त हो सके हैं । जिनमें से सभी `सुन्दर ग्रन्थावली` के अन्तर्गत बड़े ही व्यवस्थित ढंग से सम्पादित हुए हैं । इनके प्रमुख ग्रन्थ`ज्ञान समुद्र` और `सवैया` हैं । दूसरे ग्रन्थ को कभी-कभी`सुन्दरविलास` भी कहा जाता है ।`ज्ञान समुद्र` भी इन्हीं का ग्रन्थ है किन्तु प्रारम्भ में के दोनों ग्रन्थ इनके प्रमुख ग्रन्थ हैं ।

सुन्दरदास के प्रमुख पांच शिष्य थे , जो दयालदास, श्यामदास, दामोदर दासनिर्मलदास व नारायण दास के नाम से बाद में प्रसिद्ध थे ।

दार्शनिक पक्ष :-

दार्शनिक सिद्धान्त विशेषत: ब्रह्म, जीव, माया और जगत् इन चारों तत्व पर आधारित है। सभी सन्तों ने यदि व्यवस्थित नहीं,तो इन तत्वोंके उपर थोड़ा बहुत

१- उत्तरी भारत की संत- परम्परा, परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ४२७ ।

प्रकाश अवश्य डाला है । कुछ प्रमुख जैसे संन्त कबीर,दादु, सुन्दरदास पीपा, रज्जब आदि ने तो विस्तृत रूप से इन तत्वों का वर्णन किया है ।

सुन्दर दास ने ब्रह्मतत्व को विश्वमय और विश्व को ब्रह्ममय कह कर सर्वात्मवाद की पुष्टि की है ।` तोही में जगत यह तु ही है जगत मांहि, तो मैं अरु जगत मैं भिन्नता कहां रही ` कह कर ` खालिकु खलकु खलकु महि खालिकु` की ही पुनरावृत्ति की है । सन्त सुन्दर दास के मत में--

हिन्दु की हदि छाड़ि कै, तजी तुरक की राह ।[1]
सुन्दर सहजे चीन्हिया, एकै राम अलाह ।।

राम अलाह से तभी मिल सकते है जब हिन्दू और मुसलमान धर्म की संकुचित सीमाओं का अतिक्रमण कर साधक सहजभाव से उसे खोजने की चाह मन में जगा ले ।

अन्त में सुन्दर दास सर्वात्मवाद की पद्धति से परमब्रह्म का निरूपण करते हुए कहते हैं कि निश्चित रूप से वह ` दिलदार` दिल में है किन्तु दृष्टि को विषयों की ओर से पराड़्मुख करके अन्तरमुखी करने पर ही वह दिखाई देता है । वह जल, स्थल, वायु, अग्नि, प्रकाश, तेज और ज्योति में तद्रूप बनकर समाया है । उसका वर्णन अवर्णनीय ही है । साक्षात्कार के पश्चात उसकी स्थिति का वर्णन करते हुए संत सुन्दर दास कहते हैं कि-` जो कहूं सब में वह एक ` तो सो कहै , कैसो है,आंखि दिखइये ।

जो कहूं सब में वह एक तो सो कहै, कैसो है,आखि दिखइये ।
जो कहूं रूप न रेख तिसे कछु तौ सब झूठके मानै कहइये ।।
जो कहूं सुन्दर`नैननि मांझि` तो नैनहूं बैन गये पुनि हइये ।[2]
क्या कहिये कहते न बनै कछु जो कहिये कहते ही लजइये ।।

वह एक में अनेक है । अत: उसे एक कहना भी असत्य है । वह अन्त का भी स्पर्श करता है और फिर आदि, अन्त,मध्य किसी भी सीमा में नहीं आता । यदि उसे गुप्त कहा जाता है तो समस्त सृष्टि में वही तो प्रकाशित हो रहा है ।उसकी महिमा अपरम्पार एवं विचित्र है । सुन्दर दास जीव-ब्रह्म का सम्बन्ध प्रिय और प्रियतम के सदृश्य बताते हैं । प्रिया उस प्रियतम के लिये व्याकुल है ,एवं विरह की ज्वाला में जल रही है । सुन्दर दास की विरहणी आत्मा, प्रिय-मिलन की तीव्र

१- सन्त सुधासार , पृ० ५६७ ।
२- वही ,, पृ० [illegible] ।

उत्कंठा में व्यथित हो कर कहती है कि -

ये श्रवन सुनन को बैन धीरज ना धरै ।

बाल्हा, हिरदै होइ न चैन ,कृपा प्रभु कब करै ।।

मेरै नखसिख तपति अपार दु:ख कासौं कहौं ।

जब सुन्दर आवै यार सब सुख तौ लहौं ।।[1]

वह सुन्दर दिवस कब आयेगा जब कि तुम मुझे दर्शन दोगे । हे बालम , चन्द्रमा को देखने के लिये चकोर की भांति मेरे ये नयन तुम्हारा पथ ढूंढ ढूंढ़ कर थक गए , पपीहा की भांति ' पी कहां' 'पी कहां' बोलते बोलते वाणी सूख गयी है ।

इस प्रकार उक्त पद में सन्त सुन्दर दास ने जीव-ब्रह्म की अद्वैतता को स्वीकार किया है किन्तु व्यावहारिक रूप में वे अपनी व्याकुलता को प्रेमानुभुति के प्रतीकों के रूप में तीव्रता प्रदान करते हैं । इस प्रकार जीवात्मा दाम्पत्य-रति की प्रगाढ़ प्रेमानुभुति का अनुसरण कर स्वयं को प्रियतम ब्रह्म के प्रति समर्पित कर देती है। इस समर्पण-जनित आनन्दानुभुति की ही संज्ञा रहस्यवाद है । सन्त साहित्य में प्रतीकों के प्रयोग के विषय में डा० राम कुमार वर्मा का कथन है कि ' यदि इन प्रतीकों की स्थापना न होती तो रहस्यवाद की भी सृष्टि नहीं हो सकती थी । योग के नाड़ी साधन तथा षट-चक्र-वेधन से सहस्त्र दल कमल स्थित ब्रह्म की अनुभुति समाधि द्वारा सम्भव है किन्तु जीव के लिये सरल मार्ग प्रतीकों द्वारा ब्रह्म का नैकट्य प्राप्त करना ही है ।'[1]

समस्त सन्तों की भांति सुन्दर दास ने भी जगत् विशिष्ट को सत्य और मिथ्या दोनों ही माना है । इनके भी मत में जो व्यक्ति मूल तत्व पर नश्वर नाम-रूप का अध्यारोप कर लेता है उसे संसार सत्य दिखाई पड़ता है किन्तु जब ज्ञान के द्वारा मूल तत्व पर से अज्ञान का आवरण नष्ट हो जाता है तब संसार असत्य दिखाई पड़ता है । संत सुन्दरदास का यह विचार है कि अव्यक्त

१- डा० रामकुमार वर्मा- अनुशीलन पृ० ७६

को व्यक्त करने के लिए माया का आवरण धारण करना पड़ता है और जब तक साधक ज्ञान के लिए इन्द्रिय के माध्यम को स्वीकार करता है तभी तक वह वास्तविकता से दूर रहता है किन्तु जब वह इन्द्रियों से ऊपर उठ जाता है तो ब्रह्म का आवरण स्वत: नष्ट हो जाता है ।

'सुन्दर विलास' में संत सुन्दरदास का कथन है कि विभिन्न पात्रादि के मूल में मिट्टी ही है, मिट्टी ही पात्रों के रूप में सुघटित होकर अनेक नाम धारण करती है, इसी प्रकार ब्रह्म ही जगत् के विभिन्न रूपों में परिवर्तित होकर संसारी जनों की आंखों से ओझल हो जाता है[१]।

सुन्दरदास एक सुशिक्षित सुयोग्य एवं विद्वान् कुल के व्यक्ति थे । उन्होंने सांख्य वेद पुराण तथा विभिन्न योग शास्त्रों की उच्चशिक्षा प्राप्त की थी । अत: इनका सृष्टि तत्व निरूपण इन्हीं वेद,सांख्य,उपनिषदों से आधारित है । सृष्टि-तत्व निरूपण के बारे में संत सुन्दरदास का मत है कि -

ब्रह्म से पुरुष अरु प्रकृति प्रकट भई ।
प्रकृति तें महतत्व पुनि अहंकार है ।।
अहंकार हूं तें तीन गुण सत, रज ,तम
तमहूं में महाभूत विषय पसार है ।।
रजहूं तें इन्द्रिय दस पृथक् पृथक् भई ।
सतहूं तै मन आदि देवता विचार है ।।
ऐसे अनुक्रम करि सिष्य सूं कहत गुरु
सुन्दर सकल यह मिथ्या संसार है ।।[२]

सांख्य दर्शन के सदृश्य तत्व सदैव क्रमश: सूक्ष्म होता जाता है सुन्दरदास भी इस सत्य का समर्थन करते हैं और कहते हैं कि-

'भूमि तैं सूक्षम आप को जानहुं, आप से सूक्ष्म तेज को अंग।
तेज तैं सूक्षम वायु बहै नित, वायु तै सूक्षम व्योम उतंगा।।

१- सुन्दरविलास, अंग २४।४

२- वही, सांख्य ज्ञान को अंग, ७

व्योम तैं सूक्ष्म है गुण तीन, तिहुं ते अहम् महत्तत्व प्रसंगा।
ताहिं तें सूक्ष्म मूल प्रकृति जु, मूल तैं सुन्दर ब्रह्म अभंगा ।।[1]

अत: सुन्दरदास का दार्शनिक सिद्धान्त वेदान्त सांख्य पर आश्रित है । `जगन्मिथ्या कौ अंग` में वेदान्त की भांति सुन्दरदास ने निरुपाधि ब्रह्म की ही सत्ता मानी है । जगत् की स्वतंत्र सत्ता न मानते हुए उसे ब्रह्म में भासमान बतलाया है । इस प्रकार इन्होंने ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या, अद्वैतदर्शन का समर्थन किया है ।

ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या का वर्णन करते हुए सुन्दरदास कहते हैं कि-

`कहत हैं देह मांहि जीव आइ मिलि रह्यौ,
कहां देह कहां जीव वृथा बौंकि पर्‌यौ है ।
बूड़िबे कै डर तैं तिरन कौ उपाइ करै,
ऐसे नहिं जानैं यह मृगजल भर्‌यौ है ।।
जेवरी कौ सांपु जैसे, सीप विषै रूपौ जानि,
और कौ औरइ देखि, यौं ही भ्रमकर्‌यौ है ।
सुन्दर कहत यह एकई अखण्ड ब्रह्म,
मही कौ पलटि कै जगत् नाम धर्‌यौ है ।।[2]

उक्त कवित्त मैं वेदान्त का अध्यासवाद फलकता है । अतद् में तद् बुद्धि का उदय होना अध्यासवाद है । ब्रह्म दृश्य जगत् के परिवर्तनों का अधिष्ठान है जिसके ऊपर अविद्यावशात् उसका अध्यास होता है । सीप में रजत और रज्जु में सर्प का भ्रम होना अध्यास ही है । वे आगे कहते हैं कि `सुन्दर जानैं ब्रह्म मैं ब्रह्म जगत द्वै नाहिं` अर्थात् इसी से नाम रूप का उदय होता है और वे अव्यक्त में ही समा जाते हैं । इस प्रकार सुन्दरदास अद्वैतवाद के द्वारा सर्वात्मवाद के भी उस शीर्ष विन्दु पर पहुंच जाते हैं जहां `सर्व खल्विदं ब्रह्म` प्रमाणित हो जाता है ।

१- सुन्दर विलास , सांख्य कौ अंग २६
२- सन्त सुधासार, स्वामी सुन्दरदास-पृ० ६३४

सन्त सुन्दरदास का जगत् वर्णन वेदान्त मत से अनुप्राणित है । प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से सांख्यदर्शन का प्रभाव भी दिखाई पड़ता है । सांख्यों के द्वैत भाव को स्वीकार न करते हुए अद्वैत वादियों की भांति ब्रह्म और जगत् का सम्बन्ध बताते हैं ।

आध्यात्मिक एवं साधना पक्ष :-

दादू एवं गरीबदास की भांति सुन्दरदास ने भी नाथ-पंथियों के यौगिक साधना से प्रभावित होते हुए भी योग-साधना का पर्यवसान प्रेम संयुक्त भक्ति में किया है । इनके मत में आशाओं एवं कामनाओं को वश में न करने वाले किन्तु काया को विविध प्रकार के कष्ट देने वाले योगियों पर तथा उनकी योग-साधना पर तीव्र आलोचना की है । 'सन्त सुधासार' में एक स्थल पर सुन्दर दास जी का कथन है कि ' हे योगी ! तुमने घर द्वार एवं स्त्री-पुत्रादि के प्रेम को त्याग कर भस्म धारण की । अपने शरीर पर शीत-ग्रीष्म एवं पावस के अनेक कष्ट सहे, पंचाग्नि तापी, वृक्ष के नीचे निवास कर भूख सही । बिछौने का त्याग कर कुश के आसन को ग्रहण किया और उस पर सिद्धासन लगाया किन्तु चित्त की चंचल इच्छाओं पर काबू न पा सके ।'[1]

योग-सिद्धि के लिए बाह्याडंबरों एवं काया को कष्ट देने के कठिन मार्ग का असमर्थन करते हुए सुन्दर दास जी सहजमार्गी का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि-

'यह कोमल हृदय रहै निशवासर बोलै कोमल बानी।
पुनि कोमल दृष्टि निहारै सबको कोमलता सुख दानी।।
ज्यों कोमल भूमि करै नीकी विधि बीज वृद्धि ह्वै आवै।
त्यों इहै आर्जव लक्षण सुनि शिष योग-सिद्धि को पावै।।'[2]

इस प्रकार योग सिद्धि पाने के लिए शरीर को व्यर्थ कष्ट देने की आवश्यकता नहीं वरन मानवता के मूलभूत गुण अथवा मानव धर्म का ग्रहण ही तभी योग सिद्धि प्राप्त करता है। सुन्दरदास जी इसी पृष्ठ में आगे व कहते हैं

१- स्वामी सुन्दरदास -सन्त सुधासार, पृ० ६२३
२- वही पृ० ५७६

कि समाधि-सदाम युक्त योगी के लक्षण एवं समाधि की स्थिति जहां साध्य और साधक में एक लवण सम पूर्ण एक्य भाव आ जाय, वह निरुपाधि होकर जागृति स्वप्न-सुषुप्ति से रहित हो जाय । हर्ष, शोक,मान-अपमान एवं ज्ञानाज्ञान से शून्य होकर कुलजाति और वर्णाश्रम के भेद-भावों से ऊपर उठ जाय, वही सच्चा एवं समाधिस्थ योगी है[१] ।

भक्ति-योग

संत सुन्दरदास भक्ति-योग में मानसिक पूजा को विशेष महत्व देते हैं । इनके मत में साधक को सांसारिक बन्धनों को दूर करके मानसिक पूजा ही करना चाहिए।साधक को सर्वप्रथम वैराग्य,भाव को ग्रहण कर एवं विश्वास की भावना लेकर समस्त वस्तुओं का त्याग कर ल देना चाहिए। चाहे घर में रहे या जंगल में उसे सदैव सांसारिक एवं इन्द्रियजनित सुख वैभव के प्रति उदासीन रहना चाहिए। बहुदेव उपासक न होकर एकदेव `निरंजन` की सदैव उपासना करनी चाहिए।वे कहते हैं कि -` अत्यन्त अनुपम शून्य का सुन्दर मन्दिर है जिसमें ज्योति स्वरूप मूर्ति विराज रही है । सहज सुखासन में स्वामी को बैठा कर दास्य-भाव सेउनकी सेवा करनी चाहिए । संयम के जलसे स्नान करके प्रेम के पुष्प चढ़ाना चाहिए, चित्तरूपी चन्दन को उनके उनके अंगों में चर्चित करना चाहिए तथा ध्यान की धूप जलानी चाहिए ।भावना का नैवेद्य उनको अर्पित कर मनसा-वाचा किसी प्रकार की कामना उनसे पानेकी न करनी चाहिए अर्थात् निष्काम कर्मयोग का व्रत लेना चाहिए। ज्ञान का दीपक जला कर उसकी आरती उतारना चाहिए और अनहद नाद का घंटा व बजाना चाहिए तथा तन-मन-धन का समर्पण कर दीन भाव से उनके चरणों में लो जाना चाहिए[२]।

योगादि क्रियाओं का खण्डन करते हुए कहते हैं कि-

१- स्वामी सुन्दरदास -सन्तसुधासार- पृ० ५८०-८१

२- सन्त सुधासार -स्वामी सुन्दरदास पृ० ५८२

योगहु यज्ञ व्रतादि क्रिया तिनकौं नहिं तौ सुपनै अभिलासै ।
सुन्दर अमृतपान कियौं तब तौ कहि कौन हलाहल चाहै[1] ।।

इस प्रकार योग की साधना में किसी प्रकार की हठपूर्वक नियंत्रित की हुई क्रिया विशेष को अपनाने के पक्षपाती नहीं है । उन्होंने योग का भक्ति से समन्वय स्थापित कर योग की समस्त कष्टसाध्य नीरस एवं उलझन पूर्ण चर्या को सहज भाव से मानसिक साधना में बदल दिया है । वे तो भक्ति रूपी अमृत केस्वाद को पा लेने के अनन्तर योगादि की क्रिया करने को हलाहल पान करना समझते हैं ।

स्वामी सुन्दरदास की वियोगिनी आत्मा प्रिय के विरह-वियोग में बावली हो गई है । उसे सांसारिक वस्तुएँ नहीं सहातीं । वह अब तालाब में गिर कर प्राण देने के लिए प्रस्तुत है क्योंकि चारों ओर से उसेविरह ने घेर लिया है । प्रियतम ने संकेत से उसका मन हर लिया किन्तु फिर भूल कर उसके द्वार पर नहीं आये और न उसकी खोज खबर ली । अब वियोग हृदय में बैठ कर उसके सारे शरीर को सन्तप्त कर रहा है । अकेले सेज पर लेटी लेटी वह वैचारीरात बड़ी कठिनाई से बिता पाती है । वह वियोगी की मारी है, विरह की जंजरी से जकड़ दी गयी है । किसी प्रकार की जुड़ी-बूटी से उसकोचैन नहीं मिलता। हाय, अब तो वह अपार दुःख पा रही है[2] ।

सुन्दरदास`पतिव्रता को अंग` में कहते हैं कि जो अनन्य भाव से भगवान् का भजन करती है तथा अपने हृदय में अन्य किसी प्रकार की कामना नहीं रखती । जितने भी देवी-देवता हैं उनसे कभी दीनतापूर्ण वचन नहीं बोलती योग, यज्ञ व्रतादि क्रियाओं के करने में जिसकी स्वप्न में भी अभिलाषा नहीं होती वही अपने प्रिय की प्यारी होती है ।

१- सन्त सुधासार - स्वामी सुन्दरदास - पृ० ६२४

२- वही वही पृ० ६०७-८

संत दादूदयाल सहज समर्पण, सुमिरण एवं सेवा की उत्कट लालसा दादू की भक्ति-साधना की विशेषता है। सन्त सुन्दरदास शूरवीर और साधु की उपमा शूरवीर से देते हुए साधु को शूरवीर की अपेक्षा श्रेष्ठ मानते हैं। उनका मत है कि वह शूरवीर कैसा है, नगाड़े पर पड़ी हुई चोट को सुनकर जिसका कमल-मुख न खिल उठे एवं अत्यधिक उत्साह उसके शरीर में न समाये। बड़े भाले के चलने पर जब कि कायरों का धैर्य छूट जाता है, शूरवीर अग्नि में गिरने वाले पतंग की भांति सामन्तों के समूह पर टूट पड़ता है और घमासान युद्ध करता हुआ युद्ध में पैर जमा कर दृढ़ रहता है। शूरवीर की अपेक्षा साधु का कार्य अधिक साहस और दृढ़तापूर्ण है। शूरवीर अपने शस्त्रों तीर तलवार से अपने शत्रु पर आक्रमण करता है जब कि साधु आठों प्रहर मन के (जो कि दिखाई नहीं पड़ता) विकारों से लड़ता रहता है। वे कहते हैं कि जिस कामदेव ने अपने जोर एवं बल से तीनों लोकों को जीत लिया था वह साधु के सामने तथा उसकी सद्-भावनाओं के समक्ष पराजय स्वीकार करता है। सुन्दरदास कहते हैं कि-

'सीस उतारै हथि करि, संक न आनै कोइ।
ऐसे महंगे मोल का सुन्दर हरि-रस होइ।।
सुन्दर धरती धड़हड़ै, गगन लगै उड़ि धूरि।
सूरवीरधीरज धरै, भागि जाय मरुभूरि।।'[1]

क्रोध की भयंकरता को देख कर बड़े-बड़े धीरवान, धैर्यवान् व्यक्तियों का धैर्य छूट जाता है किन्तु ऐसे प्रबल शत्रु का संहार साधु अपने क्षमा रूपी अस्त्र से करता है, लोभी रूपी योद्धा को सन्तोष से पछाड़ता है एवं मोह रूपी नृप को ज्ञान के द्वारा मात देता है। शूरवीर निश्शंक होकर अपना मस्तक दे करके महंगे मूल्य से क्रय किया हुआ हरि-रस का आनन्द उठाता है जब कि धरिणी कम्पित हो उठती है और धूल उड़ कर आकाश को आवृत कर लेती है उस समय गप्पी एवं डरपोक भाग जाता है किन्तु शूरवीर अडिग भाव से खड़ा रहता है।

१- सन्त सुधासार - स्वामी सुन्दरदास - पृ० ६२५-६

यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि क्या क्षमा,दया,नम्रता एवं शील आदि गुणों के साथ-साथ शूरवीर के गुण भी साधु के अन्दर होना आवश्यक है ? क्या दादू पंथ में`नागा` और नानक पन्थ में`अकाली`सिखों का आगमन हुआ है । यह बात असत्य है कि`नागा` और अकाली सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव शूरताई पर नहीं हुआ है बल्कि इनका जन्म परिस्थितियों के कारण हुआ था । साधू के अन्दर शूरवीर के लक्षणों का होना आवश्यक ही था, क्योंकि व्यक्ति के मनोविकार क्रोध मोह,लोभ,मद,मात्सर्य जो मन के अवगुण हैं इससे व्यक्ति जीवन भर जूझता एवं लड़ता रहताहै । इन प्रबल शत्रुओं को परास्त कर कोई भी व्यक्ति सन्त और साधु होसकता है । किन्तु इन प्रबल शत्रुओं पर विजय प्राप्त करनेका ढंग सुन्दरदास ने अपने`सूरातन कौ अंग` में तथा अन्य व्यक्तियों में बताया है ।

इस प्रकार सन्त सुन्दरदास के मत से लेने लायक वस्तु केवल राम नाम है, जप,तप,दान,व्रत सब व्यर्थ है । राम नाम के पीयूष को त्याग कर मूर्ख व्यक्ति विष अपनाते हैं और सब के आगे हाथ फैलाते हैं । उन्हें अपनी सुमिरन सुरति को समेट कर मनसा बाचा कर्मणा से सुमिरन में केन्द्रित करना चाहिए । इसप्रकार के साधक के आधीन भगवान शीघ्र हो जाते हैं । एक मात्र नाम-स्मरण के द्वारा शील-सन्तोष और जीवन-मोक्ष मिल सकता है ।

सन्त मलूक दास-- हिन्दी साहित्य में मलूक दास के नाम से कई व्यक्ति मिलते है। कबीर शिष्य मलूक दास, वैरागी मलूक दास ,सन्त मलूक दास आदि विभिन्न नाम मिलते है । किन्तु यहां पर सन्त मलूक दास का वर्णन दिया जा रहा है । जो कि मलूक पंथ के प्रवर्तक थे ।मलूक पन्थ के अनुयायियों के अनुसार सन्त मलूक का जन्म वैसाख वदी ५ सं० १६३१ को इलाहाबाद जिले के कड़ा नामक गांव में हुआ था । बाबू क्षितिमोहन सेन ' मुलक- परिचयी के ग्रंथ रचयिता का नाम सुथरा दास लिखा है।[१] मलूक दास के गुरु:गुरु कौन थे यह प्रश्न अभी तक विवादग्रस्त बना हुआ है कुछ लोग द्रविण निवासी विट्ठल दास को इनका गुरु मानते हैं कुछ लोग मुरार स्वामी को मानते है , क्रुक्स के अनुसार इनकी गुरु परम्परा रामानन्द की ह है ।[२]

किन्तु उनकी रचनाओं को देखते हुए इतना सत्य है कि ये कबीर मत से प्रभावित हैं। मलूक दास कबीर के विचारों का पूर्णरूपेण समर्थन करते हुए कहते है कि तीनों लोक में माया व्याप्त है, छत्तीसपवन हमारी ही जाति के हैं। मलूक दास एक स्थल पर कहते हैं कि हमीं तरुवर, कीट पतंग, दुर्गा, गंगा,पण्डित-वैरागी , तीर्थ व्रत, देव-दानव है, जिसको जैसा अच्छा लगे वैसा ही समझ लो । हमी दसरथ हैं तथा हमी राम के रूप मे हैं । जहां तहां सर्वत्र हमारी ही ज्योति छिटकी हुई है, हम ही पुरुष और हम ही नारी है ।इस भांति जो लय तथा ध्यान लगाता है वह उसका दास हो जाता है ।[३]

साधक जब उस चरम स्थिति में पहुंच जाता है उसकी दशा बड़ी ही विचित्र हो जाती है । उस विचित्र दशा का वर्णन करते हुए मलूक दास कहते है कि--

सुन्न महल में महल हमारा, निरगुन सेज बिछाई ।
चेला गुरु दोनों सैन करत है, बड़ी असाइस पाई ।।[४]

शिष्य गुरु दोनों ही मिल कर उस'सुन्न' महल में शयन करते हैं । ऐसी स्थिति साधक की चौथी एवं चरम स्थिति है । इसके पूर्व मलूकदास के मत में साधक तीन स्थितियों

१- मिडीवल मिस्टिसिज्म आफ इंडिया१६३० ई० पृ० १५२
२- क्रुक्स, ट्राइब्स ऐण्ड कास्ट्स ३० (भा०३)पृ० ४७३
३- मलूकदास की बानी, पृ० २४
४- वही , मिश्रित शब्द १, पृ० २३

को और पार करता है । प्रथम स्थिति में वह देवी-देवताओं का पूजन करता है । द्वितीय में नियम-आचरणादि का पालन, और तृतीय स्थिति में जगत् के बन्धन स्वरूप शास्त्रीय ज्ञान की प्राप्ति हो जाने पर भी भ्रम का निवारण नहीं कर पाता किन्तु इसका निवारण चौथी स्थिति में ही होता है । इस स्थिति में अनहद की तुरही बजती रहती है ज्ञान की लहरें उठती रहती हैं 'जाग्रत जोगी' ही संसार से पृथक् रह कर इस रस का स्वाद ले सकता है । जहां अनहद की तुरही बजती है और साधक की लगन उस अनिर्वचनीय के प्रति सहज भाव से लग जाती है। 'गगन गुफा' में बैठ कर वह उस जाज्ज्वल्य ज्योति का दर्शन करता है । उस आत्म-अनुभव के उत्पन्न होने पर उसका सारा भय दूर हो जाता है और द्विविधा भाव को छोड़ कर समभाव से सब रंगों के खेल में मतवाला बना रहता है ।

> 'कहत मलूका निरगुन के गुन, कोई बड़ भागी गावै ।
> क्या गिरही और क्या बैरागी, जिहि हरि देयं सो पावै।।'[1]

इस प्रकार आत्म तत्व के जान लेने पर सब प्रकार की शंकाएं मिट जाती हैं । और ऐसे सिद्ध साधक को तीनों भुवनों का ज्ञान हो जाता है । जो मन है वही परमेश्वर है, इस अद्वैत भाव को कोई बिरला अवधूत जानता है । जो सब के घट का रहस्य जानता है, वही उसका रूप भी बतला सकता है । जहां से अनहद नाद सुनाई पड़ता है, वहीं पर ब्रह्म का निवास है और वह परमज्योति स्वरूप गगन-मण्डल में क्रीड़ा कर रहा है ।

इस प्रकार जहां कबीर दादू सुन्दरदास और मलूकदास जहां विशुद्ध अद्वैतवाद के समर्थक हैं वहां नानक और उनके अनुयायी भेदा भेदी विचारधारा के सूत्रधार हैं।

मलूकदास सभी सन्त कवियों की भांति परब्रह्म को शून्य, सर्वव्यापी, अलख अगोचर निर्गुण सगुण से परे और अभेद भाव से युक्त समझते हैं । संसार में सब जगह वही है उसी का आधिपत्य सम्पूर्ण सृष्टि में है ।

१- मलूकदास जी की बानी , पृ० २१

7-

अनेक वस्तुओं में भिन्न-भिन्न रूप धारण कर वही दिखाई पड़ता है । वह वाणी में बंध पाता है और न तो कहने से व्यक्त ही हो पाता है । वह निराकार निर्गुण होते हुए भी साकार भाव का है ।

निर्गुण सन्त साहित्य को देखने से यह पता चलता है कि समस्त सन्तों की स्वयं अपनी व्यक्तिगत साधना है तथा इस साधना का विवेचन और वर्णन उन्होंने बड़ी सुन्दरता ,सरसता और स्वाभाविकता से किया है । भक्ति के क्षेत्र में परस्पर आकर्षण-विकर्षण की क्रिया इतनी तीव्र होती है कि स्वयं भगवान साधक का स्मरण और आराधना करने लगता है । सन्त मलूक दास की निम्न साखी उसी भाव को स्पष्ट करती है , वे कहते हैं कि-

माला जपों न कर जपों, जिम्या कहों न राम ।
सुमिरन मेरा हरि करै, मैं पाया विसराम ।।[१]

अर्थात् जब भक्ति अपनी प्रौढ़ावस्था को पहुंच जाती है तब`हरि` ही मेरा सुमिरन करने लगता है । एक स्थल पर रविन्द्रनाथ ठाकुर ने भी कहा है कि`हमारी आत्मा जब संकीर्ण स्वत्व की सीमाओं में बंधी रहती है तो अपनी विशेषताएं खो देती है । इसकी विशेषता एकत्व में ही है । वह विश्व से समभाव होकर ही अपने सत्व-स्वरूप का बोध कर सकती है और तभी उसे आनन्द की अनुभूति होती है[२] । इस प्रकार मलूक के मत में भी -` जहां जहां बाच्छा फिरै, तहां तहां फिरै गाय ।
कहै मलूक जहां संतजन, तहां रमैया जाय ।।[३]

अर्थात् जिस प्रकार गाय अपने बछड़े के पीछे पीछे घूमती रहती है उसी प्रकार संतों के पीछे भगवान भी घूमते रहते हैं ।

१- मलूकदास जी की बानी, साखी ४१, पृ० ३६

२- रवीन्द्रनाथ ठाकुर-साधना,अनुवादक,सत्यकाम विद्यालंकार, पृ० २४

३- मलूकदास की बानी, पृ० ३३

मलूक के मत में निर्गुण योगी जागृत योगी होताहै । वह जीवन की प्रत्येक स्थिति में समभाव से रहता है कभी भी वह द्वैत भाव अपने मन में नहीं लाता, ऐसा 'रावल'[1] ही मलूकदास को प्रिय है ।

ईश्वर के अस्तित्व में इनकी प्रबल आस्था थी । ईश्वर के प्रति अटूट विश्वास दर्शाते हुए एक सवैये में कहते हैं कि--

दीन दयाल सुनी जबतै तबतै हिय मैं कछु ऐसी बसी है ।
तैरो कहाय के जाऊं कहां मैं तैरे हित की पट सैंच कसी है।
तैरोई एक भरोस मलूक को तैरे समान न दूजो जसी है ।
एहो मुरारि पुकारि कहौं अब मैरी हंसी नहिं तैरि हंसी है।[1]

अर्थात् यदि मैरी प्रति तूने कृपा नहीं दिखाई तो लोग तुम्हें ही हंसेंगे । इस प्रकार वात्सल्य भाव के प्रति इनकी अटूट विश्वास प्रदर्शित होता है ।

मलूकदास के मत में नामस्मरण का आदर्श एवं ध्येय निम्न होना चाहिए-

सुमिरन ऐसा कीजिए, दूजा लखै न कोय ।
ओठ न फरकत दैखिए , प्रेम राखिये गोय ।।[2]

यदि हृदय में इष्ट के प्रति सच्चा प्रेम हो तो उसे स्वयं ही इष्ट प्राप्त हो जायगा इसके लिए मुंह से बोलने अथवा बाह्याडंबरों एवं नियमों के पालन की आवश्यकता नहीं है ।

संत मलूक के मत में वह परमतत्त्व को पाने के लिए निम्न उपाय बताते हैं वे कहते हैं-

'आपा खोज रे जिय भाई ।
आपा खोजे त्रिभुवन सूझै, अंधकार मिटि जाई ।।१।
खोई मन खोई परमेसुर, कोई बिरला अवधू जानै।
जौन जोगीसुर सब घट व्यापक ,सो यह रूप बखानै।।

१- मलूकदास की बानी, पृ० १६,१७,२१
२- वही पृ० ३२
३- वही (बै०प्रै०)पृ० १७

सब्द अनाहत होत जहां तैं, तहां ब्रह्म की बासा ।

गगन मंडल मैं करत कलोलै, परम जोति परगासा।।३।।

कहत मलूका निरगुन के गुन, कोई बड़भागी गावै ।

क्या गिरही और क्या बैरागी, जेहि हरि देय सो पावै।।४।।

अर्थात् हे भाई! अपने आपको स्वयं अपने अन्दर ही ढूढो जिससे यह जो भ्रम है वह दूर हो जाये और समस्त विश्व तुम्हारे अन्दर आ जाये । जो मन है वही परमेश्वर भी है । वह सब के घट घट में व्याप्तमान है । उसके रहस्य को इने गिने व्यक्ति ही जान सकते हैं । ब्रह्म का निवास स्थान हमारे अन्तःस्थल उस स्थल पर है जहां अनाहद शब्द सुनाई पड़ता रहता है ।

इस प्रकार इस स्थिति को मलूकपंथी ने `अनुभव पद` कहा है और जिसे चौथा पद भी कहा है ।

(कृ०प०उ०)

संत मलूक के अनुयायी

मुरार स्वामी

|

संत मलूकदास (सं० १६३१,१७३९) कड़ामानिकपुर

|

गोमतीदास	सुथरादास	रामसनेही	पूरनदास	दयालदास	नीरमाधव	मोहनदास	हृदयराम
(लखनऊ)			(सीताकोइल)			(मुल्तान)	(इलाहाबाद)

रामसनेही

|

मलूकदास के भतीजे

|

कृष्ण सनेही

|

कान्ह ग्वाल

|

ठाकुरदास

|

गोपालदास

|

कुंजबिहारीदास

|

राम सेवक

|

शिव प्रसाद

|

गंगा प्रसाद

|

अयोध्याप्रसाद[1]

अयोध्याप्रसाद के पश्चात् इस पंथ की परम्परा का स्रोत नहीं दिखाई पड़ता।

१- उत्तरी भारत की सन्त परंपरा- परशुराम चतुर्वेदी पृ० ५१४

(ग) **सूफी सम्प्रदाय का मूलस्रोत**

पृष्ठभूमि :-

सन्त सम्प्रदाय परम्परा में सूफी सम्प्रदाय अग्रणी माना गया है। इस सम्प्रदाय का उदय पहली शताब्दी के लगभग हुआ। अनुयायियों ने इसकी प्राचीनता प्रमाणित करने के लिए मोहम्मद साहब को भी सूफी सन्त सिद्ध करने का प्रयास किया है परन्तु बहुत से लोग इस विचार से सहमत नहीं हैं ,उनके मतानुसार सूफी परम्परा का प्रथम उपासक आबूहासिक था। यह निर्विवाद है कि सूफी मत का उदय इस्लाम के कुछ ही समय बाद उसकी वैधानिक कट्टरता की प्रतिक्रियास्वरूप हुआ।

सूफी सन्तों का इतिहास चार भागों में वितरित मिलता है - प्रथम, आदियुग -- द्वितीय पूर्व मध्ययुग -- तृतीय उत्तरमध्ययुग और चतुर्थ आधुनिक युग।

आदियुग :- इस युग के सूफी कृत्रिमता से तटस्थ सरल एवं सत्यान्वेषी हुए हैं। ये सूफी संन्यास एवं वैराग्य को विशेष महत्व देते थे तथा परम्परायिक धार्मिक रूढ़ियों के पालन में विश्वास रखते थे। इस युग के सूफियों में फुदयाल और राबिया का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

पूर्वमध्य युग :- पूर्व मध्ययुग का उदय, नवी शताब्दी के आरम्भ से माना जाता है। इस युग के सूफियों में कुछ नवीन परिवर्तन दृष्टिगत हुये। उनकी साधना भावात्मक चिन्तन की ओर प्रवृत्त हुई। इस काल में अनेक उल्लेखनीय सूफी हुए। सुलेमान,उदरानी, धुन नून आदि इसी युग में प्रख्यात हुए हैं। सुप्रसिद्धदार्शनिक अलगज्जाली का उल्लेख भी इसी काल में मिलता है। उल्लेखनीय है कि अलगज्जाली इस युग के प्रथम दार्शनिक हुए हैं जिन्होंने इसलाम और सूफी में सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास किया।

उत्तरमध्य युग:- उत्तर मध्य युग अपने रसमय मधुर काव्य प्रवाह के लिये प्रख्यात है। फारस के सुप्रसिद्ध सूफी महाकवि शेखशादी ,अत्तार, और रूमी तथा जलालुद्दीन इसी काल में हुए हैं। इन सूफी साधकों की कोमल कल्पनाओं और मधुर भावनाओं ने हिन्दीसाहित्य को विशेष रूप से प्रभावित किया है। जायसी की काव्यधारा इन कवियों से अत्यधिक प्रभावित हुई है।

आधुनिक युग - आधुनिक युग सूफी विचारधारा के पतन का युग कहा जाता है क्योंकि अनेक वर्तमान कवियों ने अपनी श्रृंगारिक कविता का प्रेरणास्रोत सूफी काव्यधारा को बताया है, वस्तुत: यह एक व्यंग्यात्मक आक्षेप है जो वर्तमान कवियों के लिए आत्मनिष्ठा का आवरण बन गया है। सम्भवत: जायसी के पद्मावत की श्रृंगार भावना से प्रेरित होकर वे सूफी साधकों की परम्परा में स्वयं को जोड़ने के प्रयास में कटिबद्ध हैं यद्यपि सूफी साधकों में श्रृंगार का श्लील वर्णन हुआ है।

हिन्दी की निर्गुण काव्य-धारा विशेष कर प्रथम दो युग के सूफियों से प्रभावित मिलती है। बाद को प्रथम दो युग के सूफी भी अनेक सम्प्रदाय में बंट गए। इन चारों सम्प्रदायों का उदय भारत के बाहर हुआ परन्तु इनका प्रचार स्थल भारत ही रहा।

इन चार सम्प्रदायों में, चिस्तिया, सुहरवर्दिया, कादिरिया और नक्शबंदिया विशेष प्रसिद्ध हैं।

१-चिस्तिया सम्प्रदाय[१] - प्रथम दो युग के सूफी जो कई सम्प्रदाय में विभक्त हो गये हैं। इस सम्प्रदाय के मूल प्रवर्तक ख्वाजा अब्बू अब्दुल्ला चिश्ती (मृ०सं०१०२३) थे। ये शिस्तान के रहने वाले थे और मुहम्मद गोरी की सेना के साथ भारत चले आये थे। अजमेर इनका प्रचार स्थल रहा, जहां अब भी इनकी समाधि बनी हुई है। इस सम्प्रदाय के अन्तर्गत ख्वाजा मुइनुद्दीन, बख्त्यार, शेख अलीशबीर और कुतुब अलदीन आदि का उल्लेख मिलता है। ख्वाजा मुइनुद्दीन का प्रभाव हिन्दुओं पर भी बहुत पड़ा। चिस्तिया सम्प्रदायी बड़े ही संगीत प्रेमी थे। इनका सम्पूर्ण समय भजन और संगीत साधना में व्यतीत होता था।

२- सुहर्वर्दिया- ख्वाजा हसन निजामी के अनुसार, सुहर्वर्दी सूफी ही भारत में सर्व प्रथम आये थे। उन्होंने अपना प्रधान केन्द्र सिन्ध प्रदेश को बनाया था। इसके सर्व प्रथम प्रचारक जिया उद्दीन, अब्दुल नवीब, अब्दुल कादिर और इब्न अबदुल्ला माने जाते हैं।

१- इनसाइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स, भाग १२ पृ०

इस सम्प्रदाय की नींव डालने वाले शिहाबउद्दीन हुए हैं ।बहाउद्दीन जकारिया जो मुल्तान के निवासी थे, शिहाबुद्दीन के ही शिष्य थे और भारत में इस सम्प्रदाय का सबसे अधिक प्रचार करने का श्रेय ब इन्हीं को दिया जाता है । मक्का-मदीना की तीर्थयात्रा करके लौटते समय इन्होंने उनसे बगदाद में भेंट की और उनसे दीक्षा ग्रहण कर उनके शिष्य बन गये । उनके बाद प्रसिद्ध भारतीय सुहर्वर्दियों में सैयद जलालुद्दीन सुर्खपोश का नाम लिया जाता है जो जकारिया के ही शिष्य थे और इन्होंने अपने मत का प्रचार सिन्ध,गुजरात तथा पंजाब में भ्रमण करके किया था।

३- कादिरिया- सम्प्रदाय के प्रवर्तक बगदाद के निवासी शेख अब्दुल कादिर जिलानी माने जाते हैं । ये उच्चकोटि के विद्वान और वक्ता हुए हैं । दाराशिकोह भी इसी सूफी सम्प्रदाय का अनुयायी था । भारत में इसके प्रचारक सैयाद मोहम्मद नामक सन्त हुए हैं ।

४- नक्सबंदिया- सम्प्रदाय के प्रवर्तक ख्वाजा बहाउद्दीन हुए हैं । ये तुर्किस्तानी थे । भारत में इस सम्प्रदाय का प्रचार प्रसिद्ध सन्त अहमफारुकी सरहिंदी द्वारा हुआ। इसके अन्तर्गतकुछ और छोटे-छोटे सूफी सम्प्रदाय का उल्लेख मिलता है ।इन संप्रदायों में केवल दार्शनिक दृष्टि भेद-मात्र था अन्य बातों में एक दूसरे से ये बहुत साम्य रखते थे । इन सबका चरम उद्देश्य भारत में सूफी मत का प्रचार था ।

सूफी-सिद्धान्त और साधना

सूफी सन्तों की साधना को प्रेम-साधना की संज्ञा दी गयी है परन्तु उनकी यह प्रेम साधना आध्यात्मिक प्रेम से ओत-प्रोत है । उनकी प्रेम-साधना व्यक्तिगत रूप से रहस्यवादी अनुभूतियों पर आधारित है । उनकी साधना में ईश्वरत्व प्राप्ति की भावना ही प्रधान है, जिसने रंगमंचीय साधना में विभिन्न रूप धारण कर रखे हैं, परन्तु उनका चरम लक्ष्य ईश्वर की प्राप्ति ही है ।

अबू तालिब के कथनानुसार प्रेम हृदय में अग्नि के समान है जो परमात्मा की इच्छा के अतिरिक्त अन्य समस्त इच्छाओं को भस्मीभूत कर देता है । सूफियों का विश्वास है कि संसार के कण-कण में ईश्वर का वास है, उसका प्रतिबिम्ब है अतएव वे समस्त भौतिक सौन्दर्य पर स्वयं को न्योछावर कर देते हैं ।

सूफियों के विचारानुसार समस्त दृष्टिलब्ध जगत् में एक मात्र सत्य ईश्वर है।

जामी के शब्दों में "वह अद्वितीय, अगोचर, अपरिमित, अपेक्षारहित और नानात्व से परे परम सत्य है अतएव इस परम सत्य की उपलब्धि के लिए सूफी साधकों ने प्रेम-साधना का मार्ग अपनाया है चूंकि ईश्वर को प्राप्त करने के साधनों में प्रेम का स्थान सर्वोच्च है।

उनकी साधना उनके सिद्धान्त से अक्षरशः प्रतिपादित एवं प्रतिध्वनित दृष्टिगत होती है।

साधना में समर्पण और एकत्व की भावना प्रधान है। उन्होंने ईश्वर को अपने प्रियतम के रूप में सम्बोधित किया है। वे स्वयं को पूर्णतया समर्पित कर देने को ही अपनी साधना की सार्थकता मानते हैं।

सूफी साधक अबू अब्द अल्लाह का कथन है कि "प्रेम वही है जिसमें परम प्रियतम परमात्मा पर अपना सब कुछ समर्पित कर देना पड़ता है और उसके बाद अपना कहने के लिए साधक के पास कुछ शेष नहीं रह जाता।"

सूफियों की इस सिद्धान्त-साधना की पृष्ठभूमि के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि उनकी साधना के मूल में चरम लक्ष्य ईश्वर प्राप्ति का ही है जो विभिन्न सूफियों की इच्छानुसार विभिन्न साधना स्वरूपों और स्रोतों में बंट गया है।

आध्यात्मिक भाव :-

सूफियों की दृष्टि में आध्यात्मिक जीवन एक यात्रा के समान है जिस पर चल कर ही चरम लक्ष्य ही की प्राप्ति सम्भव है। उनकी साधना में आध्यात्मिक भावों का गहरा सामन्जस्य मिलता है। उनके विचार से साधक अपने सारे दुर्गुणों का परित्याग करता हुआ निष्पाप आत्मा से आध्यात्मिक जीवन-पथ पर प्रयाण करता है और अपनी आत्मा को लय(फना) की स्थिति में पहुंचा देता है। परन्तु फना उनका अन्तिम मन्तव्य नहीं, उसके आगे भी एक मंजिल है जिसे "बका" कहते हैं और साधना की अनेक मंजिलों को पार करता हुआ वह इस चरम लक्ष्य पर पहुंचता है, जहां पूर्णतया शान्त भाव से उसकी आत्मा ईश्वरत्व में समाहित हो जाती है।

साधना की इसी सिद्धान्त गुरुता का परम उद्देश्य,उनका आध्यात्म चिन्तन कहा गया है ।

दार्शनिक भाव-

सूफी सम्प्रदाय का दार्शनिक दृष्टिकोण अत्यन्त व्यापक एवं सार-गर्भित है । इसके सिद्धान्त के अनुसार इसका चरम लक्ष्य ईश्वर की प्राप्ति है, यह भाव मानव को मोह से त्याग और त्याग से साधना की ओर आकर्षित करता है और त्याग तथा साधना में ही सच्ची दार्शनिकता समाहित है । यह दार्शनिक अभिव्यक्ति सहज ही मोह,परतन्त्रता और विलासिता के बन्धन काट कर साधना की ओर अग्रसित करती है ।

सूफी साधना में प्रेम-साधना को सर्वोच्च कहा गया है । प्रसिद्ध सूफी अब्दलाअल-कुरणी के कथनानुसार सच्चे प्रेम का मतलब है` तुम जिस परम प्रियतम से प्रेम करतेहो, उसे सबकुछ जो तुम्हारे पास है दे दो,जिसमें कि तुम्हारा अपना कहने को कुछ भी न रह जाय ।

इसके अनुसार सूफी साधना में समर्पण की भावना प्रधान है । उनके अनुसार बिना इस प्रकार के समर्पण के वह अलौकिक प्रेम का अधिकारी नहीं।

ज्ञातव्य है कि सूफी साहित्य में आत्मा-परमात्मा के प्रेम की व्यंजना प्रेमी और प्रेमिका के रूप में की गयी है ।उनकी धारणा के अनुसार जीवात्मा परमात्मा के वियोग में व्याकुल होकर उसकी प्राप्ति के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहता है ।

पं० चन्द्रबली पाण्डेय के शब्दों में` जीव को अपने प्रियतम का पता उसी की कृपा से चला । कभी वह उसके साथ था, उससे प्रतिज्ञाबद्ध हो चुका था अत: उसको पहचानने में देर न लगी ।`

सूफियों के हृदय सागर में चाहे विविध भावों की कितनी ही तरंगें उठें, गिरें,बनें-बिगड़ें,किन्तु आदि से अन्त तक उन्हें प्रेम -सलिल में ही मग्न रहना पड़ता है।

'सीमित और मानवीय प्रेम का प्रसार बढ़ते-बढ़ते अपनी विराटता में ब्रह्मांड को आवृत कर लेता है और तब साधक सर्वत्र ब्रह्म को व्याप्त जान कर उसकी और आत्मा की पारस्परिक प्रणय लीला का दर्शन करने लगता है।'[1]

इस प्रकार सूफियों के सौन्दर्य-बोध की सीमित परिधि का पर्यवसान अन्त में अनन्त सौन्दर्य की असीम भाव-भूमि तक हो जाता है।

'अवारीफुल मारीफ (क्लार्क द्वारा अंग्रेजी में अनूदित) के कथनानुसार मनुष्य और ईश्वर के मध्य जो व्यवधान है उसे दूर करने के लिए सूफी साधक को चार मंजिलों को पार करना आवश्यक है। सर्वप्रथम आराधक परमात्मा को प्राप्त करने की उत्कृष्ट अभिलाषा द्वारा हृदय के ऊपर पड़े आवरण पट को दूर करता है लेकिन परमात्मा के लिए वह जिस प्रेम की अनुभूति करता है उसे दूसरे पर प्रगट नहीं होने देता, सिवा भावाविष्ट को छोड़ कर तत्पश्चात् वह तफरीद (आन्तरिक असंगत) का अनुभव करने वाली स्थिति में पहुंच कर प्रिय के प्रेम में पागल हो जाता है। उसके लिए परमात्मा के प्रेम के अतिरिक्त किसी वस्तु का कोई अस्तित्व नहीं रह जाता। उसे बाह्य जगत से कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता। अपने हृदय दर्पण में वह परमात्मा का प्रतिबिम्ब देखता हुआ उसी में लीन हो जाता है। अन्तिम मंजिल में उसकी जिह्वा स्मरण में और हृदय परमात्मा चिन्तन में लगा रहता है। इन दोनों के इस प्रकार प्रवृत्त हो जाने पर साधक की आत्मा मुशाहिदा में तल्लीन हो जाती है तथा वह निर्विकार एवं अस्तित्व ज्ञान शून्य होकर प्रियतम के प्रेम में अपना सर्वस्व न्योछावर कर देता है।[2]

'सूफी लोगों का पहिला मूलमंत्र निर्धनता और गरीबी की साधना है। सांसारिक वैभव और ऐश्वर्य से ईश्वर का, ईश्वर प्राप्ति का महान् विरोध है, इसलिए अल्लाह का प्यारा भौतिक ऐश्वर्य से बहुत दूर गरीबी का जीवन यापन करना पसन्द करता है। बहुत से सूफियों ने संसार की सम्पत्ति छोड़ कर तपस्या का

१- श्री रामपूजन तिवारी-सूफी मत : साधना और साहित्य, पृ० ३१६

२- वही वही वही पृ० ३११

जीवन बिताने के लिये सादे जीवन का वरण कर लिया । -।- -।- सूफियों के प्रेम काव्य मे प्रतीकों के उदाहरण मिलते हैं - मुख(दैवी प्रकाश, सौन्दर्य)तिल (एकता का बिन्द, मदिरा, आनन्द) । नेत्र तथा दृष्टि (ईश्वर की कृपा ,वरदान) इत्यादि ।' -।- -।- -।-

-।- -।- -।- -।-

' सूफी योग का मुख्य लक्ष्य तौहीद या अलगाव को किसी भी उपाय से दूर करना है । इस प्रेम योग की अनेक दशायें हैं और शरीर में अनेक प्रकार के नादों के अन्तर्गत ओऽम की भांति ' हू' नाम के अनहद नाद का महत्वपूर्ण स्थान है ।'[१]

सम्प्रदायों का पारस्परिक सम्बन्ध

सूफी सम्प्रदाय की शाखायें भिन्न- भिन्न आचार्यों को अपना पथप्रदर्शक मानती हैं परन्तु उनमें आपस में विरोधाभास नहीं मिलता । इनका पारस्परिक भेद इनके प्रमुख गुरुओं की विशेषता तथा उनकी साधना से सम्बन्ध रखने वाली कतिपय गौण बातों की विभिन्नता पर ही समझा जाता है परन्तु इनके मौलिक सिद्धांतों में किसी प्रकार का अन्तर नहीं दृष्टिगत होता ।

उदाहरणार्थ 'जिक्र' व नाम स्मरण के समय शब्दों काउच्चारण पहले उच्च स्वर के साथ किया जाता है, जिससे ध्यान में श्रवणेन्द्रिय भी सहायक हो सके फिर साधक उन शब्दों को कुछ धीमे स्वर में कहता है जिसे केवल वही सुन पाता है । अन्त में वही शब्द भक्ति के साथ अपने मन में कहे जाते है । आंखे बन्द रखी जाती हैं और साधक का सारा ध्यान अपने ध्येय वस्तु अथवा खुदा पर लगा रहता है ।

एक उप सम्प्रदाय या शाखा का सदस्य इसी प्रकार किसी अन्य शाखा का भी भी सदस्य बन जाता है । इसके लिये उसकी निन्दा नहीं की जा सकती ।

इन शाखाओं की विशेषता-ओं का परिचय केवल उन आदेशों में मिलता है जिन्हें इनके मूल प्रवर्तक या मुख्य प्रचारक, विशेष रूप से दिया करते थे ।

१- राजयोग का सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक विवेचन:साहित्यमहोपाध्याय डा० केशव चन्द्र सिनहा, थीसिस-- पृ०११४- ११५

उदाहरण के लिए सुहरवर्दी शाखा की प्रधान साधना `कुरान-शरीफ` के पाठ एवं हदीश की व्याख्या तक सीमित समझी जाती है परन्तु चिश्तिया और कादिरिया शाखा वाले संगीत और नृत्य को भी बहुत महत्त्व देते हैं।

अन्तर :- चिश्तिया शाखा के अनुयायी `चिल्ल` का अभ्यास करते हैं जिसके अनुसार वे ४० दिनों तक मसजिद या किसी कमरे में एकान्तवास करते हैं । `जिक्र` अपने सिर और शरीर का ऊपरी भाग हिलाते हैं । धार्मिक ग्रन्थों को पढ़ने के अवसर पर ये संगीत को बहुत महत्व देते हैं और ~~न~~ गीतों से प्रभावित होकर प्राय: आवेश में आ जाते हैं।[१]

नक्सबंदिया की साधना इसके विपरीत `जिक्रे खफी` कही जाती है । ये लोग कलमें का उच्चारण अत्यन्त ~~/~~धीमे स्वर में करते हैं । ये लोग संगीत की बड़ी उपेक्षा करते हैं और इस प्रकार कट्टर इस्लाम धर्म का अनुसरण करते हैं।

कादिरिया के अनुयायी `जिक्र` की साधना उच्च स्वर से और धीमे धीमे स्वर में भी करते हैं । नक्सबंदियों की भांति ये भी संगीत नहीं चाहते । ये युवा अवस्था में तो `इल्लाह` व `इल्लाहू` का उच्चारण एक विशेष स्वर में करते हैं और पीछे इसे बहुत धीमा कर देते हैं ।

स्पष्टीकरण:- सूफी सम्प्रदायों की मुख्य देन प्रेम साधना है प्राय: सभी सूफी साधकों ने प्रेम को ही चरम प्रेरणास्रोत मान कर साधना की है । अपने आराध्य को उन्होंने अपना प्रियतम तथा स्वयं को प्रेयसि मान कर साधना की है । परन्तु कहीं पर यह स्पष्ट नहीं हो पाया कि वास्तव में वे अपने को प्रेयसि मानते थे और परमात्मा को प्रियतम अथवा अपने को प्रियतम और परमात्मा को प्रेयसि[२] सूफी साहित्य के विद्वानों और मर्मज्ञों ने भी कहीं पर ऐसा स्पष्टीकरण नहीं दिया । सभी ने सूफियों और परमात्मा का सम्बन्ध प्रेमी-प्रेमिका का बताया है परन्तु वास्तव में इनमें कौन प्रेमी है और कौन प्रेमिका, यह स्पष्ट नहीं होता ।

१-विलियम क्रुक :दी ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स आफ दी नार्थ वेस्टर्न प्राविन्सेज एण्ड औध(भाग २)कलकत्ता १८९६ पृ० २२६

२- मध्यकालीन हिन्दी-सन्त-विचार और साधना(सूफी सम्प्रदाय में इश्क)डा० केशनीप्रसाद चौरसिया- पृ० ३४४

'सूफी परमात्मा को प्रियतम कह कर पुकारते हैं और उसके इश्क(प्रेम)में पागल बने फिरते हैं ।'

सूफी-साधकों की इसी साधना-स्वरूप को विभिन्न विद्वानों ने अस्पष्ट रूप से दुहराया है --

"The erotic imagery used by Dhul Nun misri in his verses is full of passionate devotion to the Divine Being. In fact the nature of love is such that it tends to resolve all differences between the lover and the beloved into one simple Unity. In later centuries the allegory of love became a prominent characteristic of Sufi literature"[1]

' जैसा भी हो, राबिया नामक एक दासी भी ईश्वर के प्रति प्रणय की भावना से ओतप्रोत थी । जिस कारण वह हजरत मोहम्मद साहब तक को उपेक्षा की दृष्टि से देखती थी । उसका स्पष्ट शब्दों में कहना था कि' हे रसूल ! भला ऐसा कौन होगा, जिसे आप प्रिय न हों । पर मेरी तो दशा ही कुछ और है । मेरे हृदय में परमेश्वर का इतना प्रसार हो गया है कि उसमें उसके अतिरिक्त किसी अन्य के लिए स्थान ही नहीं है[2] ।'वह अपने को परमेश्वर की पत्नी मानती थी और उसका हृदय सदा माधुर्यभाव से भरा रहा करता था तथा अपने काल्पनिक पति के विरह को वह क्षण भर के लिए भी न सहन नहीं कर सकती थी ।

इस दृष्टान्त से तो यही सिद्ध होता है कि समस्त सूफी साधकों और साधिकाओं ने ईश्वर को अपना पति और प्रेमी मान कर साधना की है । परन्तु विभिन्न

१- मिडिवियल इन्डियन कल्चर - सूफिज्म इन इंडिया - ३४ - डा० यूसुफ हुसैन ।

२- रहस्यवाद का सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक विवेचन: [illegible] साहित्य [illegible], डा० [illegible] [illegible] पृ०[illegible]

२- उत्तरी भारत की सन्त परम्परा- परशुराम चतुर्वेदी- (तसव्वुफ अथवा सूफीमत)

सूफी-साधक मर्मज्ञों के तथ्य अध्ययन से यह भी एक निष्कर्ष सामने आता है कि सूफी साधिकाओं ने तो परमात्मा को पति स्वरूप ग्रहण किया है और पुरुष साधकों ने स्वयं को ईश्वर की पत्नी के रूप में प्रस्तुत किया है। इस प्रकार के विचारों से विपरीत ईश्वर को प्रियतमा मानने का भाव साहित्य महोपाध्याय डा० केशवचन्द्र सिन्हा के शोध-प्रबन्ध में मिलता है।

'सूफी ईश्वर को प्रियतमा और अपने को उसका प्रेमी मानते हैं और असीम इश्क के सहारे अपने अस्तित्व को उसी में खो देते हैं।'[1]

सूफियों की काव्य-साधना

धार्मिक काल के प्रेम-काव्य का आदि 'चन्दावन' या 'चन्दावत' से ही माना गया है। इस परम्परा का आरम्भ मुल्ला दाऊद ने किया था। मलिक मुहम्मद जायसी की पद्मावती में इसी परम्परा का निर्देश मिलता है, यद्यपि उन्होंने उसके विषय में कोई विशेष परिचय नहीं दिया है। उन्होंने पद्मावती में संकेत दिया है--

विक्रम धंसा प्रेम के बारा। सपनावति कहं गयउ पतारा।।
मधु पाछ मुगधावति लागी। गगन पर होइगा बैरागी।।
राजकुंवर कंचन पर गयऊ। मिरगावति कहं जोगी भयऊ।।

इस उद्धरण से ज्ञात होता है कि अवश्य ही जायसी से पहले कुछ प्रेम काव्य लिखे जा चुके थे। संदर्भ में, मुग्धावती, स्वप्नावती, मृगावती, मधुमालती और प्रेमावती का नाम आता है। इनमें केवल दो काव्य प्राप्त हो सके, मृगावती और मधु-मालती। शेष के विषय में कुछ ज्ञात नहीं।

'लक्ष्मण सेन पद्मावती' ग्रन्थ का परिचय भी इसी कोटि में मिलता है। यह दामो कवि द्वारा ई० १५१६ में लिखा गया। यह वीर रस से ओत-प्रोत है। इसमें बीच-बीच में संस्कृत श्लोक और प्राकृत में गाथा है।

१- राजयोग का सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक विवेचन: थीसिस: साहित्य महोपाध्याय डा० केशवचन्द्र सिन्हा, पृ० ११४

मधुमालती :- मधुमालती के रचयिता मंझन थे । इसका रचना काल १५४५ ई० कहा जाता है । इस ग्रन्थ में कल्पना, भावात्मकता का सुन्दर समावेश है यह निस्वार्थ प्रेम की भावना से ओत-प्रोत है । कथा में वर्णनात्मकता का अंश बहुत है और प्रेम चित्रण में विरह को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है ।

मृगावती :-मृगावती के रचनाकार शेख बुरहान के शिष्य कुतुबन थे । इनका आविर्भाव काल १५५० माना जाता है । इस ग्रन्थ की कथा लौकिक प्रेम की कथा है जिसमें अलौकिक प्रेम का सम्पूर्णतः संकेत है । पृष्ठभूमि , कंचनपुर के राजा की राजकुमारी मृगावती और चन्द्रगिरि के राजा के पुत्र के प्रेम पर आधारित है । राजकुमार, राजकुमारी मृगावती पर मोहित हो जाता है और प्रेम पंथ पर वह योगी बन कर अन्त में राजकुमारी को पाने में सफल होता है । इस काव्य में सौन्दर्य की अपेक्षा, ईश्वर विषयक संकेत अधिक है । भाषा अवधी और छन्द दोहा-चौपाई है । इसकी प्रति हरिश्चन्द्र पुस्तकालय में प्राप्त हुई थी परन्तु बाद को वह खो गई ।

पद्मावत :- उपरोक्त दो ग्रन्थों के पश्चात् सुविख्यात कृति पद्मानवत का नाम आता है जिसके रचयिता के सम्बन्ध में निश्चित जानकारी नहीं मिलती परन्तु ये जायस के निवासी थे और अपने समय के सूफी सन्तों में इनका विशेष सम्मान था । ये सैय्यद मुहीउद्दीन के शिष्य थे और चिश्तिया निजामिया शिष्य परम्परा के पालक थे ।

जायसी सूफी सिद्धान्तों से तो भिज्ञ ही थे साथ ही वे हिन्दू धर्म के लोकप्रसिद्ध वृतान्तों से भी अवगत थे । अतएव हिन्दू मुस्लिम दोनों सम्प्रदाय की धार्मिक मनो-वृत्तियों को वे सफलतापूर्वक संतुष्ट कर सके ।

पहले ये मुगल बादशाह शेरशाह के आश्रित रहे और बाद को इन्होंने गाजीपुर और भोजपुर के महाराज का आश्रय प्राप्त किया। जायसी कुरूप थे जिसका वर्णन उन्होंने 'पद्मावती' में किया है । अपने जीवन के अन्तिम काल में ये अमेठी नरेश के आश्रय में रहे क्योंकि इन्हीं के आशीर्वाद से उन्हें पुत्र उत्पन्न हुआ था । अमेठी में ही जायसी की कब्र बनी हुई है ।

वह काल, राम कृष्ण की उपासना का युग था परन्तु जायसी ने उसे अपनी साधना का विषय नहीं बनाया । उन्होंने तत्कालीन सूफी सिद्धान्तों को अत्यन्त रोचक एवं मधुर ढंग से प्रस्तुत करके, जनरुचि को अपनी ओर आकर्षित किया ।

इन्होंने सूफी सिद्धान्तों को प्रचलित हिन्दू धर्म से सम्बद्ध किया और हिन्दुओं के द्वारा यथेष्ट सम्मान और श्रद्धा प्राप्त की ।

जायसी ने केवल काल्पनिक प्रेम कथा को अपने सृजन का आधार नहीं बनाया । उन्होंने कल्पना के साथ इतिहास का भी पुट दिया जिससे इनकी कृतियां अत्यन्त सजीव और आकर्षक बन पड़ीं ।

`पद्मावती` का रचना काल हिजरी ६४७ में बताया जाता है । `पद्मावती` की कईप्रतियां पाई जाती हैं जिससे जायसी का रचना काल सं० १५६७ ज्ञात होता है।

पद्मावत (पद्मावती) फारसी लिपि में है , उस समय अवधी का जो रूप था वही फारसी लिपि में सुरक्षित रह गया ।

जायसी की रचना भाषा अवधी है । उसमें फारसी,अरबी के शब्द तथा मुहावरे मिलते हैं । बोल-चाल की भाषा का यथेष्ट प्रयोग हुआ है । ठेठ हिन्दी का प्रयोग फारसी लिपि में होने के कारण पदमावत का पाठ-निर्धारण कठिन हो गया है यद्यपि इस दिशा में अनेक प्रयास किये गये परन्तु अब भी अशुद्धियों की भरमार है ।

जायसी कबीर से विशेष प्रभावित हुये, हठयोग की प्रवृत्ति इन्हें कबीर से ही मिली साथ ही ये हिन्दू धर्म के लोकप्रसिद्ध सिद्धान्तों से भी भिज्ञ थे । ये विशुद्ध सूफी थे और अपने समय के महान् सन्त । अतएव उनकी रचनायें बहुत सुरक्षित रखी गयीं।

`पद्मावत`की पृष्ठभूमि`:- अन्य प्रेम कथाओं की तरह पद्मावत भी प्रेम की चरम अनुभूतियों से ओत-प्रोत है ।

चित्तौड़ का राजा रत्नसैन हीरामन तोता के द्वारा, सिंहल द्वीप के राजा गन्धर्वसेन की पुत्री पद्मावती के सौन्दर्य की प्रशंसा सुनकर उस पर मोहित हो जाता है और उससे विवाह करने के निमित्त सिंहलद्वीप की ओर प्रस्थान करता है और मार्ग की अनेक कठिनाइयाँ झेलते हुए वह सिंहद्वीप पहुंचता है । जहां शिव की सहायता से भीषण युद्ध करने के पश्चात् वह पद्मावती से विवाह करने में सफल होता है । कुछ दिनों बाद वह चित्तौड़ लौट आता है । ज्योतिष सम्बन्धी अनाचार के आरोप में रत्नसैन राघव चेतन को देश से निकाला दे देता है और राघव चेतन अलाउद्दीन से मिल कर पद्मावती की सौन्दर्यगाथा से उसे विमुग्ध करके चित्तौड़ पर चढ़ाई करने के

के लिए बाध्य कर देता है । परन्तु गोरा बादल की सहायता के कारण अलादीन विजयी नहीं होता किन्तु वह छल से राजा को बांध ले जाता है । पद्मावती अपनी बुद्धिमत्ता का अद्वितीय परिचय देती है वह गोरा बादल की सहायता से राजा को छुड़ा लाती है ।इसी मध्य देवपाल अपनी दूती द्वारा पद्मावती से प्रेम-याचना करता है । रत्नसैन कुपित होकर द्वन्द्व युद्ध में देवपाल का सिर काट लेता है और देवपाल की सांग से स्वयं भी मृत्यु को प्राप्त हो जाता है ।पद्मावती और नागमती सती हो जाती है ।

जायसी ने उपरोक्त पृष्टभूमि का सारांश स्तुति खण्ड में इस प्रकार प्रस्तुत किया है --

सिंहल द्वीप पदमिनी रानी । रतनसैन चितउर गढ़ आनी ।।
अलउद्दीन देहली सुलतानू । राघौ चेतन कीन्ह बखानू ।।
सुना साहि गढ़ छैंका आई । हिंदू तुरकन भई लराई ।।
आदि अंत जस गाथा अहै । लिखि भाखा चौपाई कहै ।।[१]

यह जायसी की विशेषता है कि उन्होंने कल्पना के साथ इतिहास को सम्बद्ध करके पद्मावत को अद्वितीय कृति बना दिया ।

पद्मावत में रत्नसैन की सिंहल द्वीप यात्रा काल्पनिक है परन्तु पद्मावती के प्रति अलाउद्दीन का आकर्षण सत्य है। देवपाल आदि चरित्र भी काल्पनिक ही हैं ।

जायसी ने कथा विस्तार अत्यन्त मनोरंजक ढंग से किया है । घटनाओं के वास्तविक चित्रण में वे भावजगत् में बहुत ऊंचे उठ गये हैं ।घटनाओं की शृंखला पूर्णत: स्वाभाविक है ।

कथा चित्रण में उनकी मनोवृत्ति,संसार के नग्न रूप को यथास्थिति में चित्रित करने की है । परन्तु उसका आध्यात्मिक प्रेम-संदेश उन्हें आदर्श-मर्यादा का उल्लंघन नहीं करने देता ।

इतिवृत्तात्मक होते हुए भी `पदमावत` की कथा रसात्मक है बिना इतिवृत्त के कौतूहल की सृष्टि नहीं होती और जब तक वर्णन विस्तार न हो, रसात्मकता के दर्शन नहीं होते ।

१- `पद्मावत` पृ० ५१

<u>विशेष</u>:- मुस्लिम साधक होते हुए भी जायसी ने हिन्दू धर्म की मुख्य बातों पर अपनी कथा का आरोप किया है और उसकी खिल्ली न उड़ाकर उन्हें गंभीर रूप से प्रस्तुत किया है। उनकी कृति काव्य कला का अद्वितीय नमूना है। भाषा और भाव सरल हैं, परन्तु काव्यगत सौन्दर्य का बेजोड़ उदाहरण है।

'जायसी कबीर से विशेष प्रभावित हुए थे। जिस प्रकार कबीर ने हिन्दू-मुसलमानों के बीच भिन्नता की भावना हटानी चाही उसी प्रकार जायसी ने भी दोनों सम्प्रदायों में प्रेम का बीज बोने का प्रयत्न किया। दोनों में सूफी मत का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जाता है और इसी के फलस्वरूप दोनों रहस्यवादी हैं। ये संसार के प्रत्येक कार्य में एक परोक्ष सत्ता का अनुभव करते हैं और उसी को प्रधान मान कर ईश्वर की महानता का प्रचार करते हैं। अन्तर केवल इतना है कि कबीर अन्य धर्मों के लिए लेशमात्र भी सहानुभूति नहीं रखते - वे उद्दंडता के साथ विपक्षी मत का खण्डन करते हैं। उनमें सहिष्णुता का एकान्त अभाव है पर जायसी प्रेम-पूर्वक प्रत्येक धर्म की विशेषता स्वीकार करते हैं। और ईश्वर के अनेक रूपों में भी एक ही सत्ता देखने का विनयशील प्रयत्न करते हैं। कबीर ने जिस प्रकार अपने स्वतन्त्र और निर्भीक विचारों के आधार पर अपने पंथ की कल्पना की उस प्रकार जायसी ने नहीं की क्योंकि जायसी के लिए जैसा तीर्थ-व्रत था, वैसा ही नमाज-रोजा। वे प्रत्येक धर्म के लिए सहिष्णु थे पर कबीर अपने ही विचारों का प्रचार देखना चाहते थे[१]।'

जायसी भाषा व्यौहार में कबीर के समकक्ष थे परन्तु ज्ञान निरूपण में उनसे अधिक मननशील और संयत थे। वे मसनवी शैली में प्रेम कहानी कहते हुए भी अपनी गंभीरता और मर्यादा को नहीं त्यागते, यही इनकी विशेषता है।

<u>चित्रावली</u> :- जायसी के बाद प्रेमकाव्य में उसमान का नाम आता है चित्रावली की रचना उसमान द्वारा ही हुई है। चित्रावली में पद्मावत की प्रतिछाया दृष्टिगत होती है।

१- हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास- डा० रामकुमार वर्मा पृ० ३११

इसके अतिरिक्त 'कुतुब सतक' का नाम आता है । यह प्रेम कथा दिल्ली के सुलतान फिरोज शाह के शाहजादे कुतुबदीन और एक मुस्लिम किशोरी के प्रेम-वृतान्त पर आधारित है । यह कथा तुकान्त गद्य में है बीच बीच में दोहे भी हैं। इसका लिपि काल १६३३ है । इसके रचयिता का नाम अज्ञात है ।

रस रतन :- में सूर सैन की दीर्घ कथा वर्णित है । इसमें स्थान-स्थान पर नीति, शृंगार और काव्य के अनेक अंगों का वर्णन है । इसके रचयिता पुहकर थे । ये जाति के कायस्थ थे ।

'ज्ञानदीप, रचयिता शेख नबी, पंथ सहेली कवि छीहल री कही (छीहल) सदेवछ सावलिंगा रा दूहा (अज्ञात) सोरठा रा दूहा (अज्ञात) एवं कनक मंजरी (काशीराम) आदि रचनाओं क एवइ इनके रचनाकारों का नाम प्रेम काव्य में विशेष रूप से चर्चित एवं उल्लेखनीय है ।

भारतीय समाज पर सूफी सम्प्रदाय का प्रभाव

सूफी सम्प्रदाय की शाखाओं ने अपने प्रचार-प्रसार द्वारा प्राय: सम्पूर्ण भारत को प्रभावित किया । भारत के धार्मिक सिद्धान्तों से मिलती-जुलती कुछ अपनी बातों कीधर्मिक और विशेष ध्यान दिलाने के प्रयत्न में अपने मूल धर्म इस्लाम की जड़ अधिकाधिक जमाने में सफल हुए ।

सूफी लोगों में इस्लामी कट्टरपन अधिक नहीं था । हिन्दू समाज और हिन्दू परम्परा की अनेक बातों को उन्होंने सरलता से अपनाया । इससे उन्हें सर्व-साधारण में घुल-मिल कर प्रचार करनेमें असाधारण सफलता मिली । ये हृदय की शुद्धता, ईश्वर के प्रति अपार श्रद्धा, पारस्परिक सहानुभूति और विश्वप्रेम की ओर सबका ध्यान विशेष रूप से आकर्षित करते थे और उन्हें अपने मत की मुख्य देन बताकर उसे स्वीकार करने का आग्रह करते थे ।

सूफियों ने सबसे महत्वपूर्ण कार्य एकता और हिन्दू-मुसलमानों के सम्बन्ध मधुर बनाने का किया । इस दिशा में अमीर खुसरो के प्रयास और सद्भावना को नगण्य नहीं किया जा सकता है । उसने भारत में किसी प्रकार की जाति-विभिन्नता

को स्वीकार नहीं किया ।मन्सवी में उसके इन विचारों का विस्तृत विवेचन मिलता है । भारत की संस्कृति,कला,प्राकृतिक सौन्दर्य और सुमुग्धता तथा आदर्शों को उसने अत्यन्त सजीव रूप में चित्रित किया है । उसने भारत भूमि को पृथ्वी का स्वर्ग कहा है । अन्य देशों की तुलना में उसने भारत को सर्वोच्च स्थान देते हुए यहां की उपलब्धियों का अतीव सूक्ष्म परिवेक्षण किया है । उसने भारतीय फूलों की अनन्य प्रशंसा की है । और अन्य देशों के फूलों से उसकी तुलना करते हुए उसकी सुगन्ध सौरभ को अतुलनीय बताया है ।

"With regard to the beauties of India one can say that a hundred countries like china are not worth one hair of theirs. The beauties of yughma and Khullukh can not be compared to them, sharp-sighted and sour visaged as they are"[1]

इस प्रकार उसने भारत की विशेषताओं के अनेक रूप प्रस्तुत किये हैं ।

निस्संदेह अमीर खुसरो की यह भारत प्रियता और सद्भावना एक महत्वपूर्ण और निर्विवाद सत्य तथ्य है जिससे भारतीय समाज पर गहरा प्रभाव पड़ा और उसकी दृष्टि में सूफी साधकों का महत्व और मान बढ़ा ।

भारतीय सूफी अपनी प्रेम साधना के अन्तर्गत नाथ योगी सम्प्रदाय की अनेक यौगिक क्रियाओं का भी समावेश करते थे और अपनी प्रेम गाथाओं में उनके द्वारा शरीर के भीतर कल्पित किये गये विविध महत्वपूर्ण स्थलों के वर्णन रूपकों की सहायता से किया करते थे ।

१- मिडिवियल इण्डियन कल्चर - पृ०१२२, ला० यूसफ हुसैन।

सूफी यद्यपि निर्गुण ब्रह्म के उपासक थे, किन्तु उनके प्रेम की तन्मयता और प्रेम की व्यंजना उस निराकार आराध्य को साकार करती थी। सूफी सम्प्रदाय वास्तव में निर्गुण तथा सगुण के बीच की कड़ी-सा प्रतीत होता है। यह बात सगुण धारा के विवेचन से भली भांति स्पष्ट हो जायगी।

अगले अध्याय में सगुण धारा के दार्शनिक दृष्टिकोण की विवेचना की जायगी।

अष्टम अध्याय

सगुण-धारा का दार्शनिक दृष्टिकोण

रामाश्रयी-धारा

रामाश्रयी धारा

तुलसीदास

रामकाव्य में गोस्वामी तुलसीदास का नाम सर्वोपरि है। वे राम-साहित्य के सम्राट कहे गए हैं। राम के चरित्र को आधार बना कर उन्होंने मानव जीवन की इतनी व्यापक और यथार्थ समीक्षा की है जो अन्य कवि द्वारा सम्भव नहीं है।

तुलसीदास का जीवन-परिचय हमें प्रामाणिक रूप में नहीं मिलता। विभिन्न विद्वानों ने इनके जीवन-वृत्त के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न विचार प्रकट किए हैं। कोई इन्हें कान्यकुब्ज ब्राह्मण कहता है, कोई सरयूपारीण और कोई सनाढ्य। इनके जन्मस्थान के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार मतभेद है। और इनकी जन्मतिथि तथा मृत्यु-तिथि के सम्बन्ध में भी विद्वान् एकमत नहीं। इस समस्या का समाधान डा० बल्देव मिश्र ने अपने ग्रन्थ 'तुलसी दर्शन' में किया है।

'हमारा उद्देश्य हमें बाध्य करता है कि हम इन प्राचीन ग्रन्थों की परस्पर विरुद्ध बातों को उलझने सुलझाने का प्रयत्न छोड़ कर गोस्वामी जी के जीवन की सर्वमान्य और कुछ आवश्यक बातें ही यहां लिख कर अपने वर्ण्य विषय पर आ जायें। यह निश्चित है कि गोस्वामी जी ब्राह्मण थे, और पैदा होते ही माता-पिता से अलग हो गए थे। बालपन से ही उन्हें गुरु का आश्रय प्राप्त हुआ था और इस प्रकार उन्होंने 'नानापुराणनिगमागम' की अच्छी शिक्षा पाई थी। उनका विवाह हुआ था परन्तु गार्हस्थ्य में पत्नी के कारण ही उन्हें वैराग्य की शिक्षा मिली। और इस तरह विरक्त होकर ही उन्होंने देश-विदेश में खूब भ्रमण किया था तथा अपने सुदीर्घ जीवन में सम्मान और अपमान सभी कुछ पाया था।

चित्रकूट, अयोध्या, काशी आदि स्थानों में रहे थे और काशी में महामारी से पीड़ित भी हुए थे। वे अकबर और जहांगीर के राजत्व काल में वर्तमान थे। ये बातें न केवल उनके सभी जीवनीकारों को मान्य हैं वरन् स्वतः उनके रचे हुए ग्रन्थों से

भी सिद्ध होती है[१]।"

यह प्रामाणिक सत्य है कि अन्त में चित्रकूट को इन्होंने अपना निवास-स्थान बनाया। यहीं पर इन्हें प्रेत-दर्शन हुए, जिससे इन्होंने हनुमान और राम के दर्शन किए। यहां पर इन्हें दरियानन्द स्वामी से भी मिलने का सौभाग्य हुआ। सूरदास ने यहीं आकर इनसे भेंट की और इन्हें अपना `सूरसागर` दिखाया। सं०१६१६ के पश्चात् इन्होंने एक बालक के गाने के लिए राम और कृष्ण सम्बन्धी गीतों की रचना की जो बाद को `रामगीतावली` और `कृष्णगीतावली` के नाम से संगृहीत हुई।

तुलसी : भक्तिमार्ग

गोस्वामी तुलसीदास भगवान के सच्चे प्रेमी और भक्त थे। स्वाभाविक रूप से उनकी भक्ति रागात्मक थी। उन्होंने भक्ति के साधनों में रागात्मक भक्तिवाले साधनों का विशेष उल्लेख किया है। `भक्ति` भक्ति के आनन्द के लिए करना ही उन्हें प्रिय था।

" गोस्वामी जी की वर्णनशैली के जादू से मन्द सहारा लेने वाले भक्ति को वैधी भक्ति के झंझटों में उलझाने की आवश्यकता नहीं। गोस्वामी जी ने प्रतिमा पूजन आदि वैधी भक्ति के साधनों को निन्दनीय नहीं कहा है। परन्तु उनके लिए कहीं विशेषाग्रह भी नहीं किया है। उन्होंने तो इन विधि-विधानमय साधनों को द्वापर, त्रेता की चीज़ कहा है। इस तरह वे यद्यपि भाव ही को हर कहीं प्राधान्य देते हैं तथापि प्रसंगवश कहीं कहीं भावहीन क्रिया और अन्धश्रद्धा तक को उपादेय कह देते हैं। तीर्थों की महिमा, वेष की पूजा यन्त्रवत् नामोच्चारण आदि ऐसे ही विषय हैं। इन्हीं विषयों के कारण कई लोगों ने तुलसी सिद्धान्त पर आक्षेप

१- तुलसी दर्शन - डा० बलदेव मिश्र- पृ० ४

भी किये हैं परन्तु पूर्वा पर सम्बन्ध मिलाकर यदि इन प्रसंगों पर अथवा इन विषयों पर विचार किया जाय तो विदित होगा कि गोस्वामी जी ने इन्हें इन्हें एक समुचित सीमा तक ही उपादेय कहा है।[1]

तुलसीदास ने भगवत्प्रेम से भगवत्तन्मयत्व प्राप्ति का रोचक वर्णन तो किया ही है साथ ही उन्होंने भगवत विरोध से भी भगवत्तन्मयत्व की प्राप्ति का हल बड़े सुन्दर ढंग से कहा है। विशेष बात तो यह है कि तुलसीदास का भक्तिमार्ग केवल व्यक्ति के कल्याण की बात को लेकर नही चला इसीलिये उसमें साधु मत और लोकमत दोनों का समन्वय है।

नवधा भक्ति :- प्राचीन आचार्यों की भांति तुलसीदास ने नवधा भक्ति सिद्धान्त का समर्थन किया है। भक्ति के नव साधन निम्नलिखित हैं --
१- श्रवण २- कीर्तन ३-स्मरण ४-पादसेवन ५- अर्चन ६-वन्दन ७-दास्य ८- सख्य तथा ९- आत्मनिवेदन।

भक्ति के ये ९ साधन वैधी एवं रागात्मिका दोनों प्रकार की भक्तियों को अपने में समेट लेते हैं। "मानस" में श्रीरामचन्द्र ने शबरी को नवधा भक्ति के साधनों को बताया है।

भक्ति की सर्वोच्च साधना ही तुलसीदास के धर्म की मर्यादा है। उन्होंने सरल साधन के सहारे जिस प्रकार धर्म की रूपरेखा निर्धारित की थी उसमें दोषों के आ जाने का संदेह था। भक्ति करते हुये लोग आडम्बर और छल कपट आदि न करें इसीलिये उन्होंने `मानस` में सन्तों के लक्षण गिनाए हैं।

नारद जी द्वारा सन्तों के लक्षण पूछे जाने पर उन्होंने रामचन्द्र से कहलवाया है -----

---

१-तुलसीदर्शन- डा० बल्देव मिश्र- पृ० ७५ ।

सुनु मुनि सन्तन के गुन कहऊं। जिन्हते मै उन्ह के बस रहऊं।।
षट विकार जित अनघ अकामा। अचल अकिंचन सुचि सुखधामा।।
अमित बोध अनीह मित भोगी। सत्य सार कवि कोविद जोगी।।
सावधान मानद मद हीना । धीर भगति पथ परम प्रवीना ।।
गुनागार संसार दुख रहित बिगत सन्देह ।
तजि मम चरन सरोज प्रिय जिन्ह कहुं देह न गेह।।[१]

राम के व्यक्तित्व में शैव, शाक्त और पुष्टि मार्गियों के आदर्शों की पूर्ति कर तुलसी दास ने राम भक्ति में व्यापकता के साथ ही साथ शक्ति भी ला दी और शैव तथा वैष्णवों का विचार-विभिन्नता की समाप्ति तुलसी दास की लेखनी से हुई ।

वे स्मार्त वैष्णव थे और पंच पन्च देवताओं की पूजा में विश्वास करते थे,इसका प्रमाण उनकी विनय पत्रिका से मिलता है । उनके समक्ष ज्ञान का उतना महत्व नहीं था, जितना भक्ति का । यद्यपि उन्होंने ज्ञान और भक्ति में उतना अन्तर नहीं माना । उन्होंने ज्ञान से भक्ति की श्रेष्ठता को स्पष्ट किया है । उनकी भक्ति का चरम उद्देश्य सेवक- सेव्य भाव की पुष्टि करना है, जो तुलसी का आदर्श है। इस आदर्श के सम्बन्ध में उन्होंने स्पष्टत: घोषित किया है---

सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिअ उरगारि ।
भजहु राम पद पंकज अस सिद्धांत बिचारि ।।[२]

तुलसी दास ने ज्ञान और भक्ति का यह विरोध दूर कर धार्मिक परिस्थि-- तियों में महान् एकता की सृष्टि की है ।ज्ञान भी मान्य है परन्तु भक्ति की अवहेलना करके नहीं । इसी प्रकार भक्ति का विरोध भी ज्ञान से नहीं । दोनों में केवल दृष्टिकोण का थोड़ा सा अन्तर है ।

<u>तुलसी दास और उनका युग</u> :- तुलसी दास ने ऐसे समय में जन्म लिया था,जिस समय भारत की धार्मिक परिस्थिति अनेक प्रभावों से शासित हो रही थी । धार्मिक दृष्टिकोण से मुस्लिम शासन हिन्दुओं के लिये हितकर नहीं था। अकबर ही एक ऐसा शासक था जिसने धार्मिक सहिष्णुता का परिचय दिया परन्तु अकबर के पूर्व के शासकों की नीति के कारण जनता में धार्मिक द्वेष की आग फैल रही थी । इसी

१- तुलसी- ग्रन्थावली, दूसरा खण्ड(मानस)पृ० ३२०-३२१

२- तुलसी ग्रन्थावली, पहला खण्ड)(मानस) पृ० ४६७

काल में हिन्दुओं के कुछ महान आचार्यों ने जन्म लिया और ऐसे ही आचार्यों में तुलसी दास भी एक थे ।

मुस्लिम प्रभाव के अलावा तुलसी दास के सामने धर्म की समस्या विचित्र रूप में आई और उन्होंने गाँड़ गवार नृपाल महि यमन महिपाल की विषम परिस्थिति में अपनी धार्मिक मर्यादा का आदर्श उपस्थित करते हुये अनेक मतों और पन्थों से भी समझौता किया तुलसी दास की यह कुशल नीति थी ।

जिस समय उन्होंने सृजना आरम्भ की उस समय उनके समक्ष चारण काल के वीर-गाथात्मक गुन्थ और प्रेम काव्य तथा सन्तकाव्य के मुसलमानी प्रभाव से प्रभावित धार्मिक गुन्थ थे ।उस समय के साहित्य निर्माण में प्रचार भावना अधिक थी,साहित्य निर्माण की कम । तुलसी दास ने अपनी प्रतिभा से साहित्य को उत्कृष्ट बनाया था और यह उनकी अप्रतिम शक्ति थी ।

२- तुलसी का दर्शन

तुलसी के गुन्थों को देख कर ज्ञात होता है कि संस्कृत के दर्शन-शास्त्र का उन्हें गम्भीर ज्ञान था । दर्शन के गूढ़ रहस्यों को उन्होंने अपने गुन्थों में बड़ी सरलता के साथ रखा है ।उनके समकालीन ऐसा कोई कवि नहीं है जिसने दर्शन का इतना सफल चित्रण प्रस्तुत किया हो ।

उनकी `विनय पत्रिका` और `रामचरित मानस` ये दोनों गुन्थ उनके दर्शन ज्ञान के अद्वितीय प्रमाण हैं ।

` विनय पत्रिका में स्तुति, आत्म-बोध और आत्म निवेदन का अंश अधिक हो जाने के कारण दर्शन का विशेष स्पष्टी करण नहीं है,पर कुछ पद ऐसे अवश्य हैं, जिनसे तुलसी का दर्शन ज्ञान उद्घाटित होता है । शंकर के मायावाद के निरूपण में तो वे कहा है--

केशव कहि न जाइ का कहिये ।
देखत तव रचना विचित्र अति समुझि मनहिं मन रहिए ।।
शून्य भीति पर चित्र रंग नहिं,तनु बिनु लिखा चितेरे ।

१-

धीर मिटै न, मरै भीति दुख पाइय यहि तनु हेरै ।
रविकर-नीर बसै अति दारुन मकर रूप तेहि माहीं।
बदन हीन सो ग्रसै बराबर पान करन जे जाहीं ।
कोउ कह सत्य, झूठ कह कोऊ जुगल प्रबल करि मानै ।
तुलसिदास परिहरै तीनि भ्रम सो आपन पहिचानै[1] ।।

इस पद से ज्ञात होता है कि वे शंकर के अद्वैतवाद के प्रतिपादक होते हुए भी उसे `भ्रम` मानते थे ,जो हो विनयपत्रिका में दर्शन के कुछ सिद्धान्तों का निर्देश अवश्य है पर उसमें अधिकतर विनय और प्रेम का अंश ही अधिक है[1] ।`

मानस में तुलसी का दर्शन अत्यन्त व्यापक और परिमार्जित है । स्थान, स्थान पर घटना-प्रसंगों में उनका दर्शन दृष्टिगत होता है ।

मानस बालकाण्ड के प्रारम्भ में जहां तहां उनकी दार्शनिकता के दर्शन होते हैं । लक्ष्मण-निषाद-संवाद ,राम भरत संवाद एवं किष्किन्धाकाण्ड में वर्षा तथा शरद वर्णन आदि अनेक स्थल दार्शनिकता से ओत प्रोत हैं ।उनकी दार्शनिकता का श्रेणि विभाजन विवादग्रस्त है । कुछ विद्वानों ने उन्हें अद्वैतवादी विचारधारा का कहा है और कुछ ने विशिष्टाद्वैतवादी ।परन्तु इनमें से किसी विचार को निश्चित रूप नहीं दिया जा सका । उन्होंने ब्रह्म को सर्वशक्तिमान मान कर साधना की है और वे सगुणोपासक रहे हैं ।

उन्होंने ब्रह्म के लिए समस्त विशेषणों का प्रयोग किया है ।तुलसीदास वैष्णव थे अतएव वे अवतारवादी थे । `वे अपने ब्रह्म को अद्वैतवाद के शब्दों में तो व्यक्त करते हैं पर उसे विशिष्टाद्वैत के गुण से युक्त कर देते हैं`[2]।

एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानन्द परधामा।।
व्यापक विश्व रूप भगवाना।तेहि धरि देह चरित कृत नाना।।

१- हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास- डा० रामकुमार वर्मा-पृ० ४४३

२- वही वही पृ० ४४५

मानस के समस्त अवतरणों का निरूपण यह सिद्ध करता है कि अद्वैतवाद में उनकी अत्यधिक श्रद्धा थी । और वे रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत के उपासक और अनुयायी थे ।

पं० रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में 'साम्प्रदायिक दृष्टि से तो वे रामानुजाचार्य के अनुयायी थे ही , जिनका निरूपित सिद्धान्त भक्तों की उपासना के अनुकूल दिखायी पड़ा ।'

तुलसीदास ने अद्वैतवाद का निरूपण किया है परन्तु इसे उन्होंने अपना मत नहीं स्वीकार किया । यद्यपि वे रामानन्दके शिष्य थे और रामानन्द की शिष्य परम्परा में 'आध्यात्मरामायण' ही आधारभुत पुस्तक थी ।इसीलिए जब तुलसी ने 'आध्यात्म रामायण' को अपने 'मानस' का आधार बनाया तो वे उसकी अद्वैत भावना की अवहेलना न कर सके । अतएव 'मानस' में स्थान - स्थान पर अद्वैत का निरूपण है । और इस निरूपण के आधार पर कहा जा सकता है कि तुलसीदास विशिष्टाद्वैतवादी थे ।

तुलसीदास ने 'मानस' में राम के पांच रूपों को प्रस्तुत किया है - १- पर (वासुदेवस्वरूप) २- व्यूह (विश्व की सृष्टि और लय का स्वरूप) ३- विभव (इस रूप में विश्व के अवतार मुख्य हैं) ४- अन्तर्यामी (इस रूप में ईश्वर समस्त ब्रह्मांड की गति जानता है) ५- आर्चावतार (यह ब्रह्म का वह स्वरूप है जो भक्तों के हृदय में अधिष्ठित है ।

तुलसीदास विशिष्टाद्वैत मत में श्रद्धा और आस्था रखते थे ।

' कौशल्या ने जो स्तुति राम के प्रकट होने के समय की है उसमें ब्रह्म का आविर्भाव विशिष्टाद्वैत के सिद्धान्तानुसार ही है[१] ।'

उपरोक्त संदर्भ सन्दर्भों से यह निश्चित रूप में प्रमाणित किया जा सकता है कि तुलसीदास अपने दार्शनिक सिद्धान्तों में विशिष्टाद्वैतवादी थे ।

१- हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास- डा० रामकुमार वर्मा , पृ० ४४८

तुलसीदासकी कृतियां :-

`मानस` तुलसीदास का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है । समस्त विद्वानों ने एक स्वर में मानस की श्रेष्ठता को स्वीकार किया है ।

वेणीमाधव दास ने अपने `मूलगोसाईंचरित` में तुलसीदास के अनेक ग्रन्थों का निर्देश किया है । रचना तिथि के क्रम से ग्रन्थों की सूची इस प्रकार है :-

(१) रामगीतावली	संवत् १६२८
(२) कृष्णगीतावली	सं० १६२८
(३) रामचरितमानस	१६३१
(४) रामविनयावली (विनयपत्रिका)	१६३९ के लगभग
(५) रामललानेहछू	१६३९
(६) पार्वतीमंगल	१६३९
(७) जानकीमंगल	१६३९
(८) दोहावली	१६४०
(९) सतसई	१६४२
(१०) बाहुक	१६६९
(११) वैराग्य संदीपिनी	१६६९
(१२) रामाज्ञा	१६६९
(१३) बरवै	१६६९

शिवसिंह सेंगर ने तुलसीदास के ग्रन्थों का उल्लेख करते हुए सरोज में लिखा है `इनके बनाये ग्रन्थों की ठीक संख्या हमको मालूम नहीं हुई । केवल जो ग्रन्थ हमने देखे , अथवा हमारे पुस्तकालय में है उनका जिक्र किया जाता है ।(प्रथम)४९ काण्ड रामा-यण बनाया है ,इस तफसील से एक चौपाई रामायण सात कांड (दो)कवितावली ७ कांड (तीन)गीतावली ७ कांड (चार)छन्दावली ७ कांड(पांच)बरवै सात कांड (छठवां) दोहावली ७ कांड (सातवां) कुंडलिया ७ कांड । सिवा इन ४९ काण्डों के १-सतसई २-रामसलाका ३-संकटमोचन ४-हनुमत बाहुक ५-कृष्णगीतावली ६जानकी

१- तुलसी गंग दुवौ भये सुकविन के सरदार ।
   जिनके ग्रन्थन में मिली भाषा विविध प्रकार ।।-काव्यनिर्णय

मंगल ७- पार्वतीमंगल ८- करखा छंद ६-रोला छंद १०-फूलना छंद इत्यादि और भी ग्रन्थ बनाये हैं। अन्त में विनयपत्रिका महाविचित्र मुक्तिरूप प्रज्ञानन्दसागर ग्रन्थ बनाया है। चौपाई गोस्वामी महाराज की ऐसी किसी कवि ने नहीं बना पाई और न विनयपत्रिका के समान अद्भुत ग्रन्थ आज तक किसी कवि महात्मा ने रचा। इस काल में जो रामायण न होती तो हम ऐसे मूर्खों का बेड़ा पार न लगता।`[1]

`एनसाइक्लोपीडिया आव रिलीजन एंड एथिक्स` के अनुसार ग्रियर्सन ने तुलसी के १२ ग्रन्थ ही प्रामाणिक मानेवे हैं।

तुलसीदास के सभी ग्रन्थ श्री रामचन्द्र की सगुण भक्ति पर आधारित हैं। प्राय: सभी ग्रन्थों में दास्य भाव से उन्होंने राम के आदर्शों और स्वरूपों का चित्रण प्रस्तुत किया है परन्तु उनका `रामचरितमानस` उनकी समस्त कृतियों में सर्वोच्च है।

रामचरितमानस

रामचरितमानस हिन्दी साहित्य का सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ माना गया है। इसका सृजनकाल सं० १६३१ है जैसा कि तुलसी ने बालकाण्ड के आरम्भ[2] में ही लिखा है - संवत सोलह सौ इकतीसा। करौं कथा हरिपद धरि सीसा।।`

मानस में राम-कथा सात काण्डों के अन्तर्गत वर्णित है। समस्त छन्दों की संख्या लगभग १० हजार है। चौपाई, दोहा, सोरठा सभी का इसमें प्रयोग है।

इसमें राम की सम्पूर्ण कथा चित्रित है। और वर्ण्य विषय का विशेष आधार बाल्मीकिरामायण है।

१- शिवसिंह सरोज(शिवसिंह सेंगर)पृ० ४२७-४२८ नवलकिशोर प्रेस लखनऊ(१६२६)

२- तुलसीग्रन्थावली - पहला खण्ड - पृ० २०

मानस में तुलसीदास ने रामकथा के समस्त पहलुओं पर लिखा है और उसे महाकाव्य का रूप दे दिया है। राम का मर्यादित जीवन ,उनके आदर्श और लोक शिक्षा की भावना ने मानस को अत्यन्त हृदयस्पर्शी और भावमय बना दिया है। मानस में रामचरित के साथ ही तुलसीदास ने धार्मिक एवं दार्शनिक सिद्धान्तों का भी निरूपण किया है।

'मानस' की कथा 'वाल्मीकिरामायण' और'अध्यात्मरामायण',की सामग्री से निर्मित होकर आदर्श समाज और आदर्श धर्म की रूपरेखा बनाती है। इस कथा में पात्र-चित्रण सबसे प्रधान है। तुलसीदास ने प्रत्येक पात्र को इस प्रकार चित्रित किया है कि यह अपनी श्रेणी के लोगों के लिए आदर्श रूप है। पात्र-चित्रण में तुलसी का ध्येय लोकशिक्षा है। इसी लोक शिक्षा का स्वरूप निर्धारित करने के उद्देश्य से तुलसी ने अनेक स्थलों पर'वाल्मीकिरामायण' और'अध्यात्म-रामायण' से स्वतंत्रता ली है। यों तो'मानस' में अनेक स्थलों पर आदर्श लोक-व्यवहार की मर्यादा रखी है पर यहां केवल एकही पद में पात्र की चरित्र रेखा स्पष्ट हो जायेगी। शिव कहते हैं -

' यहि तन सतिहि भेंट मोहि नाहीं। शिव संकल्पु कीन्ह मन माहीं ।।

मानस में इसी प्रकार अनेक स्थलों पर भक्ति,पातिव्रत्य,सत्यव्रत ,सत्य प्रतिज्ञा , प्रेम और धर्म एवं मर्यादा आदि का अत्यन्त सुदृढ़ आदर्शवादी और सजीव चित्रण दृष्टिगत होता है।

मानस समस्त काव्य गुणों से ओत-प्रोत है।यथास्थान काव्य सौन्दर्य के लिए उन्होंने अलंकारों का भी प्रयोग किया है।

'गोस्वामी तुलसीदास की रचना जनसमाज के लिए इतनी अनुकूल बन पड़ी है कि उनके वचनों को जनता कहावतों की तरह इस्तेमाल करती है। इतना ही

१- हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास- डा० रामकुमार वर्मा-पृ० ४२८

नहीं बल्कि सैद्धान्तिक दृष्टि से भी इनकी रचना बड़ी उत्कृष्ट है । वर्तमान समय में हिन्दुत्व के अन्दर उनके उपदेशों को जो प्रभाव है वह अन्य किसी का नहीं । अन्य साम्प्रदायिक साधुओं की तरह उन्होंने अपना कोई निज का सम्प्रदाय नहीं चलाया तथापि उनकी भारत की तमाम हिन्दू जनता अपने चरित्र निर्माण और धार्मिक कार्यों में एक बहुत ही आप्त और प्रामाणिक पथ प्रदर्शक मानती है ।`[१]

तुलसी की विशेषता :-

तुलसी ने कोई मत अथवा सम्प्रदाय नहीं चलाया और न प्रकट में वे किसी मत और सम्प्रदाय के अनुयायी थे । इस भावना ने उन्हें किसी प्रकार की संकीर्णता में नहीं पड़ने दिया और अपने किसी ~~भक्ततर~~ भाव विशालता के कारण वे इतनी लोकप्रियता और ख्याति प्राप्त कर सके । उनका कृतित्व किसी धारा विशेष में नहीं बन सका जिससे वे अन्य सभी सम्प्रदाय और मतों के साथ सन्तुलन स्थापित करके चल सके उन्होंने अपनी ओर से कोई नयी बात कहने का प्रयास नहीं किया । वरन् प्रचलित जनश्रुति का ही समर्थन किया । उनके कृतित्व में उपयुक्त विषयों का ही प्रतिपादन और वर्णन अधिक मिलता है । अनुपयुक्त विषय का उन्होंने परित्याग ही किया है ।

`मानस`उनका अजर-अमर काव्य है । जिसके आदर्श,त्याग ,प्रेम,कर्तव्य और भावना की अमिट छाप भारतीय समाज पर पड़ी है और जनमन को प्रभावित किया है ।

`रामचरितमानस` के पात्रों में लोकशिक्षा का रूप प्रधान रूप से है । पारिवारिक जीवन का आधार`मानस` में यथास्थान सज्जित है । पिता ,पुत्र ,माता पति,पत्नी ,भाई ,सखा ,सेवक पुरजन आदि का क्या पारस्परिक व्यवहार होना चाहिए इस सब का उत्कृष्ट निरूपण तुलसीदास ने अपनी कुशल लेखनी से किया है ।

`वाल्मीकिरामायण` में मानवीय भावनाओं के निरूपण के लिए आदिकवि ने अनेक प्रसंग लिखे हैं , जो स्वाभाविक होते हुए भी लोकशिक्षा के प्रचारक नहीं हैं । लक्ष्मण का क्रोध,दशरथ के वचन आदि औचित्य का अतिक्रमण करते हैं पर तुलसीदास

१- फिलाॅसफी आफ तुलसीदास - पृ० २

ने ऐसे पात्र की भी कल्पना नहीं कि जिससे दुर्वासनाओं और अनाचारों की वृद्धि हो । उन्होंने तामसी पात्रों को भी सद्गुणों की वृद्धि करते हुए चित्रित किया है । सात्विक भावनाओं से भरे हुए पात्रों को तो उन्होंने मर्यादा का आधार ही अंकित कर दिया है ।[1]

(राम) बरस चारि दस बिपिन बस करि पितु बचन प्रमान ।
आइ पाय पुनि देखिहौं मन जनि करसि मलान ।।

इस प्रकार लक्ष्मण,सीता,दशरथ,भरत,कौशल्या आदि पात्रों के मुख से भी उन्होंने आदर्शवाद के स्वाभाविक ,स्पर्शी और श्लील भावनाओं को प्रकट कराया है ।

मानस के उत्तरकाण्ड में राम-राज्य से प्रतिपालित समाज का जो चित्रण उन्होंने प्रस्तुत किया है वह वर्णाश्रम धर्म से ओतप्रोत है । इस काण्ड में उन्होंने समाज में धर्मपालन की भावना पर जोर दिया है -

बयरु न कर काहू सन कोई। राम प्रताप विषमता खोई ।।[2]
बरनाश्रम निज निज धरम, निरत बेद पथ लोग।
चलहिं सदा पावहिं सुख, नहिं भय, सोक न रोग ।।

बालकाण्ड में भी उन्होंने समाज के प्रत्येक व्यक्ति के लिए आदरपूर्ण पथ निर्देशन कि किया है ।

मानस के नारी चरित्रों के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि तुलसी में नारी जाति के प्रति आदर और श्रद्धा का भाव रहा है । अनसुइया, कौशल्या, सीता और सुलोचना आदि नारी चरित्र इसके ज्वलन्त प्रमाण हैं । इन चरित्रों के रूप में उन्होंने नारी के स्वभाव, स्वरूप, प्रेम,त्याग शीलता, सौन्दर्य और प्रकृति का जो वर्णन किया है वह अतुलनीय है।

कुछ आलोचकों ने उन पर आक्षेप किया है कि उन्होंने नारी-जाति की निन्दा की है, जैसा कि इस चौपाई से प्रकट होता है--

ढोल गंवार, सूद्र पसु नारी । सकल ताड़ना के अधिकारी ।

परन्तु तुलसी दास का नारी के प्रति यह भाव उस स्थिति में उदित हुआ है जब नारी ने मर्यादा और धर्म के विरुद्ध आचरण किया है अन्यथा अन्यत्र पै नारी

१-हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास- डा०राम कुमार वर्मा पृ० ४४०-४१
२- तुलसी ग्रन्थावली पहला खण्ड(मानस) पृष्ठ ३६०

जाति के प्रति आदर-श्रद्धा से ओत-प्रोत दिखते हैं।

उनके साहित्य में समाज का सच्चा प्रतिनिधित्व है। और उस प्रतिनिधित्व में लोकहित की महान् भावना है।

" तुलसी दास ने समाज का आदर्श विस्तार पूर्वक लिखा, क्योंकि उन्होंने अपने समय में समाज की दुरव्यवस्था देखी थी। समाज-सुधार के लिये ही उन्होंने 'रामायण' की चरित्र रेखा को अपने मानस में परिष्कृत कर नवीनता के साथ रख दिया। तुलसी दास की यही मौलिकता थी। उन्होंने अपने 'मानस' में तत्कालीन समाज की दशा का चित्रण बहुत स्पष्टता के साथ किया है।[१]

समाज पर मानस की अमिट छाप पड़ी है और मानस का त्याग, प्रेम आदर्श और संदेश समाज का अपना प्रतीक बन गया है।

" तुलसी मत जिस उद्देश्य को लेकर सामने रख कर प्रचारित हुआ है उसी उद्देश्य को लेकर रामकृष्ण मिशन के सज्जन, थियासाफी के प्रेमीगण, आर्यसमाज के कार्य कर्ता महोदय आदि आदि अपनी अपनी ओर प्रयत्न कर रहे हैं। परन्तु उनके सिद्धान्तों को वह लोकप्रियता नहीं मिल पाई जो तुलसी मत को मिली है। इसका प्रधान कारण यह है कि तुलसी मत न केवल स्वत: बहुत उत्तम तत्व है वरन वह बहुत उत्तम ढंग से कहा भी गया है।[२]

सन्त परम्परा में तुलसी का स्थान

भारत के पिछले दो हजार वर्षों का इतिहास भारतीय संस्कृति को समूल नष्ट करने के क्षेत्र में एक ऐसा प्रयास रहा है जिसे जान कर यह आश्चर्य होता है कि भारतीय परम्परागत संस्कृति किस प्रकार जीवित रह सकी। सर्व प्रथम यवन आये जिन्होंने पश्चिमी भारत को रौंद डाला और कई सौ वर्ष तक शासन करते रहे।

१- हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास- डा० रामकुमार वर्मा- पृ० ४४२

२-तुलसी दर्शन - डा० बलदेव मिश्र - पृ० ३२७

हूणों का बर्बर आक्रमण भी भारतीय इतिहास का एक ऐसा उदाहरण है जिसका नमूना बहुत कम मिलता है । परन्तु भारतीय संस्कृति की गंगा अविकल गति से बहती रही । तथा पाश्चात्य संस्कृति में स्वयं न मिल कर उन्हें ही अपने में मिला लिया ।ईसा के एक हजार वर्ष बाद मुसलमानों का आक्रमण तो अत्यन्त ही भयंकर था । हठधर्मी मुसलमान शासक हिन्दुत्व तथा भारत की सभी परम्पराओं को समूल नष्ट करना चाहते थे । भारतीयता की नींव डगमगा उठी और ऐसा ज्ञात हुआ कि उस भयंकर भुचाल में सब कुछ समाप्त हो जायगा । ऐसी विषम परिस्थिति में भारतीयता को संजीवनी पिला कर चैतन्य बनाने में संत परम्परा के संतों ने जो कार्य किया उसका स्थान इतिहास में अद्वितीय है । इस सन्त परंपरा के सर्वश्रेष्ठ कवि तुलसीदास थे जिनकी वाणी ने जन-जन के हृदय में अमृत वर्षा करती हुई भारतीय संस्कृति को केवल जगा ही नहीं दिया बल्कि उसे स्थिरता प्रदान की । इस दृष्टि से तुलसी का रामचरित मानस एक ऐसा एटम बम था जिसके विस्फोट की किरणों भारतीय संस्कृति को समूल नष्ट करने वाली सभी शक्तियों को सदैव के लिए पंगु बनाने में समर्थ हुई । जिस व्यापकता के साथ रामचरितमानस भारत की आत्मा में घुस गया उतनी ही व्यापकता सन्त परम्परा के अन्य कवियों को नहीं उपलब्ध हो सकी । सूर के चुभते पद जहां भक्तों के हृदयों में घुस कर कृष्ण को सब के सन्मुख साकार करने में समर्थ हुआ वहां तुलसी का मानस उस समय के भारतीय समाज को नवीन रंगों से संवो कर नयी चेतना ,नया मोड़ एवं एक नवीन दृष्टिकोण से ओतप्रोत करने में सफल हुआ ।

सन्त परम्परा के सभी सन्तों में तुलसी ही एक ऐसे सन्त थे जो विद्वता ज्ञान ,पठन-पाठन एवं विभिन्न दर्शनों के गहन चिन्तन में अद्वितीय थे । यही कारण है कि तुलसी का मानस भारतीय दर्शन गीता वेद पुराण तथा उस समय तक के उपलब्ध सभी ज्ञान का एक जीता-जागता प्रतिबिम्ब है ।

जहां अन्य सन्त केवल आध्यात्मिक अनुभूति से प्रेरित होकर अपने काव्य द्वारा पवित्र गंगा बहाने का प्रयास करते थे वहां तुलसी का दृष्टिकोण उच्च आध्यात्मिक आदर्श के अतिरिक्त भारतीय गगन पर उस समय के राजनीतिक षड्यंत्रों के मंडराते काले बादलों को अपने मानस सरीखे अग्नि बाण से नष्ट कर भारतीय संस्कृति के दिनकर को पुन: प्रकाशित करने की दृष्टि से भी प्रेरित था। इस प्रकार तुलसी केवल एक महान् संत ही नहीं थे बल्कि एक कुशल राजनीतिज्ञ होने के साथ साथ कूटनीतिज्ञ चालों को समझ कर उसे नष्ट करने की नीति में भी दक्ष थे ।

उनकी तुलना हम महात्मा गांधी से कर सकते हैं। जो एक महात्मा के रूप में अद्वितीय राजनीतिज्ञ थे। और अपनी कुशलता के कारण धार्मिक साधनों के माध्यम से भारत को स्वतंत्र बनाने में समर्थ हुए। दार्शनिक तथा धार्मिक दोनों ही दृष्टियों से तुलसीदास का अभूतपूर्व महत्व है जो आज तक अक्षुण्ण बना हुआ है।

रामकाव्य के अन्य फुटकर कवि :-

राममक्ति शाखा में रामकाव्य का वर्णन गोस्वामी तुलसीदास जी ने जितना विस्तृत किया है, उतना अन्य कोई कवि नहीं कर सका। तुलसीदास जी दर्शन एवं भक्ति के गंभीर एवं सूक्ष्म तत्वों के वर्णन में दक्ष हैं।

इनके अतिरिक्त रामकाव्य के अन्य कवियों में केशवदास ,स्वामी अग्रदास, नाभादास ,सेनापति ,हृदयदास ,प्राणचन्द्र चौहान,लालदास ,लालदास ,बालभक्ति रामप्रियासरन,जानकी रसिकसरन , प्रियादास , कलानिधि ,महाराज विश्वनाथ सिंह,प्रेमसखी,कुशल मिश्र,रामचरणदास, मधुसूदनदास,कृपानिवास,गंगाप्रसाद व्यास, उदयिना,सर्वसुखसरन,भगवानदास खत्री,रामगोपाल ,परमेश्वरीदास इत्यादि अनेक कवियों का वर्णन पाया जाता है। उपर्युक्त कवियों में से केशवदास,स्वामी अग्रदास हृदयदास एवं नाभादास के बारे में विस्तृत परिचय हिन्दी भक्तिकाल में मिलता है।

केशवदास :-

केशवदास का जन्म सं० १६१२ के लगभग टेहरी में हुआ था। ये तुलसीदास के समकालीन थे। वेणीमाधव दास के अनुसार इनकी भेंट तुलसीदास जी से दो बार हुई थी। हिन्दी साहित्य के आलोचकों ने इन्हें रीतिकालीन कवियों की श्रेणी में माना है। 'रामचन्द्रिका' की रचना से यह स्पष्ट होता है कि इन्होंने इस ग्रन्थ की रचना वाल्मीकि के आदेशानुसार किया था[१]।

१- रामचन्द्रिका सटीक , पृ० ६

केशवदास संस्कृत के आचार्य थे,अत: इनकी रचनाओं में संस्कृत के शब्द एवं ज्ञान का अधिक प्रयोग पाया जाता है ।अत: काव्य में रस की अपेक्षा अलंकार को अधिक श्रेष्ठ मानते हैं ।

केशवदास ने कुल सात ग्रन्थ लिखे हैं। जिसमें- ` विज्ञान गीता``रतन बावनी` `जहांगीर जस चन्द्रिका``वीर सिंह देव चरित्र``रसिक प्रिया` कवि प्रिया` राम चन्द्रिका`। इन ग्रन्थो में `राम चन्द्रिका `` कवि प्रिया` रसिक प्रिया` अधिक है । प्रसिद्ध है ।`राम चन्द्रिका` में ३९ प्रकाश है । इसमें राम की सम्पूर्ण कथा`बाल्मीकि रामायण` के आधार पर कही गई है । किन्तु ` राम चरित मानस` की भांति यह अधिक प्रसिद्ध न हो सकी । इसका एक मात्र कारण यही था कि केशव दासने`मानस` की भांति मनोवैज्ञानिक चित्रण नही कर सके है केवल कथा की भांतिकता है ।वर्ण्य विषय की गहराई में नही पहुंच सके हैं ।` राम चन्द्रिका में कुछ सम्वाद बहुत ही विस्तृत रूप से वर्णित है ।

इस प्रकार `राम चन्द्रिका ` में केशव दास एक भक्त न हो कर आचार्य बन गये है । अत: भक्ति,दर्शन आदि की उपेक्षा हुई ही है । तुलसी दास स्वंय को दीन हीन भगवान का परम सेवक मानते हैं । केशव दास पूर्वार्ध में तो भक्ति की भावना से ओत- प्रोत पाये जाते है` किन्तु पूर्वार्ध (उत्तरार्ध) मे शृंगारिक से हो गये है` ।

स्वामी अग्रदास :-

इनका जन्म संवत् १६३२ के आस-पास हुआ था । रामाश्रयी शाखा में तुलसीदास, केशवदास के पश्चात् रामकाव्य लिखने वाले कवियों में से एक प्रमुख कवि ये भी रहे हैं ।

अग्रदास स्वामी नाभादास के शिष्यों में से एक थे । तुलसी की भांति इनका रामकाव्य भी दर्शन एवं भक्ति से ओतप्रोत है ।

कृष्णाश्रयी-धारा

कृष्णाश्रयी -धारा का मूल स्रोत

विट्ठलनाथ तथा वल्लभ-सम्प्रदाय :-

हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल की कृष्णाश्रयी धारा पर पूर्ण रूप से आचार्य वल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैत सिद्धान्त तथा उनके पुष्टिमार्गीय भक्ति का प्रभाव पड़ा हुआ है । यद्यपि श्री वल्लभाचार्य जी के समय में कृष्ण भक्ति के जितने सम्प्रदाय ब्रज में प्रचलित थे उनका प्रभाव एक दूसरे की भक्ति-पद्धति पर अवश्य ही पड़ा होगा।श्रीवल्लभाचार्य तथा विट्ठलनाथ के समय तथा उसके पूर्व अन्य जो सम्प्रदाय थे उनका वर्णन पहिले ही किया जा चुका है । पूर्व अध्याय में यह भी कहा जा चुका है कि भक्तिकाल की कृष्णधारा शाखा का मूलस्रोत वल्लभसम्प्रदाय है । कृष्णधारा के समस्त`अष्टछाप` कवियों अथवा भक्तों के ऊपर श्री वल्लभाचार्य के सिद्धान्त,तथा भक्ति का प्रभाव किसी न किसी रूप में स्पष्ट रूप से दिखाई देता है ।`वल्लभाचार्य जी की जीवनी से तथा`निजवार्ता` आदि ग्रन्थों को देखने से यह विदित है कि उनका विशेष सम्पर्क चैतन्य महाप्रभु जी तथा उनके अनुयायियों से था और उनके प्रति उनका अनन्य प्रेम भाव था । ऐसा बाह्य एवं अन्तर्साक्ष्य प्रमाणों को देखने से यह ज्ञात होता है कि आचार्य जी ने चैतन्य महाप्रभु की भक्ति से प्रभावित होकर उनके अनुयायी बंगाली ब्राह्मणों को श्रीनाथ जी की सेवा में रक्खा था । श्रीनाथ जी के सेवक एक भक्त माधवेन्द्रपुरी माध्वी सम्प्रदाय के थे जो`निजवार्ता`[१] के अनुसार श्री चैतन्य महाप्रभु और श्री विट्ठलनाथ जी दोनों के शिक्षा-गुरु रह चुके थे ।` दो सौ बावन वैष्णव की वार्ता`[२] के अनुसार वे अन्त में वल्लभसम्प्रदायी हो गए थे । इस प्रकार उनका भी प्रभाव इस सम्प्रदाय पर अवश्य पड़ा था । मधुर भाव की भक्ति को आचार्य जी ने

१- निजवार्ता ,देसाई , पृ० ४१

२-`२५२ वैष्णवन की वार्ता` वे०प्रे०संवत् १९८८ संस्करण पृ० ५०४ ।

भागवत के अतिरिक्त चैतन्य महाप्रभु से भी लिया[1] ।

कृष्णकाव्य के अष्टछाप कवियों ने राधाकी उपासना विभिन्न आध्यात्मिक रूपों में की है । `राधा` की यह उपासना इस सम्प्रदाय में स्वामी विट्ठलनाथ जी के समय से हुई है । विट्ठलनाथ जी के पूर्व किसी भी रूप में`राधा` की उपासना का वर्णन नहीं मिलता है । विट्ठलनाथ का ही सर्वप्रथम दो ग्रन्थ`स्वामिन्याष्टक` तथा` स्वामिनी-प्रीत` मिलते हैं जिसमें इन्होंने`राधा` की स्तुति की है । आचार्य वल्लभाचार्य ने भी अपने किसी भी ग्रन्थ में`राधा` का वर्णन नहीं किया है ,इन्होंने केवल गोपीभाव से मधुर भक्ति का उपदेश दिया है । इससे यह सत्य है कि सब भावों से कृष्ण की उपासना का समावेश तो उन्होंने अपने सम्प्रदाय में स्वयं कर लिया था ,परन्तु राधा की तथा युगलरूपी उपासना का समावेश वल्लभ सम्प्रदाय में स्वामी विट्ठलनाथ जी ने किया है । कृष्णधारा के कवि सूर ,नन्ददास ,परमानन्ददास , आदि कवियों ने `राधा`की स्तुति तथा युगलस्वरूप सम्बन्धी अनेक पद लिखे हैं ।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि सर्वप्रथम गोस्वामी विट्ठलनाथ जी तथा चैतन्य महाप्रभु अपना पृथक् पृथक् मत मानते थे ।बाद में उन्होंने अपने पिता तथा गुरु वल्लभाचार्य के सिद्धान्तों का विस्तार किया । अत: राधासम्बन्धी विचारों पर उस समय के प्रचलित प्रचलित माध्व सम्प्रदाय चैतन्य महाप्रभु जी तथा हितहरिवंश जी के विचारों का प्रभाव था । उस समय चैतन्य महाप्रभु जी तथा हितहरिवंशजी के सम्प्रदाय में कृष्ण के साथ राधा की भक्ति की बहुत अधिक मान्यता थी । वल्लभ सम्प्रदाय में राधा स्वकीया है और गौडीय सम्प्रदाय में राधा परकीया रूप है`।

किंवदन्तियों द्वारा यह मालूम होता है कि स्वामी विट्ठलनाथ जी ब्रज में उस समय के प्रचलित चारों सम्प्रदायों (पुष्टि,राधावल्लभीय,हरिदासी तथा गौडीय)के भक्तों को बुलाते थे , और समस्त भक्त अपने स्वरचित पदों को गाते

१-`अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय`,[डा० दीनदयालु गुप्त] भाग २,हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, पृ० ५२७

थे जिनमें युगल लीला के पदों का विशेष समावेश रहता था । उस समय अष्ट-छाप के समस्त कवि भी वहां जाते थे । इस प्रकार अष्टछाप भक्त कवियों में भक्ति का जो सर्वभावमय रूप मिलता है वह किसी व्यक्तिगत सम्प्रदाय का प्रभाव नहीं है वरन् उनका वल्लभसम्प्रदाय ही अन्य सम्प्रदायों के भक्ति भावों को समेट कर उनके सामने उस रूप में आया था । इसीलिए अष्टछाप कवियों के ऊपर वल्लभ सम्प्रदाय का ही पूर्ण प्रभाव पड़ा हुआ है ।

वल्लभाचार्य के पश्चात् उनके सिद्धान्तों एवं भक्ति का विस्तार उनके पुत्र एवं शिष्य विट्ठलनाथ ने किया । विशेष रूप से भक्ति के साधन मार्ग का विस्तार इन्होंने अधिक किया । विट्ठलनाथ की नवधा भक्ति भगवान की भक्ति का साधन माना ।इनके मतानुसार नवधा भक्ति ही केवल भगवान को प्रेमप्राप्ति का साधन है । आगे चल कर विट्ठलनाथ के पश्चात् गोकुल नाथ जी ,श्रीहरिराय जी आदि वल्लभ सम्प्रदायी आचार्यों ने भी भक्ति का फल मोक्ष प्राप्ति अथवा लौकिक वैभव -प्राप्ति नहीं माना । जैसा कि`पुष्टिमार्गी भक्ति` में बताया जा चुका है कि उनके लिए भक्ति का साधन भगवान के अनुग्रह अथवा पुष्टि द्वारा प्राप्य-प्रेमावस्था ही है ।

इस प्रकार कृष्णधारा काव्य के समस्त कवियों (विशेष रूप से अष्टछाप के कवियों)ने उस समय के प्रचलित ब्रह्मसूत्र ,श्रीमद्भागवत और गीता का तो मुख्य आधार लिया ही है ,इसके अतिरिक्त`नारायणीयोपाख्यान``शाण्डिल्य भक्ति सूत्र``नारदपांचरात्र` तथा`नारदभक्ति-सूत्र` का भी उनके भक्ति तथा काव्य पर प्रभाव अछूता नहीं था । इस प्रकार अष्टछाप की रचना में सभी व्यापक भाव दास्य ,वात्सल्य,सख्य,कान्ता तथा`नारदभक्तिसूत्र` में बतायी हुई ११ प्रकार की आसक्तियां हैं ।वह सभी इन अष्टछाप कवियों की रचनाओं में मिलती है

<u>कृष्णशाखा की भक्ति</u> :- (सगुण और निर्गुण ब्रह्म)

`भक्ति` क्या है , तथा इसके विभिन्न रूप आदि का विस्तारपूर्वक वर्णन पिछले अध्याय में किया जा चुका है । भक्ति के समस्त प्रकारों में `नवधा भक्ति` का अधिक महत्व है । कृष्णकाव्य के समस्त कवियों में भक्ति के इस रूप का वर्णन

विस्तार पूर्वक किया है ।

वल्लभसम्प्रदाय में ईश्वर के दोनों रूप सगुण तथा निर्गुण मान्य हैं । परन्तु इस सम्प्रदाय का इष्ट इस रूप सगुण ब्रह्म है ।वल्लभसम्प्रदाय के पहले ज्ञानयोग, कर्म और भक्ति मार्ग प्रचलित थे । वल्लभसम्प्रदाय ने इन समस्त मार्गों में भक्ति को ही अपनाया है । कृष्णशाखा के अष्टछाप कवियों ने भी सगुण ईश्वर की ही उपासना की है तथा इन कवियों ने तो स्पष्ट रूप से यह कही दिया है कि सगुण भक्ति व्यावहारिक रूप में सरल और सीधा मार्ग है तथा इस मार्ग द्वारा मोक्षानुभूति शीघ्र होती है ।सूरदास ने तथा नन्ददास के भंवर गीतों,गोपी-उद्धव-सम्वाद इसी सगुण निर्गुण भक्ति और ज्ञान के ~~किम्बक~~ विवाद से भरा पड़ा है । इस समस्त संवाद के अन्त में इन दोनों कवियों ने यही निष्कर्ष दिया है कि सगुण ईश्वर की भक्ति अधिक सिद्धकारी एवं फलदायिनी है । निर्गुण-भक्ति का इन कवियों ने खंडन न करके यह कहा है कि यह निर्गुण-भक्ति ज्ञान एवं योग का कठिन मार्ग है । अपने 'सूर सागर' के आरम्भ में ही सूर दास निर्गुणोपासना की कठिनाइयों को बताते हुए कहते हैं-

राग कान्हरा

'अविगत गति कछु कहत न आवै ,
ज्यों गूंगे मीठे फल को रस अन्तर्गत ही भावै ।
परम स्वाद सब ही जु निरन्तर, अमित तोष उपजावै,
मन बाणी को अगम अगोचर जो जानै सो पावै ।
रूप रेख गुन जाति जुगति बिनु निरालम्ब मन चकृत धावै,
सब विधि अगम विचारै तातै सूर सगुण लीला पद गावै ।।[1]

निर्गुण ईश्वर भक्ति की गति न तो कहने में आती है और न उस अव्यक्त पर मेरे मन की भावमयी वृत्ति ही ठहरती है ~~अतः~~ इसलिए इस निर्गुण ब्रह्म तक पहुंचने में अपने को असमर्थ पाकर मैं सगुण ईश्वर की भक्ति करता हूं और उसकी लीला के पद गाता हूं ।'सूरसागर' में सूर ने स्वयं कृष्ण के मुख से निर्गुण भक्ति की

१- सूरसागर , प्रथम स्कन्ध, वे० प्रे० पृ० १

कठिनाइयों को बतलाया है। सूर कहते हैं कि-

` कहत नन्द लाड़िलो ।
जटा भस्म तनु दहै वृथा करि कर्म बंधावै,
पुहुमि दाहिनी देहि गुफा बसि मोहि न पावै ।
तजि अभिमान जो गावही गद्गद् सुरहि प्रकास,
तासु मगन हो ग्वालिनी ता घट मेरो बास ।`[1]

`कृष्ण कहते हैं कि योग,कर्म और ज्ञान के मार्ग से लोग मुझे नहीं पा सकते, और जो गद्गद् कण्ठ से मग्न होकर मेरा गान करते हैं, उनके हृदय में मेरा निवास है।``भंवरगीत` में सूरदास ने गोपियों के मुख से इस योग तथा निर्गुण ईश्वर के विषय में बतलाया है गोपियां उद्धव से कहती हैं कि-

` ऊधो सूधे नेकु निहारो,
हम अबलनि को सिखवन आये सुनो सयान तुम्हारो।
निर्गुण कहो कहा कहियत है तुम निर्गुण अति भारी,
सेवत सगुण स्याम सुन्दर को मुक्ति लहीं हम चारी ।
हम सालोक्य स्वरूप सरो ज्यों रहत समीप सहाई ,
सो तजि कहत और की और तुम अलि बड़े अदाई ।
अहो ज्ञान कतहि उपदेशत ज्ञान रूप हमहीं ,
निस दिन ध्यान सूर प्रभु को अलि देखत चित तितहीं ।।`[2]

`हे उद्धव ! तनिक सही बुद्धि से विचार करो, तुम हम अबलाओं को ज्ञान और योग तथा निर्गुणवाद सिखाने आये हो । तुम्हारा निर्गुण ईश्वर बहुत ही भारी है जो हम अबलाओं से सम्भल नहीं सकता ।हमको तो सगुण की भक्ति में ही चारों प्रकार की मुक्तियों का(सालोक्य,सानिध्य,सारूप्य और सायुज्य)लाभ मिल गया है । हम योगाभ्यास करने योग्य नहीं और न ज्ञान के सार को जानने की हममें बुद्धि ही है ।`इसके बाद गोपियां और आगे कहतीं हैं -

---

१-`सूरसागर`दशम स्कन्ध,दान लीला, वे०प्रे० पृ० २५३
२- वही वही वे०प्रे० पृ० ५४४

`गोकुल सब गोपाल उपासी ।
जो गाहक साधन को ऊधौ ते सब बसत ईशपुर कासी ।।`[1]

` हे ऊधौ ! इस ज्ञान के उपदेश को तो काशी की ओर ले जाओ, वहां के लोग इसे अपना लेंगे यहां तो सब गोपाल कृष्ण के उपासक हैं ।` उस समय बल्लभसम्प्रदाय के अतिरिक्त काशी में शंकर-वेदान्तियों की साधन-स्वरूपा भक्ति तथा नाथ पंथियों के अनुयायी निर्गुण ब्रह्म के उपासक ज्ञानी और योगी बहुत थे । इस प्रकार सूर ने अपने अनेक पदों में ज्ञान तथा योग मार्ग और निर्गुण ईश्वर की उपेक्षा के भाव प्रकट किये हैं और सगुण मार्ग ,सगुण ब्रह्म कृष्ण के रूप,नाम, भक्ति की महत्ता गाई है । एक पद में वे कहते हैं कि-

`कर्म योग,पुनि ज्ञान उपासन सब ही भ्रम भरमायौ ।
श्रीवल्लभ गुरु तत्व सुनायौ लीला भेद बतायौ ।
ता दिन तै हरि लीला गाई एक लक्ष पद बन्द ।
ताको सार सूर सारावली गावत अति आनन्द ।।`[2]

` सूर कहते हैं कि मैं कर्म,योग ज्ञान तथा वैधी भक्ति के साधनों में भटकता रहा, परन्तु मेरा भ्रम नहीं छूटा । मैं भ्रम में ही घूमता रहा, अन्त में श्री बल्लभाचार्य जी ने भगवान् की लीला का रहस्य मुझे बताया, तभी से मैंने हरि की लीला का गुणगान किया है ।`

सूरदास की भांति ही परमानन्ददास ने भी निर्गुण ब्रह्म की उपेक्षा तथा सगुण भक्ति की महत्ता का वर्णन किया है । अपने निम्न पद में स्पष्ट रूप से निर्गुण ब्रह्म के स्थान पर सगुण ब्रह्म तथा भक्ति को अपनाया है, वे कहते हैं -

` कमल नैन मधुबन पढ़ि आए ।

\+ \+ \+

1-`सूरसागर` दशम स्कन्ध, वे०प्रे० पृ० ५४७
2-`सूरसारावली` सूरसागर , वे०प्रे० पृ० ३८

ऊधौ पढ़ि पढ़ि अब भए ज्ञानी, नीति अनीति सबै पहिचानी।
निर्गुण ध्यान तबहि तुम कहते, सत समय ब्रत दृढ़ कर गहते,[1]
नैनन तै सरिता कत बहती, हरि बिछुरन की सूल न सहती।

निर्गुण व योगियों को वे सूर की भांति ही काशी जाने का उपदेश परमानन्द दास भी देते हैं। एक पद में वे कहते हैं कि-

राग विहाग

'धन्य धन्य वृन्दावन के बासी।
निसि दिन चरन कमल अनुरागी स्यामा स्याम उपासी।
अष्ट महा सिधि द्वार तैं ठाढ़ीं रमा चरण की दासी,
पारस कौ जो मरम न जानौ जाय बसौ किन कासी।
भस्म रमाय गरै लिंग बांधी निस दिन फिरौ उदासी।
परमानन्द दास कौ ठाकुर सुन्दर घोष निवासी ।।[2]

'कवि कहता है कि भस्म लगा कर उदासी वेश धारण करने वाले संन्यासी तो काशी में हैं, यहां ब्रज में हम तो सुन्दर स्याम के उपासक हैं।'

नन्ददास ने भी निर्गुण-भक्ति की दुर्लभता तथा उसे छोड़ कर सगुण-भक्ति को अपनाने के लिए अपना मत अपने अनेकों पद में प्रकट किये हैं। निर्गुण ब्रह्म तथा योग मार्ग का वर्णन नन्ददास ने अपने एक पद में निम्नप्रकार से किया है ---

'अब विधि कहत कि निर्गुण ज्ञान तिहि समान दुर्घट नहिं आन।

\+ \+

जाके रूप न रेख न क्रिया, तिहि लालच अकलंबै लिया।
सबहि सुन्य समाधि लगाईं, तैत है तामै तुमकों पाईं।

1-'परमानन्ददास-पद-संग्रह, डा० दीनदयाल गुप्त, पद नं० ३२५
2- वही वही पद नं० ४८६

पै यह सगुण सरूप तुम्हारौ,ह्यौ मन खोयौ जात हमारौ ।
यै अद्भुत अवतार जु लैत, विस्वहिं प्रतिपालन के हैत ।
नाम रूप गुन कर्म अनन्त, गनत गनत कोऊ लहै न अन्त ।

\+ \+

तातैं तब भांतिहिं अनुसरैं, तुम्हरी कृपा मनायौ करैं ।
कब मौ पर नन्द नन्दन हरि हैं,मधुर कटाच्छ चितै रस भरि हैं।[१]

अन्य अष्ट भक्तों ने यद्यपि निर्गुण ईश्वर और भक्ति के विषय में कोई कथन नहीं किया,परन्तु उन्होंने जितना भी काव्य लिखा है, वह सब सगुण ईश्वर और उसकी भक्ति विषयक ही है ।

कृष्ण-काव्य के कवियों की भक्ति-साधना

`वल्लभसम्प्रदाय और भक्ति` में यह बताया जा चुका है कि वल्लभाचार्य ने नवधा भक्ति को अपने प्रेम-भक्ति का साधन कहा है ।`भक्ति के रूप`में यह भी बता दिया गया है कि भक्ति के नव भेद में से`नवधा भक्ति` का विशेष महत्व हिन्दी के भक्तिकाल में रहा है । वल्लभसम्प्रदाय नेभी इस भक्ति को महत्व पूर्ण बताया है । कृष्णशाखा के अष्ट कवियों ने भी इसी`नवधा भक्ति`को अपनी भक्ति का साधन माना है । यह नवधा भक्ति भी नौ प्रकार की होती है ।प्रथम तीन श्रवण, कीर्तन और स्मरण- ये भगवान के नाम और लीला से विशेष सम्बन्ध रखते हैं तथा पादसेवा,अर्चन और वन्दन उनके रूप से सम्बन्धित हैं । दास, सख्य और आत्मनिवेदन -ये तीन मानसिक स्थितियां हैं ।

इस नवधा-भक्ति के विभिन्न रूपों का वर्णन कृष्णकाव्य (अष्टछाप) के भक्त कवियों ने अपने काव्य में विस्तार पूर्वक किया है ।

कृष्णधारा के सगुणोपासक भक्तों तथा कवियों में अष्टछाप के आठ कवि प्रमुख रूप सेहैं । इन आठों भक्तों तथा कवियों का नाम अगले अध्याय में दिया

१-`दशम स्कन्ध भाषा`अध्याय १४,`नन्ददास` शुक्ल, पृ० २६२

गया है। इन अष्टछाप कवियों में सूर का काव्य भक्ति साहित्य में विशेष महत्वपूर्ण स्थान रखता है। यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि सूरदास तथा उनकी विचारधारा और काव्य पर स्वामी बल्लभाचार्य का पूर्ण रूप से प्रभाव पड़ा है। सूरदास बल्लभसम्प्रदाय के सिद्धान्तों से सहमत थे। अतः उनके पदों में भी ~~बल्लभवर्म~~ बल्लभ दर्शन तथा पुष्टि भक्ति का प्रभाव दिखाई पड़ता है। पुष्टिमार्गीय-भक्ति में `नवधा भक्ति` सर्वाधिक मान्य है। इसमें भक्त अपनी भक्ति में नवधा भक्ति को ही साधन मानता है। अष्टछाप के समस्त कवियों ने विशेष रूप से सूरदास नन्ददास तथा परमानन्ददास ने नवधा भक्ति के समस्त प्रकारों (नव प्रकार) पर अपने पदों की रचना की है तथा सभी प्रकारों की पृथक् पृथक् विशेषता बतलाई है।

१- श्रवण - सर्वप्रथम सूर ने नवधा भक्तिके प्रथम प्रकार `श्रवण` के ऊपर कई पदों की रचना की है। सूरदास के विचार से भगवान के यश, महत्ता, गुण, उनका पावन नाम तथा उनकी लीलाओं का श्रद्धापूर्वक सुनना और सुनाना `श्रवण-भक्ति` के अन्तर्गत आता है। पुष्टि-भक्ति के अनुसार `श्रवणभक्ति` की चरमावस्था वह है जब भक्त भगवान के यश, चरित्र गुण को सुने बिना चैन नहीं पाता। भक्त को इसकी आदत सी पड़ जाती है। सूरदास तथा पुष्टि भक्ति के अनुसार यह गुण और चरित्र तीन प्रकार से भक्त सुनता है - प्रथम गुरु के वचनों को भक्त श्रद्धापूर्वक सुनता है, द्वितीय सन्तों तथा महान् ज्ञानी पुरुषों के प्रवचन को श्रद्धा एवं प्रेमपूर्वक सुनने से, तृतीय भगवान के नाम, यश तथा लीला कीर्तनों को सुनने से। इस प्रकार अष्टछाप के अन्तर्गत समस्त कृष्ण काव्य भगवान के नाम और उनकी लीलाओं को सुनने और सुनाने से सम्बन्धित है। सूरदास अपने सूरसागर में `श्रवणभक्ति` की महत्ता को वर्णन करते हुये एक पद में कहते हैं कि-

`जो यह लीला सुनै सुनावै, सो हरिभक्ति पाइ सुख पावै।`[१]

१- `सूरसागर` नवम स्कन्ध, वें० प्रे० पृ० ६६

तथा

शुक जैसे वेद अस्तुति गाई, वैसे ही मैं कहि समुझाई ।
सूर कह्यौ श्रीमुख उच्चार, कहै सुनै सो तरै भव पार ।।[1]

हरि लीला का वर्णन करते हुए सूर का निम्न पद देखिये :-

रास रसलीला गाई सुनाऊं
यह यश कहै सुनै मुख श्रवनन सिर चरनन नाऊं ।
कहा कहौं वक्ता श्रोता फल इक रसना क्यों गाऊं ।
अष्टसिद्धि नवनिधि सुख सम्पति लघुताकरि दरसाऊं ।
जो परतीति होई हृदय में जग माया भ्रम देखे ।
हरिजन दरस हरिहिसम पूजै अन्तर कपट न भेषै ।
धनि धनि वक्ता तेहि धन श्रोता श्याम निकट हैं ताके ।
सूर धन्य तिनके पितु माता भाव भजन है जाके ।[2]

सूरदास कहते हैं कि जो व्यक्ति रस लीला के यश को सुनते हैं और गाते हैं उनके चरणों में मै अपना शीश नवाता हूं । उसके श्रवण के फल को मैं एक जिह्वा से नहीं कह सकता । लीला-श्रवण के फल के समक्ष अष्टसिद्धियों का लाभ भी बहुत लघु है । भगवान की कथा को सुनने वालों को धन्य है जिनके निकट सदैव भगवान रहते हैं । ऐसे भक्तों के माता-पिता को भी धन्य है ।' अपने 'सूरसागर' के द्वि द्वितीय स्कन्ध में सूर 'श्रवन भक्ति' के लिये 'श्रवनन की जु यहै अधिकाई, सुनि रस कथा सुधा रस प्यावै ।[3]' अर्थात कानों की सार्थकता इसी में है कि वे भगवान् की कथा के रस को स्वयं पीवें और दूसरों को पिलावें ।

श्रवण रस को सूर ने अमृतरस कई पदों में बताया है वे कहते हैं--

' सुधा चलि ता जन को रस लीजै ।
जा जन कृष्ण नाम अमृत रस श्रवण पात्र भरि पीजै ।[4]
... ...

१- सूरसागर, दशम स्कन्ध, वे० प्रे० पृ० ५८५
२- वही वही पृ०३६३
३- सूरसागर, द्वितीय स्कन्ध, वे० प्रे०पृ०३५
४- सूरसागर, प्रथम स्कन्ध, वे० प्रे० पृ० २६ ।

२- कीर्तन :- वल्लभसम्प्रदाय तथा सगुणोपासक भक्त मानते हैं कि ईश्वर की लीलाओं को संगीत की धुन में सुनना तथा उससे आनन्दित होना चाहिए। उनके मत के अनुसार नाम,गुण,माहात्म्य,लीलाधाम तथा भगवद् भक्ति के यश का ,प्रेम और श्रद्धा के साथ कथन, स्तुति उच्चस्वर से पाठ तथा गान आदि `कीर्तन` कहलाता है । सूरदास तथा अष्टछाप के समस्त कवि इस सिद्धान्त से सहमत थे तथा उनके जितने भी भक्ति पद हैं उनमें अधिकतर पद किसी न किसी राग से सम्बन्धित हैं । वल्लभाचार्य जी अपने `निरोध लक्षण` ग्रन्थ में एक स्थल पर कहते हैं कि-

`महतां कृपया यावद्भगवान् दययिष्यति ।
तावदानंदसंदोह: कीर्त्यमान:सुखाय हि ।४।
महतां कृपया यद्वत्कीर्तनं सुखदं सदा ।
न तथा लौकिकानां तु स्निग्धभोजन रूक्षवत् ।५।
गुणगाने सुखावाप्तिर्गोविंदस्य प्रजायते ।
यथा तथा शुकादीनांनैवात्मनि कुतोऽन्यत:।६।
तस्मात्सर्वं परित्यज्य निरुद्धै:सर्वदा गुणा:।
सदानंदपरैर्गेया: सच्चिदानंदता तत:।।९।।[1]

`जब तक भगवान् अपनी महती कृपा भक्तों को दे तब तक साधन दशा में ,ईश्वर के गुण-नाम के कीर्तन ही आनन्द देने वाले होते हैं । ईश्वर के गुणगान में जो आनन्द है वह लौकिक पुरुषों के गुणगान में नहीं है । जिस प्रकार का सुख एवं आनन्द भक्तों को भगवान् के गुणगान में होता है वैसा सुख भगवान् के स्वरूप-ज्ञान की मोक्षावस्था में भी नहीं होता । इसलिए सदानन्द ईश्वर में भक्ति करने वाले भक्तों को सब लौकिक साधन छोड़ कर भगवान के गुणों का गान करना चाहिए । ऐसा करने से भक्त में ईश्वरीय गुण आ जायेंगे ।` इस

१-`निरोध लक्षण` ,षोडश ग्रन्थ ,भट्टरामनाथ शर्मा, श्लोक ४,५,६,९

प्रकार जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि अष्टछाप के कवियों के ऊपर भी इस मत का पूर्णरूपेण प्रभाव पड़ा है । अष्टछाप के समस्त कवि अपने को उच्चकोटि का कवि ही नहीं मानते थे बल्कि वे अपने को गवैये भी मानते थे और अपनी पद रचना अधिकांशत: गा कर करते थे । सूरदास तो अपने एक पद में कहते हैं कि-

राग कान्हरा

`अविगत गति कछु कहत न आवै ।

+ + +

सब बिधि अगम विचारै तातै सूर सगुन लीला पद गावै ।[१]

`अर्थात् मैं सगुण ईश्वर की लीला के पद गाता हूं ।`

सूरदास कीर्तनरूप में ईश्वर के गुण गाने की विशेषता का वर्णन करते हुए कहते हैं कि-

राग सारंग

`जो सुख होत गुपालहिं गाये ।
सो नहिं होत जप तप के कीने कोटिक तीरथ न्हाये ।
दिये लेत नहिं चारि पदारथ चरण कमल चित लाये ।
तीन लोक तृण सम करि लेखत नन्दनन्दन उर आये ।
बन्सीबट वृन्दावन यमुना तजि बैकुण्ठ को जाये ,
सूरदास हरि को सुमिरन करि बहुरि न भव चलि आये ।[२]

`सूरदास कहते हैं कि जो सुख गोपाल के गाने में है वह तीर्थ,जप,तप में नहीं है।`

१-`सूरसागर` प्रथम स्कन्ध, वे०प्रे० पृ० १

२-`सूरसागर` वे०प्रे० पृ० ३५

स्मरण :-

सूरदास का मत है कि हरि के स्मरण में भक्त को सब सुख मिलता है। प्राचीन ग्रन्थ `श्रुति` और `स्मृति` का भी यही मत है कि भगवान के चरणों का स्मरण करना भक्ति का चरम लक्ष्य है। भगवान् के चरणों में चित्त लगाने से सांसारिक दु:ख दूर हो जाते हैं तथा भक्त एक प्रकार के अलौकिक सुख की अनुभूति करने लगता है। सूरदास भी इसी मत का समर्थन करते हैं और अपने एक पद में कहते हैं कि-

राग बिलावल

`हरि हरि हरि, सुमिरो सब कोई।
हरि हरि सुमिरत सब सुख होई।
हरि समान द्वितीया नहिं कोई, हरि चरणनि राखो चित गोई।
श्रुति स्मृति सब देखो जोई, हरि सुमिरत होई सो होई,
हरि हरि हरि सुमिरो सब कोई, बिन हरि सुमिरन मुक्ति न होई,
शत्रु मित्र हरि गिनत न दोई, जो सुमिरै ताकी गति होई,
राव रंक हरि गिनत न दोई जो गावै ताकी गति होई।
× × × ×
हरि बिनु सुख नहिं इहां न वहांहरि हरि हरि सुमिरो जहां तहां।
हरि हरि हरि सुमिरो दिन रात, नातर जन्म अकारथ जात,
सौ बातन की एकै बात, सूर सुमिर हरि हरि दिन रात।` [१]

`सूर कहते हैं कि मेरे विचार से सौ बातों की एक बात यह है कि हरि का स्मरण करो।` इस प्रकार स्मरण-भक्ति की महिमा का वर्णन करने वाले सूर के अनेक पद `सूरसागर` में हैं। एक पद में सूरदास भगवान का ध्यान करने तथा उनके नाम-स्मरण करने के हेतु कहते हैं कि-

---

१- सूरसागर, द्वितीय स्कन्ध, वें०प्रे० पृ० ३६

राग कान्हरा

`मन तोसौं कैतिक बार कही ।
समुझ न चरण गहत गोविंद के उर अघ शूल सही।
सुमिरन ध्यान कथा हरि जू की यह एकौ न मई ,
लोभी लम्पट विषयन सौं हित यह तेरी निबही।
छांडि कनक मणि रतन अमोलक कांच की किरच गही,
ऐसो तू है चतुर विवेकी पय तजि पियत मही ।
ब्रह्मादिक रुद्रादिक रवि शशि देखी सुर सबहीं,
सूरदास भगवन्त भजन बिनु सुख तिहुं लोक नहीं ।[1]

नाम महिमा:-

सूरदास जी ने नवधा भक्ति के प्रकारों में जहां श्रवण,स्मरण ,कीर्तन के गुण तथा महत्व अपने पदों में गाये हैं वहां नाम-महिमा भक्ति भी अछूता नहीं रहा है। इन्होंने अपने अनेक पदों में स्मरण,कीर्तन,श्रवण,गुरु-सेवा,साधु संगति और हरिनाम भजन,इन भक्ति साधनों की महत्ता बतायी है । एक पद में वे उपर्युक्त बातों का स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि-

राग धनाश्री

`बादिहि जनम गयौ सिराइ।
हरि सुमिरन नहिं गुरु की सेवा मधुबन बस्यौ न जाइ ।
अब की बेर मनुष्य देह धरि मजौ न बान उपाइ ।
भटकत फिर्यौ स्वान की नाईं नैक झूंठ के चाइ ।
कबहुं न रिझये लाल गिरधरन बिमल बिमल यश गाइ ।
प्रेम सहित पग बांधि घूंघरू सक्यौ न अंग नचाइ ।

१-`सूरसागर` प्रथम स्कन्ध ,वे० प्रे० पृ० ३१

श्री भागवत सुन्यौ न श्रवणनि, नैंकहु रुचि उपजाइ ।
अनन्य भक्ति नरहरिभक्तन के कबहुं न पौर पाइ ।
कहा कहौं जो अद्भुत है वह कैसे कहूं बनाइ ।
भव अंभोधि नाम निज नौका सूरहिं लेउ चढ़ाइ ।।[१]

इस प्रकार नवधा-भक्ति के श्रवण,स्मरण,कीर्तन,नाम महिमा आदि भक्ति साधनों को बताते हुए सूर भगवान से प्रार्थना करते हैं कि वे उन्हें अपने नाम की नौका पर बैठा कर इस भवसागर से पार कर दें ।जैसा कि पहले कहा गया है कि इस नाम-महिमा पर सूर ने अनेक पद लिखे हैं यहां पर उनके सब पदों को देना एवं उनके विषय में वर्णन करना एक विस्तृत तथा अपने आप में स्वतंत्र कार्य है ।

कृष्णाश्रयी-धारा में गोकुल-वृन्दावन

अष्टछाप के समस्त कवियों ने कृष्ण और उनकी लीलाओं की उपासना तथा वर्णन किया है । उनके काव्य का विषय श्रीकृष्ण उनकी समस्त लीलाओं,गोकुल ग्वालबाल आदि हैं । इन समस्त वर्ण्यवस्तुओं का अपना स्वयं का एक दार्शनिक दृष्टिकोण है । जैसा कि कई स्थलों पर पीछे कहा जा चुका है कि इन अष्टछाप के भक्तों ने कृष्ण के लीलाधाम वृन्दावन (गोकुल गोलोक निजधाम)आदि विभिन्न प्रकार के नाम दिये हैं) की बड़ी महिमा गाई है । जहां उन्होंने वृन्दावन की शोभा और वहां के आनन्दों का वर्णन किया है वहां उन्होंने परब्रह्म पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण के निजधाम अथवा अक्षरधाम आदि वृन्दावन की ओर ही संकेत किया है । एक पद में सूरदास वृन्दावन का वर्णन करते हुए कहते हैं कि-

---

१- सूरसागर, प्रथम स्कन्ध , वे०प्रे० पृ० १५

'धनि गोपी धनि ग्वाल धन्य ये ब्रज के बासी,
धन्य यशोदा नन्द भक्ति बश किये अविनासी।
धनि गोसुत धनि गाइ ये कृष्ण चराये आपु,
धनि कालिंदी मधुपुरी जा दरशन नाशै पापु।

+ +

वृन्दावन ब्रज कौ महतु कापै बरन्यौ जाइ ।
चतुरानन पग परसि के लोक गयौ सुख पाई ।।'[१]

'ब्रज के गोपियाँ, ग्वाले, यशोदा, नन्द आदि सभी प्राणी धन्य हैं, इनके दर्शनों से पाप नष्ट होता है । क्योंकि भगवान श्रीकृष्ण का संसर्ग इनके साथ सदैव रहता है । अत: इस ब्रज या वृन्दावन के महत्व को कौन वर्णन कर सकता है। बल्लभ-सम्प्रदाय तथा अष्टछाप के भक्त-कवियों के मतानुसार इस लोक का यह ब्रज-वृन्दावन परब्रह्म के लोक का ही स्वरूप है । इस लोक के इस ब्रजधाम की प्रशंसा करते हुए सूरदास कहते हैं --

'शोभा अमित अपार अखंडित आप आत्मा राम,
पूरण ब्रह्म प्रकट पुरुषोत्तम सब विधि पूरन काम।

+ +

वृन्दावन निज धाम परम , रुचि वर्णन कियो बढ़ाय।
व्यास पुराण सघन कुंजन में जब सनकादिक जाय ।
धीर समीर बहत त्यहि कानन बोलत मधुकर मोर ।
प्रीतम प्रिया बदन अवलोकन , उठि उठि मिलत चकोर।
गोवर्द्धन गिरि रत्नसिंहासन दम्पति रस सुख मान ।
विपिन कुंज जहं कोऊ न आवत रस बिलसत सुख खान।[२]

१-सूरसागर, दशम स्कन्ध, वे०प्रे० पृ० १५८
२- वही ,सूरसारावली, वे०प्रे० पृ० ३४

वृन्दावन में पूर्णब्रह्म पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण का धाम है वे सदैव उस भूमि पर लीलाएं करते रहते हैं अत: इस पुण्यभूमि वृन्दावन की शोभा अवर्णनीय है । श्रीकृष्ण की कृपा से सभी प्राणियों की मनोकामनापूर्ण होती है।

सूरदास ने जिस स्थल पर मोक्ष-सम्बन्धी पद लिखे हैं वहां पर इन्होंने चकई और भृंगी की उपमाओं द्वारा मन को उस लोक में चलने को कहा जहां भ्रम की निशा नहीं है जहां सुख का का सागर हिलोरें लेता है और जहां पहुंच कर फिर उड़ना नहीं पड़ता, वहां सूरदास ने ईश्वरीय लोक का ही वर्णन किया है । वल्लभदर्शन में भी यह बताया जा चुका है कि वल्लभ-सिद्धान्त के अनुसार गोकुल का महत्व बैकुंठ से भी अधि क है ।[१] सूर ने भी वैकुण्ठ से परे वृन्दावन धाम को माना है । बैकुण्ठ में शेष शैय्या पर शयन करने वाले नारायण भी वल्लभमतानुसार श्रीकृष्ण के ही अंशावतार हैं ।रास-प्रकरण में मुरली-ध्वनि का वर्णन करते हुए सूर कहते हैं :-

राग बिहागरी

मुरली ध्वनि बैकुण्ठ गई ।
नारायण कमला सुनि दम्पति अति रुचि हृदय भई ।
सुनहु प्रिया यह बाणी अद्भुत वृन्दावन हरि देख्यो,
धन्य धन्य श्रीपति मुख कहि कहि,जीवन ब्रज को लेख्यो।
रास विलास करत नंदनंदन , सो हमते अति दूरि,
धनि बन धाम, धन्य ब्रज धरनी, उड़ि लागै ज्यों धूरि।
यह सुख तिहूं भुवन में नाहीं जो हरि संग पल एक,
सूर निरखि नारायण इकटक भूले नैन निमेक ।।[२]

बैकुण्ठ में शेषनाग पर शयन करने वाले नारायण के कानों में जब मुरली-ध्वनि पहुंची तब वे लक्ष्मीजी से बोले कि हे लक्ष्मी ! जहां कृष्ण रास-विलास कर रहे हैं हमसे बहुत दूर है, उस धाम को धन्य है, वहां का सा आनन्द तीनों लोकों में नहीं है ।

१- अणुभाष्य, अध्याय ४,पाद २, सूत्र १५
२- सूरसागर, दशम स्कन्ध ,वे०प्रे० पृ० ३४७

सूरदास अपने पदों में लीलाधाम वृन्दावन का वर्णन करते हुए कई स्थलों पर यह इच्छा करते रहते हैं कि सदैव व वे वहीं वृन्दावन ,अथवा लीलाधाम में निवास करें क्योंकि वहां पर रह कर वे सदैव श्रीकृष्ण तथा उनकी लीलाओं का रसास्वादन करके आनन्दित होंगे और उनका जन्म सफल हो जायगा तथा नेत्रों के प्यास की तृप्ति हो जायेगी।[1]

परमानन्ददास ने भी वृन्दावन का वर्णन सूर की भांति ही किया है । वल्लभाचार्य के शिष्य होने के कारण ये भी पूर्णरूपेण वल्लभमत को ही मानते थे ।वृन्दावन को परमानन्ददास ने भी वैकुण्ठ से अधिक महत्व दिया है ।एक पद में वे कहते हैं कि-

` कहा करौं वैकुण्ठहि जाई ,
जहां नहीं नन्द जहां नहीं गोपी, जहां नहीं ग्वाल बाल नहीं गाई ।
जहां नहीं जल जमुना को निर्मल और नहिं कदमन की छांय,
परमानन्द प्रभु चतुर ग्वालिनी ब्रजरज तजि मेरी जाय बलाय।[2]

वे कहते हैं कि` मैं वैकुण्ठ जाकर क्या करूं, वहां न तो नन्द है, न गोपी,न ग्वालबाल,जहां न तो जमुना ही है और न तो कदम्ब का वृक्ष ही वहां है । परमानन्द ने रास-वर्णन तथा कृष्ण लीलाओं का वर्णन भी किया है परन्तु इनका रास-वर्णन वैसा नहीं है जैसा सूर ने किया है । फिर भी कवि का ध्यान नित्य रास और नित्य रासक्रीड़ा के कृष्णलीला-धाम की ओर ही है ।

कृष्ण लीलाधाम वृन्दावन का वर्णन नन्ददास ने भी अपने कई ग्रन्थों में विस्तारपूर्वक किया है । वे भी वृन्दावन को ब्रह्मलोक से भी अधिक महत्वपूर्ण मानते हैं । नन्ददास के स्वयंरचित ग्रन्थ`रूपमंजरी` रासपंचाध्यायी` तथा`सिद्धान्त पंचाध्यायी में वृन्दावन का विशेष रूप से वर्णन मिलता है ।`रूप मंजरी`में नन्ददास ने अन्त में रूपमंजरी को कृष्ण के नित्य रास में प्रवेश कराया है ।इसी

१- वृन्दावन मोको अति भावत।
सुनहु सखा तुम सुबल श्रीदामा, ब्रज ते बन गऊ चारन आवत।
+ +
यह वृन्दावन यह यमुना तट ये सुरभी अति सुखद चरावत।-सूरसागर ,दशम स्कन्ध,वे०प्रे०पृ०१५४

२- लेखक के निजी,परमानन्ददास-पद-संग्रह से,पद नं० ३३८

उसी समय उसने वृन्दावन की महत्ता का चित्रण किया है : वहां कवि कहता है —

`धरनी चिन्तामनि मन हरै, वंछित अनवंछित सब करै ।५५७।
सब रितु बसत बसन्त नित जहां,पात पुरातन होत न तहां।५५८।

+ +

सुधि न रही रही छबि मोहन, राग मई किन्धौ प्रेम मई बन ।५५९।

+ +

जो मुख होय अनन्त सखि, रसना ताहि अनन्त ।
वृन्दावन गुन कथन कौ तऊ न पहुंचै अंत ।५५४।
इह बन दुर्लभ जाइबौ ,इंदुमती सुनि बात ।
जाकी रंचक रज गरज , अज से मरि पचि जात ।।५६१।

+ +

जो रज ब्रज वृन्दावन माहीं बैकुण्ठादि लोक मैं नाहीं ।५७७।
जो अधिकारी होय तो पावै , बिन अधिकारी भयै न आवै।५७८।[1]

वृन्दावन मैं सदैव बसन्त रहता है । जहां पुरातन होता ही नहीं, वह स्थान प्रेम मय है । इसका वर्णन अनन्त मुखों से नहीं होसकता । वृन्दावन के गुणों का वर्णन अवर्णनीय है उसका कहीं अन्त ही नहीं होता । इस वृन्दावन मैं आने के लिए देवतागण भी इच्छुक रहते हैं । जो रज वृन्दावन की है वह वैकुण्ठधाम की भी नहीं है,इस धाम को अधिकारी लोग ही पाते हैं ।`इस प्रकार नन्ददास ने वृन्दावन अथवा ब्रजधाम को मतानुसार श्रीकृष्ण के नित्य,अक्षर-ब्रह्मस्वरूप लीला-धाम तथा उसीके रूप मैं इस लोक मैं स्थित ब्रज-वृन्दावन दोनों का वर्णन किया है । नन्ददास लौकिक वृन्दावन मैं भी उसी अलौकिक दिव्य वृन्दावन का दर्शन करते हैं `रासपंचाध्यायी` मैं एक पदमैं कवि कहता है:-

---

१- रूपमंजरी,पंचमंजरी,बलदेव दास करसनदास, पृ० २३६,२३७,२३८,२३९

'बिनु अधिकारी भयें नांहि वृन्दावन सूभै,
रैनु कहां ते सूभै जब लगि वस्तु न बूभै ।
निपट निकट घट मैं जो अन्तरजामी आही,
विषै विदूषित इन्द्री पकरि सकै नहिं ताही।[१]

वृन्दावन का सच्चा रूप बिना कृष्ण भक्ति का अधिकार पाए,नहीं दीख सकता । जब तक हमारी इन्द्रियां विषयों से विदूषित रहेंगी तब तक न तो अन्तर्यामी कृष्ण को, जो सदैव हम लोगों के समीप रहते हैं, और न उनके लीलाधाम वृन्दावन को ही वे देख पायेंगी ।'

'रासपंचाध्यायी' तथा 'सिद्धान्त पंचाध्यायी' में नन्ददास ने वृन्दावन (कृष्ण का नित्यलीलाधाम)को कृष्ण की चित् शक्ति का ही स्वरूप माना है । निम्नलिखित पद में नन्ददास ने उक्त भाव को बताया है --

' श्री जमुना अति प्रेम भरी, तट बहति जु गहरी ।
मनि मंडित महि मांहि, परत जनु अद्भुत लहरी ।

+ +

परमातम परब्रह्म, सबन के अन्तर्यामी,
नारायन भगवान धर्म करि सबके स्वामी।
बाल कुमार पौगण्ड धर्म आक्रान्त लसत तन,
धर्मी नित्य किसोर कान्ह मोहत सब को मन ।

+ +

अस अद्भुत गोपाल लाल, सब काल बसत जहं,[२]
ताहीं तैं बैकुण्ठ विभव कुण्ठित लागत तहं ।

१- रासपंचाध्यायी ,पांचवां अध्याय, उदयनारायण तिवारी,तथा नन्ददास 'शुक्ल' पृ० १८२,पाठ भेद से।
२- रासपंचाध्यायी,प्रथम अध्याय, नन्ददास'शुक्ल' पृ० १५८,१५६

'जहां जमुना प्रेम से भरी बहती है, यहां विभिन्न प्रकार की शोभा है । इस स्थान पर परमात्मा परब्रह्म,अन्तर्यामी कृष्ण,बालकुमार,पौगण्ड और किशोरावस्था में नित्य लीला करते हैं । जहां कृष्ण सदैव रहते हैं, इस लौकिक वृन्दावन के समक्ष पारलौकिक वैकुण्ठ भी कुण्ठित लगता है ।'

इस प्रकार नन्ददास अपने कई ग्रन्थों में तथा पदों में ब्रज और कृष्ण की रास-स्थली वृन्दावन की शोभा का वर्णन करते हैं । वृन्दावन तथा रास-स्थल का वर्णन करते समय कवि सदैव उसमें दिव्य रूप का दर्शन करता रहता है।

रास :-

अष्टछाप के समस्त कवियों में से सूरदास तथा नन्ददास इन दोनों ने रास-वर्णन बहुत ही विस्तारपूर्वक किया है । इनका रास-वर्णन भी दार्शनिक भावनाओं से ओतप्रोत है । वल्लभ-सम्प्रदायी भक्ति के भक्तों का फलात्मक रूप रास में कृष्ण से मिलन है । ये भक्त इस रास वर्णन में गोपी रूप बन कर सामने आते हैं । सूरदास उक्त भाव को स्पष्ट रूप से अपने निम्न पद में दर्शाया है :-

'आजु हरि अद्भुत रास उपायो ।
एकहि सुर सब मोहित कीन्हें मुरली नाद सुनायो ।[१]

इस प्रकार उक्तपद में सूर ने रास-रस को लोकानुभूत रसों से तथा ब्रह्मानन्द से भी इतर अद्भुत रस बताया है ।

सूर रास-रस के रहस्य को समझाते हुये कहते हैं कि-

राग मलार

'रास रस रीति नहीं बरनि आवै ।
कहां वैसी बुद्धि,कहां वह मन लहौं कहां इह चित जिय भ्रम भुलावै।
जो कहौं कौन मानै अगम निगम जो कृपा बिन नहीं या रसहि पावै।

१- सूरसागर, दशम स्कन्ध, वे०प्रे० पृ० ३५०

भाव सौ भजै, बिन भाव मैं ए नहीं,भाव ही मोह भाव यह बसावै।
यहै निज मंत्र यह ज्ञान यह ध्यान दरश दम्पति भजन सार गाऊं।
यहै मांगौ बार बार सूर के नैन दुवौ रहैं नर देह पाऊं।[1]

'इस रास कौ समझने के लिए भ्रम से मुक्त बुद्धि चाहिए। जिन लोगों में भक्ति का भाव है वे ही इस रस का आस्वादन कर सकते हैं। वेद और शास्त्रों में दिया हुआ ज्ञान भी बिना ईश्वर की कृपा के इस रास-रस के रहस्य को नहीं जान सकता।'

इस रास लीला वर्णन पर बहुत से आक्षेप लगाये जा चुके हैं कुछ व्यक्तियों का कहना है कि रासलीला केवल शृंगार काव्य है जो गोपी-कृष्ण काल्पनिक पात्रों की प्रेमलीला में वर्णित है। उन लोगों का यह भी कहना है कि इस लीला के सुनने और विशेष रूप से हिन्दी-भाषा कवियों द्वारा वर्णित लीला से लौकिक काम की उद्दीप्ति होती है। दूसरा आक्षेप यह लगाया जाता है कि गोपियों का परपुरुष के पास रात्रि में जाने का आचरण निर्लज्जता और अश्लीलता की पराकाष्ठा है। सूर ने कई पदों में उक्त भाव को स्वीकार किया है कि इस रास में कृष्ण-गोपी-मिलन लोक की दृष्टि से कुल मर्यादा के विरुद्ध है।[2] परन्तु आगे सूर ने अपने कई पदों में यह भी बताया है कि रास के लिए जब गोपियां अपने गृह-बन्धनों को त्याग कर प्रेमोन्मत्त हो कृष्ण के पास पहुंची, तब कृष्ण ने उनको प्रथम स्त्री-धर्म समझाया, उस समय सूर कृष्ण-मुख से वेद का उपदेश देते हुए गोपियों के गृहत्याग और उनके परपुरुष के पास रात्रि में आने की निन्दा कराई है[3]। इसी प्रकार के भाव नन्ददास ने भी अपने ग्रन्थ 'रास पंचाध्यायी' में प्रकट किया है। परन्तु गोपियाँ अपनी भक्ति से नहीं हटतीं और अन्त में कृष्ण उनकी कामनाओं की पूर्ति करते हैं। जैसा पहले कहा जा चुका है कि वल्लभ-

---

१- सूरसागर दशम स्कन्ध,वे०प्रे० पृ० ३४०

२- राग गुंडमलार
संग ब्रजनारि हरि रास कीन्हौं।
सबन की आस पूरन करी स्याम ने त्रिभुवन पिय लेत सुख मानि लीन्हौं,
मैटि कुल-कानि मर्याद विधि वेद की त्यागि गृहनेह सुनि बैन धाई।
कबी जे वे करी मनहिं सब वै घरी शंक काहू न करी आप माई।
-सूरसागर,दशम स्कन्ध वे०प्रे० पृ० ३५८

(शेष)

सिद्धान्तानुसार रास में प्रवेशात्मक मोक्ष मधुर-भाव के उपासक पुष्टि-भक्तों को ही मिलती है, मर्यादा भक्तों को नहीं। रास में गोपी-रूप शुद्ध पुष्टि-भक्तों को मर्यादा का उल्लंघन करने वाला चित्रित किया गया है। ये गोपियां अथवा पुष्टिमार्गी भक्त जीवन-मुक्त-अवस्था प्राप्त वे सिद्ध आत्माएं है जो पाप और पुण्य कर्मों के प्रभाव से मुक्त हो चुकी हैं। और जो कृष्ण-कृपा की विशेष अधि-कारिणी हैं।

इस भाव को सूर निम्न पद में कहते हैं-

राग रामकली

'तुमहिं विमुख धृग धृग नर नारि।
हमतो यह जानति तुव महिमा, को सुनिये गिरिधारि।
सांची प्रीति करी हम तुम सों अंतर्यामी जानैं,
गृह जन की नहिं पीर हमारे वृथा धर्म हम ठानैं।
पाप पुण्य दोऊ परित्यागे, अब जो होइ सु होइ।[1]
आस निरास सूर के स्वामी, ऐसी करै न कोइ।

सूर का अन्तिम लक्ष्य इसी रास में ही प्रवेश पाना है। वे इस पद में कहते हैं -

राग कान्हरो

'धनि शुक मुनि भागवत बखानो।
गुरु की कृपा भई जब पूरन तब रसना कहि गान्यो।
धन्य श्याम वृन्दावन को सुख संत मया ते जान्यो।
जो रस रास संग हरि कीन्हें वेद नहीं ठहरान्यो।
सुर नर मुनि मोहित सब कीन्हें शिवहि समाधि भुलान्यो।[2]
सूरदास तहां नैन बसाए और न कहूं पत्यानो।

शेष- (१) यह युवतिन को धर्म न होई।
धृग सो नारि पुरुष जो त्यागै धृग सो पति जो त्यागै जोई।
पति को धर्म रहे प्रतिपाले युवती सेवा ही को धर्म
युवती सेवा तऊ न त्यागै जो पति करै कोटि अपकर्म।
घर ही में तुम धर्म सदा ही सुख पति दुःख होत तुम जाहु,
सूर श्याम यह कहि परबोधन सेवा करहु जाइ घर नाहु।
-सूरसागर, दशम स्कन्ध वे०प्रे०पृ० ३०१
तथा 'यह विधि वेद-मारग सुनौ।' -सूरसागर, दशम स्कन्ध वे०प्रे० पृ०३०१
और 'कहा भयो जो हम पै आई कुल कीरीति गमाई'। वही वही (शेष आगे-

सूरदास की भांति वल्लभ -सिद्धान्तों को मानते हुए नन्ददास भी रास को पुष्टिमार्गी भक्ति का फलात्मक रूप मानते हैं । वे कहते हैं कि-

धरम नेम जप तप व्रत संजम फलहि बतावै,
यह कहुं नाहिंन सुनी जु फल फिर धरम सिखावै।

+ +

सुन्दर प्रिय को बदन निरखि अस को नहिं भूलै ।[1]

`रास नित्य है, कृष्ण और रास में रमण करने वाली गोपी नित्य है और रास का रस नित्य तथा अद्भुत है ।`नन्ददास का मत है कि रास रसकी अधिकारिणी केवल गोपी है । बैकुण्ठ निवासी नारायण भी इस रस को पाने के लिए तरसते रहते हैं ।`सिद्धान्त पंचाध्यायी` ग्रन्थ में नन्ददास ने रास-रस को सब रसों का सार तथा निचोड़ माना है और इसको`महारस` के नाम से पुकारा है । रास -रस का वर्णन निम्न पद में नन्ददास करते हैं -

` अवधि भूत गुन रूप नाद वरनन जहं होई,
सब रस को नियसि (निवसि)रास रस कहिये सोई ।`[2]

तथा

`हो सज्जन जन रसिक, सरस मन कै यह सुनियै।
सुनि सुनि गुनि आनन्द हृदै ह्वै नीके गुनियै ।।
सकल सास्त्र सिद्धान्त परम एकान्त महारस,
जाके रंचक सुनत गुनत श्रीकृष्ण होत बस।[3]

(शेष-पिछले पृष्ठ का) १-सूरसागर, दशम स्कन्ध,वे०प्रे० पृ० ३४२
२- वही वही पृ० ३६०

१- रासपंचाध्यायी- पांचवां अध्याय पृ० ८८ तथा नन्ददास,शुक्ल,२०१८२पाठ भेद से

२-सिद्धान्त पंचाध्यायी- नन्ददास, शुक्ल` पृ० १८४,पाठ भेद से

३- वही वही पृ० १८५

अपने रास वर्णन के पदों में सूरदास एक स्थल पर यह बताते हैं कि जब गोपियां अपने गृहत्याग कर प्रेमोन्मत्त कृष्ण के पास पहुंची तब कृष्ण ने उनको प्रथम स्त्री-धर्म समझाया, फिर सूर ने कृष्ण के मुख से, वेद मर्यादा की दृष्टि लेते हुए गोपियों के गृहत्याग और उनके परपुरुष के पास रात्रि में आने की निन्दा कराई है। ठीक ऐसा ही भाव नन्ददास ने अपने `रास पंचाध्यायी` में भी दिया है।

इन कवियों ने गोपी-कृष्ण -रास में आध्यात्मिक दृष्टि का आरोप कर उसे दिव्य रूप दिया है। इन भक्तों ने तथा कृष्ण की उपासना करने वाले सभी सम्प्रदायों ने रास के शृंगारिक भावों को परब्रह्म कृष्ण के संसर्ग के कारण निर्दोष ही बताया है। नन्ददास ने तो रास की इस निर्दोषिता को सिद्ध करते हुए एक पृथक् ग्रन्थ `सिद्धान्त पंचाध्यायी` लिख दिया है।

`रास` की निर्दोषिता के विषय में आचार्य वल्लभाचार्य तथा अष्टछाप के कवियों ने बहुत कुछ कहा है। आचार्य वल्लभाचार्य ने `रास` के आक्षेपों का उत्तर अपनी स्वयं रचित ग्रन्थ `सुबोधिनी टीका` में दिया है। इन्होंने भी इस पुस्तक में रास का आध्यात्मिक अर्थ समझाया है। `सुबोधिनी टीका` में एक स्थल पर वे कहते हैं कि-

`क्रिया सर्वापि सैवात्र परं कामो न विद्यते,
तासां कामस्य सम्पूर्तिर्निष्कामेति तास्तथा।
कामेन पूरितः कामः निष्कामः संसारं जनयेत्स्फुटम्।
कामाभावेन् पूर्णस्तु निष्कामःस्याद् न संशयः।२।
अतो न कापि मर्यादा भग्ना मोक्षफलापिच,
अत एतच्छ्रु ते लोको निष्कामः सर्वदा भवेत् ।३।
भगवच्चरितं सर्वं यतो निष्काममीर्यते,
अतः कामस्य नोद्बोधः ततः शुकवचः स्फुटम्।४।[१]

१- भागवत की सुबोधिनी टीका, रास-प्रकरण की कारिका।

'कृष्ण के रास में काम की सब क्रियाएं है, परन्तु उसमें काम नहीं है। गोपियों के लौकिक काम का शमन और अलौकिक काम की पूर्ति निष्काम भगवान् द्वारा हुई थी। यदि लौकिक काम से काम की पूर्ति होती तो उससे संसार उत्पन्न होता परन्तु यहां तो गोपीकृष्ण दोनों में लौकिक काम का अभाव है और संसार से निवृत्ति है। इस रास-कार्य में किसी मर्यादा का भंग भी नहीं हुआ, इससे तो गोपियों को 'स्वरूपानन्दकी मुक्ति' ही मिलीथी। इसलिए इस लीला के सुनने से लोक निष्काम ही बनता है (अपने काम की आहुति भगवान् में कर देता है) भगवान का चरित्र सर्वथा निष्काम है, उससे काम का उद्बोध ही नहीं होता।'

श्री मद्भागवत में श्री शुकदेव जी भी रास के विषय में कहते हैं -

'विक्रीडितं व्रजवधूभिरिदं च विष्णोः।
श्रद्धान्वितोऽनुश्रृणुयादथ वर्णयेद्यः।
भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं,
हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः।[१]

'रसात्मक विष्णु भगवान् ने व्रज-वधुओं के साथ जो क्रीड़ा और रास किया उसको श्रद्धापूर्वक सुनने और वर्णन करने से काम-रोग-रूपी हृदय-रोग का नाश होता है।

'संक्षेप में रास की निर्दोषिता सिद्ध करने वाले आचार्यों का मत निम्नलिखित दे सकते हैं :-

(१) रास-लीला के नायक श्री कृष्ण वस्तुतः अप्राकृत देहधारी, रस-रूप साक्षात् परब्रह्म परमात्मा है।

(२) गोपियां अपने पाप-पुण्य से बने पंच महाभूतात्मक भौतिक शरीर से कृष्ण के पास आ ही नहीं सकती थीं। वे तो इनसे अलग होकर अपने ज्योतिर्मय शरीर से भगवान् के पास पहुंची थी; और रास का पूर्ण रस लेने से पहले ही उनके लौकिक काम का दमन हो चुका था। भक्तों को इसी प्रकार की गोपियों के अनुकरण से रास-रस का आनन्द मिलता सकता है।

१- भागवत, दशमस्कन्ध, अध्याय ३३, श्लोक ४०

(३) विकारपूर्ण लौकिक भाव कृष्ण के सम्पर्क में आते ही शुद्ध हो जाता है ।

श्रीमद्भागवत के २६ वें अध्याय तथा १५ वें श्लोक में यह कहा गया है कि -

`कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदयमेव च,
नित्यं,हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते ।`[१]

काम,क्रोध,भय,स्नेह,ऐक्य और सद्भाव, इनमें से कोई भी भाव भगवान हरि के साथ लगाया जाय तो ये भाव लौकिक रूप को छोड़ कर ईश्वरमय हो जाते हैं ।` अत: गोपियों का काम-भाव, भक्ति की साधनावस्था में लोक से हट कर भगवान् से लगा था । इसी प्रकार भक्ति में जब तक लौकिक भाव भगवान् के साथ जुड़ कर अलौकिक रसदाता नहीं बनते तब तक यह साधन पूरा नहीं होता । पूर्णरूपेण सिद्ध अथवा मोक्ष अवस्था तब आती है जब विषय-सुख कृष्ण में परिणत हो जाय । यह अवस्था तभी आ सकती है जब भाव ससीम से निस्सीम होकर भाव और भावुक एक बन जांय ।`नन्ददास ने भी अपने`सिद्धान्तपंचाध्यायी` में उक्त भाव को अपने निम्न पद में अंकित किया है -

`तैसेहिं गोपी प्रथम काम, अभिराम रसी रस ।
पुनि पाते नि:सीम प्रेम जिहि कृष्न भये बस ।`[२]

`कृष्ण के वश में होते ही ससीम नि:सीम हो जाता है ।`

(४) जिस प्रकार भक्तकालीन अन्य कवियों ने भगवान् के साथ माता,पिता,बन्धु सखा का सम्बन्ध जोड़ते हैं उसी प्रकार भगवान के साथ पति अथवा`जार` का भी सम्बन्ध जुड़ सकता है । अन्य भारतीय दर्शनों में लोक को छोड़ कर ईश्वर के साथ के सम्बन्ध ऐहिक नहीं बल्कि पारमार्थिक कहे गये हैं । अत: अष्टछाप के कवियों ने भी इसी शृंगार-भाव को कृष्ण के साथ जोड़ा है । तुलसीदास ने भी जो कृष्ण भक्त-कवियों के समकालीन थे कहा है कि-

---

१- भागवत , दशम स्कन्ध, अध्याय २६,श्लोक १५
२- सिद्धान्त पंचाध्यायी , नन्ददास `शुक्ल` पृ० १६३

`यहि जग में जहं लगि या तनु की, प्रीति प्रतीति सगाई,[1]
तै सब तुलसीदास प्रभु ही सों, होहु सिमिट एक ठाईं ।

`हमारी प्रीति प्रतीति के जो भिन्न भिन्न सम्बन्ध इस संसार के साथ जुड़े हुए हैं,सब सिमट कर केवल एक प्रभु के साथ लग जांय ।`

गोपी :-

अष्टछाप के आठों कवियों ने गोपी भाव का वर्णन दो रूपों में किया है । वे रूप निम्न हैं :-

(१) ईश्वर की आनन्द और सृष्टि-कारिणीशक्ति का रूप

(२) कान्ताभाव से ईश्वर की भक्ति करने वाले अनन्य भक्तों का रूप।

`राधा` का जो वर्णन इन कवियों ने अपने पदों में किया है उस`राधा` नामक गोपी का वर्णन भी दो रूपों में किया है:-

(१) रस-रूप ईश्वर की आदि रस-शक्ति

(२) भक्ति में सिद्ध-भक्ता ।

कृष्ण सदैव इस राधा के साथ रहते हैं और इसी राधा के साथ में प्रेममयी क्रीड़ायें करते रहते हैं । सूरदास अपने पद में राधा और कृष्ण के आध्यात्मिक रूप का वर्णन करते हुए कहते हैं कि-

`ब्रजहि बसे आपहु बिसरायो ।
प्रकृति पुरूष एकै करि जानों बातनि भेद करायो ।
जल थल जहां रहों तुम बिन नहिं भेद उपनिषद् गायो।
द्वै तनु जीव एक हम तुम दोऊ सुख कारन उपजायो ।
ब्रह्म रूप द्वितीया नहिं कोई तब मन त्रिया जनायो ।[2]
सूर स्याम मुख देखि अलप हंसि आनंद पुंज बढ़ायो ।।

१- सूरसागर, दशमस्कन्ध , वे०प्रे० पृ० २६२

२- वही वही पृ० ३४५-४६

सूरदास के मत में राधा प्रकृति है और कृष्ण पुरुष हैं जैसा कि उक्त पद का भाव स्पष्ट होता है । इस पद में आगे सूरदास अद्वैत भाव को लेते हुए कहते हैं कि -

राग सारंग

'नीलाम्बर पहिरे तनु भामिनि, जनु घन में दमकत है दामिनि ।

\+ \+

जग नायक जगदीश पियारी जगत जननि जगरानी ।
नित बिहार गोपाल लाल संग वृन्दावन रजधानी ।
अगतनि को गति भक्तन की पति श्रीराधा पद मंगलदानी,
अशरण शरनी, भव भय हरनी वेद पुरान-बखानी ।
रसना एक ,नहीं शत कोटिक शोभा अमित अपारी,[1]
कृष्ण भक्ति दीजै श्री राधे सूरदास बलिहारी ।।

'सूर ने उक्त पद में राधा को भगवान् की जगत-उत्पादिका शक्ति कहा है और उन्होंने इस शक्ति-स्वरूपा राधा की कई पदों में कृष्ण-भक्ति पाने के लिए वन्दना की है । अष्टछाप के कवियों ने राधा को अनन्य पूर्वा स्वकीया नायिका-रूप माना तथा अपने पदों में इसी रूप में राधा का वर्णन भी किया है । सूरदास ने सूरसागर में तो रास के आरम्भ में ही राधा और कृष्ण का विवाह करा दिया है ।वे कहते हैं कि-

'जाको व्यास वर्णित रास ,
है गन्धर्व विवाह चित दै सुनों विविध विलास ।
कियो प्रथम कुमारि यह व्रत धर्यो हृदय निवास,[2]
नन्द सुवन पति देव देवी पूजे मन की आस ।'

१- सूरसागर, दशमस्कन्ध, वे०प्रे० ३४५-३४६

२- सूरसागर, दशम स्कन्ध वे० प्रे० ३४८

अष्टछाप-काव्य में राधा के अतिरिक्त गोपियों का भी वर्णन पाया जाता है। इन गोपियों का वर्णन भी इन कवियों ने दो रूपों में किया है। वे हैं --

(१) अन्य पूर्वा

(२) अनन्य पूर्वा

अन्य पूर्वा गोपियों का वर्णन करते हुए सूरदास कहते हैं कि-

`कहत ब्रज नागरी।
तु पै चाहि है श्याम करत उपहास घनेरी।
हम अहीरि गृह नारि लोक लज्जा के चेरी।
तादिन हम भई बावरी, दियौ कराठ तै हार,
तब तै घर घैरा चल्यौ, श्याम तुम्हारी जार।[१]

अनन्य पूर्वा गोपियां सरल प्रकृति-धारिणी, अत्यन्त भावुक हैं, वे सब साधन और सब प्रकार की उपासना को छोड़ कर केवल कृष्ण को ही भजती हैं। उन्होंने कृष्ण के चरणों में आत्मसमर्पण कर दिया है। अनन्यपूर्वा गोपिकाओं ने सांसारिक बन्धनों को कच्चे धागे के समान तोड़ दिया है। अर्थात् गोपियां भक्ति की चरम सीमा पर पहुंच गई हैं। अब ये सायुज्य मोक्ष की अधिकारी बन गई हैं। सूरदास ने अनन्य-पूर्वा गोपियों का वर्णन बहुत ही सरल एवं स्पष्ट रूप से किया है। एक पद में इस प्रकार की गोपियों का वर्णन करते हुए कहते हैं कि-

अनन्य पूर्वा :

`गौरी पति पूजति ब्रज नारि।
नैम धर्म सौं रहतिं, क्रिया सुत बहुत करति मनुहारि,
इहै कहति, पति देहु उमापति गिरिधर नन्द कुमार।
+ +
महादेव पूजति मन बच क्रम करि सूर स्यामकी आस।[२]

१- सूरसागर - दशमस्कन्ध, वे०प्रे० पृ० २५२

२- वही वही पृ० २६६

तथा-

मलार

'मधुकर कहि कैसे मन मानैं,

जिनके एक अनन्य ब्रत सूफै क्यों दूजो उर आनै ।

यहु तौ योग स्वाद अलि ऐसो पाय सुधा करिसानै ।

कैसे धौं यह बात पतिब्रत सुनि शठ पुरुष बिरानै ।

+ +

सूर स्याम निर्गुण रति मानी मधुप प्राण जिनि हानै[1]।

परमानन्द दास ने भी राधा के दोनों रूपों की प्रशंसा अपने पदों में स्थल स्थल पर की है। राधा की प्रशंसा तथा उनके चरणों की वन्दना करते हुए परमानन्ददास कहते हैं कि-

'धनि यह राधिका के चरण,

हैं सुभग शीतल अति सुकोमल कमल कैसे बरन ।

रसिक लाल मन मोद कारी बिरह सागर तरन,

विवश परमानन्द छिन छिन श्याम जी के शरन ।[2]

'कवि कहता है कि राधा के चरण कृष्ण-वियोग रूप सागर के तरने के लिए नौका के सदृश्य हैं । इन्होंने राधा को स्वकीया-नायिका-रूप में भी चित्रित किया है ।

परमानन्ददास नेभी राधा के मान के समय के एक पद में कहा है :-

राग कान्हरा

'मनावत हार परी मेरी माई ।

+ +

तनक सुहागो डारि के बड़ कंचन पिघलाय ,

सदा सुहागिन राधिका क्यों न कृष्ण ललचाय ।[3]

१- सूरसागर, दशम स्कन्ध,वे०प्रे० पृ० ५२७

२- लेखक के निजी ,परमानन्द दास- पद संग्रह से, पद नं० १३४

३- वही वही पद नं० ३५२

अष्टछाप के अन्य कवियों तथा परमानन्द के मत में ये गोपियां सगुण-भक्ति शाखा के प्रेम-मार्ग की अग्रगामिनी ध्वजा-स्वरूपा है । इस भाव का वर्णन निम्न पद में स्पष्ट रूप से है --

राग सारंग

'गोपी प्रेम की ध्वजा,
जिन जगदीश किये बश अपने उघर धरि श्याम भुजा ।
सिव विरंच प्रसंसा कीनी, ऊधौ संत सराहीं ।
धन्य भाग गोकुल की बनिता अति पुनीत मुख माहीं।
कहा विप्र घर जन्महि पाये हरि सेवा विधि नाहिं।
ते ही पुनीत दास परमानन्द जे हरि सन्मुख जाहिं ।[1]

'ये गोपियां अत्यन्त पुनीत आत्माएं हैं । बहुत उच्च वर्ण की यद्यपि वे नहीं हैं, परन्तु ब्राह्मणों से भी अधिक पुजनीय हैं ।जिस ब्राह्मण ने हरि की सेवा नहीं की वह ब्राह्मण घर में जन्म लेने से ही उच्च नहीं होता । अन्य पूर्वा गोपियों का वर्णन परमानन्ददास ने नहीं के बराबर किया है परन्तु अनन्य पूर्वा' गोपियों को चित्रित करते हुए परमानन्ददास अपने एक पद में कहते हैं कि-

राग सारंग

'हरि गुन गावत चलीं ब्रज सुन्दरि यमुना नदिया की तीर ।

\+ \+

जल प्रवेस करि मज्जन लागीं प्राथम हेम के मास।
हमारे प्रीतम हाेंय नंद सुत तप ठान्यौ इह आस ।
तब ले चीर हरे नंद नंदन चढ़ि कदंब की डारि ।
परमानन्द प्रभुवर देवे कों उद्यम कियो मुरारि ।।[2]

'ये गोपिका सदैव यही कामना तथा तप करती रहती हैं कि उनके प्रीतम नंद के सुत कृष्ण हैं।'

१- लेखक के निजी ,परमानन्ददास -पद-संग्रह से, पद नं० २७६

२- वही वही पद नं० ६१

नन्ददास ने भी `रास पंचाध्यायी` और `सिद्धान्त पंचाध्यायी` पुस्तकों में गोपियों के स्वरूप और भक्ति में उनके अधिकार के विषय में अपने विचार प्रकट किये हैं । इसमें नन्ददास ने जिन स्थलों पर रास की निर्दोषिता का उल्लेख किया है वहां वे कहते हैं कि गोपियां सिद्ध अवस्था पर पहुंची हुई आत्माएं थीं और कृष्ण-कृपा की तथा उनके स्वरूपानन्द की विशेष अधिकारिणी थी । `रास पंचाध्यायी` में वे उक्त भाव के एक पद में कहते हैं --

`धन्य कहति भई ताहि नाहिं कछु मन में कोपीं ।
निरमत्सर जे संत तिननि चूरामनि गोपीं । ३८।।
इन नीके आराधे हरि ईश्वर वर जोई ।
तातें अधर सुधारस निधरक पीवति सोई ।।३९।।[1]

` ये गोपियां कृष्ण के अधरों का सुधा पान कर निर्भीक सी गई हैं । `परमानन्द दास ने भी गोपियों को सन्तों का शिरोमणि कहा है, वे कहते हैं --

`शुद्ध प्रेममय रूप पंचभूतन तै न्यारी ।
तिन्हैं कहा कोऊ कहै जोति सी जग उजियारी ।६२।[2]

`ये गोपियां पंचमहाभूतों सेपरे शुध्द प्रेममयी रूप हैं, तथा समस्त संसार उनकी ज्योति से ज्योतित होता रहता है । उनका वर्णन कोई नहीं कर सकता ।`

इस प्रकार अष्टछाप के अन्य कवि भी राधा तथा अन्य गोपियों को सूर परमानन्द तथा नन्ददास की भांति ही मानते हैं । अन्य कवियों ने कोई पृथक से राधा एवं गोपियों का वर्णन नहींकिया है किन्तु इतना तो सत्य है कि वल्लभ सिद्धान्त के अनुयायी ये भक्त कालीन अष्टछाप के समस्त कवि थे । अत: वल्लभ मत के पूर्णरूपेण समर्थक थे । उनके काव्य में भी पुष्टिमार्गी प्रभाव स्पष्ट है ।

१-रास पंचाध्यायी,अध्याय २, उदयनारायण तिवारी,पृ० ४४ तथा नन्ददास शुक्ल पृ० १७०

२- वही अध्याय १ , वही पृ० १६

अष्टछाप के आठ कवि

१- कुंभनदास	महाप्रभु वल्लभाचार्य के शिष्य
२- सूरदास	,, ,,
३- परमानंददास	,, ,,
४- कृष्णदास	,, ,,
५- गोविंददास स्वामी	गोसाईं विट्ठलनाथ के शिष्य
६- नंददास	,, ,,
७- छीतस्वामी	,, ,,
८- चतुर्भुज दास	,, ,,

--०--

कुंभनदास

जन्म और संक्षिप्त परिचय :-

कुंभनदास का जन्म सं० १५२५ की कार्तिक कृ० ११ को गोवर्धन के निकटवर्ती जमुनावती नामक ग्राम में हुआ था । कुंभनदास गौरवा क्षत्रिय थे[1] । इनके विषय में कोई विशेषविवरण अभी तक नहीं प्राप्त हो सका, और न तो कुंभनदास जी ने स्वयं ही अपने विषय में कोई बात लिखी है । इतना स्पष्ट है कि ये महाप्रभु बल्लभाचार्य के शिष्य थे और उनके पुष्टिमार्गी सम्प्रदाय के मानने वाले थे । कुम्भनदास ने कुछ पद अपने गुरु,श्री बल्लभाचार्य जी की प्रशंसा में लिखे हैं, और कुछ गुरु के कुल और गुरु-भाई श्री विट्ठलनाथ जी की स्तुति में । इन पदों से केवल इनके गुरु और गुरुकुल का ही परिचय मिलता है । कुम्भनदास जी निम्नलिखित पद में अपने गुरु की बधाई के अन्तर्गत उनके बाल रूप का वर्णन करते हैं-

`इलम्म[2] श्री बल्लभ लालहि फुलावै।
लाल फुलावै मन हुलसावै प्रमुदित मंगल गावै ।
गृह कर द्वार पाटका करसों मन ही मन हुलसावै ।
कुम्भन प्रभु की छवि निरखत ब्रज-जन मंगल गावै[3] ।`

कुम्भन दास के सात पुत्र थे । उनमें सबसे छोटे का नाम चतुर्भुजदास था । जो स्वयं अष्टछाप के एककवि थे ।

महाप्रभु बल्लभाचार्य जी की महिमा के अतिरिक्त कुम्भनदास जी ने अपने पदों में श्री विट्ठलनाथ जी की बहुत ही प्रशंसा की है । उनके रूप में अपने इष्ट देव भगवान् कृष्णचन्द्र का ही रूप देखा है -

---

१-`मिश्रबन्धु विनोद` में उनको गौरवा ब्राह्मण लिखा गया है जो ठीक नहीं है । गौरवा ठाकुर होते हैं ,ब्राह्मण नहीं ।

२- इलम्मा - श्रीबल्लभाचार्य जी की माता का नाम था।

३-`कुम्भनदास पद संग्रह- डा० दीनदयाल गुप्त पद नं० ६५

`प्रकटे श्री विट्ठलेश लाल गोपाल ।
कलियुग जीव उधारन कारन संत जनन प्रतिपाल ।
द्विज कुल मंडल तिलक तैलग श्री वल्लभ कुल जो अति रसाल ।
कुम्भनदास प्रभु गोवर्धन धर नित्य उठ नेह करत ब्रज बाल ।[1]

काव्य-रचना-

कुम्भनदास जी द्वारा रचित कोई विशेष ग्रन्थ अभी तक प्राप्त नहीं हो सका किन्तु कीर्तन संग्रहों में उनके स्फुट पद यथेष्ट संख्या में मिलते हैं । कांकरौली विद्या-विभाग में उनके प्राय: २०० पद संगृहीत हैं । डा० श्यामसुन्दरदास ने उनकी `दानलीला` और `पदावली` पुस्तकों का उल्लेख किया है । सम्भव है वे उनके तत्संबंधी स्फुट पदों के संग्रह हों । कुम्भनदास की काव्य रचना के विषय में ` इनका कोई ग्रन्थ न तो प्रसिद्ध है और न अब तक मिला है । फुटकर पद अवश्य मिलते हैं । विषय वही कृष्णा की बाल-लीला और प्रेम लीला है[2] ।`

अध्ययन से पता चलता है कि अष्टछाप के कवियों में से कुम्भनदास ही एक ऐसे कवि थे, जिन्होंने बाल-लीला की अपेक्षा युगललीला के पदों का गायन किया है । चौरासी वार्ता में उनके सम्बन्ध में लिखा है -

` सो कुम्भनदास सगरे कीर्तन युगल स्वरूप संबंधी कीये । सो बधाई ,पलना बाल-लीला गाई नाहीं[3] ।`

पुष्टि संप्रदाय की सेवा-विधि में बाल भाव की प्रधानता देख कर वर्तमान युग के बहुत से विद्वानों के की यह धारणा बन चुकी है कि वल्लभाचार्य जी के मतानुसार वात्सल्य भक्ति ही प्राप्त है । पर वास्तविकता यह है कि वल्लभाचार्य

१-`कुम्भनदास पद -संग्रह` डा० दीनदयाल गुप्त पद नं० ६६
२- हिन्दी साहित्य का इतिहास- डा० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० १५४
३- चौरासीवार्ता में` अष्टसखान की वार्ता` पृ० ६२

जी ने वात्सल्य के अतिरिक्त सख्य और माधुर्य भक्ति का भी उपदेश दिया था, जिसके कारण अष्टछाप के काव्य में नौधा (नवधा) भक्ति के सभी प्रकार दिखलायी देते हैं । कुम्भनदास की आसक्ति निकुंज -लीला में थी, अत: उनके काव्य में माधुर्य भक्ति सूचक दान, मान आदि के पद अधिक संख्या में मिलते हैं।

जैसा कि कहा जा चुका है कि कुम्भनदास जी बल्लभ-सम्प्रदाय के रूपराशि, प्रेममूर्ति एवं युगल किशोर के उपासक थे। उनके पदों में कृष्ण की किशोरलीलाओं का चित्रण अधिक है । ईश्वर, जीवादि के विषय में उनके अपने सिद्धान्त स्पष्ट रूप से नहीं है । परन्तु उनके पदों के भावों के अनुसार यह स्पष्टत: प्रतीत होता है कि कुम्भनदास के इष्ट देव रस-रूप अद्वैत ब्रह्म श्रीकृष्ण ही है । जिसके रूप का रसपान करने में वे ऊबते नहीं थे । निम्न पद से यह कथन स्पष्ट हो जाता है -

'गोपाल के बदन पर आरती वारों ।
एक चित मन करों साजिनी की जुगति बाती अगनित घृत कपूर सों बारों।[1]

+ +

गाऊं सांवल सुजस रस में सुस्वाद रस परम हरषित नित चंवर ढारों।
कोटि रवि उदित जानो कांति अंग अंग प्रतिकार सकल लोक वैतक वारि डारों
दास कुम्भन कहे लाल गिरधरन को रूप नयननि भरि भरि निहारों ।

कृष्ण के रूप का वर्णन करते हुए कुम्भन दास कभी अघाते नहीं जैसा कि उनके इस पद से आभास होता है -

'सुंदर सखा की सीवां नैन ।
परम स्वच्छ चपल अनियोरे, सहज दबावत मैन ।।
कमल-मीन-मृग खग आधीनहिं, तजि अपने सुख चैन ।
निरखि सबनि सखि, एक अंस पर सब सुख के ये दैन ।।
जब अपने रस गूढ़ भाव करि, कछुक जनावत सैन ।
'कुंभनदास' प्रभु गोवरधन -धर, जुवतिन मन हरि रैन ।।[2]

१-'कुम्भनदास-पद-संग्रह' डा० दीनदयाल गुप्त , पद नं० ६१
२-'अष्टछाप-परिचय' प्रभुदयाल मीतल , पृ० नं० १०६ पद नं० १०

कृष्णा की रसवती लीला का वर्णन करते हुए कुम्भनदास कहते हैं:-

'जयति जगति श्री हरिदास वर्य धरनै ।
वारि वृष्टि निवारि घोष आरति टार देवपति अभिमान भंग करनै ।
जयति पटपीत दामिनी रुचिर वर मृदुल अंक सांवल सजल जलप वरनै ।
कर अधर बेनु धरि गान कलरव शब्द सहज ब्रज युवति जन चित हरनै ।
जयति वृन्दा विपिन भूमि डोलनि अखिल लोक वन्दनि अंबरूह चरनै ।
तरनि तनया विहार नन्द गोपकुमार दास कुम्भन नतयत बसि सरनै ।[१]

इस प्रकारकुम्भन दास के पदों में वल्लभ सम्प्रदाय का स्पष्ट तथा प्रत्यक्ष प्रभाव झलकता है ।

सूरदास

जन्म और प्रारम्भिक जीवन :-

सूरदास केजीवन वृतान्त के सम्बन्ध में अभी तक कोई प्रामाणिक विवरण नहीं प्राप्त हो सका । उसके सम्बन्ध में विभिन्नविद्वानों के भिन्न भिन्न मत हैं उनकी जन्म-तिथि जीवनवृत्त एवं जाति कुल आदि के सम्बन्ध पर अब तक खोजें चल रही हैं । अष्टछाप के प्रमुख कवि होने के साथ-साथ सूरदास बृजभाषा के सर्वश्रेष्ठ महाकवि माने गये हैं ।

सूरदास अष्टछाप के आठों कवियों में ही नहीं , बल्कि ब्रजभाषा के समस्त कवियों में सर्वश्रेष्ठ महाकवि हैं । भक्तिकाल के सगुणोपासक कृष्ण काव्य में इनका नाम सर्वप्रथम आता है । हिन्दी में कृष्ण-काव्य को आरम्भ करने का श्रेय सुप्रसिद्ध मैथिल कवि विद्यापति को है, किन्तु उसका पूर्ण विकसित स्वरूप सूरदास की कविता में ही दिखायी देता है ।

१-`कुम्भनदास पद संग्रह` डा० दीनदयाल गुप्त - पद नं० १

इधर सूर साहित्य पर विशेष रूप से अध्ययन कार्य हो रहा है । कई विद्वानों ने सूरदास की रचनाओं का वैज्ञानिक अध्ययन कर अन्तर्साक्ष्यों के आधार पर उनके जीवन पर प्रकाश डालने की चेष्टा की है ।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि सूरदास के जीवन सामग्री की प्रमाणिकता के विषय में नाना प्रकार की खोजें हो रही हैं लेकिन इन खोजों के बीच `चौरासी वैष्णवन की वार्ता` और `अष्टसखान की वार्ता` को ही प्रमाणिक मानना चाहिए। इन दोनों ग्रन्थों से सूरदास का जितना जीवन-वृत्तान्त ज्ञात होता है उसका दसवां भाग भी अन्य साधनों को एकत्रित करने पर भी नहीं ज्ञात होता । यह वृत्तान्त `चौरासी वार्ता में` वार्ता सं० ८१ में और `अष्टसखान की वार्ता` में वार्ता सं०८१ में दिया हुआ है ।

सूरदास के जीवन वृत्तान्त के लिए मूल` चौरासी वैष्णवन की वार्ता` की प्रमाणिकता निश्चित है किन्तु उससे उनके पूर्वज, माता-पिता ,जन्म-स्थान, जाति आदि पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता । वार्ता में तिथियों का नितान्त अभाव होने के कारण इनके द्वारा सूरदास के जन्म मरण एवं जीवन संबंधी अन्य महत्वपूर्ण घटनाओं का काल-निर्णय करने में भी सहायता प्राप्त नहीं होती ।

डा० दीनदयाल गुप्त के अनुसार सूरदास का जन्म सं० १५३५ की वैशाख शुक्ल ५ को दिल्ली के समीपवर्ती सीही नामक ग्राम में हुआ था । ये एक निर्धन सारस्वत ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुये थे । इनके पदों से यह भास होता है कि ये जन्मान्ध थे वार्ता में सूर के अन्धे होने और उनकी दिव्य दृष्टि होने की कई कथाएं मिलती हैं । इस सन्दर्भ में एक घटना का उल्लेख उनकी दिव्य दृष्टि की प्रमाणिकता पर ज्वलन्त प्रकाश डालता है ।

एक बार अकबर के दरबार में सूर ने अपना एक पद गाया उस पद के इस चरण पर` सूर ऐसे दरस कारन मरत लोचन प्यास` पर अकबर ने सूरदास से पूछा-` सूरदास जी तुम्हारे नेत्र तो है नहीं फिर तुम द दरस कैसे करते हो ।`[1]

१- अष्टछाप ,कांकरोली , पृ० २६

सूर ने उत्तर दिया कि यह भगवान की कृपा का फल है ।

वार्ता में यह भी बताया है कि सूरदास ने अपने दिव्य दृष्टि से देख कर निम्नलिखित पद गाया -

' देखे री हरि नंगम नंगा ।
जल सुत भूषन अंग बिराजत बसन-हीन छवि उठत तरंगा ।
अंग अंग प्रति अमित माधुरी निरखि लजित रति कोटि अनंगा।
किलकत दधि-सुत मुख ले मन भरि सूर हंसत ब्रज जुवतिन संगा । [१]

हरिराय जी कृत भाव प्रकाश' से ज्ञात होता है कि अंधे होने के कारण सूरदास अपने माता पिता के ऊपर भार स्वरूप थे और इसी कारण उन्हें माता-पिता का लाड़ प्यार न मिल सका और कुछ ही दिनों में ये घर छोड़ कर चल दिये । बाल्यावस्था में ही यह घर छोड़ कर अपने गांव कुछ दूर पर जा कर रहने लगे और वहीं ये गायन विद्या का अभ्यास करने लगे । उनके कंठ में एक प्रकार का माधुर्य तथा मिठास मात्र था इससे ये जो कुछ गाते थे वह सुनने वालों के मन को मोहित कर लेता था । इस कारण कुछ ही दिनों में इनके पद बहुत ही प्रसिद्ध हो गये ।

वार्ता द्वारा यह ज्ञात होता है कि सूरदास ने अपनी ३१ वर्ष आयु के अन्दर संगीत काव्य एवं गायन कलाओं का पूर्ण ज्ञान कर लिया था । तदुपरान्त इन्होंने शास्त्र-पुराणादि विविध ग्रन्थों का भलीभांति अध्ययन किया । सूरदास की रचनाओं से उनके गंभीर ज्ञान एवं प्रकांड पांडित्य का परिचय प्राप्त होता है । उनके पदों के पढ़ने से यह सत्य प्रतीत होता है कि ये ब्रजभाषा और संस्कृत के अच्छे विद्वान थे ।

१-'अष्टछाप और वल्लभ-सम्प्रदाय' डा० दीनदयाल गुप्त, पृ० २०३

वार्ता में लिखा है कि वल्लभाचार्य जी से दीक्षित होने पर और उनके द्वारा `नाम` एवं `समर्पण` की विधि के अनन्तर उनके हृदय में स्वत: श्रीमद्भागवत के समस्त ज्ञान का उदय हो गया था । यदि इस कथन पर विश्वास न किया जाय तो भी सूरदास अपने गायन एवं विनयपूर्ण पदों की रचना द्वारा पहले ही यथेष्ट प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके थे । यह स्वयं वार्ता से ही प्रकट है ।

<u>सूर रचित रचनाएं :-</u>

१- सूरसागर	१३- मान-लीला
२- भागवत-भाषा	१४- सूर-साठी
३- दशम स्कन्ध भाषा	१५- राधारस-केलि-कौतूहल
४- सूरदास के पद	१६- सूरसागर-सार
५- नागलीला	१७- सूर-सारावलि
६- गोवर्द्धन लीला	१८- साहित्य-लहरी
७- सूर-पचीसी	१९- सूर-शतक
८- प्राणप्यारी	२०-नाल-दमयन्ती
९- व्याहलो	२१- हरिवंश टीका
१०- भंवरगीत	२२- रामजन्म
११- सूर-रामायण	२३- एकादशी माहात्म्य
१२- दान-लीला	२४- सेवाफल

डा० दीनदयाल गुप्त कृत `अष्टछाप और वल्लभसम्प्रदाय` में सूर द्वारा रचित उपर्युक्त २४ ग्रन्थ प्रामाणिक माने हैं किन्तु प्रभु दयाल मीतल का कथन है कि सूरदास के नाम से प्रसिद्ध हरिवंश टीका,एकादशी माहात्म्य ,नल-दमयन्ती और राम-जन्म[१] अन्य कवियों की रचनाएं हैं । इनको सूरदास की कृति समझना भूल है ।`

इस प्रकार सूररचित ग्रन्थों में `सूर सारावली` `साहित्य लहरी` और `सूरसागर` बड़ी रचनाएं हैं जिनमें सूरसागर प्रमुख है ।

१-`अष्टछाप -परिचय` प्रभुदयाल मीतल पृ० १४२

सूर-काव्य :-

सूर-साहित्य और भक्ति-

'अष्टछाप कवियों के पदों में भक्ति का स्वरूप तथा इस विषय में जो विचार मिलते हैं उनमें स्पष्ट रूप से श्री वल्लभाचार्य जी के मत का ही अनुकरण मिलता है। एक और इन कवियों ने अपने उपास्यदेव श्रीकृष्ण की लीलाओं का वात्सल्य ,सख्य, दास्य और कान्ता भाव से वर्णन किया है वहाँ सर्वत्र उन्होंने कृष्ण के ईश्वरत्व के भाव की महत्ता को ध्यान में रखा है[1]।'

भागवत तथा अन्य भक्ति ग्रन्थों की रचना में भगवान के प्रेम को पाने के लिए और समस्त दोषों को नाश करने के लिए नवधा भक्ति -- श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन ,वंदन,दास्य,सख्य और आत्मनिवेदन-- के साधन क्रम को करने की आज्ञा है। सूरदास की काव्य-साधना में नवधा भक्ति के प्रत्येक अंग पर बहुत ही सूक्ष्म एवं स्पष्ट वर्णन मिलता है। भक्तिकाल के कवियों में सूर की रचनाओं में यह महत्वपूर्ण विशेषता पाई जाती है।

वार्ता में यह बताया गया है कि सूरदास जी का स्वामी वल्लभाचार्य जी सेसम्पर्क काफी देर में हुआ। लगभग ३१ वर्ष की आयु के पश्चात् ये स्वामी वल्लभाचार्य जी से अकस्मात् मिले। इसके पहले इनके पद केवल भगवान के भजन एवं स्तुति वाले ही होते थे। उन पदों पर किसी सम्प्रदाय विशेष का प्रभाव नहीं दिखता।उन पदों का प्रधान विषय विनय आदि था। अपने जीवन के ३१ वें वर्ष के बाद तथा आचार्य वल्लभाचार्य के सम्पर्क के पश्चात् सूरदास जी के पदों में वल्लभी सम्प्रदाय का प्रभाव दिखाई देता है। इस प्रकार सूरदास के पदों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। डा० मुन्शीराम शर्मा ने भी सूर के पदों को दो भागों में विभाजित किया है। उनका कहना है कि 'आचार्य वल्लभ का मिलन सूर के काव्य-क्षेत्र में एक विभाजक रेखा खींच देता है[2]।'

१-'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय' डा० दीनदयाल गुप्त, पृ० ५३०

२-'सूरदास और भगवद्भक्ति' डा० मुंशीराम शर्मा, पृ० ४२

वल्लभाचार्य मिलन के पूर्व सूर की चार प्रकार की रचनाएं पाई जाती हैं -

(१) हठयोग एवं शिवसाधना सम्बन्धित पद

(२) निर्गुण भक्ति सम्बन्धित पद

(३) वैष्णव भक्तिवाले पद (दास्यभाव)

(४) सख्य भाव वाले पद

प्रथम भाग के अन्तर्गत सूर ने आसन , प्राणायाम ,बलिदानी ,मोक्षप्रदायिनी, वाराणसी आदि विषयक पद लिखे हैं।

द्वितीय श्रेणी के अन्तर्गत जाति-पांति ,वेद आदि की निंदा,ज्ञान-वैराग्य की सापेक्षता, सत्य पुरुष को बाहर न देख कर अंदर देखना, मूर्तिपूजा -विरोधी संतों के नामों का श्रद्धापूर्वक वर्णन करना इत्यादि विषयक पद आते हैं।

तृतीय श्रेणी के अन्तर्गत सूर के दास्यभाव वाले विनय पद रखे जाते हैं।

चतुर्थ श्रेणी में सख्य भाव की भक्ति वाले पद आते हैं।

हठयोग और शिव साधना - से सम्बन्धित सूर के कुछ उदाहरण ये हैं --

१- शैव साधना का वर्णन करते हुए सूर दास कहते हैं -

'अपनी भक्ति देहु भगवान।
कोटि लालच जो दिखावहु नाहिं नै रुचि आन ।।
जरत ज्वाला ,गिरत गिरि तैं , सुकर काटत सीस।
देखि साहस, सकुच मानत राखि सकत न ईस ।।
कामना करि कोटि कबहूं करत कर पसुघात।
सिंह सावक जात गृह तजि, इन्द्र अधिक डरात।
जा दिना तैं जन्म पायौ यहै मेरी रीति।[1]

१-'सूरसागर' ना०प्र०स० १०६

अर्थात् ` हे ईश्वर अब मुझे कुछ भी नहीं चाहिए, केवल अब मुझे आप की भक्ति ही चाहिए । अगर आप मुझे असंख्य लालच दिलावे फिर भी मैं उस लालच में नहीं पड़ सकता । इस संसाररूपी माया वैभव से अब ऊब सा गया हूं । माया ही मेरे तन को जला रही है । जब मैंने जन्म लिया तब से अब तक नाना प्रकार के उलटे सीधे कार्य करता आ रहा हूं जैसे पशुओं को काटना, यज्ञ करना ,बलिदान चढ़ाना ,पंचाग्नि में तपना, अपने हाथ से सिर महादेव के चरणों में चढ़ाना ,पर्वत से गिरना और इन कार्यों से इन्द्र को भी शंकित करना, पर अब नहीं, अब इनमें से कुछ भी नहीं चाहिए केवल आपकी भक्ति ।

शिवसाधना का यह दूसरा पद सूर को शैव मत की ओर विशेष रूप से आकर्षित करता है --

`अब या तनहिं राखि का कीजै ।
सुन री सखी स्याम सुन्दर बिनि बिनु कोटि विषय विष पीजै ।।
कै गिरियै गिरि चढ़ि कै सजनी, कै स्वकर सीस सिव दीजै ।।[1]

निर्गुण भक्ति के प्रभाव का संकेत सूर के निम्नलिखित पदों में स्पष्ट रूप से मिलता है --

`जहां अभिमान तहां मैं नाहीं, यह भोजन विष लागै ।
सत्य पुरुष घट में ही बैठे, अभिमानी को त्यागै ।[2]।१३२।

\+ \+

जौ लौं सत स्वरूप नहिं सूझत ।
तौ लौ मृग मद नाभि बिसारै फिरत सकल बन बूझत ।[3]।२५।।

\+ \+

अपुनपौ आपुन ही बिसर्यौ ।
जैसे स्वान कांच मन्दिर में भ्रमि भ्रमि भूसि मर्यौ ।।

१-`भ्रमर गीत सार` पृ० २६५ (ना०प्र०सं० ३९८०)

२-`सूरसागर` पृ० २०(ना०प्र०स० ३४४)

३- वही : द्वितीय स्कन्ध (ना०प्र०स० ३६८)

हरि सौरभ मृग नाभि बसत है , द्रुम तृण सूंघि मर्‌यौ ।
ज्यौं सपने मैं रंक भूप भयौ, तस्कर अरि पकर्‌यौ ।।
ज्यौं केहरि प्रतिबिम्ब देखिके आपुन कूप पर्‌यौ ।
ऐसै गज लखि फटिक सिला मैं दसननि जाइ अर्‌यौ ।।
मर्कट मूठि छोड़ि नहिं दीनी, घर घर द्वार फिर्‌यौ ।
सूरदास नलिनी कौ सुअटा कहि कौनै जकर्‌यौ ।। २६[1]।।

कबीर ,तुलसी एवं सूर :-

सूर के उपर्युक्त निर्गुण सम्बन्धी पदों को देखने से यह स्पष्ट होता है कि जिस प्रकार संत,कबीर आदि प्रभु को बाहर ढूंढना व्यर्थ समझते हैं उनके मत में बाहर के पट बन्द करके आन्तरिक पट खोलने से ही आत्म-दर्शन होता है । उसी प्रकार सूर भी कहते हैं -

`अपुनपौ आपुन ही मैं पायौ ।
शब्दहिं शब्द भयौ उजियारौ सतगुरु भेद बतायौ ।।
सपने माहिं नारि कौं भ्रम भयौ बालक कहूं हिरायौ ।
जागि लख्यौ ज्यौं कौ त्यौं ही है ना कहूं गयौ न आयौ ।
सूरदास समुझै को यह गति मन ही मन मुसकायौ ।
कहि न जाइ या सुख की महिमा ज्यौं गूंगै गुर खायौ ।।१२[2]।।

अर्थात् उपर्युक्त पद मैं सूरदास ने आत्म-तत्व के साक्षात्कार के लिए बाहर प्रयास करना निरर्थक बताया है । कबीरदास आदि निर्गुण सम्प्रदाय के संत भी प्रभु को बाहर ढूंढना व्यर्थ समझते हैं । उनके दृष्टिकोण मैं बाहर के पट बंद करके अन्दर पट खोलने से ही आत्म-दर्शन होता है ।कबीरदास जी भी कहते हैं --

---

१-`सूरसागर` द्वितीय स्कन्ध (ना०प्र०सभा ३६६)

२- वही पृ० ५१(ना०प्र०स० ४०७)

३-`[illegible]

'तेरा साईं तुझ में, ज्यों पुहुपन में बास ।
कस्तूरी का मिरग ज्यों, फिर फिर ढूंढे घास ।।

+ +

जा करन जग ढूंढिया , सो तो घट ही मांहि।
परदा दीया भरम का , ताते सूझै नाहिं ।।

+ +

समझै तो घर में रहे, परदा पलक लगाय ।
तेरा साहब तुझ में, अनत कहूं मत जाय ।।

+ +

ज्यों नैनन में पुतरी , त्यों खालिक घट माहिं ।
मूरख प्रेम न जानहीं , बाहर ढूंढन जाहिं ।।

इसी आत्म-दर्शन पर झुंफला कर तुलसी ने भी कहा था-

'अन्तर्जामिहु तें बड़ बाहिर जामि हैं राम जे नाम लिये तें'।
पैज परे प्रह्लादहु को प्रकटे प्रभु पाहन तें न हिये तें ।।
(कवितावली)

लेकिन सूर अन्तरज्ञान एवं साधना से पूर्ण रूप से प्रभावित हो चुके थे । उपर्युक्त उद्धृत पंक्तियों में सत्यपुरुष,घट,सतस्वरूप,सदगुर आदि शब्द निश्चित रूप से उसी साधना का प्रभाव प्रकट कर रहे हैं । कबीर ने भी इन्हीं शब्दों का प्रयोग अपने काव्य में किया है ।

कबीर की भांति पंडितों को संबोधित करते हुए सूर नैककथ कथा का भेद इस प्रकार बताया है --

' देखि सखि तीस भानु इकठौर ।
ता ऊपर चालीस विराजत रुचि न रही कछु और ।।

१- कबीर साखी

धर तैं गगन, गगन तैं धरती, ता बिच कियौ विस्तार ।
गुन निर्गुन सागर की सौमा, बिनु रवि भयौ भिनुसार ।।
कौटिनि कौटि तरंगिनि उपजति जोग जुगति चित लाउ।
सूरदास प्रभु अकथ-कथा कौ, पंडित भेद बताउ ।।३०८७।।

अत: अकथ कथा मैं इस निर्गुण-सागर की शौभा और सूर्य के बिना ही प्रभात होना बताया गया है ।

भक्ति मैं सर्वप्रथम सेवा की भावना जागृत होना स्वाभाविक है । `परमात्मा मैं प्रभु है ,स्वामी है, रक्षाक है, इष्टदेव है मैं उसका सेवक हूं, दास हूं, उपासक हूं। मेरे पास जो कुछ है, उसी का दिया हुआ है और उन वस्तुओं का सर्वश्रेष्ठ उपयोग भी यही है कि उसे प्रभु की सेवा में ही लगा दें । उसी के चरणों में अर्पित कर दिया जाय । इस भावना से व्यग्र हो कर सेवक(भक्त) स्वामी (इष्टदेव) की सेवा में अपने सर्वस्व की आहुति देने के लिए बाध्य हो उठता है । दास्य भक्ति इसीलिए भक्ति की भूमिका में सर्वप्रथम स्थान पाती है ।प्रभु की समीपता का अनुभव, वे मुझे प्रतिक्षण, प्रतिपल एवं प्रत्येक स्थान मैं देख रहे हैं-- इस भाव का पग-पग पर ध्यान, कहीं मैं उनके प्रतिकूल किसी प्रकार का कार्य न कर बैठूं इस भावना के लिये सदैव जागरूक बन कर आलौचना करना भक्त को ऐसी अवस्था मैं ले जाता है, जिसमें वह अपने इष्टदेव को सदैव प्रसन्नचित रखे । इस प्रकार धीरे धीरे भक्त अपने इष्टदेव की सेवा करके भगवान के परिवार का एक सदस्य बन बैठता है ।और अन्त मैं भक्त भगवान के साथ आत्मीयता का अनुभव करने लगता है । प्रभु ही उसके पिता हैं । वही विधाताहै है, माता व बंधु है । भक्त उनका पुत्र, अनुज , आत्मज है ।दास्य भक्ति की दूरी इस प्रकार के सम्बन्ध के अनुभव से दूर हो जाती है। दाम्पत्य भावना मैं यह दूरी और भी अधिक दूर हो जाती है । महात्मा सूरदास ने वात्सल्य रस का वर्णन सर्वश्रेष्ठ मात्रा मैं किया है । उन्होंने जन्य जनक सम्बन्ध को उलट कर प्रभु को पुत्र-रूप मैं अनुभव करने की शक्ति बताई है ।

पहले यह बताया गया है कि आचार्य वल्लभ से सम्बन्ध होने से पूर्व सूर दास केवल प्रभु भक्ति के भजन बना कर गाया करते थे। वे स्वं साधु थे और अन्य व्यक्तियों को भी सन्यास की दीक्षा दिया करते थे ।इस समय इन्होंने जितने

गीत बनाये वे सब दास्य-भक्ति सम्बन्धी गीत थे। इन गीतों तथा पदों में सूर के हृदय की व्याकुलता की अभिव्यक्ति होती है। दास्यभाव में सेवक प्रभु का स्मरण पल-पल में करता है। सूरदास हरिस्मरण को किसी भी अवस्था में नहीं भुलाते। भक्ति के मार्ग में जितनी प्रकार की बाधायें आ सकती है उन सब बाधाओं से भीसूरदास पूर्ण रूपेण परिचित हैं। हरि स्मरण में नाम-जप अत्यन्त लाभकारी है।नाम के साथ प्रभु के गुणों का कीर्तन, कथाओं का श्रवण (मूर्तिपूजा के पाद-सेवन, अर्चन और वन्दन भी इसी के अन्तर्गत आ जाते है) आदि करना भी भक्त को प्रभु सेवा का धनी बना देते हैं। महात्मा सूरदास ने अनेक पदों में नाम-जप के महत्व को प्रकट किया है:।सूरदास लिखते हैं:-

" जो घट अन्तर हरि सुमिरै।
ताको काल रूठि का करिहै, जो चित चरन धरै।
कोपि तात प्रह्लाद भगत को, नामहिं लेत जरै।
खंभ फारि नरसिंह प्रकट ह्वै,असुर के प्रान हरै।
सहस्र बरस गजयुद्ध करत भये ,छिन एक ध्यान धरै।
चक्र धरै बैकुण्ठ ते धाये , वाकी पैज सरै।" ८२

अर्थात प्रभु की जो भक्ति करता है सदैव हरि स्मरण में अपने चित्त को लगाये रहता है उसके पास मृत्यु भी नहीं आती है अर्थात मृत्यु के ऊपर भी वह भक्त विजय पा लेता है। प्रभु की कृपा से भक्त निडर एवं अजर अमर हो जाता है।प्रह्लाद गजोद्धार, अजामिल आदि की कथायें प्रकारान्तर से भगवान के गुणों का स्मरण करती आ रही है।

नाम-जाप की प्रधानता इसी से सिद्ध हो जाती है कि' सूरसागर ' के प्राय: सभी स्कन्धों के आदि,अन्त या मध्य में " हरि हरि हरि हरि सुमिरन करौ" " हरि चरनाबिंद उर धरौ।" जैसी पंक्तियां प्राप्त होती है।" बड़ी है राम- नाम की ओट' भरोसो नाम को भारी'' हरि नाम को आधार' आदि।

भक्ति-क्षेत्र की अन्तिम सीमा सख्य भाव में परिणित हो जाती है। जीव उस ईश्वर का शश्वत सखा रूप बन जाता है। उसी लीला में भाग लेने वाला एक

आश्चर्यजनक खिलाड़ी है, उसके अन्दर न तो दासत्व भावना रहती है, न पुत्र का संकेत और न पत्नी का आधीन भाव । वह इन सब सांसारिक मर्यादाओं से ऊपर उठ जाता है और अपने को सखा रूप में देखने लगता है । सख्य भाव में भक्त अपने को भगवान की तरह ही अनुभव करने लगता है । यह स्थिति सभी नहीं पा सकते है । असाधारण साधक का तो वहा तक पहुंचना ही असंभव है ।इस स्थिति पर सूर ऐसे महात्मा ही पहुंच सकते है तथा उसका वर्णन कर सकते है ।

सूर- दर्शन :- सूरदास जी ने अपने जीवन के अन्तिम वर्ष आचार्य वल्लभ के साथ बिताये तथा उनके अद्वैतवाद अथवा शुद्धाद्वैतवाद का अनुसरण किया । दार्शनिक क्षेत्र में आचार्य वल्लभाचार्य का मत शुद्धाद्वैतवाद के नाम से प्रसिद्ध है । शंकराचार्य ने ब्रह्म को निर्गुण और माया से उपहित होने के कारण सगुण कहा है ,पर वल्लभाचार्य के मतानुसार ब्रह्म माया के कारण नहीं, वरन् वह अपने स्वत: रूप से ही सगुण है । ब्रह्म और जगत एक ही है । बर्फ जैसे पिघल कर पानी बन जाता है यद्यपि बर्फ पानी से ही बना है । उसी प्रकार जगत भी ब्रह्म से निकल कर फिर ब्रह्म में मिल जाता है । ब्रह्म जगत का निमित्त और उपादान दोनो ही है कारण है । इसी कारण इसे अविकृत परिणामवाद भी कहा जाता है । चिनगारी के सदृश्य जीव ब्रह्म से निकलता है ।[1] ये जीव अनन्त हैं और भिन्न भिन्न है ।[2] अत: सूरदास की काव्य रचनाओं को देखते हुये यह स्पष्ट विदित होता है कि उनकी रचनाओं में आचार्य वल्लभाचार्य जी के इस शुद्धाद्वैतवाद का प्रभाव पूर्णरूपेण पड़ा है ।

सूर दास तथा उनके ब्रह्म सम्बन्धी विचार :-

सूरदास जी के इष्टदेव श्री कृष्ण है । सूरदास के अनुसार श्री कृष्ण इस सम्पूर्ण सृष्टि के आदि है । श्री कृष्ण अनेक रूप है । वे आदि, अनादि

१- विस्फुलिंगा इवाग्नेस्तु । तत्वदीप निबन्ध, शास्त्रार्थ प्रकरण ।

२- तस्मा ज्जीवा पुष्टि मार्गे भिन्न एवं न संशय:।।१२।। पुष्टि प्रवाह मर्यादा ।

है, तथा कण- कण में सर्वव्यापी है । श्री कृष्ण अनेक रूपों में अपने को धारण करते हैं । वह जीव रूप में और जगत रूप दोनों में प्रकट होते हैं । कभी कभी देवता रूप में भी प्रकट हो जाते हैं । इस प्रकार जैसा कि वल्लभ सिद्धान्त में ब्रह्म अंशी है उसी प्रकार सूर का परब्रह्म भी अंशी है । सूर के इष्टदेव श्री कृष्ण सगुण और निर्गुण दोनों रूप में है जैसा कि सूर ने इस पद में कहा है--

* सोभा अमित अपार अखंडित आप आत्माराम ।
पूरन ब्रह्म प्रकट पुरुषोत्तम सब विधि पूरन काम ।
आदि सनातन एक अनूपम अविगत अल्प अहार ।
ऊंकार आदि वेद असुरहन निर्गुन सगुन अपार ।

अत: सूर के ब्रह्म आदि अनन्त हैं, जगत में व्यापमान है तथा उनका निर्गुण दोनों रूप है ।

श्री कृष्ण अखण्ड रस-रूप से अपनी रस-शक्ति राधा के साथ युगलरूप में सदैव विहार करते हैं । ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव वे ही हैं, तथा ये इष्टदेव श्री कृष्ण के विभिन्न रूप है । ये सम्पूर्ण रूप उन्हीं से अंश-रूप बन कर प्रसूत हैं । निर्गुन भक्ति के रास्ते में अनेक बाधाओं के आने की संभावना रहती है, और भक्त अपने मन और वाणी को उस निर्गुण ब्रह्म तक पहुंचाने में असमर्थ होता है, इसलिये सूरदास ने उनके सगुण रूप की लीला का गुणगान करना आध्यात्मिक सिद्धि का साधन माना है । इन उपर्युक्त विचारों के अनेकों पद सूर रचित सूरसागर में मिलते हैं । ईश्वर-सम्बन्धी, आध्यात्मिक निर्गुण पद जिसमें सूर ने ब्रह्म को सगुण, आदि अनन्त, जीव जगत, सभी को बनाने वाला माना है । निम्न पद में चित्रित है:-

* वृन्दावन निजधाम परम रुचि, वर्णन कियौ बढ़ाय ।
व्यास पुराण सघन कुंजन में जब सनकादिक आय ।
धीर समीर बहत च्यहि कानन बोलत मधुकर मोर ।
प्रीतम प्रिया वदन अवलोकन उठि उठि मिलत चकोर ।
सहस रूप बहु रूप रूप पुनि एक रूप पुनि दोय ।

कुमुद कली विकसित अम्बुज मिलि मधुकर मागी सोय ।[1]

'गोवर्द्धन गिरि रत्न सिंहासन दम्पति रस सुख मान ।
निविड़ कुंज जहं कोउ न आवत रस विलसत सुख खान ।।'

इस पद में सूर दास ने वल्लभ सिद्धान्तों का पूर्णरूपेण विवेचन किया है । ब्रह्म के विषय में वल्लभ सम्प्रदाय का जो मत एवं सिद्धान्त है उसका विवेचन सूर ने स्पष्ट रूप से उपर्युक्त पद में किया है । ब्रह्म को सगुण और निर्गुण दोनों रूप देकर सूर ने ब्रह्म के विरुद्ध धर्मत्व के भाव को स्वीकार किया है । जैसाकि पहले कहा जा चुका है सूर के ब्रह्म सगुण रूप में युगल रूप से नित्य रास-विहार करते हैं । इनका सौन्दर्य असाधारण है तथा अनेक रूप वाले हैं । सूर के इस पद से उनके ब्रह्म का पूर्ण ज्ञान हो जाता है :-

'सदा एक रस एक अखंडित आदि अनादि अनूप ।
कोटि कल्प बीतत नहिं जानत विहरत युगल स्वरूप ।।
सकल तत्व ब्रह्मांड देव पुनि माया सब विधि काल ।
प्रकृति पुरूष श्रीपति नारायन सब है अंश गुपाल ।।'[2]

इस एक प्रकार सूर ने ब्रह्म प्रकृति पुरूष आदि की अद्वैतता स्वीकार की है । और परब्रह्म तथा श्रीकृष्ण को एक माना है । अत: श्रीकृष्ण ही परब्रह्म हैं , रस रूप हैं, अखंडित, अनादि, अनुपम हैं । सृष्टि के कर्ता भी वही हैं । उसके पहले और कुछ भी नहीं था ।

वल्लभ सम्प्रदाय तथा सूर ने भी सृष्टि के २८ तत्व माने हैं । ब्रह्मांड सम्पूर्ण देवता, माया, प्रकृति तथा आदि पुरूष श्रीपति लक्ष्मीनारायण ये सब कृष्ण के ही अंश हैं । ब्रह्म ने अपनी इच्छा शक्ति से अंश रूप में सृष्टि का प्रसार किया है । सूर कहते हैं--

---

१- सूर- सारावली, सूरसागर, वें० प्रे० पृ० ३४
२-वही वही पृ० ३८ ।

अविगत आदि अनन्त अनूपम, अलख पुरुष अविनासी ।
पूरन ब्रह्म प्रकट पुरुषोत्तम नित निज लोक बिलासी ।।
जहं वृन्दावन आदि अजिर जहां कुंज-लता विस्तार ।
तहं विहरत प्रिय -प्रीतम दोऊ निगम भृंग गुंजार ।।
जहं गोवर्द्धन पर्वत मनि मय सघन कन्दरा सार ।
गोपिन मंडल मध्य विराजत निसि दिन करत विहार ।।
खेलत खेलत चित में आई सृष्टि करन विस्तार ।
अपने आप करि प्रकट कियौ है हरि-पुरुष अवतार[१] ।।`

अर्थात् सूरदास जी के अनुसार मर्यादा पुरुषोत्तम ब्रह्म ने अपनी इच्छानुसार सृष्टि की रचना की है और इस सृष्टि में अपनी इच्छानुसार राधा और गोपियों के संग नित्य रास करते रहते हैं । इसी आदि सृष्टि का मर्यादा पुरुषोत्तम ने `चित में आई सृष्टि करन विस्तार` अर्थात् उसका विस्तार किया जिसका अन्त में नाम सृष्टि पड़ा। इन्हीं से इस सृष्टि का अवतार हुआ है । इस प्रकार सूर के इन सिद्धान्तों और विचारों में शंकराचार्य के प्रतिबिम्बवाद का लेश मात्र का भी आभास नहीं मिलता। जिस ब्रह्म ब का सगुण और निर्गुण दोनों रूप है । अर्थात् जो ब्रह्म सगुण ,निर्गुण दोनों रूप धारण कर सकता है वही इस संसार में अवतार भी ले सकता है । इस भाव का स्पष्टीकरण देने के लिए सूर ने अनेकों पद लिखे हैं । इनमें से कुछ पद नीचे दिए जा रहे हैं --

`वेद उपनिषद् यश कहैं निर्गुनहिं बतावैं`।
सोइ सगुन होय नन्द की दावरी बधावैं[२] ।।

+ +

ब्रह्म अगोचर मन बानी ते अगम अनन्त प्रभाव ।
भक्तन हित अवतार ब धारि जो करि लीला संसार[३] ।

१- सूरसारावली-सूरसागर, वे०प्रे० पृ० २
२- वही वही प्रथम स्कन्ध, पृ० २
३- सूरसागर द्वितीय स्कन्ध वे०प्रे० पृ० ३६

गोविन्द तेरोई स्वरूप निगम नैति-नैति गावै ।
भक्त के वश स्यामसुन्दर देह धरे आवै ।।[१]

+ +

इस प्रकार वल्लभ सम्प्रदाय के अनुसार सूर ने श्रीकृष्ण को ही परब्रह्म माना है । जैसा कि पहले बताया जा चुका है ब्रह्म ,विष्णु, महेश तथा चौबीस लीला अवतार ये कृष्ण के ही रूप माने हैं । इस भाव को सूर ने अपनी रचना 'साहित्य-लहरी' (जो कि वेंकटेश्वर प्रेस से निकली है) के द्वितीय पृष्ठ के पदों में दिया है । तथा 'सूरसागर' के द्वितीय स्कन्ध में अनेकों पद इस भाव को स्पष्ट करते हैं ।

'सूर-सारावली' के निम्न पद में सूर कहते हैं --

'अपने अंस आप हरि प्रगटे पुरुषोत्तम निज रूप ।
नारायण भुव भार हर्यो है, अति आनन्द स्वरूप ।।[२]

अर्थात् पुरुषोत्तम ब्रह्म कृष्ण अवतार में श्रीकृष्ण के रूप में इस भव बाधा को दूर करने के लिए अवतरित हुए ।

इसके अतिरिक्त श्रीकृष्ण ने विष्णु अवतार लेकर धर्म संस्थापन और दैत्यों का नाश किया ।

'जब जब हरि माया ते दानव प्रकट भये हैं आय ।
तब तब धरि अवतार कृष्ण ने कीन्हों असुर संहार ।।[३]

सूरसागर के दशम स्कन्ध में सूर ने कृष्ण के अन्तर्यामी स्वरूप और उनके विराट रूप का वर्णन विस्तारपूर्वक किया है ।

१- सूरसागर- कि वे०प्रे० दशम स्कन्ध , पृ० १४७
२- सूरसारावली - सूरसागर, वे० प्रे० पृ० ६
३- वही वही वही पृ० २

'परम हंस तुम सब के हंस , बचन तुम्हारे स्तुति जगदीस ।
तुम अच्युत अविगत अविनासी ,परमानन्द सदा सुख रासी।।
तुम मनु तनु धारी हर्यो भू-भार,नमो नमो तुहिं बार बार। [१]

इस प्रकार सूर ने अपने इष्ट देव की स्थान-स्थान पर स्तुति की है जो कि वल्लभ सम्प्रदाय के सिद्धान्तों के अनुकूल ही है ।

सूर की अपने इष्टदेव श्रीकृष्ण के प्रति अनन्य भक्ति है , पर साथ ही साथ इन्होंने राम की भी स्तुति कई पदों में की है । और रामावतार की लीलाओं का भी वर्णन 'सूरसागर' के नवम स्कन्ध में बहुत ही मार्मिक रूप में मिलता है। राम की स्तुति करते हुए सूर कहते हैं :-

' रामहि राम पढ़ो रे भाई , रामहिं जहं तहं होत सहाई । [२]

परन्तु राम की स्तुति , गोपियों के मुख से शिव की स्तुति आदि जो सूर ने कराई है वह सब रूप कृष्ण का ही सूरदास मानते हैं । हरि राम ,गोविन्द आदि सूर के लिए कृष्ण का ही स्वरूप है । अत: उन सभी की स्तुति करना कृष्ण की ही स्तुति करना है ।

१- सूरसागर, दशम स्कन्ध , उत्तरार्द्ध ,वे०प्रे० पृ० ५६४

२- वही वे० प्रे० सप्तम स्कन्ध पृ० ५८

सूर की दृष्टि में जीव

आचार्य शंकराचार्य के दार्शनिक मत के विरुद्ध आचार्य वल्लभाचार्य के दार्शनिक सिद्धान्त बिल्कुल ही भिन्न है। वल्लभाचार्य ने जीव को सत्य माना है क्योंकि वह ब्रह्म का चिदंश है। ईश्वर जीव का सम्बन्ध अंशी और अंश का है। सूरदास ने भी इसी सिद्धान्त को माना है। अत: ईश्वर अथवा ब्रह्म के विषय में सूर ने बहुत अधिक मात्रा में पद लिखे हैं लेकिन जीव के विषय में उन्होंने विस्तार से विवेचन नहीं किया है। परन्तु उनके पदों से ईश्वर जीव सम्बन्ध जीव-स्वरूप और जीव की शक्ति सामर्थ्य के विषय में अधिक परिचय मिल जाता है। सूरदास ने अपने एक पद में जीव के स्वरूप का परिचय निम्न रूप में दिया है -

'जिय करि कर्म जन्म बहु पावै। फिरत फिरत बहुतै श्रम आवै ।।
तनु स्थूल अरु दूबर होइ। परमातम को ऐनहिं दोइ ।।
तनु मिथ्या क्षण भंगुर मानो। चेतन जीव सदा चिर जानो।।
जीवको सुख दुख तनु संग होई। और विकार तन के संग सोई।।
देह अभिमानी जीवहिं जाने। ज्ञानी जीव अलिप्त करि मानै ।।
जीव कर्म करि बहु तनु पावै। अज्ञानी तिहिं देखि भुलावै ।।
ज्ञानी सदा एकरस जाने। तन के भेद भेद नहिं माने ।।
आत्म अजन्म सदा अविनासी। ताको देह-मोह बड़फांसी ।।[१]

इस पद में स्पष्ट रूप से यह भाषित होता है कि सूर ने जीव को शरीर से विभिन्न माना है। शरीर तो स्थूल है और आयु के अनुसार परिवर्तित होता रहता है परन्तु जीवात्मा सदैव एकरस बनी रहती है। शरीर नश्वर है, जीवात्मा अनश्वर, जीवात्मा कर्म करने वाली होती है। अज्ञानता के कारण जीव इन शरीर(योनियाँ) को देख कर भ्रम यानी माया जाल में पड़ जाता है। और इन विभिन्न रूपों (योनियों)को आत्मा समझ बैठता है। परन्तु ज्ञानी पुरुष ऐसा नहीं समझता।

१- सूरसागर, षष्ठ स्कन्ध, वे०प्रे० पृ० ५४
तथा
सूरसागर, पंचम स्कन्ध, पद संख्या ४ (चार)

वह आत्मा को शरीर से पृथक् अनुभव करता है । इस प्रकार सूर का जीवात्मा को इस स्वरूप में वर्णन करना वेद, उपनिषद् और श्रीमद्भागवत के अनुसार है। गीता के शब्दों में ` ममैवांशो जीव लोके जीव भूत: सनातन:` -ब्रह्म का सनातन अंश और उसका सेवक है । जीव अणु रूप है, विष्णु विभु रूप । जीव की शक्तियां सीमित हैं, ब्रह्म की असीम । इस प्रकार आचार्य वल्लभ ने ३-३-२६ के `अणुभाष्य` पृ० १०५३ पर जीव और ब्रह्म का भेद इस प्रकार प्रकट किया है-` भगवदानन्दादी नाम् पूर्णत्वात् जीवानन्दादीनाम् अल्पत्वात् नाम्नैव समै: धर्मै:कृत्वा ब्रह्मसाम्यम् जीव उपवर्ण्यते।साम्यमुपैति इति । वस्तुतस्तु न एतैरपि धर्मै: साम्यम् इति भाव:।` इसी सिद्धान्त से प्रभावित होकर सूर ने जीव को आत्मा से पृथक् माना है ।

जीव और ईश्वर की अद्वैतता का भाव सूर ने कई स्थानों पर बताया है। सूर का यह पद इसी भाव का है -

`सहस रूप बहुरूप रूप पुनि एक रूप पुनि दोय।[१]

उसी एक रूप से ब्रह्म अपना सहस्र रूप धारण करता है लेकिन फिर एक हो जाता है । इस प्रकार ब्रह्म की सत्ता को स्वीकार करते हुए सूर ने अनेक रूप बताये हैं। अन्त में वह समस्त रूप एक ही में समा जाते हैं । सूर का यह दूसरा पद भी इसी भाव को व्यक्त करता है :-

`पहले हौं ही हौं तब एक ।
अमल अकल अज भेद विवर्जित सुनि विधि विमल विवेक ।
सो हौं एक अनेक भांति करि शोभित नाना भेष ।
ता पाछे इन गुननि गाए ते हौं रहि हौं अवशेष ।[२]

वल्लभसम्प्रदाय के अनुसार जीव की उत्पत्ति ब्रह्म से हुई है । सूरदास ने भी जीव को भगवान कीचेतन शक्ति का स्वरूप माना है । सूर का यह पद देखिए-

---

१- सूरसारावली, सूरसागर, वें०प्रे०पृ० ३४
२- सूरसागर, द्वितीय स्कन्ध,वें०प्रे० पृ० ३६

'कर्मद कह्यौ तिन्हैं सिर नाईं, आज्ञा होई करौं तप जाईं ।
अभय अभेद रूप मन जान, जो सब घट है एक समान ।
मिथ्या तन कौ मोह बिसारि, जाइ रहैगी भावै गृह दारि।
करत इंद्रियनि चेतन जोई, मम स्वरूप जानौ तुम सोई ।'[1]

सृष्टि का प्रसार, सम्पूर्ण तत्व, पुरुष, लक्ष्मीनारायण, जीव आदि सूर के अनुसार ये सभी कृष्ण के अंश हैं । जैसा कि पहले कहा जा चुका है सूर ने इस कथन से ईश्वर और जीव के अंशी-अंश सम्बन्ध का समर्थन किया है । जीव इस संसार के मायारूपी जाल में फंस कर अपने सत्य स्वरूप को भुला बैठता है । जब जीव इस माया-जाल में पड़ जाता है तब वह यह भी भूल जाता है कि उसकी आत्मा में स्थिति ब्रह्म भी है । घट-घट में अन्तर्यामी स्वरूप से भी अनभिज्ञ रहता है । अज्ञानता में वह यह भी भूल जाता है कि वह ब्रह्म का अंश रूप है । जीव की इस विस्मृति दशा का वर्णन सूर ने अपने कई पदों में बड़े ही मार्मिक ढंग से किया है इनका यह पद इस भाव को बताता है ---

'अपुनपौ आपुन ही बिसर्यौ ।
जैसे स्वान कांच मन्दिर मैं भ्रमि भ्रमि भूसि मर्यौ ।
ज्यौं सपने मैं रंक भूप भयौ तस्कर अरि पकर्यौ ।
ज्यौं केहरि प्रतिबिम्ब देखि कै आपुन कूप पर्यौ।
जैसे गज लखि फटिक सिला मैं दसननि जाय अर्यौ ।।'[2]

जिस प्रकार अपने नाभि में स्थित कस्तूरी को कस्तूरी-मृग भूल जाता है और इधर उधर उसको ढूंढता रहता है ।उसी प्रकार अज्ञानता में अर्थात् संसाररूपी माया जाल में जीव पड़ कर अपने सत्य रूप को भूल जाता है । जिस स्वप्न संसार में मनुष्य अपनी जागृत अवस्था की वास्तविक स्थिति भूल जाता है वैसी ही दशा इस जीव की हो जाती है जब वह इस संसार की माया में पड़ता है।

१- सूरसागर, तृतीय स्कन्ध पृ० ४१
२- सूरसागर, द्वितीय स्कन्ध, वे०प्रे० पृ० ३८

आचार्य शंकराचार्य का भ्रमवाद और प्रतिबिम्बवाद भी इसी मत का समर्थन करता है इससे सूर के इस पद पर बहुत लोगों का यह मत है कि सूर शंकर के भ्रमवाद का समर्थन करते थे। परन्तु यह तर्क उचित नहीं जान पड़ता क्योंकि शंकराचार्य के मतानुसार जीव स्वयं ब्रह्म है। वह अपने आप में सत्यं सुन्दरम् का अनुभव करता है। वह माया में पड़ कर उसी माया में अपने ही प्रतिबिम्बरूप का विभिन्न रूप देखता है। अत: वह अपने में अपने सत्य स्वरूप को नहीं जानता। शंकर के मायावाद के अनुसार जीव संसार में आकर मायारूपी भ्रम में पड़ जाता है, जब वह माया के पर्दे को हटा लेता है तब अपने सच्चे रूप को जान लेता है, और वह फिर ब्रह्म ही हो जाता है। सूर के उपर्युक्त पद में भी इसी प्रकार का भाव निकाला जा सकता है, परन्तु वास्तव में सूर के अन्य पद और कथनों को मिलाने पर तथा वल्लभ के सिद्धान्त को ध्यान में रखने पर यह ज्ञात होगा कि वास्तव में सूर पर शंकर का प्रभाव नहीं था। ऐसे पद वल्लभ-सिद्धान्त के अनुसार ही है। सूर दास ने सूरसागर के द्वितीय स्कन्ध में इस भाव के अनेक पद दिये हैं, जिसमें की सूर के उपर्युक्त भाव वाले पद का सिद्धान्त वल्लभमत से पूर्णरूपेण प्रभावित है। अत: उपर्युक्त मत भेद उचित नहीं जान पड़ता। सूर दास कहते है :-

> "नैननि निरखि स्याम स्वरूप,
> रह्यौ घट घट व्यापि सोई ज्योतिरूप अनूप।"[१]

इस पद में घट घट में व्याप्त ईश्वर के अन्तर्यामी रूप को बताया है। जिसमें आकर जीव अपने को भूल बैठा है। माया के भ्रम से रचा हुआ यह जगत नहीं है बल्कि "प्रभु इच्छा रचना" है। सूर एवं वल्लभ सिद्धान्त के अनुसार माया ब्रह्म नहीं है वरन् ब्रह्म का अंश-रूप जीव माया के भ्रम में अपने आप पड़ा हुआ है। जीव और जगत में ईश्वर के चिद् और सत् अंश की सत्ता विद्यमान है। भेद केवल नाम और रूप का है। जैसा कि पहले यह बताया जा चुका है कि जीव इस संसार में आकर अविद्या या अज्ञान वश अपने को भ्रम में डाल देता है और अपने सत्यरूप

१- सूरसागर, द्वितीय स्कन्ध, वे० प्रे० पृ० ३८।

ईश्वरीय अंश रूप, को भूल भूल जाता है वह इन्द्रिय सुख को आत्मा का सुख समझने लगता है यही उसका अज्ञान है, स्वप्न है ।

जगत एवं संसार में अन्तर:- वल्लभ-सम्प्रदाय ने जगत को संसार से भिन्न माना है । जगत ब्रह्म का अंश-रूप और सत्य है ।संसार माया या अविद्या जन्य है, संसार झूठा है, मृगतृष्णा मात्र है । सूर ने भी इसी मत का समर्थन किया । उनके अनुसार भी जगत में स्थित जीव, संसार अथवा भ्रम में घुसकर अपने आप को भूल जाता है । इस संसार रूपी भ्रम के विषय में सूर दास इस पद में कहते हैं :-

" मर कट मूठि छांड़ि नहिं दीनी घर घर द्वार फिर्यो,
सूरदास नलिनी को सुवटा कहि कौन जकर्यो ।"[1]

जब मदारी बन्दर को पकड़ता है तब वह छोटे मुंह के बर्तन में रोटी या कुछ अनाज रख देता है । बन्दर उस नाज या रोटी को देखकर उस बर्तन के समीप आता है और अपना हाथ डालकर उसको निकालने कीकोशिश करता है मगर जब उसके हाथ में रोटी या नाज रहता है तब बर्तन का मुंह छोटा होने के कारण वह भरी मुट्ठी बाहर निकालने में असमर्थ हो जाता है मदारी झट से उसे पकड़ लेता है । और घर घर उसे नचाता फिरता है । यदि बन्दर अपने हाथ की मुट्ठी छोड़ देता तो खाली हाथ निकल आता परन्तु लोभ और भ्रम उसकी मुट्ठी नही खुलने देती इसी प्रकार चिड़िमार द्वारा लगाये हुये जाल पर तोता लोभ वश आकर बैठ जाता है और उसमें फंस जाता है, फिर चिड़िमार उसे पकड़ लेता है ।उसी प्रकार इस संसार रूपी भ्रम एवं अविद्या में जीव स्वयं फंसा है । उसे किसी अन्य ने नही फंसाया । स्वयं जीव ही इस संसार के भ्रम को रचता है और स्वयं उसमें फंस जाता है । जिस प्रकार मदारी का बन्दर और चिड़ियामार का तोता।

सूर ने इस भ्रम से छुटकारा पाने के का यत्न भी बताया है वह यह है कि जीव इस संसार रूपी अविद्या एवं भ्रम से तभी छुटकारा पा सकता है जब वह इस अज्ञानता को दूर करके ज्ञानी बने, योग करे, ईश्वर की भक्ति करे तभी वह अपने सत्यस्वरूप को पहचान सकता है ।वरना असंभव है ।

१-सूरसागर द्वितीय स्कन्ध वें० प्रे० पृ० ३८ ।

सूर ने जीव-ब्रह्म एकता, जीवात्मा और परमात्मा का प्रेम- सम्बन्ध नित्य बताया है। निम्नलिखित पद में यह भाव स्पष्ट हो जाता है:-

"समझि री नाहिन नई सगाई।

सुनि राधिके तोहिं माधौ सौं प्रीति सदा चलि आई[1]।।

युक्त पद में राधा जीव का प्रतीक है, माधव परमात्मा का। दोनों की सगाई (सम्बन्ध) सदैव से चली आई है। शुद्धाद्वैतवाद के सिद्धान्त के अनुसार जीव, ईश्वर और प्रकृति एक ही है। सूर भी इन तीनों को एकरस रूप मानते हैं, जिस प्रकार समुद्र से बूंद भिन्न नहीं है, बूंद और चिनगारी सत्य होते हुये भी समुद्र और अग्नि से भिन्न नहीं है उसी प्रकार जीव और प्रकृति सत्य होते हुये भी परमात्मा के अंश है। अत: तीनों एक है। इस संबन्ध में सूर ने अनेक पदों की रचना की उनमें से कुछ नीचे दिये जाते है:-

"प्रकृति पुरुष एकै करि जानहु बातनि भेद करायौ[2]।

\+ \+ \+ \+

"को माता, को पिता, बन्धु को यह तो भेंट भई[3]।"

\+ \+ \+ \+

ईश्वर ही जन्म लेकर जीव कहलाता है। इस सिद्धान्त को भी सूर ने माना है।

<u>सूर का जगत सम्बन्धी दृष्टिकोण</u> :-- आचार्य वल्लभ के अनुसार जगत या सृष्टि की उत्पत्ति ब्रह्म के इच्छानुसार हुई है। सूर ने सूरसागर में भी सृष्टि या जगत की

१- सूर सागर (ना० प्र० स०३४३४)

२- वही (ना० प्र० स० २३०६)

३- वही (ना० प्र०स० २२०६)

की उत्पत्ति का वर्णन किया है जो कि कि श्री मद् भागवत के आधार पर है। इसमें सृष्टि सम्बन्धी जितनी भी कथायें आई हैं सूर इस बात व को स्वीकार करते हैं कि यह कथा श्रीमद् भागवत से ली है। इस प्रकार के प्रसंग सूर सागर में कई स्थलों पर आये हैं। परन्तु इतना सत्य है कि वह भागवत जिसका अनुकरण सूर ने किया है वह श्री वल्लभाचार्य द्वारा रचित सुबोधिनी भागवत है। इसलिये भागवत मत को देते हुये सूर दास ने जो अपने साम्प्रदायिक विचार दिये हैं वह सुबोधिनी टीका के मतानुसार है। सृष्टि रचना के विषय में सूर सूरसारावली के आरम्भ में कहते हैं:-

अविगति आदि अनन्त अनूपम अलख पुरूष अविनासी।
पूर्ण ब्रह्म प्रकट पुरूषोत्तम नित नित लोक विलासी।
जहं वृन्दावन आदि अजिर जहं कुंजलता विस्तार।
तहं विहरत प्रिय प्रीतम दोऊ निगम भृंग गुंजार।
खेलत खेलत चित में आई सृष्टि करन विस्तार।
अपने आप करि प्रकट कियो है हरी पुरूष अवतार।
माया कियो क्षोभ बहुविधि करि काल पुरूष के संग।
राजस,तामस,सात्विक त्रय गुण प्रकृति पुरूष को संग।
कीन्हे तत्व प्रकट तेही क्षण सबै अष्ट और बीस।
तिनके नाम कहत कवि सूरज निर्गुण सब के ईश।[१]

अर्थात अविगत, आदि, अनन्त, अविनाशी, गुणातीत (निर्गुण) अनुपम पूर्ण ब्रह्म पुरूषोत्तम अपने वृन्दावन लोक में नित्य लीला में मग्न रहता है। एक बार उसे अपनी लीला के विस्तार की इच्छा हुई। उसी समय पूर्ण पुरूषोत्तम ने अपने आप को 'हरी पुरूष' रूप में स्थित किया। उससे काल पुरूष[२] की उत्पत्ति हुई।

१- सूर सागर सूरसारावली वे० प्रे० पृ० १।
२-नाथ,दत्तात्रेय,कबीर आदि पन्थों द्वारा प्रयुक्त ईश्वर विषयक कुछ शब्दों को, जैसे अलख पुरूष,अगम,निरंजन काल-पुरूष,पूर्ण पुरूष आदि, जो सूर के समय उत्तर भारत के धार्मिक वातावरण में प्रचलित थे,सूर ने भी अपनी रचनामें प्रयुक्त किया है। ये शब्द उक्त निर्गुण सम्प्रदायी धर्मों के अभिप्रेत भाव के द्योतक नहीं हैं। यहां पर काल पुरूष' का तात्पर्य ब्रह्म के अवतार काल,कर्म और स्वभाव रूपों में से 'काल पुरूष' के रूप से है।

भगवान की इच्छा-शक्ति-स्वरूपा माया ने काल-पुरुष के चित्त में क्षोभ पैदा किया जिससे तीन गुण (सत,रज,तम) और सत् अंश-स्वरूपा प्रकृति बने । तीन गुण,प्रकृति और पुरुष के मेल से सृष्टि का विस्तार हुआ और इस प्रकार सम्पूर्ण २८ तत्व सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न हुये[१]।

इस प्रकार डा० दीनदयाल गुप्त ने सूर का सिद्धान्त जो सृष्टि या जगत सम्बन्धी है वह श्री वल्लभाचार्य के सुबोधिनी भागवत के मतानुसार माना है । किन्तु डा० मुंशी राम शर्मा आदि अनेक विद्वान इस बात का समर्थन नहीं करते हैं डा० मुंशी राम शर्मा ने अपनी पुस्तक ' सूरदासऔर भगवद्भक्ति ' के पृ०सख्या १३६ में कहा है कि " आदि पुरुष चेतन और तीनों गुणों से रहित है । तथा माया जड़ और त्रिगुणात्मिका है । इसी माया से प्रथम महत्तत्व होता है । महत्तत्व से अहंकार प्रकट होता है,जो तीन प्रकार का है । (सूरदास ने यहां इन तीन प्रकारों का वर्णन नहीं किया है श्रीमद्भागवत, तृतीय स्कन्ध ,२६ वें अध्याय के १८ वें श्लोक के पश्चात् सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन है। यह वर्णन द्वितीय स्कन्ध के पांचवें अध्याय में भी है , और भी कई स्थलों पर है,जहां अहंकार को वैकारिक , तैजस और तामस तीन प्रकार का कहा गया है ।) वैकारिक अहंकार से सात और चार अर्थात ११(१मन और १० कथि अर्थात इन्द्रियों के अधिष्टातृ देवता) उत्पन्न हुये । तैजस अथवा राजसिक अहंकार से दश इन्द्रियां और तामस अहंकार से पंच तन्मात्राओं की उत्पत्ति हुई । पांच तन्मात्राओं से पृथ्वी जल, अग्नि,वायु,औरआकाश नाम के पांच महाभूत , प्रकट हुये ।(परन्तु अभी ये परस्पर संगठित नहीं थे । भगवान की प्रेरणा से इन सब ने संगठित हो व्यष्टि समष्टि रूप पिण्ड और ब्रह्मांड की रचना की ।) इनसे जो ब्रह्मांड रूपी अंडा बना, वह जड़ था । भगवान ने कृपा-पूर्वक उस अंड में अपनी शक्ति स्थापित की नर पशु आदि इन्द्रियों का विस्तार किया । इसी से १४ लोक उत्पन्न हुये । ज्ञानी पुरुष इसी को विराट कहते हैं ।" डा० मुंशी राम शर्मा इसी बात को प्रमाणिक सिद्ध करने के लिये सूर का पद जो इसी भाव का है निम्न प

१- अष्टछाप-वल्लभ-सम्प्रदाय,ले० डा० दीनदयाल गुप्त पृ० ४४२ ।

देते हैं -

' जो हरि करै सो होइ करता नाम हरी ।
ज्यौं दर्पण प्रतिबिम्ब त्यौं सब सृष्टि करी।
आदि निरंजन निराकार कोउ होत न दूसर।
रचौ सृष्टि विस्तार भई इच्छा इक अवसर ।
त्रिगुण तत्व से महातत्व महातत्व ते अहंकार।
मन इन्द्रिय शब्दादि पंची ताते किये विस्तार।
शब्दादिक ते पंच भूत सुन्दर प्रकटाये ।
पुनि सब को रचि अण्ड आप में आप समाये ।
तीन लोक निज देह में राखे करि विस्तार।
आदि पुरुष सोइ भयो जो प्रभु अगम अपार ।
नाभि कमल ते आदि पुरुष मो कौं प्रकटायौ ।
खोजत युग गये बीत नाल को अंत न पायौ ।
तिन मो सौं आज्ञा करी रचि सब सृष्टि उपाइ।
स्थावर जंगम ,सुर,असुर,रचे सबै मैं आइ ।।[1]

उपर्युक्त पद में अंड की उत्पत्ति तक का वर्णन पूर्व जैसा है । आदि में ~~निर्गुण~~ निर्गुण ब्रह्म है । उसके अन्दर सृष्टि -रचना की इच्छा हुई और त्रिगुणात्मिका प्रकृति से महत् अहंकार ,मन ,इन्द्रिय ,पंचतन्मात्रा और पंचमहाभूत बनाए गए ।इनसे ब्रह्मांड रूपी अण्डा बना । आदि पुरुष भगवान ने उसमें प्रवेश किया । तीनों लोक उसी के गर्भ में रहते हैं । आदि पुरुष की नाभि से कमल उत्पन्न हुआ । कमल से ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई । आदि पुरुष ने ब्रह्मा को सृष्टि रचना की आज्ञा दी और उसने स्थावर-जंगम ,सुर-असुरमयी सृष्टि का निर्माण किया ।ब्रह्मा की उत्पत्ति का यह क्रम भी श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कन्ध ,अध्याय २० तथा और भी कई स्थानों पर दिये हुए वर्णन के अनुसार है ।

१- सूरसागर, द्वितीय स्कन्ध, (ना०प्र०स० ३७६)

अतः यह कहना कि सूर का जगत सम्बन्धी मत केवल वल्लभाचार्य के सुबोधिनी भागवत के मतानुसार है, मिथ्या है । सूर के पदों को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि कई स्थलों पर अनेक उनके सृष्टि सम्बन्धी पद श्रीमद्भागवत के सिद्धान्तों का समर्थन करते हैं । जिस अंश का वर्णन सूर ने भागवत के आधार पर किया है उसी तरह के भाव मनुस्मृति ,अथर्ववेद,सांख्य आदि में भी पाए जाते हैं । अतएव अभी तक कोई ऐसी प्रामाणिकता सूर के सृष्टि सम्बन्धी मत में नहीं मिल पायी है जिससे यह कहा जा सके कि सूर का मत पूर्णरूपेण वल्लभाचार्य मत के अनुसार था • अथवा श्रीमद्भागवत के मतानुसार ।बल्कि इन दोनों मतों का प्रभाव इनके पदों में पर्याप्त मात्रा में मिलता है ।

सूर ने जगत के विषय में बताया है कि यह जगत् जीव , देव आदि समस्त वस्तुएं गोपाल के अंश हैं ।उनके इस पद से यह स्पष्ट हो जाता है कि--

'सकल तत्व ब्रह्मांड देव पुनि माया सब बिधि काल ।
प्रकृति पुरुष श्रीपति नारायण सब हैं अंश गुपाल ।।[१]

ब्रह्म के इस अंश रूप जगत की उत्पत्ति के विषय में सूर ने कई पद वल्लभ-सिद्धान्तों को मानते हुए अपने विचार स्पष्ट रूप से प्रकट किए हैं । सूर का निम्न पद इसी वल्लभ सिद्धान्त से मिलता है --

'तुम तुव मर्म समुझि नहिं पर्यो,
जग सिरजत ,पालत संहारत पुनि क्यों बहुरि कर्यो ।
ज्यों पानी में होत बुदबुदा ,पुनि ता माहिं समाही।
त्यों ही सब जग कुटुम्ब तुमहिं ते पुनि तुम माहिं बिलाही ।[२]

१- सूरसागर, सूरसारावली, वे०प्रे० पृ० ३८
२- सूरसागर , दशम स्कन्ध ,उत्तरार्द्ध , वे०प्रे० पृ० ५८५

अर्थात् जैसे पानी का बुदबुदा पानी से ही बनता है और फिर पानी में ही मिल जाता है उसी प्रकार इस जगत की सभी वस्तुएं तुमसे ही जन्म लेती हैं और अन्त में तुम्हीं में समा भी जाती हैं। इस में सूर ने वल्लभाचार्य के अविकृत परिणामवाद का समर्थन किया है।

इस प्रकार आगे चल कर सूर कहते हैं कि 'प्राकृत ले भए पुरुष जगत सब प्राकृत समाई'[1] पानी का परिणाम बुदबुदा है और फिर वह लौट कर पानी हो जाता है, उसी प्रकार यह जगत ब्रह्म के सत् अंश से उत्पन्न हुआ और फिर जब वह अपनी इच्छा से इस सृष्टि को समेटेगा तब वह उसी अंश में समा जायेगा। सूर का मत है --

'पहिलै हौं ही हौ तब एक,
अमल कमल अज भेद विवर्जित सुनि विधि विमल विवेक।
सो हौं एक अनेक भांति करि शोमित नाना भेष,
ता पाछे इन गुननि गार ते हौं रहि हौं अवशेष।'[2]

पहले केवल ब्रह्म ही था, वही एक ब्रह्म अनेक तरह से अनेक रूपों में शोभा दे रहा है। और अन्त में वही एक ब्रह्म अवशेष रह जायेगा। इस पद में सूरदास शंकर के केवलाद्वैत के अनुसार यह नहीं कहते कि एक माया ब्रह्म ही अनेक रूप में प्रतिबिम्बित है। बल्कि वे यह स्पष्ट करते हैं कि एक ही तत्व अनेक रूप से विद्यमान होकर शोभा दे रहा है। शोभा देने के भाव से सूरदास जी ब्रह्म के अंश रूप जगत की सत्यता का प्रतिपादन करते हैं। कई स्थानों पर उन्होंने ईश्वर को ही इस जगत का निमित्त और उपादान कारण कहा है।

इतना सब देखते हुए भी सूरदास जी वल्लभमतानुसार जगत को सत्य मानते हैं। जगत के मिथ्यात्व और विवर्तवाद को सूर ने गोपी-उद्धव संवाद में स्थल-स्थल पर अस्वीकार किया है। उदाहरणस्वरूप -

---

१- सूरसागर, दशम स्कन्ध, वे०प्रे० पृ० ३६३

२- सूरसागर, द्वितीय स्कन्ध वे०प्रे०पृ० ३६

उद्धव वचन :- गोपी सुनहु हरि संदेस ।
कह्यौ पूरण ब्रह्म ध्यावौ त्रिगुण मिथ्या भेस ।
मैं कहौं सौ सत्य मानहु त्रिगुन डारौ नाष्य।
पंच त्रिय गुण सकल देही जगत ऐसौ भाष्य ।
ज्ञान बिनु नर मुक्ति नाहीं यह विषै संसार।
रूप रेख न नाम कुल गुन बरन अवर न सार ।
मात पित कोउ नाहिं नारी जगत मिथ्या लाइ ।
सूर सु दुख नाहिं जाके भजौ ताकौ जाइ ।[1]

सूर उद्धव के मुख से निर्गुण और निराकार ईश्वर,जगत मिथ्या, ज्ञान और योग के साधन मार्ग का उपदेश दिलाते हैं । गोपियाँ जो कि सूर के विचारों की प्रतिनिधिस्वरूपा हैं इस उपदेश को अस्वीकार करती हैं । जगत की बारम्बार उत्पत्ति और भगवान की माया में उसके बार बार विलीन होने की सूर ने स्थल-स्थल पर रट-सी लगा दी है । सूर बारम्बार यह कहते हैं कि जगत् भगवान की इच्छानुसार उनकी माया से बार बार उत्पन्न होता है और भगवान की इच्छानुसार ही वह उसी की माया में विलीन हो जाता है ।

सूर का जगत और संसार :

पिछले पृष्ठों में यह कहा जा चुका है कि वल्लभ -सम्प्रदाय ने जगत और संसार में भेद किया है । वल्लभ-सम्प्रदाय के मतानुसार जगत्-ईश्वर अंश और ईश्वर-कार्य होने के कारण सत्य है । जगत के भीतर माया में लिप्त जीव का गर्व,ममता,क्रोध आदि जो व्यवहार है वह अनित्य और असत्य है । इसी को इस मत में संसार कहा है ।संसार नष्ट हो जाता है , परन्तु जगत् प्रलयकाल में भी नष्ट नहीं होता,उसका केवल तिरोभाव होता है और प्रलय के पश्चात् ,रचना के समय वह पुन: विद्यमान हो जाता है । संसार का नाश भक्ति आदि साधनों से होता है ।

१- सूरसागर दशम स्कन्ध, वे०प्रे०पृ० ५।२१५

वल्लभाचार्य के मतानुसार मानने वाले हिन्दी के अष्टछाप कवियों ने इस जगत् और संसार का कोई शास्त्रीय विवेचन अलग से नहीं किया है किन्तु संसार और माया को झूठ और दु:खदायी माना है ।

सूर का संसार सम्बन्धी दृष्टिकोण:-

सूर के गोपी उद्धव संवाद को देखने से यह ज्ञात होता है कि सूर ने उद्धव के मुख से `जगन्मिथ्यावाद` को बार बार अस्वीकार कराया है । उद्धव सूर के विचारों के प्रतिरूप है यह बात पहले कही जा चुकी है । इससे यह स्पष्ट है -जगत् को सत्य मानते है, परन्तु कई स्थानों पर सूर जगत को सत्य मानते है कई स्थानों पर संसार को-- झूठा,मिथ्या,अनित्य कहा है ।`सूरसागर` के दशम स्कन्ध में सूर जगत के विषय में कहते हैं कि-

`बदत विरंचि विशेष सुकृति ब्रजबासिन के,
ज्योति रूप जगनाथ जगत गुरु जगत पिता जगदीश।
योग यज्ञ जप तप में दुर्लभ गह्यों गोकुल ईश ।
एक रोम विराट कोटि तन कोटि कोटि ब्रह्मांड ।
सो लीन्हों अब लंग यशोदा अपने भरि भुज दण्ड ।
जाके उदर लोक अय जलथल पंच तत्व चौखानि ।
सो बालक ह्वै झूलत पलना यशुमति भवनहि आनि।।[१]

इस प्रकार सूर कहते हैं कि ब्रह्म के रोम-रोम में ब्रह्मांड व्याप्तमान है । यह जगत् ब्रह्म के ही उदर में स्थित है । ब्रह्म ही इसका बनानेवाला है और ब्रह्म ही जगतरूप बनता है । इस प्रकार के प्रसंगों में सूर जगत की सत्यता में विश्वास करते हैं परंतु संसार और संसार के अन्दर स्थित माया दोनों को मिथ्या बताते हैं जो कि इस निम्न पद को देखने से स्पष्ट हो जाता है --

`मिथ्या यह संसार और मिथ्या यह माया ।
मिथ्या है यह देह कहो क्यों हरि बिसराया।

१- सूरसागर, दशम स्कन्ध, वे०प्रे० पृ० १५६

तुम जाने बिन जीव सब उत्पत्ति प्रलय समाहिं।
शरण मोहि प्रभु राखिये चरण कमल की छांहि।[1]

इस प्रकार के अनेक पद सूर ने लिखे हैं जिनमें जगत और संसार का भेद बताया है। अत: यह स्पष्ट हो जाता है कि सूर वल्लभाचार्य के जगत सत्य एवं संसार मिथ्या मत से पूर्णरूपेण ज्ञातव्य थे। सूरदास ने यह भी कई स्थलों पर बताया है कि जगत को पैदा करने वाला ब्रह्म है। परन्तु यह संसार जो कि मिथ्या है मन और माया के कारण उत्पन्न हुआ है। एक पद में सूरदास जी कहतेहैं कि-

'धर्मपुत्र तू देखि विचार कारन करनहार करतार।'[2]

संसार का वर्णन करते हुए सूरदास एक स्थल पर कहते हैं -

राग सारंग

'माधव जू मन सब ही विधि पोच।
अति उन्मत्त निरंकुश मय गज चिन्ता रहित अशोक।
महामूढ़ अज्ञान तिमिर में मग्न होत सुलमानि।
तैली कैसे वृषभ ज्यों भरम्यो भजत न सारंगपानि।

+ +

ज्वाला प्रीति प्रकट सन्मुख हटि ज्यों पतंग तनु जार्यो।
विषय असक्त अमित अघ व्याकुल तब हम कछू न संभार्यो।
ज्यों कपि शीत हुताशन गुंजा सिमटि होत लवलीन।
त्यों शठ वृथा तजत नहिं कबहूं रहत विषय आधीन।
सैंवर फूल सुरंग शुक निरखत मुदित होत लग भूप।
परसत चोंच तूल उघरत मुख परत दु:ख के कूप।
और कहां लौ कहौं एक मुख या मन के कृत काज।
सूर पतित तुम पतित उधारन गहौ विरद की लाज।।'[3]

१- सूरसागर, दशम स्कन्ध, वें०प्रे० पृ० १५८
२- वही प्रथम स्कन्ध, पृ० २१
३- वही प्रथम स्कन्ध ,वें०प्रे० पृ० ८

उपर्युक्त पद का अर्थ यह है कि हे माधव ! मेरा मन सब प्रकार से पोच है । यह मन अज्ञानी है इसलिए अज्ञानता वश अविद्या के अन्धकार में पड़ कर अनेक प्रकार के विषय कृत्य करता रहता है ।उसके द्वारा जो रचित कार्य होते हैं वह ऊपर से उतने ही सुन्दर एवं सुखकारी प्रतीत होते हैं जितने कि सेंवर फल सुन्दर और आकर्षित लगते हैं ।परन्तु जब उसकी आन्तरिक परीक्षा होती है तब वे सारहीन तथा व्यर्थ होते हैं । और उसका प्रमाण दुखदायी निकलता है। मन दु:ख से भर जाता है । इस प्रकार इस संसार , मन , माया का कहां तक बखान करूं । हे माधव ! अब आप ही इसका उद्धार कर सकते हो ।सूर संसार को अनित्य बताते हैं और उसकी माता अविद्या मानते हैं । सूर ने संसार भ्रम का रचयिता मन को बताया है । इस संसार के कईपद सूर ने लिखे हैं जो नीचे दिये जा रहे हैं --

राग धनाश्री

"रे मन मूरख जन्म गंवायो ।
करि अभिमान विषय रस गीध्यो श्याम शरन नहिं आयो।
यह संसार सुवा सेंवर ज्यों सुन्दर देखि लुभायो ।
चाखन लाग्यो रूई गई उड़ि हाथ कछू नहि आयो।
कहा होत अब के पछिताए पहिले ब पाप कमायो ।
कहत सूर भगवन्त भजन बिनु सिर धुनि धुनि पछितायो।"[1]

\+ \+

राग गूजरी

"हरि बिनु कोऊ काम न आयो ।
यह माया झूठी प्रपंच लगि रतन सौ जन्म गवांयो ।

\+ \+

पतित उधारन गणिका तारन सो मैं शठ बिसरायो ।
लियो न नाम नैकहूं धोखे सूरदास पछतायो ।।"[2]

१- सूरसागर, प्रथम स्कन्ध , पृ० ३२
२- सूरसागर, द्वितीय स्कन्ध, वे०प्रे० पृ० ३८

अतः उपर्युक्त पदों को देखते हुए यह सत्य है कि अतः सूरदास का संसार एवं जगत् सम्बन्धी विचार वल्लभाचार्य के मत से पूर्णरूपेण मिलता है । और सूर के ऊपर वल्लभ-सम्प्रदाय का प्रभाव स्पष्ट रूप से पड़ा हुआ जान पड़ता है ।

सूर के माया सम्बन्धी दृष्टिकोण :-

माया क्या है ?

अष्टछाप के समस्त कवियों ने अविद्या रूपी माया का बहुत ही अधिक मात्रा में वर्णन किया है । साथ में इन कवियों ने माया का कार्य जीव को नाना प्रकार के नाच नचाने वाली बताया है माया अपने नाच द्वारा जीव से उस भ्रमपूर्ण संसार की रचना कराती है तथा उसे भव-बाधा में बांधे रहती है, यह बताया है ।` भगवान्‌की लीला का विस्तार करने वाली तथा सृष्टि के अनेक रूपों में परिवर्तन कराने वाली भगवान् की शक्ति स्वरूपा माया का उल्लेख इन कवियों के काव्य में इतना प्रचुर नहीं है ।[१] शंकराचार्य के मतानुसार माया अनिर्वचनीय शक्ति है, माया के कारण ही ब्रह्म कानाम ईश्वर पड़ा है ।ईश्वर ही इस सृष्टि कासृजनकर्ता है । शंकराचार्य के अनुसार ब्रह्म निर्गुण,निर्विशेष, तटस्थ है अतःइस मिथ्या संसार के मूल में माया ही है । वैष्णव अथवा वल्लभाचार्य सम्प्रदाय ने भी माया मानी है ,परन्तु इन्होंने जो माया का वर्णन तथा रूप बताया है वह सांख्य की प्रकृति (माया) के समान है । सांख्य के मत के अनुसार प्रकृति सत, रज, तम की साम्यावस्था का नाम है । यह तीनों गुणों से युक्त है । इसी से इस त्रिगुणात्मक संसार या प्रपंच की उत्पत्ति हुई है । आचार्य वल्लभ नेभी जैसा पहले कहा है कि जगत को ईश्वर के सत अंश से उत्पन्न होने के कारण सत्य तथा संसार को मिथ्या कहा है ।`जगत और संसार`शीर्षक में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि इन वल्लभ मतानुयाइयों के मत के अनुसार जगत और संसार में भेद है ,जगत अनश्वर है, तथा संसार नश्वर ।प्रलयकाल में

१- अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय- डा० दीनदयाल गुप्त , पृ० ४५८

जगत नष्ट नहीं होता बल्कि उसका तिरोभाव होता है तत्पश्चात् रचना के समय वह पुन: आ जाता है ।

माया के भेद :

आचार्य बल्लभ के माया के अनुसार ही सूर ने भी माया के दो भेद किये हैं । वे निम्न हैं -

१- विद्या-माया
२- अविद्या-माया

सूर विद्या-माया को जगत की सृष्टि,स्थिति तथा प्रलय का चक्र चलाने में सहायक बताते हैं । तथा अविद्या-माया को भगवान के चरणों की दासी ,परन्तु संसारी जीवों को मोहित करने वाली और नियति चक्र की परिचालिका कहा है ।

सूरसागर में एक स्थल पर देवहूति कपिल से माया का स्वरूप पूछती है उसकाउत्तर देते हुए कपिल कहते हैं कि-

'माया को त्रिगुणातम जानो । सत रज तम ताको गुण मानो ।।[1]
जड़ स्वरूप सब माया जानों । ऐसो ज्ञान हृदय में आनो ।।

अत: सूरसागर में माया जड़ प्रकृति ही का रूप है । यह माया भगवान के आधीन है,उनकी दासी है । जैसा कि नीचे की पंक्तियों से स्पष्ट होता है :-

' सो हरि, माया जा बस माहीं ।[2]
'माया हरि पद मांहि समावे ।'[3]
' परमपुरुष अवतार माया जिनकी है दासी ।'[4]
'सेवत जाहि महेश शेष सुर माया दासी ।'[5]

१- सूरसागर, तृतीय स्कन्ध, पद सं० १४(ना०प्र०स०३६४)
२- सूरसागर,(ना०प्र०स० ३६४)
३- सूरसागर (ना०प्र०स० ४६०५)
४- सूरसागर(ना०प्र०स० २२३६)
५- सूरसागर(ना०प्र०स० ४८२८)

अब प्रश्न यह उठता है कि ईश्वर अपनी इच्छा शक्ति रूपिणी सत्य माया से इस सृष्टि की रचना क्यों करता है ? और अपने आनन्द एवं सुखदायी अंश को गायब करके अपने अंश-रूप जीवों द्वारा माया को क्यों उत्पन्न कराता है तथा नाना प्रकार के कर्म -जाल को क्यों रचवाता है ? इसका उत्तर बल्लभ-सम्प्रदाय केवल यही देता है कि यह सब प्रपंच ब्रह्म केवल अपने मनोरंजन एवं खेल के लिए करता है । परन्तु साथ में बल्लभीमत के अनुसार सूरदास यह भी कहते हैं कि परब्रह्म के इस मनोरंजन अथवा खेल के कारणों का विश्लेषण अकथनीय है । सूर निम्नपद में ईश्वर के मनोरंजन (माया) के विधान का वर्णन करते हैंऔर उसे अविगत और अकथनीय बताते हैं वे कहते हैं -

राग सारंग

'अविगत गति जानी न परै ।
मन बच अगम अगाध अगोचर केहि विधि बुधि संचरै ।
रीते भरै भरै पुनि ढारै चाहै फेरि भरै ।
कबहुंक तृण बूड़ै पानी मैं कबहूं शिला तरै ।
बागर तै सागर करि राखै चहुं दिशि नीर भरै ।
पाहन बीच कमल बिकसाहीं जल मैं अग्नि जरै ।
राजा रंक रंक तै राजा लै सिर छत्र धरै ।
सूर पतित तरि जाइ तनक मैं जो प्रभु नेक ढरै ।।'[१]

अर्थात् सूर कहते हैं कि हे प्रभु ! आपके मनोरंजन एवं खेल की इच्छानुसार जो माया बनाई है, उसके विधान कहने और समझने में नहीं आते ।रिक्त स्थल को आप भर देते हैं और भरे स्थल को आप खाली कर देते हैं । कभी तिनका पानी में डूब जाता है और पत्थर पानी के ऊपर तैरने लगता है । रेगिस्तानों को पानी से भर कर समुद्र के सदृश्य बना देते हैं और समुद्र को रेगिस्तान । कभी आप पापी से पापी मनुष्यों को भी मोक्ष दे देते हैं ।कभी तो पत्थरों के बीच में कमल को खिला देते हैं और पानी में अग्नि लगा देते हैं राजा से रंक और रंक से राजा बना देते हैं । इस प्रकार के वर्णन में सूर ने ईश्वर के जीव द्वारा उत्पन्न माया का भी वर्णन किया है ।

१- सूरसागर, प्रथम स्कन्ध, वे०प्रे० पृ० ८

जैसा कि माया के भेद में बताया जा चुका है कि अविद्या-माया संसारी जीवों को मोहित करती रहती है तथा अपने मोहक एवं मादक रूप द्वारा जीवात्मा को ममत्व-पाश में जकड़ देती है । यही वह ग्रन्थि है जो जीव को गृह,धन,पुत्र, कलत्रादि के प्रेम में बांध लेती है । इसी अविद्या-माया के कारण जीवात्मा परमात्मा से बिछुड़ जाता है और नाना प्रकार की यातनाएं इस भव-सागर में भोगता रहता है । इसीलिए सूर ने माया को अनेक बार मोहिनी ,भुजंगिनी, नटिनी आदि के रूप में प्रकट किया है । काम,क्रोध,लोभ,मोह ,मन की मौहि मूढ़ता,तृष्णा,ममता,मोह ,अहंकार,पाखंड ,छल-कपट आदि इसी अविद्या-माया के रूप हैं । सूर के निम्न पद में ये सभी नाम स्पष्ट रूप में दिखायी पड़ते हैं । तथा अविद्या-माया के रूप का वर्णन सूर ने इस पद में किया है -

'बिनती सुनो दीन की चित दै कैसे तव गुण गावै ।
माया नटिनी लकुट कर लीने कोटिक नाच नचावै ।
दर दर लोभ लागि लै डोलति नाना स्वांग करावै ।
तुम सों कपट करावति प्रभु ज मेरी बुद्धि भ्रमावै ।
मन अभिलाषा तरंगनि करि करि मिथ्या निशा जगावै।
सोवत स्वप्ने में ज्यों संपति त्यों दिखाय बौरावै ।
महा मोहिनी मोह आतमा , मन करि अपहिं लगावै ।
ज्यों दूती पर बधू भोरि कै लै पर पुरुष दिखावै ।
मेरे तो तुम ही पति तुम गति तुम समान को पावै ।
सूरदास प्रभु तुमरी कृपा बिनु को मो दुख बिसरावै ।।'[1]

उपर्युक्त भाव के कुछ उदाहरण और भी दिए जा रहे हैं :-

'कठिन जु ग्रन्थि परी माया की तोरी जाति न झटके ।'[2]

१- सूरसागर, प्रथम-स्कन्ध, (ना०प्र०स० ४२)

२- सूरसागर , (ना०प्र०स० २९२)

'माया विषम भुजंगिनि कौ विष उतर्यौ नाहिन तोहिं ।'[1]

'हरि तेरी माया को न विगोयौ ।'

'नारद मगन भये माया में ज्ञान बुद्धि बल खोयौ ।

शंकर कौ चित्त हर्यो कामिनी सेज छांड़ि भुव सोयौ ।।'[2]

सूर ने अविद्या रूपी माया का उपर्युक्त स्वरूप माना है । यह अविद्या रूपी माया कभी - कभी महान् ऋषियों एवं पुरुषों को भी अपने रूप जाल में फंसा लेती है । जीवात्मा इसी माया के फन्दे में पड़ कर अपने सत्य रूप को भूल बैठता है। और बीहड़ जंगलों में घूमता फिरता है । सूर का कहना है कि मन में पाप की उत्पत्ति भी इसी अविद्या के कारण ही होती है । कहीं-कहीं पर सूर ने इस अविद्या माया को तृष्णा भी कहा है । सर्व मदाक गौ का रूपक बांध कर सूर कहते हैं कि -

' माधव जू नैकु हटकौ गाइ।टेक
निसि बासर यह भरमत इत उत अगह गही नहि जाइ ।
छुधित बहुत अघात नाहीं ,निगम द्रुम दल खाइ ।
अष्ट दस घट नीर अंचवै तृष्णा तऊ न बुफाइ ।
छहू रस हू धरति आगै बहै गंध सुहाइ ।
और अहित अभच्छ भच्छति गिरा बरनि न जाइ ।
व्योम नद धर शैल कानन इते चरि न अघाइ ।
ढीठ निठुर न डरत काहू त्रिगुन ह्वैकै समुहाइ ।।
हरै खल बल दनुज मानव सुरनि सीस चढ़ाइ ।
रचि -विरचि मुख भव छबीली चलति चितहिं चुराइ ।।
नील खुर तिमि अरुण लोचन सेत सींग सुहाइ ।
दिन चतुर्दश लैल भुवति सो यह कहां समाइ ।।

१- सूरसागर (ना०प्र०स० ३७५)
२- सूरसागर (ना०प्र०स० ४३)

नारदादि सुकादि मुनि जन थके करत उपाइ ।
ताहि कहु कैसे कृपानिधि सूर सकत चराइ ।।३५।।[१]

सूर कहते हैं कि हे माधव ! तनिक आप अपनी इस गौ (तृष्णा,माया,प्रकृति) को रोको । दिन रात वह इधर-उधर घूमती रहती है । तथा इसकी क्षुधा की तृप्ति कभी नहीं होती है । और वेद रूपी वृक्ष के पत्तों को खा जाती है । अष्टादश पुराण रूपी घड़ों का पानी पी जाती है । फिर भी इसके प्यास की शान्ति नहीं होती । षटरस (छः दर्शन) को सामने रख लेती है और उसकी सुहावनी गन्ध निकलती रहती है , इसके अतिरिक्त यह अहितकारी अभक्ष वस्तुओं को भी खा जाती है , जिनका वाणी द्वारा वर्णन करना असम्भव है । आकाश,नदी,पृथ्वी,पर्वत,वन,आदि सभी स्थलों पर वह चलती फिरती है । फिर भी उसकी तृप्ति नहीं होती । वह तो इतनी ढीठ हो गयी है कि वह किसी से डरती नहीं है और अपने तीनों गुणों के साथ आगे बढ़ती ही जाती है । देव,मानव,राक्षस,दुष्ट सब को अपने सिर पर चढ़ा कर दूर लिए जा रही है । यह छबीली माया मुख ,भू आदि को बना बना कर मानव मन को आकर्षित करती रहती है । इसके तमोगुण रूपी नीले खुर हैं, रजोगुण रूपी लाल नेत्र हैं, सतो गुण रूपी श्वेत सींग हैं । चौदहों भुवनों में यह रात-दिन खेलती रहती है । जब यह माया रूपी गौ इस प्रकार की है तो यह क्या एक स्थान पर स्थिर रह सकती है ? नारद ,शुकदेव,आदि महान् ऋषि मुनि इसके रोकने का उपाय करते करते थक गये मगर कुछ भी उपाय न निकाल सके । उसे मैं कैसे चरा सकता हूं ? अर्थात् सूरदास कहते हैं कि इसको चराना मेरे लिए अत्यन्त ही कठिन कार्य है ।

अतः सूरदास का यह विचार है तथा वल्लभ-सम्प्रदाय का भी मत है कि यही माया जीव को जन्म -मरण के चक्कर में डाले रहती है । यह चक्कर तभी नष्ट हो सकता है जब जीव अविद्या रूपी माया के बन्धनों को तोड़ दे । इस भाव को सूर ने अपने नीचे लिखे पद में स्पष्ट किया है :-

१- सूरसागर , प्रथम स्कन्ध , (ना०प्र०स० ५६)

'माधव जू यह मेरी इक गाइ ।
अब आजु तै आप आगे लै आइये चराइ ।
है अति हरि हाई हटकत हू बहुत अमारग जाती।
फिरति बेद बन ऊख उखारति सब दिन अरु सब राती।
हित कै मिलै लेहु गोकुल पति अपने गोधन मांह ।
सुख सोऊं सुनि बचन तुम्हारे देहु कृपा करि बांह।
निधरक रहौं सूर के स्वामी जनम न पाऊं फेर ।
मैं ममता रुचि सौं रघुराई पहिले लेउं निबेर ।।१-३३।।[1]

इस माया से जीव किस प्रकार छुटकारा पा सकता है सूर कहते है कि हे माधव ! मेरी यही एक गाय है जिससे मैं बहुत ही परेशान हो गया हूं । कभी इधर भागती है कभी उधर , वेद के वन मैं जाकर ईंख उखाड़ती है । सदैव कुमार्ग पर चलती है इसलिए आपसे मेरी यह प्रार्थना है कि आप इसे अपने आगे करके चराने ले जायें । और अपनी गायों में इसे सम्मिलित कर लें । आपके आश्रय को पाकर आपकी स्वीकृति सुन कर मैं अपने को बहुत भाग्यशाली समझूंगा और सुखपूर्वक नींद ले सकूंगा ,अर्थात् जब इस माया के फन्दे से छूट जाऊंगा तो जन्म मरण का चक्कर भी स्वयं छूट जायेगा और फिर कभी भी जन्म धारणनहीं करूंगा ।'

सूर के पहले एवं पश्चात् में जितने भी सम्प्रदायों का अभ्युदय हुआ उन सब का यह सिद्धान्त था कि यह माया असत् है और इससे बना हुआ ममत्व का संसार भी असत् है । सूर भी इसको लिखते हैं :-

'झूठी है सांची सो लागति मम माया सो जानि'।२-३८।।[2]

इस प्रकार सूर ने अविद्या-माया का वर्णन बहुत ही विस्तार के साथ अपने पदों में किया है । विद्या-माया के बारे में सूर का कहना यह है कि इस विद्या-माया द्वारा प्रभु जगत् में प्रकट होते हैं । सूर कहते है --

----

१- सूरसागर (ना०प्र०स० ५१)

२- सूरसागर (ना०प्र०स०३८१)

'हरि इच्छा करि जग प्रगटायो।

अरु यह जगत जदपि हरि रूप है तऊ माया कृति जानि ।।[1]

इस विद्या माया के बारे में श्वेताश्वेतरोपनिषद् के १,६ तथा ४, ५ और बृहद् ब्रह्म संहिता (जो नारद पांच रात्र के अन्तर्गत है) के १,८ में इसी माया को अजा कहा है । जीव इसी दुस्तर अजा से मोहित होकर दुख में तथा अज्ञान में प पड़ता है । श्रीमद्भागवत , दशम स्कन्ध , उत्तरार्द्ध , स० ५७ श्लोक १५ में भी माया और अजा पर्यायवाची अर्थ में आये हैं ।[2] इस भ्रमात्मक अविद्या-माया से छुटकारा पाने के लिये सूर कहते हैं कि विद्या-माया की शरण लेना आवश्यक है । इस अविद्या माया से जीव तभी छुटकारा पा सकता है जब वह विद्या माया अर्थात प्रेम-भक्ति करे । प्रेम-भक्ति का साधन सूर ने इसी माया से छुटकारा पाने के लिये कहा है । एक पद में सूरदास जी कहते हैं:--

राग कान्हरा

झूठी है सांची सी लगति मम माया सौ जानि,

रवि शशि राहु संयोग बिना ज्यौं लीजत है मन मानि ।

पहले ज्ञान विज्ञान द्वितीया पद तृतीय भक्ति को भाव ,

सूरदास सोइ समष्टि करि व्यष्टि मन लाव ।[3]

अर्थात यदि जीव अहं की व्यष्टि- दृष्टि को छोड़ कर समष्टि-दृष्टि से जगत को देखे तो माया का सत्य रूप उसे भी दीखने लगेगा है ।

एक अन्य स्थल पर विद्या-माया का वर्णन करते हुये सूर कहते है कि:-

'नमो नमो करुणा निधान,

चितवत कृपा कटाक्ष तुम्हारी मिटि गयो तम अज्ञान ।

मोह निशा को लेश रह्यो नहिं भयो विवेक बिहान ।

आतम रूप सकल घट दरश्यो उदयकियो रविज्ञान ।

१- सूरसागर

२- य इदं मायया विश्वं सृजति अवति हन्ति च ।
चेष्टा विश्व सृजो यस्यं न विदुर्मोहिता अजया।।

३-सूरसागर, द्वितीय स्कन्ध, वे० प्रे०पृ० ३६ ।

मैं मेरी अब रही न मेरै , छुट्यो देह अभिमान ।
भावै परौ आज ही यह तनु , भावै रहौ अमान ।
मेरे जिय अब यहै लालसा, लीला श्री भगवान ।
श्रवण करौं निशि बासर हित सौं सूर तुम्हारी आन[१] ।`

उक्त पद में सूर व्यष्टि-दृष्टि को छोड़ समष्टि-दृष्टि से जीव को देखने का भाव राजा परीक्षित के मुख से कहलाते हैं ।राजा परीक्षित कहते हैं कि हे करुणा निधान प्रभु ! आपकी कृपा दृष्टि से मेरा अज्ञान रूपी अन्धकार नष्ट हो गया। माया मोह की निशा,विवेक प्रकाश होने पर, भाग गई । ज्ञान रूपी सूर्य के प्रकाश में समष्टि-दृष्टि खुल गई और बहुंओर आत्मरूप दिखाई देने लगा, मेरी अहंता,ममता सब से मैंने छुटकारा पा लिया, अब इस देह से तनिक भी मोह नहीं रहा । अब केवल यही लालसा है कि मैं दिन-रात प्रभु की लीला का ही श्रवण करूं ।

उपर्युक्त विचारों में बल्लभ-सम्प्रदाय का स्पष्ट प्रभाव दिखाई पड़ता है।

सूर का मोक्ष सम्बन्धी विचार :-

सर्वमान्य रूप से मुक्ति के दो पक्ष माने जाते है । दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि मुक्ति की दो अवस्थाएं होती हैं -

१-संसार दु:ख से मुक्ति
२- नित्य सुख की प्राप्ति

भारतीय दर्शन सेप्रभावित सूफी साधकों ने ~~मीस्लिम-दर्शन~~ मुक्ति की दो अवस्थाएं `फना` और `बका` मानी है । इन दोनों अवस्थाओं में भक्त का अस्तित्व ईश्वर से पृथक् रहता है । परन्तु पुष्टिमार्गी सम्प्रदाय एवं सूर आदि अष्टछाप के समस्त कवियों ने मुक्ति की उक्त दोनों अवस्थाओं के अतिरिक्त सायुज्यमुक्ति तीसरी अवस्था भी मानी है ।इस सायुज्य मुक्ति की अवस्था में दृष्टा और

१- सूरसागर, द्वितीय स्कन्ध, वे०प्र० पृ० ३६

दृश्य दोनों का एकीकरण हो जाता है इसलिए उसे लय अवस्था भी बताया है। इस अवस्था में सुख-भोग का कोई प्रश्न नहीं उठता है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि वल्लभ मत ने प्रवेशात्मक सायुज्य मुक्ति को माना है जो ज्ञानी साधकों के अक्षर-ब्रह्म में लय होने में होती है। सायुज्य मुक्ति में रस-रूप भगवान् के अथवा उनके अक्षर-धाम के अंग बन जाना भी माना है।

सूरदास ,परमानन्ददास तथा नन्ददास आदि अष्टछाप के कवियों ने इस संसार दुःख से मुक्त जीव का अनेक प्रकार से वर्णन किया है। सूरदास मुक्त जीव का वर्णन करते हुए कहते हैं -

'निर्गुण मुक्ति हू को नहिं चहै, मम दर्शन ही ते सुख लहै।
ऐसो भक्त सुमुक्त कहावे, सो बहुर्यो चलि भव नहिं आवै।'[१]

इस मुक्ति अवस्था के पश्चात् जो परम सुख का अनुभव साधक करता है उसका वर्णन सूर ने कई स्थलों पर किया है। प्रवेशात्मक सायुज्य की सालोक्य,सामीप्य, विशिष्ट आदि जो अवस्थाएं पुष्टिमार्गी दर्शन में हैं इन अवस्थाओं को पाने की कामना सूर ने तथा अन्य अष्टछापी कवियों ने अपने पदों में स्थल-स्थल पर की है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि सूर ने जगत,संसार की अनित्यता,माया मोह की निन्दा आदि विषयों पर जितने भी पद लिखे हैं उन सब में जीवनमुक्त अवस्था प्राप्त करने के उपायों को भी बताया है। इस अवस्था के अपूर्व आनन्द-अनुभव के सामने उन्होंने जीवन-मुक्ति-अवस्था के बाद के मोक्ष सुख कीउपेक्षा की है। निर्गुणात्मक मुक्ति की उपेक्षा करते हुए सूर कहते हैं --

' गोपी उद्धव प्रति उत्तर :-

योगी होइ सो योग बखाने,नवधाभक्ति दास रतिमाने।
भजनानन्द अली ! हम प्यारो,ब्रह्मानन्द सुख कौन बिचारो।।[२]

१- सूरसागर,तृतीयस्कन्ध,वे०प्रे० पृ० ४३
२- सूरसागर,दशम स्कन्ध,पूर्वार्द्ध ,वे०प्रे० पृ० ५६१

मुक्तिअवस्था के पश्चात् साधक जिस सुख का अनुभव करता है उसको बताते हुए सूर कहते हैं -

'नमो नमो करुणानिधान,
चितवत कृपा कटाक्ष तुम्हारी मिटि गयौ तम अज्ञान ।
मोह निशा कौ लैश रह्यौ नहिं, भयौ विवैक बिहान,
आतम रूप सकल घट दरश्यौ उदय कियौ रवि ज्ञान ।
मैं मेरी अब रही न मेरे छूट्यौ देह अभिमान ,
भावै परौ आजु ही यह तनु भावै रहौ अमान् ।
मेरे जिय अब यहै लालसा, लीला श्री भगवान्,
श्रवण करौ निसि बासर हित सौं 'सूर' तुम्हारी आन ।'[१]

अर्थात् हे करुणानिधान ! आपकी कृपा कटाक्ष से ही मेरा मोह रूपी अन्धकार नष्ट हो गया । ज्ञान का प्रकाश मुझे मिल गया 'मैं मेरी' का जो अभिमान रूप संसार था, वह भी अब छूट गया । चाहे यह देह आज ही छूट जाय या स्थित रहे मुझे अब इस देह की परवाह नहीं है , अब तो मैं नित्य आप की लीला का प्रेम पूर्वक श्रवण करूं मेरे चित्त में अब यही लालसा रह गयी है ।सूरदास ने जीवनमुक्त अवस्था में सुख पांच प्रकार के बताये हैं , वे पांच प्रकार निम्न हैं --

प्रथम - ईश्वर की लीला के गुणागान द्वारा ।
द्वितीय- ईश्वर की लीला के श्रवण द्वारा ।
तृतीय - ईश्वर की दैहिक तथा मानसिक सेवा द्वारा।
चतुर्थ - सत्संगति द्वारा ।
पंचम - ईश्वर रूप गुरु की भक्ति द्वारा ।

इस प्रकार 'नारद भक्ति सूत्र'[२] आदि ग्रन्थों में प्रेम-रस-भक्ति के जितने स्वरूप एवं साधन बताये हैं उन्हीं साधनों द्वारा अष्टछाप के समस्त कवियों ने ईश्वर प्रेम प्राप्त किया था तथा उन सबमें वे आनन्द का आस्वादन करते थे । यह पराभक्ति का वह

१- सूरसागर, द्वितीय स्कन्ध, वे०प्रे० पृ० ३८

स्वरूप है, जहां भक्त को केवल भक्ति के सिवाय अन्य कोई कामना नहीं रहती। सगुणोपासक सूर कृष्ण गुणगान के सुख की मुक्ति के विषय में कहते हैं-

'जो सुख होत गुपालहिं गाये ,
सो नहिं होत जप तप के कीने कोटिक तीरथ न्हाये ।
दिये लेत नहिं चारि पदारथ चरण कमल चित लाये ।
तीनि लोक तृण करि सम लेखत नन्द नन्दन उर आये ।
बंशी बट वृन्दावन यमुना तजि बैकुण्ठ को जाये,
सूरदास हरि को सुमिरन करि बहुरि न भव चलि आये ।'[1]

सूरदास के मत में जो सुख गोपाल के भजन एवं गुणगान में है वह जप तप धर्म आदि के करने में नहीं है । ब्रज-निवास के सामने बैकुण्ठ का सुख भी त्याज्य है । हरि भजन से ही संसार,सांसारिक भव-बाधा आदि से जीव छुटकारा पा सकता है और उसे जीवन मुक्ति का आनन्द मिलता है।

सूरदास के मत में जो जीवन मुक्ति के पश्चात् आत्म-ज्ञान एवं परमानन्द मिलता है वह इस प्रकार से अकथनीय होता है जिस प्रकार से गूंगा व्यक्ति मिठाई के स्वाद को बताने में असमर्थ होता है । इसी भाव को व्यक्त करते हुए सूरदास एक पद में कहते हैं --

'सूरदास समुझै की यह गति मन ही मन मुसिकायो ।
कहि न जाय या सुख की महिमा ज्यों गूंगो गुर खाये ।।'[2]

इस प्रकार सूर ने प्रेम-भक्ति सुख की प्रशंसा अनेक पदों में की है । एक स्थल पर सूर मन को भृंग रूप में वर्णन करते हुए कहते हैं कि-

'भृंगारी भजि-चरण कमल पद जहं नहिं निशि को त्रास,
जहां विधु भानु समान प्रभा -नख ,सो वारिज सुख रास।

१- सूरसागर, द्वितीय स्कन्ध, वे०प्रे० पृ० ३५
२- सूरसागर, चतुर्थ स्कन्ध, वे०प्रे० पृ० ५१

जिहिं किंजल्क भक्ति नव लक्षण काम,ज्ञान रस एक,
निगम सनक शुक नारद सारद मुनि जन भृंग अनेक ।
शिव विरंचि खंजन मन रंजन छिन छिन करत प्रवेश,
अखिल कोष तहां बसत सुकृत जन प्रगटत श्याम दिनेश,
सुन मधुकरी भरम तजि निर्भय राजिव रवि की आस,
सूरज प्रेम सिन्धु में प्रफुल्लित तहां चलि करैं निवास ।।[१]

हे भृंगी ! भगवान् के चरण-कमलों की उस प्रेम-भक्ति में चल,जहां नवधा भक्ति, कर्म और ज्ञान सब मिल कर एक प्रेम रस के आनन्दास्वाद में मिल जाते हैं।

उपर्युक्त जीवन-मुक्ति रस मिलने का क्या उपाय है ? इसका उत्तर देते हुए सूर कहते हैं कि यह जीवन-मुक्ति रस केवल सन्त संगति द्वारा ही प्राप्त हो सकती है । वे कहते हैं कि -

'सुवा चलि वा बन को रस पीजे ,
जा बन कृष्ण नाम अमृत रस श्रवण पात्र भरि पीजे ।
को तेरो पुत्र पिता तू काको घरनी घर को तेरो,
काल कराल स्वान को भोजन तू कहै मेरो मेरो ।
बड़ी बाराणसि मुक्ति क्षेत्र है चलि तोको दिखराऊं,
सूरदास साधुन कीसंगति बड़ो भाग्य जो पाऊं।।[२]'

'-अर्थात् हे मन रूपी तोते ,उस मुक्ति के बन में चल जहां कृष्ण नाम का अमृत रस तुझे पीने को मिले ।'

यह पहले कहा जा चुका है कि सायुज्य मुक्ति के अनेक स्वरूप हैं -जैसे सालोक्य,सामीप्य,सारूप्य आदि हैं उन सभी स्वरूपों के विषय पर सूर के पद प्राप्त होते हैं ।'

१- सूरसागर,प्रथम स्कन्ध, वे०प्रे० पृ० २६
२- सूरसागर, प्रथम स्कन्ध, वे०प्रे० पृ० २६

सालोक्य मुक्ति अर्थात् ईश्वर के लोक लीलाधाम तथा उनके चरणों के दर्शन की लालसा करते हुए सूर मन को चकई बना कर कहते हैं-

'चकई री चलि चरण सरोवर जहां न प्रेम वियोग,
जहं भ्रम निशा होत नहिं कबहूं, वह सागर सुख जोग ।
जहां सनक से मीन हंस शिवमुनि जन नख रवि प्रभा प्रकाश,
प्रफुलित कमल निमिष नहिं शशि डर गुंजत निगम सुवास।
जिहि सर सुभग मुक्ति मुक्ताफल सुकृत अमृत रस पीजै,
सो सर छांड़ि कुबुद्धि विहंगम इहां कहा रहि कीजै ।
लक्ष्मी सहित है होत नित क्रीड़ा शोभित सूरजदास,
अब न सुहात विषय रस छीलर वा समुद्र की आस ।'[1]

इस प्रकार सूर कहते हैं कि हे मनरूपी चकई उस सरोवर में चलो जहां प्रेम में संसारिक दु:खनहीं है।जहां पर भ्रम की रात्रि नहीं होती है । वह सागर सुख एवं आनन्द का सागर है, जहां किसी प्रकार का भय नहीं है ,वेद जहां भ्रमर बन कर गायन करते हैं वहां तुझे मुक्ति का अमृत-रस पीने को मिलेगा । उस स्थान पर प्रभु अपनी लक्ष्मी (राधा) सहित क्रीड़ा करते रहते हैं। उस रस समुद्र के सम्मुख संसार रूपी दु:ख भरी पोखर अब अच्छी नहीं लगती है ।'

सालोक्य मुक्ति का वर्णन करते हुए सूरदास का यह दूसरा पद भी देखिए-

राग देव गन्धार

'चलि सखि तिहि सरोवर जिहि जाहिं ,'

+ +

'सूर क्यों नहिं चलो उड़ि तहां बहुरि उड़िबो नाहिं।'[2]

१- सूरसागर, प्रथम स्कन्ध , पृ० २६
२- वही वही पृ० २६

सूर का मत है कि उस लोक में पहुंच कर फिर इधर-उधर भवसागर के दुःखों में भटकना नहीं पड़ता ।

उपर्युक्त पद पर गीता के 'यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम'[१] अर्थात् जहां पहुंच कर लौटना नहीं होता ,का प्रभाव स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है ।

' वल्लभाचार्य एवं भक्ति के प्रसंग में पिछले अध्याय में यह कहा जा चुका है कि कृष्ण की रासलीला के रस का स्वादन करना वल्लभ पुष्टि-भक्ति का चरम लक्ष्य है । पुष्टिमार्गीय भक्ति का मुख्य लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति नहीं,अपितु प्रभु के प्रेम की प्राप्ति थी ।[२] प्रभु का यह प्रेम भगवत्कृपा से ही साध्य था । इसप्रेम को प्राप्त कर भक्त बैकुण्ठ जाना भी नहीं चाहता था ।वैष्णव कवियों ने इस प्रेम की प्रभूत प्रशंसा की है । यह प्रेम प्रेम से ही उत्पन्न होता है और इसी से परमार्थ की प्राप्ति होती है । इसी के द्वारा प्रेम रूप गोपाल से भेंट होती है । यदि प्रेम पैदा नहीं हुआ तो हरिलीला का दर्शन करना कठिन है । जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कृष्ण की रासलीला के रसास्वादन से ही हरि का दर्शन होता है । इस रासलीला के आनन्द प्राप्ति की गति ,जिसको पुष्टिमार्गीय भक्तों एवं सूर ने भी मोक्ष कहा है इसका वर्णन सूर ने सूरसागर के दशम स्कन्ध में विस्तार से किया है । सूर कहते हैं कि -

'जो कोई भरता भाव हृदय हरि हरि पद ध्यावै,
नारि पुरुष कोउ होई श्रुति रूचा गति सो पावै।
जिनके पद रज जो कोई बृन्दाबन भू माहिं,
परसै सोऊ गोपिका गति पावै संशय नाहिं।'[३]

००　　　००

'जाको व्यास वर्णत रास ।
है जो या रस रास को रस रसिक सूरजदास ।'[४]

१- गीता,अध्याय १५, श्लोक ६

२- आचार्य वल्लभसूत्र,अध्याय ३,पाद ३,सूत्र ३७ के अणुभाष्य,पृ० ११०० में प्रेमपरा पुष्टिमार्गीय भक्ति को ज्ञान से ऊंचा पद देते हुए लिखते हैं :-
'एवं सति मुख्यं यदद्वैतज्ञानं भक्ति-भावेक देश व्यभिचारि भावेषु एवतारदितिस्तर्णप स्वर्णाचलयोरिव ज्ञानभक्त्योस्तारतम्यं कथं वर्णनीयमिति भाव:।' यहां ज्ञान को वे सरसों और भक्ति को स्वर्णाचल की उपमा देते हैं।ज्ञान मोक्ष तक ले जाता है पर भक्ति प्रभु से मिला देती है । (शेष-

इस प्रकार उपर्युक्त सायुज्य मुक्ति के विभिन्न स्वरूपों के अतिरिक्त मुक्ति के दो प्रकार के लय रूपों का वर्णन भी सूर ने अपने पदों में किया है ।

उन दोनों लयरूपों में से प्रथम लय रूप में भक्ति रस-रूप ईश्वर के वेश का अंग तथा ईश्वर के धाम वृन्दावन का एक अंग बन जाता है । और दूसरे लय रूप में भक्त जीवन-मुक्ति-अवस्था की विरहासक्ति में ही अपने को आत्म विस्मृत कर भगवान के साथ उनके कर्मों में लीन हो जाता है । प्रथम प्रकार के लयात्मक मोक्ष के विषय में सूर निम्न पद में कहते हैं -

'करहु मोहि ब्रज रेणु देहु वृन्दावन वासा ।
मांगो यहै प्रसाद और नहिं मेरै आसा ।
जोई भावै सो करहु लता सलिल द्रुम गेहु ।
ग्वाल गाइ को भृतुकरी मनो सत्य व्रत एहु ।।[१]

अत: प्रथम लयरूप मोक्ष के बारे में कहते हुए कहते हैं कि हे प्रभु ! आप मुझे वृन्दावन की धूल बना दीजिए । मैं आपसे यह प्रसाद मांग रहा हूं और मुझे कुछ भी इच्छा एवं कामना नहीं है । आप मुझे वृंदावन के लता वृक्ष या ग्वाल गाय इनमें से कोई भी एक बना दें ।'

इस प्रकार भगवान के साथ भक्त की तन्मयता का वर्णन सूर ने अपने संयोग एवं वियोग दोनों प्रकार के प्रेम वर्णन के पदों में किया है । भगवान के साथ तन्मयता का केवल यही अर्थ नहीं है कि भक्त अपने तन मन धन की सुधि-बुधि भुला कर भगवान में लीन हो जाय बल्कि सूर का मत यह भी है कि जिस प्रकार भक्त अपना सब कुछ भुला कर भगवान की भक्ति में लीन हो जाता है उसी प्रकार

पिछला- (३) सूरसागर, दशम स्कन्ध, वे०प्रे० पृ० ३६४
(४) वही वही पृ०३५८
१- सूरसागर, दशम स्कन्ध, पूर्वार्द्ध, वे०प्रे० पृ० १५८

भगवान स्वयं भी भक्त के रोम रोम में आ जाते हैं । और भक्त के सम्पूर्ण शरीर को अपने से व्याप्त कर लेते हैं । भक्त और भगवान की यही तन्मयता अथवा एकीकरण जल और तरंग के सदृश्य हो जाता है सूरदास इसी भाव को प्रकट करते हुए कहते हैं --

' गोपी वचन :-

राग सुघराई

आँखिन में बसै जियरे में बसै हियरे में बसत निसि दिन प्यारो ।
मन में बसै तन में बसै रसना में बसै अंग अंग में बसत नन्दवारो ।
सुधि में बसै बुधि हू में बसै उरजन में बसत पिय प्रेम दुलारो ।।
सूर स्याम बनहू में बसत घरहू में बसत संग ज्यों जल तरंगन होत न्यारो।[1]

ग्वालिनें घर से दही बेचने के लिए निकलती हैं और वह भगवान के लय रूप में इस प्रकार तन्मय एवं मग्न हो गयी हैं कि वे 'दही लो' के स्थान पर 'गोपाल लो' कहने लगती हैं ।

' गोरस को निज नाम भुलायो ।
लेहु लेहु कोहू गोपालहि गलिन गलिन यह शोर लगायो ।।[2]

इस प्रकार प्रथम लय रूप मोदा में भक्त की सम्पूर्ण इन्द्रियां एवं शक्तियां कृष्ण में लग गयी हैं ।

१- सूरसागर, दशम स्कन्ध, वें०प्रे० पृ० २६६

२- सूरसागर, दशमस्कन्ध, वें०प्रे० पृ० २५७

'मधुकर कौन मनायो मानै ,

... ...

सिखवहु जाइ समाधि योग रस जे सब लोग सयाने ,
हम अपने ब्रज ऐसेहि रहिहैं बिरह बाइ बौराने ।
जागत सोवत स्वप्न दिवस निशि रहहिं रूप पखाने ,
बारक बाल किशोरी लीला शोभा सबुझ समाने ।
जिनके तन मन प्रान सूर सुनि मुख मुसकानि बिकाने,
परी जो पय निधि अल्प बूंद जल सुपुनि कौन पहिचाने ।'[१]

मोक्ष के विषय में आगे सूर का यह विचार एवं मत है कि भक्त जिस भाव से भगवान को भजता है उसी प्रकार भगवान उसे मिलते हैं । तथा उसको इच्छित मोक्ष मिलती है । सूर निम्न पद में उक्त भाव का वर्णन करते हुए कहते हैं :-

' इह लीला सब स्याम करत हैं ब्रज युवतिन के हेत,
सूर भजै जेहि भाव कृष्ण को ताको सोइ फल देत ।'[२]

उपर्युक्त भाव अष्टछाप के अन्य कवियों ने श्रीमद्भगवद्गीता के 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तां स्तथैव भजाम्यहम् ।'[३] भाव से प्रभावित हो कर लिखा है। इसमें सूर ने चार प्रकार की मुक्ति (सालोक्य,सामीप्य,सारूप्य और सायुज्य) को स्वीकार किया है । केवल शंकराचार्य के मत में जो सायुज्य मुक्ति है उसकी

१- सूरसागर, दशम स्कन्ध, भ्रमरगीत वे०प्रे० पृ० ५३८

२- सूरसागर, दशम स्कन्ध, वे०प्रे० पृ० २०५

सूर ने स्वीकार नहीं किया है। गोपी-उद्धव-संवाद के अन्त में गोपियां उद्धव से कहती हैं :-

' ऊधौ सुधै नेकु निहारौ,
हम अबलनि कौ सिखवन आए सुनौ सयान तिहारौ।
निर्गुण कहौ कहा कहियत है तुव निर्गुण अति भारी,
सेवत सगुण स्याम सुन्दर कौ मुक्ति लहीं हम चारी।
हम सालोक्य, स्वरूप सरो ज्यौं, रहत समीप सदाई

उनको न तो अपने शरीर का ही मान होता है और न तो अपने देही का है। सायुज्य मुक्ति के स्वरूप मुक्ति का इतना सुन्दर उदाहरण और किसी अष्टछाप के कवि में नहीं मिलता।

इस प्रकार भगवान एवं भक्त के एकीकरण का वर्णन सूर ने अपने संयोग और वियोग दोनों पक्षों के प्रेम वर्णन में किया है उपर्युक्त एकीकरण का वर्णन सूर के संयोग प्रेमवर्णन वाले पदों में था। इसके अतिरिक्त सूर ने विरहातुर गोपियों के मुख से भगवान के एकीकरण का वर्णन करते हुए कहलाया है कि विरह-सुख एवं परमार्थ में कोई अन्तर नहीं है। उन गोपियों को विरह में ही परमानन्द का दर्शन होता है तथा अधिक आनन्द मिलता है। गोपियां एक पद में कहती हैं कि-

' भजनानन्द भली हम प्यारौ',
ब्रह्मानन्द सुख कौन विचारौ।'[१]

इस प्रकार गोपियां कृष्ण के साथ कृष्णमयी हो गयी हैं।

१- सूरसागर, दशम स्कन्ध, वे०प्रे० पृ० ५६१

नन्द दास

नन्ददास का जन्म तथा मृत्यु का समय लगभग सं० १५९० से सं० १६४० का है।

अष्टछाप के भक्त कवियों में सूरदास और परमानन्द दास के पश्चात् नन्ददास का स्थान आता है। जन श्रुतियों, अन्तंसाक्ष्य और बहिसाक्ष्य के प्रमाणों को देखने से यह स्पष्ट है कि ये पुष्टिमार्गी थे, तथाइनके गुरु गोस्वामी विट्ठलनाथ जी थे। इन्होंने स्वयं अपने जन्म, जाति के बारे में कुछ नही लिखा परन्तु अपने गुरु की स्तुति में इनके कई पद पाये जाते हैं। इनके पद गुरु की स्तुति, तथासम्प्रदायिक विचार पर ही पाये जाते हैं। गुरु गोस्वामी विट्ठल नाथ के अतिरिक्त इन पर सूरदास का भी प्रभाव अधिक मात्रा में पड़ा है। वैसे तो नन्ददास पूर्णरूपेण वल्लभ-सम्प्रदाय के सिद्धान्तों को मानते थे परन्तु इन पर शंकर के अद्वैतवाद का भी प्रभाव पड़ा है। क्योंकि वे अद्वैत ब्रह्म को मानते थे जैसा कि सूरदास तथाअष्टछाप के अन्य कवियों के पदों में नही मिलता है। नन्ददास अद्वैत ब्रह्म के विषय में कहते हैं कि---

नाम रूप गुन भेद जे , सोइ प्रकट सब ठौर ।
ता बिन तत्व जु आन कछु, कहै कहै सोवति बड़ बौर ।।[१]

वल्लभमतानुसार अनेक पदों में नन्ददास ने कृष्ण को पर ब्रह्म होने के भाव को व्यक्त किया है। इनके निम्न पदों में उपर्युक्त भाव व्यक्त होता है:--

नमामि पद परम गुरु, कृष्ण कमल दल नैन ।
जग कारन, करुनार्णव, गोकुल जाको ऐन ।।[२]

१- मान मंजरी, पंचमंजरी, बलदेव दास, करसनदास, पृ० ६६।

२- मानमंजरी, पंचमंजरी, बलदेवदास करसनदास, छंद नं० १ पृ० ६६।

" ब्रजनन्द के भवन में ताय नचावत तीव ।"[1]

ईश्वर- नन्ददास के अनुसार ईश्वर को किसी ने उत्पन्न नहीं किया है । वह अजन्मा है तथा अनेक रूप धारण करता है तथा कण कण में व्याप्तमान है । नन्ददास के अनुसार " हरि अनन्त अरु एक "[2] यानी अनेक रूप होते हुये भी एक है । ईश्वर जगत का निमित्त और उपादान दोनों कारण है । वह ज्योतिरूप है । उसी ज्योतिरूप को योगी व्यक्ति ध्यान करते हैं । नन्ददास ने ईश्वर में अनेक धर्मों का आरोप करके उसे धर्मी बताया और उसके व्यक्त अव्यक्त आदि धर्मों को बता कर उसे विरुद्ध धर्मत्व का आश्रय कहा है । एक पद में नन्ददास इसी भाव को व्यक्त करते हुये कहते हैं :-

" जो प्रभु ज्योतिमय जगतमय, कारण करण अभेव ।
विघन हरण सब सुख करन, नमो नमो तिहिं देव ।"[3]

अत: उपर्युक्त सभी विचार पूर्णरूपेण वल्लभ सिद्धान्त के विचार हैं । अपने ईश्वर विषयक भाव नन्ददास ने अपने ग्रन्थ " दशम स्कन्ध भाषा " में कृष्ण की अनेक स्तुतियों में प्रकट किया है । कृष्ण की स्तुति करते हुये निम्न पद में कहते हैं:-

" परम पुरुष सबन्हि के कारन, प्रति पालत तारत संघारन ।
व्यक्त अव्यक्त जु बिस्व अनूप, बेद बदत प्रभु तुम्हारो रूप ।
तुम सब भूतनि को बिस्तार, देह प्रान इन्द्री अहंकार ।
काल तुम्हारी लीला श्रीधर, तुम व्यापी तुम अव्यय ईश्वर ।
तुम ही प्रकृति सकति सब तुमही, सत रज तम जे है है उमही ।
तुमही जीवन तुमही जीय , सब ठां तुम कोउ अवर न बीय ।"[4]

अर्थात हे ईश्वर आप परमपुरुष है, सब के कारण है ,सबके पालनकर्ता, तारने

१- अनेकार्थ मंजरी, पंचमंजरी, बलदेवदास करसनदास, पृ० १४४, छंद नं० ६६
२- वही पृ०१४३, छंद नं० ६०
३- अनेकार्थ मंजरी, बलदेव दास,करसनदास, छन्द नं० १, पृ० १३१ ।
४- दशमस्कन्ध, दशम अध्याय,"नन्ददास" शुक्ल, पृ० २४१ ।

वाले तथा संहारकर्ता हैं। जो विश्वव्यक्त अव्यक्त है, वह आपका ही रूप है। काल का विस्तार भी आपकी लीला का विस्तार है। सब प्राणी भी आप ही के विस्तार स्वरूप हैं अर्थात प्राणी मात्र आप ही के स्वरूप हैं। आप सर्वव्यापी अन्तर्यामी हैं, सबके ईश और अच्युत हैं। सम्पूर्ण प्रकृति और सम्पूर्ण शक्ति, तीनों गुण, जीव, जीवन, सब कुछ आप ही हैं। आपके आश्रय के अतिरिक्त अन्य आश्रय दाता नहीं है। अर्थात आप अपनी भाव भक्ति दीजिये। इन पंक्तियों में नन्ददास पर वल्लभाचार्य के अद्वैत ब्रह्म और ब्रह्मवाद का पूर्ण प्रभाव पड़ा है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, कि नन्ददास ने ईश्वर को अनेक रूपता में भी एकता को माना है। श्री कृष्ण के विश्व रूप, ज्योतिरूप, रसरूप, जीवरूप जगत- रूप आदि की अनेकता में जिस एकता का उन्होंने प्रतिपादन किया है, वह न तो शंकर के केवलाद्वैत से साम्य रखती है और न रामानुजाचार्य के विशिष्टद्वैत से। अष्टछाप के अन्य कवियों में यह विशेषता केवल नन्ददास के पदों में ही दृष्टि-गोचर होती है। विशिष्टाद्वैत में प्रकृति और जीव, व ईश्वर या ब्रह्म के अंग हैं और दोनों ही ब्रह्म के विशेषण हैं। रामानुज के मतानुसार जीव नित्य और अनेक हैं और वे ब्रह्म के नित्य अंश हैं। इस प्रकार ईश्वर, प्रकृति और जीव से विशिष्ट है।

नन्ददास ने कृष्ण के अतिरिक्त कृष्ण के अन्य अवतार राम, नृसिंह आदि में भी अपनी आस्था प्रकट की है। निम्नपद में देखिये:-

राम कृष्ण कहिये उठ भोर।
वे अवधेस धनुष कर धारें, ये ब्रज जीवन माखन चोर।
उनके छत्र चंवर सिंहासन, भरत शत्रुघ्न लछमन जोर।
इनके लकुटि मुकुट पीताम्बर, नित गायन संग नन्दकिशोर।
उन सागर में शिला तराई, इन राख्यो गिरि नख की कोर।
नन्ददास प्रभु सब तजि भजिए, जैसे निरखत चंद चकोर।[1]

१-'नन्ददास' शुक्ल, पृ० ४२६ पाठ- भेद से।

नन्ददास के अनुसार ।कृष्ण ने ब्रज में तथा धर्म संस्थापन के लिये वासुदेव, राम आदि चौबीस अवतारों को धारण कर इस लोक में प्रगट हुये हैं । वे कहते हैं:-

" हौ प्रभु सुद्ध तत्व मय रूप, एक रूप पुनि नित्य अनूप ।
रज गुन तम गुन ए सब डरैं, तुम कहुं दूर परेते परैं ।
हम रज गुन तम गुन के भरे, अंध दुर्गन्ध गर्व मद भरे ।
कहं तुम निज आनन्द रसभरे, कहं हम लोभ मोह मद भरे ।
दुष्ट दमन तुम्हरो अवतार,है अद्भुत ब्रज राजकुमार ।
परम धर्म रछा जु करत हौ,हमसे खलन को दंड धरत हौ।[१]

कृष्ण की उपासना के अतिरिक्त नन्ददास ने कृष्ण की आनन्द शक्ति राधा की, उनके युगल रूप इत्यादि लीलायें तथा स्तुति भी लिखी है ।

अपने 'भ्रमरगीत' में उद्धव-गोपी-सम्वाद के रूप में निर्गुण पर सगुण की विजय और योग एवं ज्ञान मार्ग पर प्रेम की विजय दिखलाई है । तथा गोरखनाथ जैसे योगियों के योग-पंथ और कबीर आदि सन्तो के ज्ञानमार्ग की अपेक्षा वल्लभाचार्य की प्रेम-भक्ति का महत्व स्थापित किया है ।

जीव:- वल्लभ-सम्प्रदाय में अंशरूप जीवात्मा के साथ रहने वाला ब्रह्मका एक अन्तर्यामी रूप भी माना है । नन्ददास के अनेक पद अनेक ग्रन्थ' दशम स्कन्ध भाषा' में उपर्युक्त भाव के लिखे हुये हैं । वे कहते हैं कि जीव कीदेह पाप पुण्य कर्मों से निर्मित है और संसारी जीव की विषय-विदूषित इन्द्रियां इस अन्तर्यामी ब्रह्म को नहीं पकड़ सकती हैं । इनका निम्न पद इसी भाव का है:-

" निपट निकट घट में जो अन्तर्यामी आही ।
विषै विदूषित इन्द्री पकरि सकै नहिं ताही ।[२]

बद्धजीव और ईश्वर में अन्तर समझाते हुये कहते है कि ईश्वर काल, कर्म और माया के बन्धन से अलग हैं और जीव काल कर्म और माया के वश में है ,

---

१- दशम,स्कन्ध, २७ वां अध्याय,'नन्ददास' शुक्ल, पृ० ३१५, पाठ- भेद से ।
२- रास पंचाध्यायी, पंचम अध्याय,उदय नारायण तिवारी, पृ०८८ तथा नन्ददास, शुक्ल, पृ० १८२, पाठ- भेद से ।

वे विधिनिषेध और पाप पुण्य के इस विकार से प्रभावित है ।

" काल करम माया अधीन ते जीव बखाने ।
विधि निषेध बल पाप पुन्य तिनमें सब साने ।
परम धरम परब्रह्म ज्ञान विज्ञान प्रकासी ।
ते क्यों कहिये जीव सहस श्रुति शिखा निवासी ।[1]

यानी जो जीवात्माएं पुण्य और पाप से निर्मित गुणमय शरीर के धर्मों को छोड़कर ईश्वर का नैकट्य लाभ करती हैं अथवा ब्रह्म को जान लेती हैं, वे अपने सत्य रूप आनन्द तथा ईश्वरीय ६: गुणों को धारण करती हैं । शुद्ध प्रेम के गुणों को बताते हुये नन्ददास कहते हैं कि:-

" शुद्ध प्रेममय रूप पंच भूतन ते न्यारी ।
तिन्हैं कहा कोउ कहै जोति सी जग उजियारी ।
जे रुकि गई घर अति अधीर गुनमय सरीर बस ।
पुन्न पाप प्रारब्ध सच्यौ तन नाहिं पच्यौ रस ।[2]

ईश्वर प्रकरण में कहा जा चुका है कि नन्ददास अद्वैत ब्रह्म को मानने वाले थे । अपनी रचना 'दशम स्कन्ध भाषा' में एक स्थल पर कहते हैं:-

" व्यक्त अव्यक्त जु विश्व अनूप, वेद बदत प्रभु तुम्हरो रूप ।
तुम सब भूतनि को विस्तार, देह प्रान इन्द्री अहंकार ।
तुम ही प्रकृति, सकति सब तुमही, सत रज तम जे है है उमही ।
तुम ही जीवन तुम जी जीय, सब ठां तुमही, कोउ अवर न बीय ।[3]

अर्थात ईश्वर जड़ चेतन का कारण है । सम्पूर्ण प्राणी उसी ईश्वर के विस्तार रूप हैं । ईश्वर ही जीव के रूपों में है और ईश्वर ही इस सम्पूर्ण सृष्टि रूप में है ।

अत: उक्त ~~प्रकार~~ प्रकार से नन्ददास ने ईश्वर और जीव की अद्वैतता को स्वीकार किया है । आगे चलकर 'दशम स्कन्ध भागवत भाषा' में नन्ददास ने ईश्वर-जीव की अद्वैतता किस सम्बन्ध से प्रकट की है ? इसका विवेचन किया है। उन्होंने एक स्थान पर शंकर, ब्रह्म, शारदा, देवता ,नारद तथा अन्य मुनियों से

१- सिद्धान्त पंचाध्यायी, नन्ददास शुक्ल पृ० १८४ ।

२- रासपंचाध्यायी,प्रथम अध्याय,उदयनारायण तिवारीपृ०१६ तथा 'नन्ददास' शुक्ल पृ० १६०, पाठ- भेद से ।

३-" दशम स्कन्ध भागवत," दशम अध्याय, नन्ददास,पृ० २४१,पाठ-भेद से ।

श्रीकृष्ण की स्तुति कराई है । पद नीचे दिया जा रहा है :-

" तदनन्तर, संकर अज सारद, अवर,अमर, वर मुनिवर नारद ।
आए दरसन हित अरबरै, अति मुद भरै अचम्भै भरै ।
जाके उदर मधि जग सबै, सौ देवकी उदर मधि अबै ।
\+ + + +
करि दण्डवत महामुद भरै, इकइ वेर सब पायन परै ।
गद्गद कराठ प्रेम रस भरै, अंजुलि जौरि स्तुति अनुसरै ।
\+ + + +
तुम परमेश्वर सबके नाथ , बिस्व समस्त तिहारै हाथ ।
तुमतै हम सब उपजत ऐसें, अगिनि तैं बिस्फुलिंग गन जैसें ।[१]

हे परमेश्वर.! तुम सब के स्वामी हो। सम्पूर्ण विश्व आपके ही हाथ में है । हम सब प्राणी आपसे ही उपजते अर्थात पैदा होते हैं जैसे अग्नि से उसकी अनेकों अगणित चिनगारियां निकलती हैं।

यहां पर नन्ददास ने बल्लभाचार्य के ब्रह्मवाद का पूर्णरूपेणा समर्थन किया है ।तथा अनुसरण किया है ।

अन्य कई स्थलों पर जीव जगत और ईश्वर की अद्वैतता बताते हुये जीव और जगत को ब्रह्म प्रसूत बताया है ।" तुमतै प्रकट जनम यह मेरौ " "दशम स्कन्ध भागवत" के चौदहवें अध्याय में कहा है ।

<u>जगत:-</u> नन्ददास ने सृष्टि की रचना के लिये अट्ठाइस तत्व बताये हैं,जिनको श्री बल्लभाचार्य जी ने भी माना है वे २८ तत्व निम्न पद में लिखे हैं वे तत्व ये हैं :-

" जै जै जै श्रीकृष्ण रूप गुण करम अपारा ,
परम धाम जग धाम परम अभिराम उदारा ।
\+ + + +

१-" दशम स्कन्ध भागवत", द्वितीय अध्याय,"नन्ददास", शुक्ल, पृ० २०७ ।

रूप गन्ध रस शब्द स्पर्श जे पंच विषय वर ,
महाभूत पुनि पंच पवन पानी अम्बर घर ।
दस इन्द्रिय अरु अहंकार महतत्व त्रिगुन मन ।
यह सब माया कर विकार कहँ परम हंस गन।।[1]

अत: पंच तन्मात्रायें पंच महाभूत, पंच ज्ञानेन्द्रियां,पंच कर्मेन्द्रियां, अहंकार,महत्व (बुद्धि) तीन गुन (सत रज तम) तथा मन, इन छबीस के अतिरिक्त पुरुष और प्रकृति इन दो मुख्य तत्वों को नन्ददास ने शब्दों में प्रकट नही किया । इसमें नन्ददास ने तीन गुणों को प्रकृति के स्वाभाविक गुण न मानकर वल्लभ मतानुसार स्वतंत्र तत्व माना है ।

नन्ददास के मत में जगत ब्रह्म के सत् अंश का अविकृत परिणाम है अत: जगत एवं ब्रह्म सत्य है, इस लिये शंकर के अद्वैत तथा मायावाद के समान मिथ्या नही है । शुद्ध अद्वैत और अविकृत परिणामवाद का समर्थन नन्ददास ने अपने भंवरगीत की निम्नलिखित पंक्तियों में किया है :-

' मोमें उनमें अन्तरो,एकौ छिन भरि नाहि ,
ज्यों देखो मो मांहि वै,तो मैं उनही मांहि,तरंगिनि वारि ज्यों[2]।'

दशम स्कन्ध भागवत, तृतीय अध्याय में एक पद में जगत के विषय में नन्ददास जी कहते है कि:-

' ब्रह्म निरीह ज्योति अविकार, सत्ता मात्र जगत आधार ।
+ + + +
अरु जब लोक चराचर जितो, लीन होत माया में तितो ।
तब तुमही तहां रहत अकेले ,जोय धाम निज रस में फैले ।[3]

अर्थात इस जगत का आधार ब्रह्म की सत्ता अथवा सत् रूप है, जब यह जगत ब्रह्म की माया में लीन हो जायेगा उस समय केवल एक ब्रह्म ही रह जायेगा ।

१- सिद्धान्त पंचाध्यायी 'नन्ददास' शुक्ल नं० ५ पृ० १८३ ।
२- भंवरगीत, 'नन्ददास', शुक्ल, पाङ्क्ति नं० ३६८- ३७०, पृ० १४१ ।
३- दशम स्कन्ध, भागवत, तृतीय अध्याय, 'नन्ददास' शुक्ल, पृ० २११ ।

अत: उक्त पद के भाव को देखते हुये यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि नन्ददास ने बल्लभाचार्य के जगत सम्बन्धी विचारों का पूर्णरूपेण समर्थन किया है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि नन्ददास का जगत सम्बन्धी विचार स्पष्टरूप से शुद्धाद्वैत मत का प्रतिपादन करता है। उनके जगत सम्बन्धी विचार कई स्थानों पर दिये हैं। वे कहते हैं कि सम्पूर्ण जड़ और चेतन सृष्टि के मूल में एक ही शुद्ध तत्व है जो नाम और रूप के भेद से अनेकरूपता धारण किये हुए हैं। निम्न पद में इस भाव का है:-

" नाम रूप गुण भेद तें सोइ प्रकट सब ठौर।

ता बिनु तत्व जु आन कछु कहै सो अति बड़ बौर।[1]

अब यह प्रश्न उठता है कि वह शुद्धतत्व कौन है? इसका उत्तर नन्ददास निम्न पद में देते हैं :-

" हो प्रभु शुद्ध तत्व मय रूप, एक ह रूप पुनि नित्य अनूप।[2]"

अर्थात वह शुद्ध तत्व परब्रह्म श्री कृष्ण है।

ब्रह्म और जगत की अद्वैतता बताते हुये नन्ददास ने ब्रह्म को ही जगत का निमित्त और उसी को उपादान कारण माना है। अनेकार्थ मंजरी, पंच मंजरी बलदेवदास, करसनदास के छन्द सं० एक में नन्ददास जी कहते हैं कि " जो ब्रह्म ज्योतिर्मय, और जगतमय है वही अभेद रूप से जगत का उपादान कारण है और वही उसका करने वाला निमित्त है।"

बल्लभ- सम्प्रदाय के अविकृत परिणामवाद का समर्थन करते हुये यह बताते हैं कि एक तत्व अनेक रूपों में किस प्रकार से बदलता है, अनेकार्थ मंजरी में इस भाव को निम्न पद में बताते हैं :-

" एकहि वस्तु अनेक ह्वै जगमगात जगधाम,

ज्यों कंचन तें किंकिणी कंकण कुण्डल नाम।[3]

१- मानमंजरी, पंचमंजरी, दोहा नं० २, बलदेवदास करसनदास पृ० ६६

२- दशम स्कन्ध, २७ वां अध्याय, "नन्ददास", शुक्ल, पृ० ३१५।

३- अनेकार्थ मंजरी, मंगलाचरण, दोहा नं० २, पंचमंजरी, बलदेवदास करसनदास पृ० १११।

एक ही वस्तु अनेक नाम और रूपो में इस प्रकार जगमगा रही है जैसे स्वर्ण से बने हुये अनेक आभूषणों अर्थात् कंकर, करधनी, कुण्डल आदि में नाम और आकार भेद होते हुये स्वर्ण- साधारण वस्तु व्याप्त रहती है। इस प्रकार जगत और ब्रह्म की अद्वैता बताते हुये नन्ददास ने बहुत अधिक संख्या में स्थल स्थल अनेकों उदाहरण दिये हैं। जगत में जो गुण और भाव हैं वे सब परब्रह्म से ही प्रसूत हैं जैसे समुद्र से बादल बनते हैं और उससे जल लेकर पृथ्वी पर बरसाते हैं, फिर अन्त में समुद्र उनको अपने में ही मिला ले लेता है। और जैसे अग्नि से अनेक दीपक-ज्योति जलती है, परन्तु सब मिलकर वे एक अग्निमय हो जाती हैं। इस प्रकार उन्होंने जगत को ब्रह्म से प्रसूत, ब्रह्म का ही परिणाम और अन्त में ब्रह्म में ही लीन होने वाला बताया है।

संसार:-- सूरदास की भांति नन्ददास ने भी संसार को मिथ्या और सारहीन कहा है, तथा जगत को सत्य बताया है। नन्ददास अपने 'दशम स्कन्ध' नामक ग्रन्थ के दशम अध्याय में निम्न पद में संसार के विषयक में कहते हुये लिखते है:-

" ऐ पर यह श्रीमद है जैसो, बड़ अनरथ कर अवर न हैसो।
मति भ्रंसक सब धर्म विध्वंसक, निर्दय महा विरथ पथ हिंसक।
नश्वर देह सबै कोउ जाने, ता कहुं अजर अमर करि माने।
रच्यो पांच भौतिक करि देह, अन्त सबै कृमिविष्ठा खेह।
जा कहुं कहत कि यह तन मेरो, तामें बहुरि बहुत अरुझेरो।
मा कहै मेरो पितु कह मेरो, मोल लयो सो कहै मो चेरो।
ऐसे साधारन इह देह, तिन सों करि के परम सनेह।
भूत होय आचरत न डरै, धमकि धमकि नरकन में परै।
श्रीमद कर सु अंध व्है जाइ, दारिद अंजन परम उपाइ।[1]

अर्थात असार और अनित्य संसार के झूठे मद में अन्धे तथा संसार दुःख के चक्र में पड़े जीवों का वर्णन करते हुये नन्ददास नारद के मुख से यह कहलाते हैं कि

१- दशम स्कन्ध' दशम अध्याय 'नन्ददास', शुक्ला, पृ० २३६-२४०, कुछ पाठ भेद से।

सांसारिक ऐश्वर्य बुद्धि को भ्रम में डालने वाले और धर्म के विध्वंसक हैं। यह देह नश्वर है परन्तु संसारी जीव इसे अजर अमर मानता है इस कृमिसेह से उत्पन्न होने वाली देह के को, यह भ्रमित जीव, मेरा मेरा कहता है और अनेक दुख जालों में फंसता है। इस प्रकार जो झूठे गर्व से अन्धा है उसकेलिये एक उपाय यही है कि वह इस झूठे गर्व पूर्ण संसार को छोड़ कर मदहीनता का दारिद्र रूपी अंजन लगा ले।

'रास पंचाध्यायी' में संसार के विषय में बताते हुये एक स्थल पर नन्ददास जी कहते है कि:-

> 'तिमिर ग्रसित सब लोक ओक दुख देखि दयाकर,
> प्रकट कियो अद्भुत प्रभाव, भागवत विभाकर।
> जे संसार अंधियार गार में मगन भए परि,
> तिन-हित-अद्भुत दीप प्रकट कीनों जु कृपा करि।[१]

इस प्रकार जो व्यक्ति इस असार संसार के आगार में घिर गये हैं अथवा संसार के अन्धकारपूर्ण गर्त में गिर गये हैं, उनके लिये श्री शुकदेव जी ने भागवत रूप में दीपक प्रकट किया है।

'सिद्धान्त पंचाध्यायी' में इन्होंने संसार को बहाने वाली धारा तथा प्राण घोटने वाला फन्दा बताया है। निम्न पद इसी भाव का है:-

> ' बहे जात संसार धार जिय फन्दे फन्दन,
> परम तरुना करि प्रकटे श्री नन्दनन्दन।[२]

अत: जैसा कि नन्ददास के जगत सम्बन्धी विचारों को बताते हुये यह कहा जा चुका है कि नन्ददास ने अन्य अष्टछाप के कवियों की भांति जगत को स्पष्ट शब्दों में ब्रह्म के सत् तत्व का अविकारी परिणाम कहा है। और इससे यह स्पष्टरूप से कहा जा सकता है कि वे जगत को मिथ्या न मान कर सत्य मानते थे। निम्न पद में संसार के प्रति अपने भाव प्रकट करते हुये कहते हैं कि:-

---

१- 'रास पंचाध्यायी' प्रथम अध्याय 'नन्ददास' शुक्ल पृ० १५६।
२- 'सिद्धान्त पंचाध्यायी', नन्ददास, शुक्ल, पृ० १८४।

'तब पद पंकज दरसै परसै , कौन पुन्य धौं मैरै सहुरसै ।
अरु संसार असार अपार, सहज ही भयौं ज ताकै पार ।
तुम अपने परमातम स्वामी, ब्रह्म रूप सब अन्तर्यामी ।[1]

उपर्युक्त पद को देखने से यह ज्ञात होता है कि नन्ददास ने अविद्या माया जन्य संसार को सारहीन और देह तथा देह सुखों को अनित्य माना है ।

माया :-

अष्टछाप के कवियों तथा वल्लभ सम्प्रदाय के सिद्धान्तों के अनुसार ही नन्ददास ने भी माया के दो भेद बताए हैं ।उनके अनुसार माया दो प्रकार की है -

१- ब्रह्म की आदि शक्ति-स्वरूपा माया
२- ईश्वरीय गुणों से आच्छादित माया

प्रथम प्रकार की माया सृष्टि का सृजन, पालन और लय करती है तथा द्वितीय प्रकार की माया द्वारा मनुष्य अहंता ममतात्मक संसार की सृष्टि करके उसके ईश्वरीय गुणों का आच्छादन करती है । उपर्युक्त दोनों प्रकार की माया का वर्णन नन्ददास निम्नपद में करते हुए कहते हैं :-

'लोक सृष्टि सिरजत यह माया , तुमतें दुरि मलमई काया,
है सरवग्य अग्य जन मैरे , जानैं नहिंन धर्म प्रभु कैरे ।'[2]

अर्थात् माया, लोक(संसार) और सृष्टि (जगत) का सृजन करती है । अत: उक्त कथन में दोनों प्रकार की माया का उल्लेख स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है ।

१-'दशम स्कन्ध' अध्याय २८,'नन्ददास' शुक्ल ,पृ० ३१८ :३१९

२- दशम स्कन्ध भाषा, २८ वां अध्याय, नन्ददास, शुक्ल , पृ० ३१९

रास पंचाध्यायी में नन्ददास कृष्ण की मुरली से भगवान की आदि शक्ति योगमाया की समता देते हुये एक पद कहते हैं कि यह योगमाया अघटित घटनाओं को घटित करने वाली हैं निम्न पद में इसी भाव को देखिये:-

'तब लीनी कर कमल योगमाया सी मुरली,
अघटित घटना चतुर, बहुरि अधरन रस जुरली ।
जाकी धुनि ते अगम निगम, प्रगटे बड़नागर ।
नाद ब्रह्म की जननि मोहिनी, सब सुख सागर ।[1]

उपर्युक्त कथन में नन्ददास ने 'योगमाया' शब्द से भगवान की सृष्टिकारिणी शक्ति का संकेत किया है ।इसी ग्रन्थ में एक स्थल पर गोपी मिलन पर कृष्ण गोपियों से कहते हैं कि:-

'सकल विश्व अपबस करि मो माया सोहति है ।
प्रेम मई तुम्हरी माया मो मन मोहति है ।
तुम जो करी सो कोउ न करै सुनि नवल किसोरी ।[2]
लोक वेद की सुदृढ़ शृंखला तृन सम तोरी ।

अर्थात है किशोरियों। मेरीमाया ने सम्पूर्ण विश्व को वश में कर रखा है ,परन्तु तुम्हारी प्रेममयी मायाने मुझे वश मे कर रखा है जिसके साधन से तुमने लोक वेद की शृंखलाओं को (संसार के बन्धन को) तिनके के समान तोड़ दिया है ।

भगवान की शक्ति- स्वरूपा सत्य माया का वर्णन, निम्न पद में करते हैं :-

'दस इन्द्रिय अरु अहंकार महतत्व त्रिगुन मन,
यह सब माया कर विकार कहैं परम हंस गन ।
सो माया जिनके अधीन नित रहत मृगी बस,[3]
विश्व प्रभव, प्रतिपाल प्रलय कारक आयुस बस।'

१- रासपंचाध्यायी, प्रथम अध्याय, उदयनारायण तिवारी,पृ० १५ तथा नन्ददास शुक्ल, पृ० १६०, पाठ-भेद से

२- रासपंचाध्यायी, चतुर्थ अध्याय, उदयनारायण तिवारी पृ० ६२ ।तथा नन्ददास,शुक्ल पृ० १७५ पाठ- भेद से ।

३- सिद्धान्त- पंचाध्यायी, नन्ददास, शुक्ल पृ० १८३ ।

नन्ददास कहते है कि पंच महाभूत, आदि अट्ठाइस तत्वों की बनी सृष्टि माया का ही परिणाम है।यह माया भगवान के वश में सदैव रहती है और भगवान की इच्छानुसार जगत का सृजन पालन और प्रलय कर ती है।

इस प्रकार नन्ददास के उपर्युक्त कथनों में ईश्वर शक्ति-स्वरूपा माया का विभिन्न शक्तियों के रूप में वर्णन मिलता है। जिस पर बल्लभ सिद्धान्त का प्रभाव दिखता है।

नन्ददास लिखित भंवरगीत के गोपी उद्धव संवाद में गोपियों के मुख से नन्ददास ने माया के दोनों रूपों,शुद्ध स्वरूपा माया तथा अविद्या माया का वर्णन कराया है। नीचे लिखे पद में यह भाव स्पष्ट हो जाता है :-

"जो उनके गुन नाहिं और गुन भये कहां ते।
बीज विना तरु जमै मोहि तुम कहो कहां ते।
वा गुन की परछांह री माया दर्पन बीच।
गुन ते गुन न्यारे भये, अमल वारि मिलि कीच, सखा सुन श्याम के।"[1]

अर्थात् हे उद्धव, तुम कहते हो कि ईश्वर निर्गुण है, तो हमे बताओ यदि उसके गुण नहीं है तो इस सृष्टि में दीखने वाले गुण कहां से आये हैं ? वस्तुत:ईश्वर सगुण है और उसके गुणों की परछाई ही,उसकी माया(प्रकृति) के दर्पण में पड़ रही है। स्वच्छ जल के समान ईश्वरीय शुद्ध गुणों को जो प्रकृति माया के माध्यम में परिणाम रूप में व्यक्त हो रहे हैं। अविद्या माया की कीच ने सान दिया है और इन्हीं सने हुये गुणों को संसारी जन अपनाते हैं।

इस प्रकार इनके मतानुसार यदि अविद्या माया का मैल अलग कर दिया जाय तथा प्रकृति माया का माध्यम रूप दर्पण हटा दिया जाय तो ब्रह्म के शुद्ध गुण रह जायेंगे।व्यक्ति इस शुद्ध सगुण ईश्वर को न देखकर प्रकृति में पड़ी उसकी परछाई को देखते हैं, जो वस्तुत: सत्य का संकेत मात्र है। जिस माया के दर्पण का नन्ददास ने यहां वर्णन किया है वह शंकर की मिथ्या माया का मिथ्या दर्पण नही है , यह दर्पण ब्रह्म की 'सत्' स्वरूपा प्रकृति की माया का दर्पण है। इस प्रकार शंकर मत में सृष्टि, ब्रह्म का परिणाम नहीं है उस

१- भंवरगीत, नन्ददास , शुक्ल , पृ० १८८ पाठ- भेद से ।

उस मत में सम्पूर्ण जीव जगतादि सृष्टि, भ्रम मात्र है ,परन्तु नन्ददास ने परिणामवाद के साथ अविद्या माया द्वारा उपस्थित किये भ्रम को स्वीकार किया है जो अहंता ममतात्मक संसार का कारण है । इस प्रतीति और भेद का कारण अविद्या है । इस भाव को वे अपने ग्रन्थ `रूपमंजरी` में एक स्थल पर कहते हैं:-

पुनि जस पवन एक रस आही, वस्तु के मिलत भेद भयो ताही ।[1]

इस प्रकार नन्ददास ने अपने `भ्रमरगीत` में जिस माया के दर्पण और जिन ईश्वरीय गुणों की परछाईं का उल्लेख किया है, वह शंकर के मायावाद से बिल्कुल भिन्न है । इस मत को तो नन्ददास ने कई स्थलों पर कहा है कि :-

`माया मोहन लाल की , जिहि मोहे जग जन्त ।[2]

अर्थात दोनों प्रकार की माया मूल में `मोहन लाल` की है ।

नन्ददास के माया संबन्धी विचारों को देखते हुये यह निष्कर्ष निकलता है कि उन्होंने अपने माया संबन्धी विचारों में वल्लभ मत का ही अनुकरण किया है । उनके मतानुसार तथा वल्लभ मतानुसार भी विद्या-माया से अविद्या-माया के भ्रम को हटाकर भगवान की सृष्टिकारिणी सत् चित और आनन्दशक्ति रूपिणी माया का दर्शन होता है ।

मोक्ष:-- वल्लभ-मतानुसार नन्ददास ने भी इस कृत्रिम देह को गुणमय माना है , तथा पाप और पुण्य कर्मों से बना हुआ बताया है। बिना प्रारब्ध कर्मों के भोग के ईश्वर का सानिध्य-सुख नहीं मिलता । परन्तु नन्ददास के विचार से प्रेम-भक्ति की दु:सह विरहाग्नि से संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण कर्मों का तिरोभाव हो जाता है वे उसमें जलकर भस्म हो जाते हैं । जो प्रारब्ध कर्म बचते भी हैं,उन कर्मों के भार से, भगवान अपनी कृपा के बल द्वारा छुटा देते हैं ।यह भाव नन्ददास के निम्न पद में दृष्टिगत होता है:-

`बहुरि कहत यह गुन मय देह, पाप पुण्य प्रारब्ध के गेह ।

१- रूपमंजरी, पंचमंजरी,बलदेवदास करसनदास, पृ० १५८,छन्द नं० १२ ।

२- अनेकार्थ मंजरी,पंचमंजरी , बलदेवदास करसनदास पृ० १५१ छन्द नं० ६६ ।

भुगते बिनु न घाटि कै जाहीं, अब भुगते यह भी मन माहीं।
दुसह बिरह जु कमल नैन कौ, अनेक भांति कै दु:ख दैन कौ।
सो इ दुख आनि कक पर्यो जब इनमैं, कोटि नरक दुख भुगये छिन मैं।
ता करि पापनि कौ फल जितौ, जरि बरि मरि खरि गिरि गयौ तितौ।
पुनि रंचक हिय मैं धरि ध्यान, कीन्हौं परिरम्भन रस पान।
कोटि सुरग सुख छिन मैं लिये, मंगल सकल बिदा कर दियै[1]

उपर्युक्त भाव केवल इने गिने ही नहीं मिलते बल्कि नन्ददास ने इस भाव को स्थान स्थान पर लिखा है तथा `मोक्ष` के विषय में अपने विचार स्पष्ट रूप से प्रकट करने का प्रयत्न किया है:-

` तजि तजि तिहि छन गुन मय देह, जाइ मिली करि परम सनेह।
जदपि`जार बुद्धि` अनुसरी, परमानन्द कक कन्द रस भरी।
+ + + +
ये हरिप्रिया परम रस ओपी, जिनहूं सबै बिधि इहि बिधि लोपी।
आवृत ब्रह्म जियनि मैं मानि, कृष्ण अनावृत ब्रह्म है जानि।
नरन के श्रेय करन हित तेही, दिखियत आत्मा परमसनेही।[2]

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि भगवान के बल द्वारा जो प्रारब्ध-कर्म बचते हैं उनको भी छुटकारा मिल जाता है। तदुपरान्त भक्त को सान्निध्य, सभी मुक्ति मिलती है।

अपने `रास पंचाध्यायी` `सिद्धान्त पंचाध्यायी` में तथा ` रूपमंजरी ` ग्रन्थों में कृष्ण के नित्य रास करा कर तथा उसे दर्शक और अभिनेत्री रूप देकर अखण्ड रस की अनुभूति का चित्रण किया है यह पुष्टि भक्ति में सर्वश्रेष्ट मोक्ष अवस्था मानी गई है। नन्ददास ने अपने इन ग्रन्थों में चारों प्रकार की मुक्ति का वर्णन अलग अलग किया है।

सालोक्य अनुभूति का वर्णन करते हुये निम्न पद को देखिये:-

१- दशम स्कन्ध, २९ वां अध्याय, नन्ददास , शुक्ल पृ० ३२२, पाठ-भेद से।
२- दशम स्कन्ध , २९ वां अध्याय , नन्ददास शुक्ल, पृ० ३२२,पाठ-भेदसे।

* इह बन दुर्लभ जाह्यौं, इन्दुमती सुनि बात ।
जाकी रंचक रज गरज, अज से मरि पचि जात ।[1]

सामीप्य मौदा का उदाहरण देखिये :-

* तब क्रम क्रम वह सखी सुहाई, रवे रास मण्डल में लाई ।
मृदु कंचन मनि कछ मय तहं धरनी, मन हरनी छवि परत न बरनी ।[2]
+ + + +
ठाढ़े नन्द सुवन तेहि माहीं, वृषभानु दुलारी के गलबाहीं ।[3]

तथा

* सांवरे पिय कर परस पाइ सब सुलित भई ज्यौं,
परम हंस भागवत मिलन संसारी जन यौं ।[4]

सारूप्य मौदा के पद :-

* कमल नैन करुनामय सुन्दर नन्द सुवन हरि,
रम्यौं चहत रस रास इनहिं अपनी सम सटि कटि ।[5]

सामुज्य मौदा को निम्न पद में नन्ददास स्पष्ट करते हुये दृष्टिगोचर होते हैं :--

* तजत भई तिय सम तन सोई, ज्यौं जीरन पट त्यागत कोई ।
ज्यौं रवि और रवि की गरमाई किरण मांझ ही रवि में जाई ।
सखी जब वृन्दावन ढिंग गई, विपिन विलोक चकित अति भई ।
+ + + +
* सुधि न रही रही छवि मोहन , राग भई किधौं प्रेम मई मन ।[6]

१- ह रूप मंजरी, पंचमंजरी, बलदेवदास करसनदास,पृ० २३८,छन्द नं० ५६१ ।
२- वही ,, ,, ,, ,, पृ० २३८, छन्द नं०५६६,५६७ ।
३- वही ,, ,, ,, ,, पृ० २३८ छन्द नं०५७१ ।
४- सिद्धान्त पंचमंजरी पंचाध्यायी,नन्ददास ,शुक्ल पृ० १८२ ।
५- वही ,, ,, ,, पृ० १८६ ।
६- रूपमंजरी,पंचमंजरी,बलदेवदास करसनदास,पृ०२३५-२३६ छ०नं० ४४४-४४६तथा छ० ५५१ ।

इस प्रकार नन्ददास ने अपने रास वर्णन में चारों उक्त प्रकार की मुक्तियों का समावेश करदियाश है ।इनके अतिरिक्त नित्य रास में गोपियों द्वारा आस्वादित रास रस को भी नित्य कह कर उन्होंने बल्लभ-सम्प्रदाय में मान्य स्वरूपानन्द मोक्ष का परिचय दिया है ।

'रूप मंजरी' में नन्ददास ने रूपमंजरी के देह त्याग कर कृष्ण के नित्य रास में प्रवेश पाने के बारे में कहा है कि जैसे सूर्य की गर्मी सूर्य के की किरणों में होकर सूर्य में ही समा जाती है उसी प्रकार रूप मंजरी अपने प्रिय कृष्ण से जा मिलती है । इस प्रकार रूप मंजरी में नन्ददास ने लयात्मक सायुज्य मुक्ति का वर्णन किया है ।

नन्ददास ने स्थान स्थान पर अपनी रचनाओं में माया के पंजे से छूट कर प्रेम-भक्ति की संयोग तथा वियोग दोनों मानसिक अवस्थाओं में परम आनन्द की अनुभूति का चित्रण किया है । इस आनन्दावस्था में भक्त ईश्वर के सतत् ध्यान में जिस सान्निध्य भाव का अनुभव करता है उसका अनुक्र वर्णन नन्ददास ने अपनी रचना 'रास पंचाध्यायी' में निम्न पद में की है :-

'पुनि रंचक धरि ध्यान पीय परिरम्भ दियो जब ।
कोटि सरग सुख भोग ,छिनक मंगल भुगते तब ।[1]

उक्त प्रेम-भक्ति की सानिध्यावस्था का वर्णन नन्ददास ने अपनी द्वितीय रचना 'दशम स्कन्ध भाषा' में भी किया है । जीवन- मुक्ति - अवस्था के भगवद् सानिध्य के पश्चात् श्री कृष्ण का साक्षात्कार होने वाली मोक्ष की सानिध्य अवस्था का 'उपर्युक्त पुस्तक' में वर्णन मिलता है ।निम्न पद नन्ददास के उपर्युक्त भाव का सुन्दर उदाहरण है:--

'ये अद्भुत अवतार जु लेत, विस्वहि प्रति पालन के हेत ।
जो दिन दिन दिनमनि न उवाय, तो सब अन्ध धुन्ध व्है जाय ।
अब अपने भक्तन है हेतु , दुर्लभ मुक्ति सुलभ करि देत ।

१- रास पंचाध्यायी ,प्रथम अध्याय, सु० उदयनारायणतिवारी पृ० १७ ।

'तब पद पंकज नौका करि कै, पार परै भवसागर तरि कै।

पद पंकज के सन्निधि मात्र, तबहीं भये मुक्ति के पात्र।'[1]

अर्थात है प्रभु! आप विश्व के पालन के लिये जगत में अवतार धारण करते हैं और भक्तों के लिये दुर्लभ मुक्ति भी सुलभ कर देते हैं। आपके चरण-कमलों की नौका द्वारा भक्त जन इस संसार-सागर से पार हो जाते हैं। और आप के चरणों की शरण में आकर वे मोक्ष के अधिकारी होते हैं। सायुज्य मुक्ति पाने के पश्चात् भक्त मानसिक सुख की स्वयं अनुभूति करने लगता है तथा भगवान के दर्शन पल-पल करने लगता है इसका वर्णन नन्ददास एक पदमें करते हैं-

'देखो देखो री नागर नट निर्तत कालिंदी तट,

गोपिन के मध्य राजै मुकुट लटक।

+ +

तत थेई ताता थेई शब्द सकल उघट

उरप तिरप गति परै पग की पटक।

रास में राधे राधे मुरली में एक घट,

नन्ददास गावै तहं निपट निकट।'[2]

कवि आश्चर्यचकित नेत्रों से देखता है और अचम्भे से कहता है कि वह देखो कृष्ण यमुनातट पर किस सौन्दर्य के साथ गोपियों के बीच नाच रहे हैं। और कवि स्वयं वहां निपट निकट से इस नाच की ताल में स्वर मिला कर गा रहा है। अष्टछाप की वार्ता में इस पद के विषय में लिखा है कि इस पद को जब अकबर ने सुना तो नन्ददास से मिलने को आतुर हो गया और अन्त में वह उनसे मिला तथा पूछा कि आप कृष्ण के निकट कैसे पहुंचे? नन्ददास ने इसका कोई उत्तर नहीं दिया और कहा जाता है कि उन्होंने उसी समय अपना देह त्याग दिया।

१- दशम स्कन्ध, अध्याय २, नन्ददास, 'शुक्ल' पृ० २०८

२- नन्ददास 'शुक्ल' पृ० ३३२

परमानन्ददास

ब्रह्म :- अष्टछाप के कवियों की रचनाओं को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि परमानन्ददास की रचनाओं में ईश्वर,जीव,प्रकृति आदि के विषय पर विस्तार पूर्वक सूरदास की भांति कोई सामग्री नहीं मिलती । परन्तु इतना अवश्य माना जा सकता है कि उनका काव्य ,भाव और भक्ति प्रधान है । फिर भी उनके कुछ पदों में ईश्वर,जीव,प्रकृति आदि के स्वरूप का संकेत अवश्य मिलता है । इन थोड़े से विचारों पर हीउनके दार्शनिक विचारों की दीवाल खड़ी हो जाती है । परमानन्द के जीवन को देखने से यह तो स्पष्टत: ज्ञात हो जाता है कि इनके गुरु वल्लभाचार्य जी थे अत: ये वल्लभी सम्प्रदाय के अनुयायी थे । इनके पदों को भी देखने से यह शंका दूर हो जाती है कि ये केवल वल्लभ सम्पदाय के अनुयायी थे । इनके पदों में अन्य किसी भी मत एवं संप्रदाय की छाप रंचमात्र भी नहीं दिखायी पड़ती है ।

ब्रह्म के विषय में देखते हुए यह स्पष्ट हो जाता है कि परमानन्द ईश्वर के रस-रूप के उपासक थे । इन्होंने निम्न पद में इस बात को स्पष्ट भी कर दिया है:-

राग गोरी

'रसिक सिरोमनि नंद नंदन ।
रस में रूप अनूप विराजत गोपबधू उर शीतल चंदन ।
नैननि में रस चितवन में रस, बातनि में रस उगत मनुज पसु ।
गावनि में रस मिलवनि में रस बेनु मधुर रस प्रगट पावन जसु ।
जिहि रस मत्त फिरत मुनि मधुकर सो रस संचित ब्रज वृन्दावन।
स्याम धाम रस रसिक उपासत प्रेम प्रवाह सु परमानंद मन ।।[१]

वे कहते हैं कि कृष्ण रस-रूप हैं ,उनके नयनों में, चितवन में, बातों में ,सभी में, रस उगता है । अर्थात् वे रस-रूप से भरे पड़े हैं । उसी रस-रूप का उपासक परमानन्द है जिसके हृदय में उस कृष्ण के प्रति प्रेम का प्रवाह बह रहा है ।

आगे एक दूसरे पद में परमानन्द कहते हैं कि यह रस - रूप सगुण ईश्वर अपार सौन्दर्यसे भरे पड़े हैं । उनका यह पद देखिए --

---

१- लेखक के निजी परमानन्ददास -पद -संग्रह से , पद नं० १३२

राग सारंग

[1] कान्ह कमल दल नैन तिहारे ।

अरुन विलास बंक अवलोकनि हठि मन हरत हमारे ।।

मदन कोटि रवि कोटि कोटि ससि ते तुम ऊपर वारे ।

परमानन्ददास की जीवनि गिरिधर नंद दुलारे ।।

परमानन्द के मतानुसार इस सौन्दर्य के रस को योगी और ज्ञानी नहीं पा सकते हैं बल्कि इसे केवल भक्त ही पा सकते हैं । भगवान की कृपा से परमानन्द ने इस सौन्दर्य रस का थोड़ा-सा आस्वादन किया था । इस प्रकार जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि ये ~~xxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxx~~ वल्लभ सम्प्रदाय के पूर्णरूपेण अनुयायी थे तथा इनके गुरु स्वयं श्री वल्लभाचार्य जी थे ।अत: परमानन्द ने ब्रह्म के सब रूपों से परे रस रूप पूर्ण पुरुषोत्तम को ही माना है । वे निम्नपद में रस रूप ब्रह्म के विषय में कहते हैं --

राग सारंग

[2] नाचत हम गोपाल भरोसे ।

गावत बाल विनोद कान्ह के नारद के उपदेसे ।

संतन को सर्वसु सुख सागर उजागर नंद कुमार ।

परम कृपालु यशोदा नंदन जीवन प्रान अधार ।

ब्रह्म रुद्र इन्द्रादिक देवता ताको करत विचार।

पुरुषोत्तम सबही को ठाकुर इह लीला अवतार।

सरग नरक को अब डरु नाहीं बिधि निसेद की आस।

चरन कमल मन राखि स्याम में बलि परमानन्ददास ।।

१- लेखक के निजी परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० १३०

२- वही पद नं० ३०७

अर्थात् कृष्ण सुख के सागर हैं और सन्तों के सर्वस्व हैं। ब्रह्मा, रुद्र, इन्द्र आदि देव उनका ध्यान करते हैं। कृष्ण ही सबके स्वामी हैं। वे ही इस जगत् में लीला-अवतार रूप में आते हैं।

परमानन्ददास कृष्ण के तीन ही अवतार ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र मानते हैं किन्तु उनके उपास्य देवता केवल राधिकावल्लभ श्रीकृष्ण ही हैं। अपने उपास्य देव का वर्णन करते हुए कवि कहता है-

'मोहि भावै देवाधि देवा।
सुन्दरस्याम कमल दल लोचन गोकुल नाथ एक भैवा।
तीन देवता मुख्य देवता ब्रह्मा, विष्णु अरु महादेवा।
जै जनियै सकल वरदायक गुन विचित्र कीजियै सैवा।
संख चक्र सारंग गदाधर रूप चतुर्भुज आनंद कंदा।
गोपी नाथ राधिका वल्लभ ताहि उपासत परमानंदा।[१]

इस प्रकार रस-रूप ब्रह्म के उपासक परमानन्ददास श्रीकृष्ण को ही साक्षात् परब्रह्म परमात्मा मानते हैं। कृष्ण ही एक से अधिक रूप धारण करते हैं और उन्हीं को वेद नेति-नेति के नाम से वर्णन करते हैं। नीचे लिखे पद में इसी बात को स्पष्ट करते हैं :-

' मोहन नंद राय कुमार।
प्रगट ब्रह्म निकुंज नायक भक्त हेत अवतार।
+ +
दास परमानन्द स्वामी वेद बोलत नेति।[२]

अत: परमानन्द के मतानुसार उनके ब्रह्म सगुण निर्गुण दोनों हैं। निर्गुण ब्रह्म ही सगुण रूप धारण करता है जो कि इस पद में कहते हैं--

'संतत गोपाल नन्द के आगे नन्दस्वरूप न जानै,
निर्गुन ब्रह्म सगुन धरि लीला ताहिब सुत करि मानै।
+ +

१- लेखक के निजी परमानन्द दास- पद संग्रह से, पद नं० ३०३
२- वही पद नं० ३

परमानन्द स्वामी मन मोहन खेल रच्यौ ब्रजनाथ ।[१]

वल्लभसम्प्रदाय में ब्रह्म का निर्गुण होने का अर्थ यह मानते है कि ब्रह्म के प्राकृति गुण नहीं है, इस अर्थ में भी वल्लभ सम्प्रदाय `निर्गुण` शब्द का प्रयोग करते हैं । उनके अनुसार जब ब्रह्म प्राकृतवत् गुण धारण कर लोक में प्रकट होता है तब उसे सगुण कहते हैं ।

परमानन्द के अनुसार भी गोलोक के श्रीकृष्ण प्राकृत गुणों से परे हैं, इस प्रकार वे भी निर्गुण ही है । अप्राकृत गुणों से युक्त होने के कारण वे सगुण हैं । कवि का कहना है कि -

`आनन्द की निधि नन्दकुमार ।
परमब्रह्म भेषा नराकृत जगमोहन लीला अवतार ।
श्रवनन आनन्द मन मंह आनन्द लौ चल आनंद आनंदपूरित ।
गोकुल आनंद गोपी आनंद नंद जसोदा आनंद कंद ।
नृतत हंसत कुलाहल आनंद राधापति वृन्दावन चंद ।
सुरमुनि आनंद संतनि आनंद निज जन आनंद रास विलास।
चरण कमल मकरंद पान कौं अलि आनंद परमानंद दास ।।[२]

कवि कहता है कि जो ब्रह्म प्राकृत गुणों से रहित निर्गुण स्वरूप है वही इस लोक में अवतार धारण कर सगुण रूप से लीलाएं करता है । और सब का आदि-स्वरूप ~~आनन्दमय है ।~~ वह परब्रह्म भगवान श्रीकृष्ण ही है । श्रीकृष्ण का स्वरूप आनन्दमय है । उनका परिवार गाय, गोपी, यशोदा, आदि भी आनन्द मूर्ति हैं । उनका धाम जो गोकुल है वह भी आनन्दस्वरूप है । कृष्ण ने संसार के आनन्द-दान के लिए ही निज रूप से अवतार धारण किया है । जिस आनन्द-स्वरूप की आराधना करके सुर और मुनि आनन्दित होते हैं और भक्त जिसके आनन्द - विलास में मग्न रहते हैं, उसी आनन्द-राशि के चरण-कमलों के मकरन्द पान के लिए कवि भौंरा बन रहा है ।

१- लेखक के निजी परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० १७
२- वही पद नं० १२६

उक्त पद से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि परमानन्ददास ब्रज के केवल रस-रूप के उपासक थे । उनके विचार से ईश्वर सर्वव्यापी एवं कण-कण में अन्तर्हित है । इस कथन की नीचे लिखे पद में पुष्टि हो जाती है ।

'ब काहे न सेईस गोकुल नायक ।
ब्रह्मा महादेव इन्द्रादिक जाके आज्ञाकारी ।
सुर तरु कामधेनु चिंता मणि बरुन कुबेर भंडारी ।
औरहु नृपति कह्यौ सब माने सन्मुख विनती कीजे ।
तुम प्रभु अन्तर्यामी व्यापक द्वितीय साहि कहा दीजे ।
जन्म कर्म अवतार रूप गुन नारदादि मुनि गावैं ।
परमानंद दास श्री पति अमन मले विसरावें ।।[1]

जीव :- परमानन्द दास का जीव के विषय में अपने दार्शनिक मत अष्टछाप के अन्य कवियों की भांति विस्तारपूर्वक वर्णन नहीं मिलता है । पर इतना अवश्य पाया जाता है कि वल्लभ सम्प्रदाय के मतानुसार यह भी ईश्वर-जीव की अद्वैतता तथा उनका अंशी - अंश सम्बन्ध स्वीकार करते हैं । एक पद में ईश्वर जीव के अंशी -अंश के विषय में ये कहते हैं कि -

राग सारंग
माई हौं अपने गोपालहिं गाऊं।
सुन्दर स्याम कमल दल लोचन देखि देखि सुख पाऊं।
जो ग्यानी ते ग्यान विचारो जोगी ते जोग ।
कर्मठ होय ते कर्म विचारो भोगी ते भोग ।
अपने वांचे की सुरति तजी है, मांगि लियो संसार ।
परमानन्द गोकुल मथुरा में उपज्यो यहै विचार ।।[2]

1- लेखक के निजी परमानन्ददास-पद-संग्रह से , पद नं० २२७
2- वही पद नं० ११०

जगत् : जगत सम्बन्धी विचार के विषय में परमानन्द का एक भी पद नहीं है अत: जगत् के प्रति उनका दृष्टिकोण क्या था ,इसको बताना अत्यन्त ही कठिन है । किन्तु इतना तो बाह्य प्रमाणों से स्पष्ट ही है कि वल्लभाचार्य के शिष्य होने के नाते वे वल्लभ-सिद्धान्ती थे और जगत् के विषय में भी इनका दृष्टिकोण वल्लभ-सिद्धान्त ही था ।

संसार :- जगत् एवं संसार के विषय में परमानन्ददास ने अपना कोई स्पष्ट दार्शनिक मत नहीं दिया है ।परन्तु जैसा पहले कहा गया है कि कुछ भी हो इन पर पूर्ण रूप से वल्लभ सिद्धान्त का प्रभाव पड़ा है । और किसी मत का प्रभाव इनकी रचनाओं में नहीं मिलता है ।

संसार के विषय में परमानन्ददास के थोड़ी संख्या में पद मिले हैं । उनको देखने से यह ज्ञात होता है कि परमानन्द दास के मत में संसार बहुत ही बुरा है तथा वे संसार को छोड़ने का भाव रखते हैं ।एक पद में वे गोपी के मुख से निम्न पद कहलाते हैं ---

राग आसावरी

`मेरो मन गोविंद सों मान्यो ताते और न जिय भावे ।
जागत सोवत यहै उत्कराठा कोउ कृष्ण नाथ मिलावे ।
बाढ़ी प्रीति आनि उर अन्तर चरण-कमल चित दीनो ।
कृष्ण विरह गोकुल की गोपी घर ही में बन कीनो ।
छांड़ि अहार-विहार देह सुख और न चाली काहू ।
परमानन्द बसत है घर में जैसे रहत बटाऊ ।।[1]

गोपी कहती है कि मैंने संसार के सब संबंध छोड़ दिये है , घर में ऐसे रहती हूं जैसे कोई पथिक रहता है । आगे परमानन्ददास `मैं अपनो मन हरि सों जोर्‍यो हरि सों जोरि सबन सों तोर्‍यो ।`[2] मेरा नाता तो केवल कृष्ण से है ,कहते हैं। सूरदास की भांति परमानन्द दास भी संसार को सागर मानते हैं तथा इस संसार से पार उतारने वाला केवल कृष्ण ही है । संसार तथा इसके अन्दर माया जो है

१- लेखक के निजी परमानन्द दास-पद-संग्रह से , पद नं० ३३२
२- वही पद नं० ११६

वह सब मिथ्या है । एक पद में वे इसी भाव को गोपी के मुख से कहलाते हैं । वे कहते हैं --

राग सारंग

' छांड़ि न देत झूठो अति अभिमान ।
मिलि रस रीति प्रीति करि हरिसों सुन्दर है भगवान,
यह जोबन धन दिवस चारि को फलटत रंग सौपान (ज्यों पान)
+ +
परमानन्द स्वामी सुखसागर सब गुन रूप निधान ।।[1]

' यह धन यौवन सब चार दिन का है । हे सखि, अपने मिथ्या अभिमान को त्याग कर रस रूप भगवान से प्यार कर ।'

इन सब पदों को देखते हुए यह स्पष्ट है कि परमानन्द दास संसार के प्रति उदासीन भावनाएं रखते थे । तथा जगत् को मिथ्या मानते थे ।

माया :- परमानन्द दास ने सूरदास की भांति ईश्वर की विद्या-अविद्या माया का अलग अलग ,स्पष्ट रूप में, अपना दार्शनिक मत नहीं दिया है । बल्कि इन्होंने केवल अहंता-ममतात्मक अविद्या-माया की ही निन्दा की है । और इस अविद्या-माया के कृत्यों का ही वर्णन किया है । एक पद में इस अविद्या-माया का वर्णन करते हुए कहते हैंकि -

राग विहाग

' कमल नयन कमलापति त्रिभुवन के नाथ,
एक प्रेम ते सब बने जो मन होई हाथ ।
सकल लोक की सम्पदा लै आगे धरिये ,
भक्ति बिना माने नहिं, जो कोटिक करिए ।
दास कहावन कठिन है जो लों क चित राग,
परमानन्द प्रभु सांवरो पैयत बड़ भाग ।।[2]

१- लेखक के निजी परमानन्द दास-पद-संग्रह, पद नं० १५१
२- वही पद नं० ५८२

अर्थात् जब तक मन के अन्दर से संसार का राग द्वेष नहीं निकलेगा तब तक भगवान का भक्त होना कठिन कार्य है ।

एक दूसरे पद में वे मन को समझाते हुए अविद्या माया के विषय में कहते हैं कि-

राग धनाश्री

रे मन सुन पुरान कहा कीनो
अनपावनी भक्ति न उपजी भूखे दान न दीनों ।
काम न बिसर्यो क्रोध न बिसर्यो लोभ न बिसर्यो देवा,
पर निन्दा मुख तै नहिं बिसरी निष्फल भई सब सेवा ।
बाट परी घर मूसिक परायो, पेट भर्यो अपराधी,
परलोक जायगो ज्याते मूरख सोई अविद्या साधी ।
चरन कमल अनुराग न उपज्यो भूत दया नहीं पाली,
परमानन्द साधु संगति बिनु कथा पुनीत न चाली ।।[१]

कवि कहता है कि हे मन ! तुझे पुराण पढ़ने से क्या लाभ है, जब कि तूने न तो लौकिक काम को छोड़ा, और न क्रोध ही छोड़ा, न तो लोभ को ही तुमने छोड़ा। दूसरों की निन्दा करना भी तूने नहीं छोड़ा । तने अनेक अपराध किये दूसरे का द्रव्य चुराया और सदैव तू अपने पेट की तृष्णा में लगा रहा । तूने व्यक्तियों के प्रति दया का भाव नहीं रखा और न तो तूने साधुओं की संगति की, और भगवान के चरणों में अनुराग भी नहीं किया ।

इस प्रकार परमानन्द दास के माया के विषय में जो कुछ फुटकर पद मिलते हैं उनमें उन्होंने केवल इसी अविद्या माया का ही वर्णन किया है ।

१- लेखक के निजी परमानन्ददास , पद संग्रह से, पद सं० ३०१

मोक्ष :- परमानन्ददास वल्लभ सम्प्रदाय के मान्य मोक्ष के सिद्धान्त को मानते हैं । इनके विचार से सबसे बड़ा मोक्ष सुख यही है कि कृष्ण के चरणों में दास्य,सख्य,कान्ता और वात्सल्य आदि भाव से सदैव प्रेम करता रहे । तथा सन्तों की संगति में रात दिन रहे । वही भक्त मोक्ष का परमसुख पा सकता है । इस सुख के समक्ष मोक्ष सुख कुछ भी नहीं है । संतों की संगति सदैव भक्त को करना चाहिए तभी मान्य मोक्ष सुख मिल सकता है यह भाव निम्न पद में स्पष्ट है :-

> " सब सुख सोही लहै जाहि कान्ह प्यारो ।
> तजि पद कमल मुक्ति जे चाहै ताको दिवस अंध्यारो ।
> कहत, सुनत, फिरत हैं भटकत छांड़ि भक्ति उजियारो ।
> जिन जगदीश हृदै धरि गुरु मुख एको छिन न चितारो ।[1]
> बिनु भगवन्त भजन परमानन्द जनम जुआ ज्यों हारो ।

परमानन्द कहते हैं कि बिना गुरु के (साधु संगति)ईश्वर भक्ति का आना अत्यन्त कठिन है । वल्लभ-सिद्धान्त के अनुसार भक्ति की चरमावस्था में जो भक्त के अन्दर मिलन का भाव जागृत होता है वह सामीप्य मुक्ति के सदृश्य ही है । इस भाव एवं मत को परमानन्ददास ने अपने अनेक पदों में व्यक्त किया है ।

वृन्दावन-धाम में पहुंचकर रस-रूप कृष्ण से मिलकर जिस आनन्द का चित्रण परमानन्ददास ने पदों में किया है वह पूर्णपुरुषोत्तम के मिलन का तथा सामीप्य मुक्ति के भाव का ही है । एक पद में कवि कहता है कि उसने वृन्दावन- धाम में जाकर रस-रूप कृष्ण के साथ का सहवास कर लिया है उस कृष्ण-सहवास रूपी अमृत को पीते हुये कभी भी अघाता (सन्तुष्ट) नहीं ।कहने का तात्पर्य यह है कि सदैव उस कृष्ण का दर्शन करने की अभिलाषा बनी रहती है ।

एक पद में अंश-अंशी के विषय में कहते हैं कि अंश जीवों ने अपने अंशी के मिलन की मुक्ति छोड़ कर संसार मांग लिया है । ज्ञानी ज्ञान का साधना करें और योगी योगाभ्यास करें, परन्तु मैं तो अपने कृ गोपाल के गुणगान

१- लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद न० २८५ ।

मैं मस्त हूं और उन्ही के कमल नैत्रों को देखकर सुख पाता रहता हूं।[१]

उक्त पद में जो अंश-अंशी का भाव परमानन्द ने दर्शाया है उसमें पूर्ण रूपेण वल्लभाचार्य जी के सिद्धान्तों को स्वीकार किया है।

परमानन्ददास ने प्राणीमात्र को संसार के प्रति आसक्ति और लोक व्यवहार को त्यागने का भाव अपने अनेक पदों में किया है। इन पदों में उन्होंने उस जीवन-मुक्त अवस्था का ही परिचय दिया है जब भक्त को सांसारिक दु:खाभाव के साथ ईश्वर-प्रेम में ही चरम आनन्द मिलता है। वल्लभ के मतानुसार भक्त अपनी भक्ति के अन्तर्गत जिन चार प्रकार की मुक्ति का अनुभव करता है उन चारों प्रकार की मुक्ति अवस्थाओं का स्पष्ट उल्लेख परमानन्ददास ने अपने पदों में किया है। लयात्मक सायुज्य मुक्ति का अनुभव कवि निम्नपद में करता है :-

राग आसावरी

"मेरे माई हरि नागर सों नेह।

+ +

अंग अंग बर्यो निपुन यदुनंदन स्याम बरन तन देह।
जब ते दृष्टि पै मंद नंदन तब ते बिसर्यो गेह।
कोऊ बंदो कोऊ निन्दो मन को गयो संदेह।
सरिता सिंधु मिल परमानन्द भयो एक रस गेह।।[२]

~~कवि-कलश-है~~----------

राग सारंग

१- माई हों अपने गोपालहिं गाऊं,
सुन्दरस्याम कमल दल लोचन देखि देखि सुख पाऊं।
जो ज्ञानी ते ज्ञान बिचारो जो जोगी ते जोग,
कर्मठ होय ते कर्म विचारो जे भोगी ते भोग।
कबहुंक ध्यान धरत पद अम्बुज कबहुंक बाजे वेनु,
कबहुंक खेलत गोप वृन्द संग कबहूं चारत धेनु।
अपने अंस की मुकति तजी है मांगी लियो संसार।
परमानन्द गोकुल मथुरा में उपज्यो यहे विचार। लेखक के निजी परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० ११०

२- लेखक के निजी परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० ६४

कवि कहता है कि हे माई,मुझे तो हरि से ही अनन्य स्नेह है । जब से मैंने कृष्ण को देखा है तभी से द घर-बार सब कुछ छूट गया है । मन के प्रत्येक प्रकार के सभी भ्रम दूर हो गये हैं । अब मुझे लोकापवाद का भय नहीं है । मेरा मन तो एक रस (लयात्मक सायुज्य-मुक्ति)का अनुभव कर रहा है । अब भक्त और भगवान सरिता-सिंह की तरह एक हो गए हैं । इस प्रकार के लयात्मक सायुज्य-मुक्ति के वर्णन परमानन्ददास अपने कई पदों में किए हैं ।एक पद में परमानन्ददास कहते हैं कि इस लोक में श्रीकृष्ण के साथ रहने में जो जीवन का सुख आनन्द है वह मोक्ष पाने के पश्चात् परलोक में नहीं है । वे एक स्थल पर कहते हैं ,`सेवा मदन गोपाल की मुक्ति हू ते मीठी ।`[1]

इस प्रकार के भाव वह विभिन्न रूपों में अनेक पदों में करते हैं । कभी गोपी के मुख से यह भाव कहलाते हैं , कभी ग्वाल-बाल के मुख से । कवि एक गोपी के मुख से`हों नंदलाल बिना न रह्यों`[2] मैं मदन मोहन के बिना नहीं रह सकती हूं । तथा `मेरो मन गह्यो माई मुरली के नाद`

आसन पावन ध्यान नहिं जानों कौन करे अब वादविवाद ।
मुक्ति देहु सन्यासनि कों हरि कामिन देहु काम की राशि।
धर्मिन देहु धर्म को मारग, मन रहै पद अम्बुज पासि ।
जो कोई कहि जोति यामें, सपने न हुवें तिहारो जोग,
परमानन्द स्याम रंग रातो सबै सखों मिलि एक अंग लोग ।।[3]

मेरे मन में तो मुरली के राग को पकड़ रखा है । मैं न तो योग ही जानती हूं, न तो आसन, प्राणायाम,ध्यान आदि ही जानती हूं । न तो ज्ञानियों का संन्यास और न कर्म मार्गियों का धर्म -संचय ही । भगवान सन्यासियों को मुक्ति दे दें ,लोक कामना करने वालों को काम-राशि,मर्यादा -धर्म के रक्षकों को धर्म-मार्ग का सुख दे दें, परन्तु मेरा मन तो सदैव कृष्ण के चरण-कमलों में रहता है ।यदि कोई कहता है कि योगाभ्यास से ज्योति ब्रह्म की लयात्मक मुक्ति

१- लेखक के निजी परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० ३१५

२- वही

३- वही पद नं० १०६

मिलती है। तो मुझे ऐसी मुक्ति नहीं चाहिए। मैं तो एक श्याम रंग में रंगी हुई हूं।

इस पद में परमानन्ददास ने ज्ञान,योग कर्म तीनों मार्गों की मोक्ष अवस्थाओं को अस्वीकार किया है। अष्टछाप के उक्त कवियों के अतिरिक्त कृष्णदास,गोविन्ददास स्वामी, छीतस्वामी,चतुर्भुजदास,आदि कवियों की रचनाओं में अन्य कोई अपनी मौलिकता न मिलने के कारण यहां पर उनके विषय में वर्णन करना अनिवार्य नहीं जान पड़ता। उक्त चारों-कवि सूर के प्रभाव एवं रंगों में एकदम से रंगे हुए दिखायी पड़ते हैं।

अत: यहां पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि अष्टछाप के आगे कवियों पर पूर्णरूपेण वल्लभसम्प्रदाय तथा उनके पुष्टिमार्ग का किसी न किसी रूप में प्रभाव पड़ा हुआ है।

मीराबाई (जीवन-काल सं० १५५५ से १६०३)

हिन्दी भक्ति साहित्य के कृष्ण काव्य में मीराबाई भी एक अद्वितीय स्थान रखती हैं। ये सगुणोपासक थीं। कृष्ण की दीवानी मीरा राजस्थान की कवियित्री थीं सूर एवं अन्य कृष्ण कवियों की भांति मीराबाई ने भी कृष्ण की लीलाओं का वर्णन नहीं किया बल्कि इन्होंने भी अपने हृदय की भावनाओं को भक्ति के सूत्र में बांध कर कृष्ण की आराधना की। मीरा की भक्ति भावना माधुर्य भावना से ओतप्रोत है।

मीरा ने अपने गुरु एवं अपने पूर्व और समकालीन सन्तों का वर्णन अपनी रचनाओं में पूर्णरूपेण किया है। मीरा के गुरु रैदास थे। तथा इनके पूर्व समकालीन सन्त कबीरन,पीपा दादू आदि थे।

मीरा की भक्ति भावना उनके हृदय की निकली भक्ति भावना है। वे गिरधर जी को अपना सब कुछ मानती थीं। गिरधर को अपना पति मान लेना सगुणोपासना की चरम सीमा का प्रतीक है। माया के परे, सांसारिक आडंबरों एवं भव बाधा को छोड़ कर अब वह चरम स्थिति पर पहुंच गयी है। अब तो वे यही कहती हैं कि 'मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो नकोई' इस प्रकार मीरा ने अपनी सगुणोपासना के समस्त स्थितियां

को पार कर समस्त चीजों में गिरधर का अंश देखने लगी है । अब वह `गिरधर मय` हो गयी है ।

इस चरम स्थिति को पाने के लिए सगुणोपासक को नाना प्रकार की बाधाओं को पार करना पड़ता है । भक्तिसाधना में नाना प्रकार के बाह्य तथा आन्तरिक बाधाएं आती हैं । मीरा ने उन बाधाओं को विष पान `सांप पिटारा` आदि प्रतीकों द्वारा वर्णन किया है । देखने में तो यह सांसारिक साधारण वस्तुएं हैं लेकिन सत्य यह है कि ये भक्ति मार्ग की सब बाधाएं हैं ।

क्या मीरा सन्त थीं ? इस प्रश्न पर विद्वानों के विभिन्न मत हैं । कुछ लोग इनको सन्तों की कोटि में ही मानते हैं, कुछ नहीं । परशुराम चतुर्वेदी के मत में ये सन्त परम्परा में नहीं बल्कि पूर्वकालीन सन्तों की श्रेणी में आती हैं । वे कहते हैं कि `मीरा बाई निर्गुण एवं सगुण से परे वा परात्पर परमात्मा को अपना इष्टदेव कहती हुई भी मूर्ति की उपासना को ही अपनी साधना का आधार मानती थी । उनके हृदय में श्रीकृष्णचन्द के सौन्दर्य एवं गुण तथा लीलाओं के ही प्रति विशेष आकर्षण दीख पड़ता है । और उनकी प्रगाढ़ रागानुगा भक्ति का विकास उस लोक-संग्रह के उच्च स्तर तक पहुंचता हुआ नहीं लक्षित होता जिन्हें सन्तों के कार्यक्रम का एक प्रधान क्षेत्र समझना चाहिए । अतएव मीराबाई को यदि सन्तों की श्रेणी में रखा भी जाय, तो उन्हें अधिक से अधिक पहले के पथ-प्रदर्शक सन्तों की कोटि में ही गिन सकते हैं ।`[१]

इस प्रकार चतुर्वेदी जी के मत में `गुरुग्रन्थसाहब` में मीरा का वर्णन मिलता है अत: निश्चय ही गुरुग्रन्थसाहब के पूर्व सन्तों में मीरा को रखा जा सकता है ।

१- उत्तरी भारत की सन्त परम्परा- परशुराम चतुर्वेदी - पृ० २६१

मीराबाई के इष्टदेव गिरधर नागर नामधारी श्रीकृष्ण है जो सगुणरूप भगवान् समझे जाते हैं और जिनकी सुन्दर छवि के वर्णन तथा जिनके गुणों के गान में ये लीन रहती थीं।

मीराबाई कृष्ण काव्य में कृष्ण की लीलाओं और उनके सौन्दर्य पर इतनी अधिक मुग्ध हो गयी थीं कि उनकी भावनाओं से एक क्षण भी अलग नहीं रह सकती थी । मीरा के पदों में उस परम तत्व की विभिन्न नामों - निर्गुण, निरंजन, अविनासी - एवं संज्ञाओं से पुकारा है । इनसमस्त संज्ञाओं को देखने से यह स्पष्ट है कि मीरा ने उस परमतत्व को पूर्ण ब्रह्म परमेश्वर माना है । मीरा के मत में न तो वह परमतत्व, सगुण ही है और न निर्गुण ही है वह तो अनिर्वचनीय वस्तु है । गुरु की कृपा से मेरे अन्दर ज्ञान का प्रकाश प्रज्ज्वलित हुआ तथा उस अनिर्वचनीय वस्तु को अब पहचान लिया है । इस विचार पर संत रैदास का प्रभाव मीरा के ऊपर दिखाई देता है ।

कबीर रैदास पीपा आदि सन्तों का प्रभाव मीरा पर अवश्य पड़ा । अन्य संतों की भांति `पिंड के रहस्य` का वर्णन मीरा ने भी किया है । इन्होंने भी `त्रिकुटी महल` में तथा `सुन्न महल` में सुरत जमाकर सुख की सेज बिछाने[1] का भी परिचय दिया है । इसके अतिरिक्त `गगन मंडल की सेज`[2] का भी वर्णन करती है । यह उस प्रियतम अथवा प्रियतम के साथ मिलने के बाद की स्थिति का परिचय है । `अगम का देश`[3] वा `अमर लोक`[4] आदि का भी वर्णन है । `अनहद झंकार`[5] संतों का `अनहद नाद` है, `सुरत शब्दयोग` `सुरति -निरति` `सबद` `निजनाम` `सुमिरन` व अमरदास` आदि सन्तों के शब्दों का वर्णन मीरा ने अपने पदों में किया है ।

१- मीराबाई की पदावली, `साहित्य सम्मेलन प्रयाग, तृतीय संस्करण, पद १२पृ०५

२- वही वही वही पद ७२ पृ० २७

३- वही वही वही पद १६२, पृ०६४:,५

४- वही वही वही पद १५१, पृ० ५२

५- वही वही वही पद २३, पृ०१०

सन्तों के 'सील बरत' और भक्ति मार्ग में गुरु की महत्ता का वर्णन करते हुए कहते हैं कि-

'सत गुरु मिलिया सुज पिछानीं, ऐसा ब्रह्म मैं पाती ।
सगुरा सूर अमृत पीवै, निगुरा प्यासा जाती ।।१६७।।[1]

इस प्रकार सगुण निर्गुण भेद को मीरा स्पष्ट करती हैं । अत: मीरा को सन्त की श्रेणी में माने तो अतिशयोक्ति न होगी । मीरा को सन्तों की श्रेणी में पूर्णरूपेण सिद्ध होती हैं । तुलसी रामकाव्य के सन्त तथा मीरा कृष्णकाव्य की सन्त हैं । मीरा कृष्ण में दीवानी थी तो तुलसी राम के दीवाने । यद्यपि तुलसी का क्षेत्र मीरा से अधिक व्यापक है । इन कवियों के अतिरिक्त कुछ ऐसे भी चिन्तक रहे हैं ,जिन्हें सगुण अथवा निर्गुण धारा के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता । इसीलिए अगले अध्याय में उन्हें अन्य फुटकर सम्प्रदाय तथा सन्त के अन्तर्गत रखा गया है ।

१- मीरा पदावली(साहित्य सम्मेलन प्रयाग) तृतीय संस्करण,पृ० ६८ पद १६७

राधावल्लभ सम्प्रदाय

राधावल्लभ सम्प्रदाय अन्य सम्प्रदायों की भांति अपनी सिद्धान्त-साधना, दृष्टिकोण, विचार-धारा एवं विधानों में किसी से प्रभावित और सन्निकट नहीं। यह सर्वथा स्वतंत्र प्रणाली एवं विचारधारा का कहा जाता है।

गोस्वामी हितहरिवंश को इसका प्रणेता कहा जाता है, जिन्होंने विभिन्न सम्प्रदायों की साधना पद्धति का मनन करने के पश्चात् स्वतंत्र विचारधारा के आधार पर राधावल्लभ सम्प्रदाय की नींव रक्खी।

हित हरिवंश ने, माधुर्यभाव की प्रेम लक्षणा भक्ति के अन्तर्गत विरह-भावना की अभिव्यक्ति में राधा की परकीयात्व की काल्पनिक व्यापकता का प्रतिवाद किया और राधा को पारकीय भाव से अलग चित्रित कर अपने मत में स्वतंत्र अधिष्ठात्री देवी के रूप में चित्रित किया।

' राधा को इष्ट देवी, आराध्या और उपास्य बनाने में हितहरिवंश का सबसे अधिक योग है। इस सम्प्रदाय में राधा ही उपास्य हैं। कृष्ण तो राधा के अनुषंग से राधा के कृपा-कटाक्ष से अपने को सफल मनोरथ बनाते हैं। राधा विषयक इस प्रकार की मान्यताएं ही इस सम्प्रदाय की देन हैं[१]।'

सिद्धान्त-विवेचन :- इस सम्प्रदाय के भक्ति सिद्धान्त का आधार किसी प्रकार की दार्शनिक जटिलता और बाह्याडंबर एवं रूढ़ियां नहीं हैं। इसमें ब्रह्म, जीव तथा माया जगत आदि का भ्रामक विश्लेषण भी नहीं मिलता। इसमें 'नित्य विहार' का वर्णन प्रेम अथवा हित तत्व का समागम मिलता है। इसमें प्रेम रस की विशिष्ट भावना का सम्मिलन है। हरिवंश जी ने इसी उद्देश्य से इसमें 'हित' शब्द का व्यवहार किया है।

मिलन, विछोह तथा मान

इस सम्प्रदाय में प्रेम की वही स्थिति स्पृहणीय मानी गयी है जिसमें राधा-कृष्ण क्षण भर को भी एक दूसरे से विलग नहीं होते। परन्तु समीप रहते हुए भी

१- हिन्दी साहित्य का इतिहास- डा० जगदीश प्रसाद सिन्हा पृ० ४२२

उनमें विरह जैसी अतृप्ति की अनुभूति है जो उन्हें एक दूसरे के और निकट आने की आनन्द-उमंग से आन्दोलित करती रहती है ।

प्रेम की नवीनता और आस्वाद्यता बनाये रखने के लिए इस सम्प्रदाय में सूक्ष्म वियोग की अनोखी सृष्टि की गयी है ।

मिलन की स्थिति में ही मान की सम्भावना होती है और मान के क्षणों में क्षणिक विरह जाग उठती है ।

राधा प्यारी हौं मान न करु ।

अन्तर विरह दहन तन जारत, बरषावहि बिम्बाधर जलधरु ।

(श्रीव्यास जी)

प्रेमि प्रेमिका की एकता-समता ही प्रेम की सार्थकता है , और इसी मूल भावना पर राधावल्लभ सम्प्रदाय आधारित है, इसमें एक दूसरे के प्रति त्याग और उत्सर्ग की प्रबल भावना है । इसमें राधा कृष्ण अपने प्रेम की तुष्टि के लिये प्रयत्न रत न होकर दूसरे के परितोष में ही आत्म-समर्पण करते हैं ।

विशेषता:-

अनन्यता,राधा वल्लभ सम्प्रदाय की सबसे बड़ी विशेषता है । प्रेम-पथ पर चलने वाले भक्त को सर्वप्रथम अपने इष्ट देव में अनन्य बुद्धि उत्पन्न करनी चाहिए।

आचार्य हित हरिवंश ने अनन्यता को धर्म का आधार माना है क्योंकि यह प्रेम का प्राण और प्रेमी का जीवन है । उन्होंने अपने पदों में विहारपरक प्रेम और नेम का अत्यन्त सुन्दर वर्णन किया है । साधना परक प्रेम और नेम का प्रतिपादन राधा वल्लभी सम्प्रदायियों ने अनोखे ढंग से प्रस्तुत किया है ।

जागतिक प्रेम-नेम को मर्यादावादी कर्मकाण्डपरक नेम समझ कर त्याज्य और हेय कहा गया ह । राधावल्लभ सम्प्रदाय के अनुसार नेम शब्द सामान्य जागतिक कर्मकाण्ड का द्योतक नहीं है और इसका विचार करते समय किसी के सामने स्थूल नेम का ध्यान नहीं रहा ।

राधावल्लभ सम्प्रदाय में राधा को न तो निर्गुण, निराकार रूप का चित्रण किया गया है और न ही योगियों की आध्यात्मिक चिन्तन की पृष्ठभूमि ही माना गया है वरन् वह स्वयं निरवतिशय आनन्दस्वरूप है। प्रेम-भाव तथा हित भाव ही राधा के स्वरूप ज्ञान का मार्ग है। हित हरिवंश ने राधा स्वरूप निर्धारण करते हुए उन्हें रस-रूप कहा है। इस सम्प्रदाय में राधा साधारण गोपी नहीं रस की अधिष्ठात्री एवं प्रेम-मूर्ति हैं। दूसरी विशेषता यह है कि अन्य सम्प्रदायों की भांति इस सम्प्रदाय में श्रीकृष्ण गोपियों के प्रति उपपति रूप में स्वीकार नहीं किये गये हैं। इस सम्प्रदाय में श्रीकृष्ण के रूप का राधा से पृथक् स्वतंत्र वर्णन नगण्य सा है। इसमें प्रधान्य राधा का ही है।

राधावल्लभ सम्प्रदाय में जिस वृन्दावन की कल्पना की गयी है वह भौतिक वृन्दावन है, जिसमें राधा कृष्ण के साथ रास रचाती हैं। यह राधा वल्लभ सम्प्रदाय की विशेष मान्यता है ~~कि~~ क्योंकि अन्य वैष्णव सम्प्रदायों में भूतल स्थित वृन्दावन का स्थूल रूप मान्य नहीं है।

ब्रह्म, जीव, और जड़, प्रकृति का पारस्परिक सम्बन्ध प्रदर्शित करने के लिए इस सम्प्रदाय में नित्य विहार का वर्णन नहीं हुआ है।

इनके अतिरिक्त इस सम्प्रदाय में भक्ति के बाह्य विधान अर्थात् कर्मकाण्ड की वैसी कठोरता नही है जैसी कि अन्य वैष्णव सम्प्रदायों में पाई जाती है फिर भी सेवा एवं पूजा सम्बन्धी विधि-विधान के नियम प्राय: निश्चित हैं।

राधावल्लभ सम्प्रदाय के प्रमुख साधक :-

राधा वल्लभ सम्प्रदाय के प्रमुख कवियों में श्री हित हरिवंश, श्री हरिराय व्यास एवं श्री ध्रुवदास का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

श्री हितहरिवंश मथुरा के निकट बाद ग्राम में संवत् १५५६ में उत्पन्न हुये। इनका परिवार भरा-पूरा था और इनके तीन पत्नियां होने का उल्लेख मिलता है।

वैसे इनके गुरु का नाम गोपाल भट्ट बताया जाता है परन्तु वास्तव में इनकी गुरु और उपास्य श्री राधा ही थी। इनकी मृत्यु तिथि संवत् १६०९ बताई जाती है।

ये रूपवान, सद्गुणी और सहज आकर्षक थे सम्भवत: इसी लिये बृजवासी इन्हे कृष्ण-वंशी का अवतार मानते थे ।

रचनायें- इनके ग्रन्थो मे हित चौरासी, स्फुटवाणी राधा सुधानिधि तथा यमुनाष्टक का विशेष उल्लेख मिलता है ।

राधा सुधा निधि,- संस्कृत मे लिखा हुआ है और इसमे २७० श्लोक है । इन श्लोकों मे राधा की वन्दना, सेवा, उपासना, प्रशस्ति, पूजा तथा भक्ति सौन्दर्य आदि के बृहद व्यापक वर्णन है ।

राधाकृष्ण का वर्णन दामपत्य भाव से किया गया है और इनके नित्य विहारपरक वर्णनों मे शृंगारिक भावना ही प्रधान है ।

हित चौरासी- इस ग्रन्थ मे ८४ पद संग्रहित है और राधावल्लभ सम्प्रदाय इसे अपनी सिद्धान्त साधना कामूल आधार मानकर बहुत मान देता है । इस ग्रन्थ मे राधाकृष्ण का आनन्द, प्रेम, नित्यविहार, रास लीला एवं भक्ति-भावना का अत्यन्त विशद वर्णन मिलता है । स्फुट वाणी मे मुक्तक संग्रहित है, जो विविध विषयों से सम्बन्ध रखते है तथा सिद्धान्त प्रतिवादन से सीधे सम्बन्धित है । इनमे अनन्यता, प्रेम और राधाभक्ति जीवनोद्देश्य है ।

जिस प्रकार मीरा ने एक निष्ठ हो कर कृष्ण की उपासना को जीवना-धार बनाया उसी प्रकार हरिवंश राधा-मोहन मे निज की तन्मयता को एक मात्र अवलम्ब मानते है--

> मोहन लाल के रंग राची ।
> मेरी ख्याल परो जिन कोऊ बात दसो दिशि मांची ।।
> कन्त अनन्त करो जो कोऊ बात कहो सुनि सांची ।
> यह जिय जाहु, भले सिर ऊपर हाँव प्रगट ह्वै नांची ।।

काव्य विवेचन :-

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है हितहरिवंश की वाणी भक्तिरस का स्थाई भाव कृष्ण रति या राधा-कृष्ण प्रेम है । इसीलिए इसमे शान्त, दास्य

एवं सख्य तथा वात्सल्य भाव का न्यून प्रतिपादन मिलता है ।

इस सम्प्रदाय में अन्य सम्प्रदायों की अपेक्षा अन्तर और विशेषता यह है कि कृष्ण अनिन्द्य सुन्दरी एवं सर्वगुणी अपनी राधा का प्रेम पाने को लालायित न होकर उसकी अर्चना ,वंदना में ही लिप्त दिखते हैं ।

राधा सुधानिधि संस्कृत भाषा से ओतप्रोत है । कोमल एवं मधुर तथा सरस वर्णों के विन्यास का सौष्ठव अपने चरम उत्कर्ष पर है । इनकी रचनाओं में लम्बे लम्बे समासों एवं शब्दों के प्रयोग का बाहुल्य है ।

श्री ध्रुवदास :-

श्रीध्रुवदास का जन्म देवबन्द के एक कायस्थ कुल में सं० १६३० के आस पास हुआ । इनके ग्रन्थों की संख्या ४२ बतायी जाती है जिनमें प्रीति चौवनीलीला ,आनन्दाष्टकलीला ,भजनाष्टकलीला आदि का नाम लिया जाता है ।उन्होंने अपनी रचनाओं में इस बात का विशेष ध्यान रखा है कि राधावल्लभी मत गृहीत प्रेम लक्षण मधुराभक्ति का सांगोपांग विश्लेषण है ।

ध्रुवदास की वाणी में काव्य सौष्ठव इतनी प्रचुर मात्रा में है कि कहीं-कहीं रीतिकालीन श्रृंगारी कवियों की समानता दृष्टिगत होती है । इनके छंदों मे दोहा,अरिल्ल ,कवित्त,सवैया और गेयपद रचना का प्रयोग मिलता है। उदाहरणार्थ-

`ज्यों चातक स्वाती बिना, परसत नहिं जल और ।
दृढ़ता यों मन चाहिये , फिरै न बहुतै ठौर ।।

श्री ध्रुवदास की मृत्यु तिथि संवत् १७०० में बताई जाती है ।

श्रीहरिराम व्यास :-

श्री हरिराम व्यास का जन्म ओरछा में संवत् १५४६ में हुआ। भक्ति के क्षेत्र में ये कबीर विचार धारा के मानने वाले थे अर्थात् ऊंच-नीच ,वर्ण-व्यवस्था और दम्भ पाखण्ड को कदापि स्वीकार न करते थे(।

इनका प्रमुख ग्रन्थ व्यास-वाणी बताया जाता है ।वैसे रागमाला और नवरत्न नामक दो अन्य ग्रन्थों का भी उल्लेख मिलता है । व्यासवाणी में ,सिद्धान्त रस विषय और शृंगाररस विषय दोनों हैं । भक्ति के प्रतिपादन हेतु श्रीहरिराम ने राधाकृष्ण की किशोरलीलाओं का वर्णन किया है -

`कुंवरि-कुंवर को रूप भेष धरि,नागर पिय पहं आई ।

प्यारिहि हरिन मिलै सकुची जिय, उपजी तब इक बुद्धि उठाई ।`

राधा के सौन्दर्य-चित्रण में उनकी पदावली अत्यधिक अलंकृत तथा अभिव्यंजनापूर्ण हो जिसमें रीतिकालीन कवियों सी शृंगारिकता है । मान के पद भी विशेषतया सम्भ्रम मान एवं खण्डिता मान का वर्णन इनके पदों में मिलता है । कहा जाता है कि रासलीला के समय ये देह की सुध-बुध भूल कर तल्लीन हो जाते थे ।

राधावल्लभ सम्प्रदाय ने साधना के क्षेत्र में नवीन पद्धतियों को जन्म दिया और अपनी नूतन मान्यताओं द्वारा समसामयिक एवं परवर्ती वैष्णवभक्ति सम्प्रदाय पर अपनी प्रभावपूर्ण छाप डाली ।

डाक्टर दीनदयाल गुप्त के शब्दों में` राधावल्लभी सम्प्रदाय में राधा कृष्ण के प्रेम -शृंगार की संयोग लीला के ध्यान पर विशेष बल दिया गया है । इस प्रकार की भक्ति को उस सम्प्रदाय में `परम माधुरी` कहा गया है । अष्टछाप भक्तों के समकालीन श्री स्वामी हरिदास ने राधा कृष्ण की युगल लीलाओं की उपासना सखी भाव से करने को उपदेश दिया ।इन दोनों सम्प्रदायों की छाया राधावल्लभ सम्प्रदाय पर भी पड़ी ।`[1]

राधावल्लभ सम्प्रदाय के अतिरिक्त इस धारा में दत्तात्रेय सम्प्रदाय ,माधव सम्प्रदाय ,विष्णुस्वामी सम्प्रदाय, निम्बार्क सम्प्रदाय ,चैतन्य सम्प्रदाय ,एवं वल्लभ सम्प्रदाय का नाम विशेष उल्लेखनीय है ।

१- अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय - डा० दीनदयाल गुप्त , पृ० ६४३-४४

रसखान

कृष्णकाव्यकारों में रसखान का नाम विशेष उल्लेखनीय है । मुसलमान कवियों में,उनका कृष्ण प्रेम एवं साधना विशिष्ट महत्व रखती है ।

ऐसा कहा जाता है कि अपने प्रारम्भिक जीवन में वे एक बनिये के लड़के के प्रेम में आसक्त थे और उसी के प्रेम में वे काव्य सृजन को प्रेरित हुए । और बाद को उनका यह मौतिक प्रेम ईश्वर-प्रेम में परिवर्तित हो गया ।

रसखान ने विट्ठलदास को अपना गुरु बनाया और उनसे यथोचित दीक्षा ग्रहण की । इनका रचना-काल संवत् १६७१ माना जाता है । इसी काल में इन्होंने `प्रेमव्याख्या` की रचना की है । `सुजान रसखान` भी इनका अत्यन्त प्रसिद्ध काव्य है। हिन्दी में शायद ही ऐसा कोई कवि होगा ,जिसने प्रेम की अनुभूति रसखान के सदृश की हो ।

डा० रामकुमार वर्मा के शब्दों में `इनकी भावना सीधे हृदय को जाकर स्पर्श करती है । ब्रज भाषा का सरस और स्वाभाविक रूप इनकी रचनाओं में बड़े व्यवस्थित रूप में मिलता है । उसमें किसी भी प्रकार की भी कृत्रिमता नहीं है , तन्मयता इनकी कविता का विशेष गुण है ।

अनुप्रास और यमक का सरस और उचित प्रयोग इनकी रचना में अनेक स्थलों पर पाया जाता है[१] ।`

मुसलमान होते हुए भी रसखान ने श्रीकृष्ण के प्रति जो प्रेम की भावना प्रदर्शित की है वह अद्वितीय है ।

घनानन्द

निम्बार्कसम्प्रदाय में दीक्षित वैष्णव कवि घनानन्द अपने दार्शनिक दृष्टिकोण में अप्रतिम हैं । क्योंकि सामान्यतया रीतिकालीन कवि रूढ़िगत और पारम्परिक कुंठाओं से ग्रस्त दिखाई देते हैं किन्तु घनानन्द उनसे नितान्त भिन्न तथा स्वच्छन्द कवि हैं ।

१- हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास डा० रामकुमार वर्मा, पृ० ५६५

उनके काव्य-रूपकों में द्वैत तथा अद्वैत भावना का तथा उनके इष्ट में पुरुष एवं नारी के उभय रूपों का विचित्र समन्वय प्राप्त होता है । उनका काव्य तथा लौकिक प्रेम आध्यात्मिक प्रेम की अभिव्यक्ति बन गया है । वास्तव में उनके काव्य के दार्शनिक दृष्टिकोण की स्वतंत्र परीक्षा होनी चाहिए जिसमें भक्ति तथा काव्य के उचित अनुपात का मूल्यांकन हो सके । भक्ति कालीन दार्शनिक परम्परा से प्राप्त भक्ति के अतिरिक्त उनका दार्शनिक दृष्टिकोण उनकी निजी मौलिकता है ।

नवम अध्याय

अन्य फुटकर सम्प्रदाय एवं संत

अन्य फुटकर सम्प्रदाय एवं सन्त

दादू-पंथियों में दादू के शिष्य एवं प्रशिष्यों की संख्या बहुत अधिक है जिनमें मुख्यत: रज्जब ,गरीबदास, हरिदास, प्रागदास ,दयालदास,श्यामदास, दामोदरदास,निर्मलदास,नारायण दास,राघोदास आदि शिष्य और प्रशिष्य हैं । गरीबदास, दादूदयाल के पुत्र एवं शिष्य थे, जिन्होंने दादूदयालु के मत का समर्थन करते हुए उनके पंथ को प्रचलित और फैलाने की कोशिश की ।

दादूदयाल के एक शिष्य हरिदास निरंजनी थे जो बहुत समय तक दादू-पंथ में रह कर फिर कबीर पंथ एवं नाथ-पंथ से प्रभावित हुए ।आगे चल कर निर्गुण निर्गुण भक्ति सम्प्रदाय में इन्होंने अपना नवीन एवं पृथक् पंथ निकाला जिसका नाम`निरंजनी सम्प्रदाय`रखा ।

प्रागदास भी दादू के शिष्यों में से एक थे जिन्होंने दादू के मत को अपनाया ।

इनके अतिरिक्त संतदास,बालक राम,छीतर जी,नर्मदास जी,रज्जब जी, बनवारी दास जी । दादू के प्रशिष्यों में सुन्दरदास ,राघोदास नाभादास साधु निश्चल दास आदि हैं ।

दादू पंथ के अन्तर्गत`पर ब्रह्म-सम्प्रदाय`का वर्णन मिलता है ।किन्तु परब्रह्म सम्प्रदाय के प्रवर्तक दादू नहीं हैं क्योंकि इनकी रचनाओं में इसके सम्बन्ध में कुछ भी वर्णन नहीं मिलता है न तो दादू के शिष्य रज्जब में ही इसके बारे में कुछ पता चलता है ।दादू के शिष्य सुन्दरदास की एक रचना में इस सम्प्रदाय का वर्णन मिलता है । उनका कहना है कि आदि गुरु स्वयं परब्रह्म होने के कारण इस सम्प्रदाय का ऐसा नामकरण किया गया था ।`उन्होंने अपने ग्रन्थ`गुरु-सम्प्रदाय` के अन्तर्गत स्पष्ट शब्दों में कह दिया है कि गुरु एक परमात्मा है जिसने यह सारी चित्रकारी की है और वही सब के भीतर विराजमान है । उसी का नाम ब्रह्मानन्द कहा जा सकता है जिससे क्रमश: शिष्य परम्परानुसार पूरनानन्द,अच्युतानन्द आदि से लेकर वृद्धानन्द तक नामावली प्रस्तुत होती है और इस अन्तिम पुरुष वृद्धानन्द के ही शिष्य दादूदयाल थे । अतएव परम्पराके परब्रह्म से चलने के

कारण इसे यह नाम देते हैं[1]। अत: `परब्रह्म-सम्प्रदाय` के प्रवर्तक सुन्दरदास जी है।

दादू दयाल के मृत्यु के पश्चात् दादू पंथ में अनेकों उपसम्प्रदायों का जन्म हो गया, जिनमें `परब्रह्म-सम्प्रदाय`;`खालसा-सम्प्रदाय` `नागा-सम्प्रदाय` `उतराढ़ी-सम्प्रदाय` `विरक्त-सम्प्रदाय` `खाकी-सम्प्रदाय` आदि का वर्णन मिलता है।

निरंजनी सम्प्रदाय :-

निरंजनी सम्प्रदाय का मूल स्रोत नाथ-पंथ है। उड़ीसा प्रान्त में अभी भी यह सम्प्रदाय वर्तमान है। सत्रहवीं शताब्दी (विक्रमी) के मध्य काल में स्थापित सिलहट के कतिपय पंथ भी इसके द्वारा अनुप्राणित जान पड़ते हैं। इसके मत का प्रचार सर्वप्रथम कदाचित् उड़ीसा में ही आरम्भ होकर पूर्व की ओर भी पहुंचा रहा होगा।[2] अभी तक इस सम्प्रदाय का कोई भी प्रामाणिक इतिहास नहीं प्राप्त हो सका अत: इसके सम्प्रदाय के जन्म, विकास व प्रसार नहीं हो सका। ऐसा कहा जाता है कि इसके प्रवर्तक स्वामी निरंजन भगवान निर्गुण के उपासक थे।[3] किन्तु इसका कोई प्रमाणिक परिचय नहीं मिलता। डा० बड़थ्वाल इसे नाथ पंथियों एवं संतों के मध्य एक लड़ी बताई है[4]। इस सम्प्रदाय की प्रमाणिकता न प्राप्त होते हुए यह तो सत्य है कि निरंजनी सम्प्रदाय कबीर एवं नाथ संप्रदाय से पूर्ण रूपेण प्रभावित है। इनकी रचनाओं से यह सत्य प्रमाणित-सा हो जाता है। इस प्रकार इसे कबीर और नाथपंथ की मध्य एवं मिश्रित शाखा कहें तो अनुचित न होगा।

१- `सुन्दर-ग्रन्थावली` (पु० हरिनारायण शर्मा-संपादित) पृ० १६७२
२- क्षिति मोहन सेन, मिडीवल मिस्टिसिज्मआफ इंडिया, पृ० ७०
३- राघोदास की भक्तमाल की हस्तलिखित प्रति से।
४- हजारीप्रसाद द्विवेदी, कबीर (हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर-कार्यालय बम्बई) १६४२ पृ०५२
५-

हरिदास निरंजनी

'निरंजनी सम्प्रदाय के बारह सन्तों एवं प्रचारकों के नाम अभी तक प्राप्त हो सके हैं वे १२ प्रचारक क्रमश: -१-रूपट्यी जगन्नाथदास २- स्यामदास ३-कान्हड़ दास ४- ध्यानदास ५- खेमदास ६- नाथ ७- जगजीवन ८-तुरसीदास ९-आंनदास १०-पूरणदास ११-मोहनदास १२-हरिदास है। राघोदास ने इन समस्त बारहों को 'निरंजनी' कहा है। ये सभी कबीर का भाव रखने वाले एवं कबीर द्वारा प्रभावित थे।[१]

भक्तमाल इस सम्प्रदाय के लोगों के स्वभाव अथवा साधना का जो परिचय मिलता है उससे यह पता चलता है कि जगनाथ दास संयमशील और नामस्मरण में निरत रहते थे। स्यामदास एक पहुंचे हुए साधक थे जिनके रोम-रोम में रंकार की ध्वनि उठा करती थी, आंनदास इन्द्रियजीत व विरक्त थे, कान्हड़ दास क्लाल-कुल में उत्पन्न हुए थे किन्तु अपने रहने की कोई कुटिया तक उन्होंने नहीं बनायी पूरणदास ने पिंड व ब्रह्मांड का रहस्य जाना और कबीर को अपना गुरु मानकर निरन्तर नामस्मरण में लीन रहे, खेमदास ने हिन्दू-मुस्लिम अथवा ब्राह्मण सभी को समभाव से देखते थे तथा सत्संग प्रिय थे। ध्यानदास ने ब्रह्मविषयक रचनाएं, साखी, कवित्त और पदों के रूप में निर्मित की और रामदास के साथ इनकी प्रसिद्धि मिली। मोहनदास ने अपने अनुभव की बातें कबीर की भांति ही व्यक्त की नाथ सदैव निरंजन में ही लीन रहते थे और संयम शील जीवन व्यतीत करने वालों में से थे। सच्चरित्र और त्यागी थे तथा हरिदास की विशेषता यह थी कि उनकी कथनी और करनी दोनों उच्च श्रेणी की थी। वे अपनी निर्मल वाणी निराकार की उपासना कर वे निरंजनी कहलाए।[२] इस प्रकार हरिदास का नाम मुख्य रूप से निरंजनी सम्प्रदाय में लिया जाता है।

हरिदास का परिचय 'श्रीहरिपुरुष की वाणी' में प्राप्त होता है। श्री हरिपुरुष की वाणी' के अनुसार इनका जन्म सोलहवीं (विक्रमी) के अन्तर्गत डीडवाणा परगने के कापडोप गांव में हुआ था। इनकी बहुत सी शिष्य-प्रशिष्य पाये जाते हैं।

१- राघोदास की भक्तमाल की हस्तलिखित प्रति से।

२- वही

हरिदास कबीर और गोरखनाथ के मत से विशेष रूप से प्रभावित दिखाई देते हैं। विशेषरूप से गोरखनाथ के प्रति इनकी विशेष श्रद्धा है वे कहते हैं कि उनकी गति-मति को सुर-नर मुनि में से कोई भी नहीं जानता। उन्होंने करम-भरम को जीत लिया था, भोग की जगह योग को जानते थे और गगन-मंडल में प्रवेश कर सदा महारसपान में मगन रहा करते थे।[1] इसी प्रकार कबीर की दृढ़ टेक और निर्भीकता की प्रशंसा की है।

हरिदास ने कबीर के करड़ा पंथ अथवा उलटी रीति को ही अपना मार्ग बताया है[2]।

इस प्रकार हरिदास कीसाधना की मुख्य विशेषता यह है कि इन्होंने अपनी बहिर्मुखी वृत्तियों को अन्तर्मुखी करने की ओर सबसे अधिक ध्यान दिया और दूसरों को भी सदैव यही उपदेश दिया कि यदि तुम सत्य के खोज करने वाले हो तो तुम्हें चाहिए कि उलटी नदी बहावें तथा बराबर उलटे मार्ग को पकड़ने की ही चेष्टा करें।

योग-साधना के बारे में हरिदास एवं सम्पूर्ण निरंजनी सम्प्रदाय का यह मत है कि इड़ा एवं पिंगला नाड़ियों के मध्य वर्तमान सुषुम्ना को जागृत कर अनाहद का नाद सुनें और बंकनालि के द्वारा शून्यमंडल से आता हुआ अमृतपान करें। इसके अतिरिक्त 'नामस्मरण' को भी ये उसी भांति महत्व देते हैं। 'नामस्मरण' ही उनका 'डोरा' अथवा 'धागा' है जो निरंजन के साथ जोड़ता है[3]।

हरिदास के मत में मन किसी यौगिक क्रियाओं एवं मन की सहायता से ब्रह्म में जाकर लीन हो जाता है और इस प्रकार का उद्यम सारे अन्य उद्यमों को ग्रस्त कर लेता है। नामस्मरण की क्रिया एक ऐसी विचित्र साधना है जिसमें

१- श्रीहरिपुरुष की वाणी, पद १२ पृ० ५
२- वही ~~पद-४-पृ०-२२~~ साखी १,२ पृ० ४००
३- वही पद १, पृ० २२

भक्ति के साथ-साथ योग का पूर्ण समन्वय रहा करता है । सन्त मत में जैसा कि इसके पूर्व वर्णन किया जा चुका है इसी को `सुरति शब्दयोग` नाम से अभिहित किया गया है जिसके द्वारा हमारी अन्तर्मुखी वृत्ति परमात्मा में स्वयं जाकर लीन हो जाती है । हरिदास के विचार से इस प्रकार की चेष्टा से साधक अपने प्रियतम के चरणों में अपना सर्वस्व न्योछावर कर देते हैं । साधक जब अपना सर्वस्व न्योछावर कर देता है तब उसकी स्वयं सत्ता कुछ भी नहीं रह जाती । ऐसी दशा को हरिदास ने `अपरोक्षानुभूति` की संज्ञा दी है । इस दशा का वर्णन करते हुए हरिदास जी कहते हैं कि -

` अब मैं हरि बिन आन न जाचूं, भजि भगवंत मगन है नाचं ।।
हरि मेरा करता हूं हरि बिन किया, मैं मेरा मन हरि कूं दिया ।।[1]
ज्ञान ध्यान प्रेम हम पाया, जब पाया तब आप गंवाया ।[2]
जन हरिदास आस तजि पासा, हरि निरगुण निजपुरी निवासा।[3]

हरिदास परमतत्व को सदा व सर्वत्र एक रस बना हुआ वर्तमान मानते हैं । इनके मत में वह न तो उत्पन्न होता है , न नष्ट होताहै । वह आकाश के सदृश्य सर्वत्र व्याप्त है । इस प्रकार ये समस्त जीव को ईश्वरमय देखते हैं ।

परमतत्व को निरंजनी -सम्प्रदाय विशेष कर हरिदास जी अन्य सन्तों की भांति ही मानते हैं । इन लोगों के मत तथा उनका मत सामान्य रूप से एक समान ही है । अन्य सन्तों की भांति ये भी अवतारवाद का खण्डन करते हुए कहते हैं कि ----`दस औतार कहौ क्यूं० माया, हरि अवतार अनन्त कटि आया,
जल थल जीव जिता अवतारा, जलसि ज्यूं देखौ ततसारा।।[4]

भक्ति साधना में निरंजनी सम्प्रदाय के महन्तों में सगुणी नवधा भक्ति के सदृश्य ही प्रतिपादित किया है । कीर्तन, पाद-सेवन,अर्चन,वन्दन,दास्य,सख्य,~~[illegible]~~- आत्मनिवेदन आदि वस्तुओं को मानकर समर्पित कर नवधा भक्ति को संचालित किया है।

१- श्रीहरिपुरुष जी की वाणी,पृ० २३५,६
२- वही साखी,५,६व ७ पृ०६
३- वही पद ११, पृ० ३५४
४- वही पृ० २८८

दादू-पंथी राघोदास जी ने इस अपने ग्रन्थ`भक्तमाल` में इस निरंजनी संप्रदाय का वर्णन किया है । ये कहते हैं कि - जिस प्रकार मध्वाचार्य ,विष्णुस्वामी, रामानुजाचार्य,निम्बार्क ने महन्त चक्कवै` के रूप में सगुणोपासना का प्रचार करने वाले चार भिन्न भिन्न मतों का प्रवर्तन किया था , उसी प्रकार कबीर ,नानक दादू और जगन ने आगे चल कर`अरून अरूप व अकल`की निर्गुणोपासना प्रचलित की और इन चारों की पद्धतियों का सम्बन्ध निरंजन से था । वे कहते हैं-

` सगुन रूप गुन नाम ध्यान उन विविध बतायौ ।
इन इक अगुन अरूप अकल जग सकल जितायौ ।
नूर तेज भरपूरि ज्योति ब तहां बुद्धि समाइं ।
~~निराकार पद अमिल भजन मैं, सम्प्रदाइ थापी~~
निराकार पद अमिल अमित आतमा लगाइं ।
निरलेप निरंजन भजन मैं, सम्प्रदाइ थापी सुधा।
वे च्यारि महंत ज्यं चतुर व्यूह त्यं चतुर महंत नृगुणी प्रगट।।३४१।।

नानक सूरजरूप, भूप सारे परकासै ।
मथवा दास कबीर ऊसर सूसर बरषासै ।।
दादू चंदसरूप, अमी करि सबकों पोवै ।
बरन निरंजनी मनी त्रिषा हरिजीव संतोषी ।
ये च्यारि महंत चहूं चक्कावै, च्यारि पंथ निरगुन थपे ।
नानक,कबीर,दादू-जगन, राघो परमातम जपे ।।३४२।।
रामानुज की पधित चली लछमी सूं आई ।।
विष्णुस्वामि की पधित सुती संकर तै जाई ।।
मध्वाचार्य पधित ग्यांन ब्रह्मा सुविचारा ।
नीवादित की पधित च्यारि सनकादि कुमारा ।।
च्यारि संप्रदा की पधित अवतारन सूं हुवै चली।।
इन च्यारि महंत नृगुनीन की पधति निरंजन सूं मिली।[१]

१-उत्तरी भारत की सन्त परम्परा, परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ४६२

इस प्रकार निरंजनी सम्प्रदाय संत दादू दयाल के प्रचलित मत का ही समर्थन करता है तथा दादू पंथ को आगे बढ़ाने का प्रयास करता रहा । दादू के शिष्यों ने ही आगे चलकर इससम्प्रदाय का निरंजनी सम्प्रदाय नाम रख दिया ।

(बावरी- पंथ)

निर्गुण भक्ति काल में बावरी-पंथ का प्रादुर्भाव उस समय हुवा था जबकि कबीर-पंथ,नानक पंथ,एवं साध-सम्प्रदाय क्रमश: अपनी चरमोत्कर्ष स्थिति पर पहुंच चुके थे ।समस्त भारत विशेषकर उत्तर भारत में इसका प्रचार अपने अपने क्षेत्रों में बढ़ चुका था । उक्त सम्प्रदायों के मध्य में ही निरंजनी एवं बावरी पंथ का भी प्रादुर्भाव हो गया था । विशेष कर पंजाब,दिल्ली,राजस्थान में इन दोनों सम्प्रदाय का प्रचार अधिक हो रहा था ।` इस परम्परा के महात्माओं का जितना ध्यान व्यक्तिगत जीवन को आदर्श रूप देने की ओर था, उतना अपने मत के प्रचार वा पंथ के संगठन की ओर न था और उनके अनुयायीयों ने उनके उपदेशों से भरी रचनाओं को सुव्यवस्थित कर उनकी सुरक्षा व प्रतिष्ठा भी कभी नही की[१] ।`

अत: इस सम्प्रदाय के के न तो कोई प्रमुख ग्रन्थ एवं रचनायें ही अभी तक प्राप्त हो सकी हैं और न तो इनके सिद्धांत, एवं जन्म मरण का ही प्रमाणिक ग्रन्थ मिल सका है ।

बावरी-पंथ का प्रचार क्षेत्र पश्चिमी क्षेत्र की अपेक्षा पूर्वी क्षेत्र में अधिक हुवा है । इस पंथ के प्रचारकों में से ` यारी साहब की ` रत्नावली` केशवदास की ` अमीघूंट` एवं बावरी साहिबा-बीरू साहब एवं शाह फकीर

१-`उत्तरी भारत की संत-परम्परा`, परशुराम चतुर्वेदी,पृ०४६४ ।

की फुटकर रचनाओं से इस मत के बारे में कतिपय कुछ ज्ञान हो सका है । इतना तो सत्य है कि पूर्वी क्षेत्र में इस पंथ के कुछ महात्माओं की रचनाएं अभी तक अप्रकाशित हस्तलिखित रूप में पड़ी हुई हैं । यदि इन रचनाओं को प्रकाशित कर दिया जाय तो कबीर पंथ की भांति ही इसपंथ की भी महत्ता बढ़ जाये एवं निर्गुण सन्त साहित्य को एक अमूल्य निधि प्राप्त हो जायेगी जिसके कारण संत साहित्य में और भी अधिक श्रीवृद्धि हो जायेगी।

इस पंथ की जगजीवन साहब वाली शाखा सत्यनामी सम्प्रदाय का एक अंग बन गयी है। अभी तक इस सम्प्रदाय के अन्तर्गत भीखा-पंथ और पलटू पंथ की गणना हो रही है और पश्चिमी क्षेत्रों में फकीरी परम्पराओं का भी समावेश पाया जाता है । इस प्रकार इस पंथ में अनेक निश्चित भावनाओं के समावेश हो जाने से इस मत के सिद्धान्तों का कोई व्यवस्थित रूप नहीं हो पाया है ।

इस पंथ के प्रधान तीन प्रवर्तकों में से बावरी साहिबा के निम्न पद से इस मत के सिद्धान्तों का थोड़ा बहुत आभास दिखाई देता है वे कहती हैं कि-

`अजपा जाप सकल घट बरतै , जो जानै सोइ पैखा ।
गुरु गम जोति अगम घर बासा, जो पाया सोइ देखा ।
मैं बान्दी हौं परम तत्व की, जग जानत कि भोरी ।
कहत बावरी सुनो हो बीरु, सुरति कमल पर डोरी ।।[१]

अर्थात् अजपा जप कीक्रिया स्वभावत: प्रत्येक शरीर में व्याप्त है जो उसे पहिचान जाता है वही उसका अनुभव कर सकता है । गुरु की कृपा से जो उस अगम्य परम तत्व का परिचय पा लेता है उसका जीवन सफल हो जाता है । बावरी

१-`महात्माओं की वाणी` (भुरकुड़ा,गाजीपुर,१९३२ई०)पृ० १
(उत्तरी भारत की सन्त परम्परा, परशुराम चतुर्वेदी,पृ० ४६५)

साहिब उसी परमतत्व की दासी है किन्तु लोग उन्हें पागल कहते हैं । संत मीरा की भांति बावरी साहिबा भी उस परम तत्व को ही अपना सर्वस्व मान उन्हीं के प्रेम में दीवानी बनी हुई है ।

बावरी पंथ का लक्ष्य एवं विशेषताएं

(१) परमतत्व की अनुभूति करना

(२) गुरु की महत्ता

(३) गुरु के आदेशानुसार स्वयं भीतर सदैव वर्तमान अजपा जाप के सहारे सुरति के साथ नित्य सम्बन्ध स्थापित करना ।

(४) परमज्योति की ओर निरन्तर सुरति लगाना ।

(५) `सुरति-निरति` के साथ साथ आत्मविचार एवं आत्मचिंतन पर विशेष ध्यान देना ।

(६) सत्संग को विशेष महत्ता देना ।

(७) `सुरति शब्द योग` की साधना को प्रधानता देना ।

(८) `आत्मविचार तथा आत्मचिन्तन को `योग` द्वारा जागृत करना।

(९) नाम-स्मरण करना

(१०) यौगिक क्रियाओं विशेषत: हठयोग को श्रेष्ठ मानना ।

(११) `उलटी दृष्टि अथवा साधना करना ।

(१२) बाह्याडंबररहित मन:स्थल से जाप करना।

(१३) परमतत्व ब्रह्म को `अवधूत` `अतीय` अतीत` फकीर` की संज्ञा देना।

(१४) `अनहद नाद` का वर्णन ।

मुख्य संत (बावरी पंथ)

बावरी-साहिबा

बावरी-पंथ में बावरी-साहिबा के पूर्व किसी अन्य संत का प्रमाणिक परिचय तथा इतिहास प्राप्त न हो सका है । अतः बावरी पंथ के प्रवर्तक बावरी-साहिब को माना जाये तो असत्य न होगा ।

बावरी साहिबा का परिचय अकबर के समकालीन लगभग १५६६,१६६२ पाया जाता है । इस प्रकार संत दादू दयाल और हरिदास निरंजनी के समकालीन ही थे हुई थी । बावरी साहिबा के गुरु माया नंद थी । जैसा कि इनके अनुयायी बताते हैं ।

मीरा की भांति ही यह भी उस ब्रह्म को पाने के लिए सदैव `बावरी` पगली बनी रहती थी । इनका मन सदैव पतंग की भांति उससे आकृष्ट होकर चक्कर काटता रहता था ।इनका मत है कि `इस चक्कर काटने का रहस्य वही जान सकता है जो उस परमतत्व के रुप का अनुभव करके अपने हृदय में कर चुका है।`[१]

बावरी-साहिबा का साधना वा सिद्धान्त माया नंद का ही अनुसरण किया है ।

पल्टू साहब

इनका जन्म फैजाबाद में जलालपुर गांव में हुआ था । आप के गुरु गोविन्द साहब थे । जाति के बनिया थे । इनकी रचनाओं से यह प्राप्त होता है कि प्रारम्भ में गृहस्थ थे फिर बाद में वे वैरागी होकर घर से निकल गये थे ।

अपने भक्ति सम्बन्धी विचारों को उन्होंने एक स्थल पर बताया है कि-

---

१- उत्तरी भारत की सन्त परम्परा , परशुराम चतुर्वेदी ,पृ० ४७७

'टोप टोप रस आनि मक्खी मधु लाइया ।
इक लै गया निकारि सबै ब दुख पाइया ।
मौको भा वैराग ओहिको निरखि कै ।
अर हां-पलटू माया बुरी बलाय, तजा मैं परखि कै ।।४८।।
'नारि बरन को मेटि कै, भक्ति चलाया मूल ।
गुरु गोविन्द के बाग में, पलट फूला फूल ।।१४३।।[1]

पलटू साहब के मत में माया बहुत ही बुरी चीज है । इस माया के भ्रम में समस्त जीव भरमा रहता है । उसे सच्चे स्वरूप का ज्ञान ही नहीं हो पाता है । जिसने इस माया के सच्चे स्वरूप को पहचान लिया उसका जीवन सफल हो गया ।

पलटूदास की कुछ रचनाएं नीचे दी जाती हैं जिससे उनके भक्ति एवं साधना की थोड़ी बहुत झलक मिलती है ।

१- ' ऐसी भक्ति चलावै, मची नाम की कीच ।
मची नाम की कीच, बूढ़ा औ बाला गावै ।
परदे में जो रहै शब्द सुनि रोवत आवै ।
भक्ति करै निरधार, रहै निरगुन सो न्यारा।
आवै देय लुटाय आपुना करै अहारा ।
मन सब को हरि लेय समय को राखै राजी।
तीन देख ना सकै वैरागी पंडित काजी ।।
पलटूदास एक बानिया रहै अवध के बीच ।
ऐसी भक्ति चलावै, मची नाम की कीच ।।[2]

(२) ' सब वैरागी बटुरि पलटुहि किया अजात ।
पलटुहि किया अजात, प्रभुता देखि न जाई ।
बनिया कालिक भक्त, प्रगटा सब दुनि पाई।
हम सब बड़े महन्त, ताहिको कोउ ना जानै ।।

१- पलटू साहब की बानी, भा० २, पृ० ८५
२- वही भा०१,पृ० ६

बनिया करै पलंड ताहिकी सब कोउ मानै ।
ऐसी ईर्षा जाति कोउ, ना आवे ना जाइ ।।
बनिया ढोल बजाय है, रसोई दिया लुटाय।
मालपुवा चारिउ बरन, बाँधि लैत सुख खात ।
सब बैरागी बटुरिके, फलटुहि किया अजात ।।[१]

(३) `अवधपुरी मैं जरि मुए, दुष्टन दिया जराइ ।
जगन्नाथ की गोद मैं, पलटू सूते जाइ ।।[२]

इस प्रकार शायद इन्हें जिन्दा ही जला दिया गया था ।

इस प्रकार इनके सिद्धान्त एवं मत कबीर के सिद्धान्त एवं मत पर ही आश्रित है । ये भी हिन्दू और मुसलमान धर्मों को सम भाव से देखने का उपदेश देते थे । सूफीमत का प्रभाव इनके ऊपर पूर्णरूपेण दिखाई पड़ता है । नासूत, मलकूत, जबरूत, और लाहूत आदि का वर्णन इनकी रचनाओं में पाया जाता है ।

केशवदास

केशवदास यारी साहब की शिष्य परम्परा में से एक थे । इनकी एक रचना `अमीघूंट` नाम से प्रयाग बेलवेडियर प्रैस से प्रकाशित हुई है । इनकी पुस्तक के सम्बन्ध में अभी तक मतभेद ही चल रहा है । किन्तु इस पुस्तक में एक दोहे में केशवदास ने अपने गुरु यारी साहब के प्रति आदर एवं श्रद्धा समर्पित की है। वे कहते हैं कि-

`निर्गुन राय समान है, चंवर सिंहासन छत्र ।
तेहि चढ़ि यारी गुरु दियो, केशोहि अजपा मंत्र ।।

१- पलटू साहब की बानी , पृ० २७
२- वही पृ० ११५

उक्त पद से केशवदास के मत का थोड़ा बहुत आभास पाया जाता है। अन्य सन्त कवियों की भांति ये भी `गुरु की महत्ता` पर विशेष बल देते हैं। गुरु के द्वारा ही उस निर्गुण ब्रह्म का साक्षात्कार हो सकता है वरना अत्यन्त ही कठिन कार्य है। केशवदास के मत में गुरु उस परमतत्व के सदृश्य ही होता है वही मार्गप्रदर्शक होता है।

यारी साहब (सं० १७२५ से १७८० तक)

यारी साहब की गद्दी दिल्ली में थी। इनकी गद्दी की परम्परा आधुनिक युग तक चली आ रही है। इनका प्रारम्भिक एवं वास्तविक नाम यार मुहम्मद था। इनकी रचनाओं एवं कथनोंसे यह ज्ञात होता है कि इनका जीवन ऐश्वर्यवान था लेकिन इन्हें बाल्यकाल से ही विरक्ति हो गयी थी। इनके सम्बन्ध में कोई भी प्रामाणिक एवं लिखित बातें अभी तक प्राप्त नहीं हो पायी हैं। जो कुछ भी ज्ञात हो सका है वह इनकी गद्दी से कथित रूप में ही प्राप्त हो सका है। इनकी एक छोटी सी रचना `रत्नावली` के नाम से प्रयाग के बेलवेडियर प्रेस से प्रकाशित हुई है।

यारी साहब के मत में `अंजन` वही है जिसके द्वारा उस `निर्मल नाम` का हृदय में निरन्तर दर्शन होतारहे और उस परमज्योति की ओर `सुरति` इस प्रकार लगी रहे जैसे चकोर चन्द्रमा की ओर देखता रहता है जैसे समुद्र की बूंद समुद्र में ही विलीन हो जाती है लोहा पारस द्वारा कंचन हो जाता है। जैसे सखियों के साथ बात करती हुई भी पनिहारिन का ध्यान सदा अपने शिर पर रखे हुए घड़े की ओर ही रहता है उसी की युक्ति के बतलाने वाले को इन्होंने अपना गुरु माना है[१]।

यारी साहब के ऊपर सूफी सम्प्रदाय का प्रभाव भी दिखाई देता है। सूफियों की भांति ये भी `मलकूत`, `जबरूत`, `मैकदा` आदि शब्दों का प्रयोग निम्न पद में किया है --

---

१- यारी साहब की रत्नावली, (बे०प्रे० प्रयाग) १९१०, पृ० ६

'घट घट नूर मुहम्मद साहब, जा का सकल पसारा है ।।१।।'[1]

'सूली के पार मेहरपैला, मलकूत, जबरूत, लाहूत तीनों ।
लाहूत सैलीनासूत हेरे , लाहूत के रस में रंग भीजो ।।'[2]

उस 'ज्योतिस्वरूपा आत्मा' का वर्णन यारी साहब ने विभिन्न नामों से किया है । 'सुरति' की महत्ता एवं ध्यान की महत्ता का विवेचन करते हुए यारी साहब कहते हैं कि -

'सैसावित दिल खोजे देह । बोलनहार जगतपुर येह ।
घट घट बोलें रमताराम । नाद बरन नारायन नाम ।।५।।
जीभ -जुगति बिन जोग न होइ ।सो जोगी क जुग जुग परमान ।।६।।'[3]

इस प्रकार यारी साहब की रचना सरल और सरस है । कबीर की भाषा, समान इनकी भी भाषा चलती फिरती भाषा है । कबीर के समान निर्गुणोपासक है 'सतगुरु' 'सन्त' आदि पर इन्होंने विस्तारपूर्वक रचनाएं की हैं ।

साध सम्प्रदाय

(विक्रम की १७ वीं शताब्दी के अन्त एवं
१८ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में)

साध सम्प्रदाय के सम्बन्ध में अभीतक अनेकों मतभेद पाये जाते हैं । किन्तु हिन्दी साहित्य के विभिन्न मतभेदों को देखने से यह स्पष्ट है कि तीन व्यक्तियों का नाम इस सम्प्रदाय के अन्तर्गत आता है । वे हैं -जोगीदास , वीरभान अथवा वीरभान ,उदयदास या ऊदादास ~~लिया जाता है~~ । इन व्यक्तियों के ऊपर भी अभी तक मतभेद चल रहा है । इतना तो अवश्य है कि इस सम्प्रदाय में इन तीन व्यक्तियों का नाम पाया जाता है ।

१- यारी साहब की रत्नावली(बे०प्रे०प्रयाग,१९१०ई०)पृ० रसब्द ५
२- वही 'भूलना ६, पृ० १८,६
३- वही (बे०प्रे०प्रयाग,१९१०)पृ० ६

साध-सम्प्रदाय के मत से यह प्रमाणित हो जाता है कि इस सम्प्रदाय के सन्त अपने आदि गुरू ऊदादास को कबीर दास का अवतार मानते हैं । कबीर साहब के विषय में ये कहते हैं कि-

`हुआ होते हुकमी दास कबीर , पैदायस ऊपर किया कबीर।
उस घर का उजीर कबीर, अवगत का सिफादास कबीर`[1] ।।

इस प्रकार साध मतावलम्बी कबीर को परमात्मा का प्रतीक मानते थे, अत: अपने आदि गुरु ऊदादास को भी परमात्मा का प्रतीक मान लेते हैं तो अतिशयोक्ति नहीं है ।

साध-सम्प्रदाय का दार्शनिक सिद्धान्त :-

(१) कबीर की भांति ये भी ऐकेश्वरवाद के समर्थक थे इनके मत में ईश्वर एक है ।

(२) वह निर्गुण,निराकार,सर्वव्यापी ,सर्वशक्तिमान परम दयालु है ।

(३) सृष्टि रचना के पश्चात् सर्वप्रथम गृह स्लोरा की कंदराएं है ।

भक्ति साधना :-

(१) नाम-स्मरण की प्रधानता

(२) सत्संग एवं संयत जीवन होना अनिवार्य

(३)`अनहद नाद` को सुनने का अभ्यास एवं प्रयास करना ।

(४)`सतनाम` पर पूर्ण आस्था रखना अनिवार्य ।

(५) यौगिक क्रियाओं पर विशेष महत्व देना ।

(६) भक्ति-मार्ग एवं साधना के लिए गुरू कीअत्यंत आवश्यकता है । बिना गुरू के साधना का सफल होना असम्भव है ।

(७) इस सम्प्रदाय के कुछ योगी शिव को भी महत्व देते हैं।

(८) बाह्याडंबर,मूर्तिपूजा ,भेष,आदि का खंडन करना।

१- डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल :दि निर्गुण स्कूल आफ हिन्दी पोयट्री ,पृ०३०६

सदाचार के नियम :-

इस सम्प्रदाय के अनुयायियों को सर्वप्रथम १२ नियमों का पालन करना अनिवार्य है ।[1]

वे १२ नियम निम्नलिखित हैं-

(१) दिन,मास आदि के शुभाशुभ होने या पक्षियों अथवा पशुओं की बोलियों को शकुनापशकुन मानने का स्वभाव त्याग दो,केवल ईश्वर पर ही भरोसा रखो।

(२) विरक्त साधु का वेष धारण न करो और न कभी भिक्षा-वृत्ति स्वीकार करो ।

(३) पुरुष केवल एक पत्नी रखे और स्त्री केवल एक पति को ही अपनावे ।

(४) जीव-हिंसा क न करो और न किसी से कुछ बलात्कारपूर्वक छीनो । अहिंसा ईश्वर का पहला नियम है । छोटे-छोटे जीवों पर सदा दया करो।

(५) कभी मादक द्रव्यों का व्यवहार न करो, पान व तम्बाकू न खाओ और कभी किसी सुगन्धित पदार्थ का सेवन न करो । ईश्वर के अतिरिक्त किसी अन्य का अभिवादन न करो और न किसी के यहां कोई नौकरी ही करो ।

(६) श्वेत वस्त्र धारण करो, रंगीन कपड़े ,मेंहदी,सुरमा,ललाट पर तिलक अथवा इस प्रकार के अन्य किसी भी धर्म- चिह्न को धरण न करो । कर्णवेध कराना या दाढ़ी रखाना भी उचित नहीं है ।

(७) यदि कोई पूछे कि तुम कौन हो तो अपने को केवल साधमात्र बतलाओ,किसी वर्ण या जाति का नाम न लो । तुम्हारा सच्चा परमेश्वर के अतिरिक्त और कोई भी नहीं है ।

(८) किसी भी वस्तु के लिए कभी लालच न करो । जो कुछ तुम्हें मिला है, वह सब ईश्वर प्रदत्त है । ईश्वर केवल ध्यान,निर्धन जीवन तथा अपने प्रति आत्म-समर्पण पर ही प्रसन्न रहा करता है ।

(९) गंदी बातें कभी न सुना करो और न भजनों के अतिरिक्त किसी प्रकार के संगीत को श्रवण करो । संगीत की सभी सामग्री तुम्हारे भीतर ही वर्तमान है।

१- दि रेलिजस सेक्ट्स आफ दि हिन्दूज:भाग १, पृ० ३५४-५५

(१०) कभी असत्य न बोलो और किसी के प्रति बुरे शब्दों का प्रयोग न करो । अपने हृदयों में भी कोई दुर्भावना न आने दो और न कभी शपथ लो।

(११) नम्र व विनीत बने रहो और विषयों के प्रति आसक्ति न रखो ।

(१२) केवल एक ईश्वर को मानो और उसी को सृष्टिकर्ता एवं सर्वनियंता के रूप में पहचानो । वही सत्य,शुद्ध,अनादि,अनन्त,सर्वशक्तिमान् व सत्त अवगत है ।

इस सम्प्रदाय के ग्रन्थों में परमात्मा को कहीं कहीं सतगुरु अथवा`सदा अविगत` कहा गया है और उनके मंदिरों पर`सत्त अवगत``मीरल`उदय कबीर`आदि शब्द खुदे हुए हैं । इस सम्प्रदाय के अनुयायी आपस में दंडवत करते हैं और अपने मत सिद्धान्त एवं धार्मिक बातों को गुप्त रखते हैं ।

इस मत का प्रचार संत वीरभान द्वारा फर्रुखाबाद ,मिर्जापुर की ओर अधिक पाया जाता है । पश्चिम में जोगीदास द्वारा पंजाब,दिल्ली राजस्थान एवं उत्तर प्रदेश के कुछ जिलों में अधिक पाया जाता है ।

लाल पंथ :-

लाल पंथ के अनुयायी विशेषतः अलवर राज्य के इर्दगिर्द पाये जाते हैं । अलवर राज्य के मेवा जाति वाले इसके अनुयायी हैं । ये जाति यद्यपि मुसलमान होते हैं किन्तु उनका रीति-रिवाज, आचार-विचार सभी हिन्दू धर्म एवं हिन्दुओं के समान हैं ।

इस पंथ के अनुयायी राम नाम का जप, कीर्तन करने को अधिक महत्ता देते हैं । ये लोग परमात्मा को`राम` कहते हैं । इनका मत है कि नम्रता व पवित्रता ही मनुष्य को ऊंचा उठाने में अधिक महत्त्वपूर्ण है ।

इसके प्रवर्तक संत लालदास हैं ।

संत लालदास :-

जन्म सं० १५९७ में अलवरराज्य में हुआ था । इनकी भी जाति अलवर राज्य की मेवा अथवा मेओ जाति थी । उनके ऊपर चिश्ती सम्प्रदाय का प्रभाव भी

दिखाई पड़ता है । भ्रमण करना एवं कीर्तन करना इनकी धार्मिक दिनचर्या थी । हिन्दू मुसलमान दोनों को मिलाकर एक साथ रहने एवं सात्विक जीवन बिताने का उपदेश देते थे । जनसेवा कार्य में इन्होंने अपना जीवन बिता दिया ।

संतलाल ने अनेक वाणियों की रचना की जिनका एक संग्रह `लालदास की चेतावनी' के नाम से जयपुर के स्व०पुरोहित हरिनारायण जी के पुस्तकालय में है । इनके समस्त दार्शनिक एवं भक्ति-सिद्धान्त कबीरदास से प्रभावित है, कहीं कहीं पर सूफियों से चिश्ती एवं दादू दयाल का भी प्रभाव दिखाई पड़ता है ।

आचरण की शुद्धता एवं निर्मलता पर ये कहते हैं कि -

`लालजी इक आइये इक चीइये, इक की करो फरोट ।
इन बातों साहिब खुशी, बिरला ब बरते कोय ।।

सत्य की अनुभूति को जीवन का ध्येय बनाने से जीवन सफल है ।

सच्चे साधुओं के अन्दर कौन-कौन सा गुण होना चाहिए इसका वर्णन करते हुए कहते है कि-

`लालजी भगत भीख न मांगिये, मांगत आवै शरम ।
घर घर टांडत दु:ख है, क्या बादशाह क्या हरम ।।
लालजी-साधु ऐसा चाहिए ,धन कमा कर खाय ।
हिरदे हर की चाकरी, पर घर कबूं न जाय ।।

साधु को राजा-रानी तक से भीख मांगने में लज्जा का अनुभव करना चाहिए, आदर्श एवं सच्चे साधु को स्वयं कमा कर अपना जीवन व्यतीत करना चाहिए । उसे सदैव अपने को भगवान के ध्यान में लीन रखने का प्रयत्न करना चाहिए । उसे सदैव नि:स्वार्थ भाव से सेवा और कार्य करना चाहिएइत्यादि ।

परशरामीय सम्प्रदाय :-

हिन्दी साहित्य के भक्तिकालीन निर्गुण सन्त सम्प्रदाय के अन्तर्गत उसके उपरान्त में अनेकों उपसम्प्रदायों का जन्म हुआ है । जिनमें परशरामीय सम्प्रदाय भी था । इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक परशुराम देवाचार्य थे जो कि राजस्थान के निवासी

थे । परशुराम देवाचार्य निम्बार्क सम्प्रदाय के अनुयायी थे । अतः इनके समस्त सिद्धान्त निम्बार्क सम्प्रदाय के ही समान हैं । किन्तु इनमें कुछ चीजों पर संत मत का प्रभाव भी पड़ा है । इनकी उपासना एवं धार्मिक रीति-रिवाजों, एवं भक्ति साधना पर निम्बार्क सम्प्रदाय का पूर्ण प्रभाव है किन्तु इनका दार्शनिक दृष्टिकोण, परमतत्व के स्वरूप, सृष्टि की रचना, जीव माया आदि पर निर्गुण-वादी विचारों पर आश्रित है ।

सीतारामीय सम्प्रदाय (संवत् १८२० से संवत् १८६० तक)

इस सम्प्रदाय के संस्थापक बाबा रामचन्द्र बलिया जिले के चन्हहीह नामक गांव के निवासी थे । इनकी प्रसिद्ध रचना `चरणचन्द्रिका` है । इस मत के अनुयायी भी कबीर साहब को मानते हैं । और उन्हीं का अनुसरण करते हैं । बनारस के श्री महन्त जे कृष्ण द्वारा प्रकाशित `श्रीपोथी सन्तमतसार` में इस मत के अनुयायियों के ग्रन्थों का वर्णन एवं ग्रन्थ पाए जाते हैं । इन सम्प्रदायों के प्रादुर्भाव के समय भारत में मुगलकालीन शासन होने के कारण जनता में नानाप्रकार की विषमताएं फैली हुई थीं विशेषकर हिन्दू मुसलमानों की एकता की समस्या थी । इन सन्तों में शासन के विरुद्ध विरोध उठने लगा । इन सन्तों ने हिन्दू-मुसलमान धर्मों को एक समान कहने का झंडा प्रबल किया । अपने उपदेशों के सहारे एक दूसरे के विचारों का आदान-प्रदान करना प्रारम्भ किया ।

सीतारामीय सम्प्रदाय, सब बातों में अन्य सब मतों से समानता रखने पर भी कुछ बातों में अन्य मतों से भिन्न है । सबसे प्रमुख एवं मुख्य बात यह है कि इस मत के समय से साधना के साथ ही साथ प्रेम साधना पर भी विशेष ध्यान देने लगे थे । इन सम्प्रदायों के ऊपर सूफी सम्प्रदाय का प्रभाव भी पूर्णरूपेण पड़ गया था ।

सन्त बाबा रामचन्द्र के पश्चात् उनके शिष्य नवनिधिदास (संवत् १८६० से १६२०)में हुए।

बाबा लाली सम्प्रदाय:- पंजाब में बाबालाल नामक चार महात्माओं के नाम प्रसिद्ध हैं किन्तु जो इन चारों में सबसे प्रमुख बाबालाल हैं, वे दाराशिकोह के समकालीन थे

बाबालाली सम्प्रदाय का मत एवं सिद्धान्त वेदान्त, सूफी, निर्गुण सन्त इन सभी से प्रभावित दिखायी देता है। मुख्य रूप से वेदान्त और सूफी मतों का प्रभाव इस पर विशेष रूप से पड़ा हुआ है। इस सम्प्रदाय के अनुयायी पूर्ण रूपेण एकेश्वरवादी हैं। 'राम' और 'हरि' के रूप में समस्त धर्मों के उपास्य देव को माना है।

इनका मत है कि परमात्मा एक अपूर्व आनन्दसागर के सदृश्य है जिसका प्रत्येक जीव एक बिम्ब के रूप में है। उसके साथ वियोग-दशा के अनुभव का एकमात्र कारण हमारी 'अहंता' है जिसकी साधना द्वारा नाश होते ही एकता की अनुभूति आपसे आप होने लगती है।[१]

<u>साधना के मुख्य सिद्धान्त :-</u>

(१) शम, दम, चित्त, शुद्धि, दया, परोपकार, सहज भाव, व सत्य दृष्टि से अहंता को दूर करना।

(२) प्रेम एवं भक्ति द्वारा भगवान की प्राप्ति करना।

(३) साधना का ध्येय जीवन को परमात्मामय बनाना।

(४) वास्तविक वैराग्य बाह्याडंबर से दूर विस्मृत व मोह का त्याग करना है।

(५) मूर्ति-पूजा अवतार वाद का खंडन करना।

(६) योगसाधना पर विशेष ध्यान देना।

(७) दादूपन्थ के समान ही आदर्श साधु के अन्दर श्रद्धा व वैराग्य को धारण करना बताया है।

बाबा लाली सम्प्रदाय के अनुयायी सीमाप्रान्त, बड़ौदा के समीप, पंजाब, गुरुदास पुर, शीघ्यानपुर, सरहिन्द के निकट पाए जाते हैं।

मुख्य प्रवर्तक सन्त बाबा लाल थे।

१- उत्तरी भारत की सन्त परम्परा : परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ५२६

धामी-सम्प्रदाय:

धामीसम्प्रदाय का`महाराजपन्थ` `मेराजपंथ` `खिजड़ा`[१] और चकला नाम से भी पुकारते हैं। इनकेअनुयायियों को`साथी` `भाई` भी कहा जाता है। ये लोग वैष्णव सम्प्रदाय से अधिक प्रभावित दिखायी देते हैं।ये लोग स्नान आदि करके कृष्ण के बालस्वरूप का ध्यान करते हैं, मूर्तिपूजा में ये लोग विश्वास नहीं करते और तुलसी कीमाला धारण करते हैं। ललाट पर खड़ा तिलक,कुंकुम लगाते हैं। इनका धर्मग्रन्थ`कुलजमशरीफ` है जिनकी पूजा मन्दिर में भी किया करते हैं। ये लोग मांस मदिरा का पान नहीं करते। हिन्दू-मुस्लिम का जो सहभोज इनके यहां होती थी वह केवल वह इनके दीक्षान्त पर्व पर ही होती है। इस सम्प्रदाय के अनुयायी आत्मज्ञान और योग विद्या में निपुण होते हैं। इस सम्प्रदाय के साधक अत्यन्त त्यागी,शुद्ध नैतिक आचरण एवं आदर्श चरित्र वाले अत्यन्त दयालु,परोपकारी होते हैं। जामनगर(काठियावाड़) तथा सागर और दमोह के आस पास इस सम्प्रदाय का विशेष प्रभाव है।

इस सम्प्रदाय के प्रमुख प्रवर्तक सन्त प्राणनाथ थे। संवत् १६७८ के लगभग जाम नगर में थे। सन्त प्राण के गुरु देवचन्द्र का नाम पाया जाता है किन्तु इनका कोई प्रामाणिक दृष्टान्त नहीं मिलता। केवल सन्त प्राणनाथ की रचनाओं से इतना प्राप्त होता है कि देवचन्द्र साधु से जो सिन्ध प्रदेश के निवासी थे,दीक्षा मिली।

सन्त प्राणनाथ के पश्चात् उनके शिष्य छत्रसाल थे। ये पन्नानिवासी थे तथा धामी सम्प्रदाय के मत को फैलाने एवं प्रचार करने का प्रयत्न करते रहे।

सन्त प्राणनाथ के अनुयायियों के मतानुसार "कुलजमशरीफ" सबसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। यह सन्त प्राणनाथ की अप्रकाशित रचना है। कुछ लोग इस धर्मग्रन्थ को

१-`खिजड़ानाम किसी वृक्ष के नाम के आधार पर रखा गया था। जो देवचन्द्र की नवतनपुरी (जामनगर) वाली समाधि के निकट लगा हुआ है। गुजराती में उस वृक्ष को`खिजड़ा` कहते हैं।`चकला` नाम वास्तव में देवचन्द्र के पुत्र बिहारीदास ने अपने पक्ष को दिया था जिसे उसने अपने पिता के देहान्त हो जाने पर संवत् १७१२ में चलाया था।किन्तु मूल पन्थ से भिन्न न था।

भाषा को गुजराती कहते हैं । किन्तु डा० बड़थ्वाल के अनुसार इसका अधिकांश हिन्दी में है । और प्रत्येक दशा में सारे ग्रन्थ की भाषा ऊबड़-खाबड़ और खिचड़ी जान पड़ती है ।[1]

निजानन्द सिद्धान्त :-

आगे चल कर धामी सम्प्रदाय निजानन्द सम्प्रदाय अथवा प्रणामी सम्प्रदाय के रूप में परिवर्तित हो गया जिसके प्रवर्तक निजानन्द थे ।

निजानन्द के मतानुसार भगवत् प्राप्ति के प्रमुख साधन ज्ञान एवं भक्ति है कहीं बढ़ कर प्रेम को ठहराया गया है । प्रेम ही सब कुछ है । भगवान हमारे अन्तरतम में प्रियतम रूप में है । ज्ञान द्वारा उसे समझ लेना तथा भक्ति द्वारा कुछ समर्पित कर देने से ही लक्ष्य पूरा नहीं हो पाता बल्कि उसके साथ हमारा तन्मय हो जाना भी अति आवश्यक है । उसके साथ तन्मय होने के लिए प्रेम का ही सहारा लेना पड़ेगा अत: प्रेम मूल शक्ति है । प्रेम की साधना का बल पाकर जीव परमात्मा की ओर आप से आप आकर्षित होकर उसमें लीन हो जाती है ।

इस सम्प्रदाय के अनुयायी भी देवचन्द्र अथवा साथ-सम्प्रदाय की भांति वैष्णव मत से पूर्णरूपेण प्रभावित थे । `श्रीमद्भागवत` में वर्णित राधा-कृष्ण की लीलाओं का भी वर्णन करते हैं ।

सतनामी सम्प्रदाय :-

`सत` शब्द `सत्य` का रूपान्तर है । `सत का अर्थ `नित्य` शाश्वत है । `नित्य` एवं `शाश्वत` शब्द परमात्मा का रूपान्तर शब्द है अत: सत का अर्थ `परमात्मा` भी लगाया जाय तो अतिशयोक्ति न होगी ।

सतनामी सम्प्रदाय के मूल प्रवर्तक का अभी तक कुछ पता नहीं चल पाया है । डा० बड़थ्वाल के मतानुसार इसके संस्थापक दादूपंथी जगजीवनदास हैं ।

१- नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग १५, पृ० ७५

कुछ विद्वान इस सम्प्रदाय का सम्बन्ध साध सम्प्रदाय से मानते है अत: उन विद्वानों के मत में साध सम्प्रदाय के प्रवर्तक ही इस पंथ के प्रवर्तक मानते हैं । किन्तु साध-सम्प्रदाय एवं सतनामी सम्प्रदाय में आज तक कोई सम्बन्ध नहीं है ।

कुछ समय पश्चात् सतनामी-सम्प्रदाय के अन्दर विद्रोह की भावना जाग्रत हो गयी और तत्पश्चात् इसी सम्प्रदाय के अन्तर्गत एक नवीन शाखा `नारनौल` की स्थापना हुई । इसके विषय में कोई व्यवस्थित प्रमाणिक इतिहास प्राप्त नहीं हो पाया है ।

कोटवा शाखा का (सन् १६७० व संवत् १७२७)[1] प्रादुर्भाव इसी समय में ही हुआ था । यह शाखा बावरी -पन्थ से प्रभावित था । इस शाखा के प्रवर्तक जगजीवन साहब है ।

जगजीवन साहब की रचनाएं`शब्दसागर`,`ज्ञानप्रकाश`,`प्रथम ग्रन्थ`,`आगम पद्धति`,`महाप्रलय`प्रेमग्रन्थ तथा`अघविनाश` सात पुस्तकें प्रसिद्ध हैं ।

जगजीवन साहब ने परमात्मा को`सत` नाम से पुकारा है । यह परमात्मा निर्गुण`अनादि ,अलौकिक गुणों से पूर्ण है । एक पद में वे कहते हैं कि -

तीरथ व्रत की तजिदे आसा ।
सतनाम की रटना करि कै, गगन मंडल चढ़ि देखु तमासा ।
ताहि मंदिल का अंत नहीं कछु, रवी बिहून किरिनि परगासा।
तहां निरास वास करि रहिये, काहेक भरमत फिरत उदासा ।।
देउ लखाय छिपावहुं नाहीं, जग में देखउ अपने पासा ।।[2]

साधना में सर्वश्रेष्ठ और महत्वपूर्ण वस्तु`सतनाम` का स्मरण है । इस`सतनाम` के स्मरण द्वारा गगन -मंडल के दृश्य भी दीखने लगते हैं । ये उस `तमाशा` का भी वर्णन करते है और कहते हैं कि मैंने जैसा स्वयं देखा है ,ठीक वैसा ही दिखला भी देंगे ,छिपाऊंगा नहीं।

१- डा० पी०द० बड़थ्वाल :`दि निर्गुण स्कूल आफ हिन्दी पोयट्री,पृ०२६४
२- जगजीवन साहब की बानी : पृ० ६६ - १००
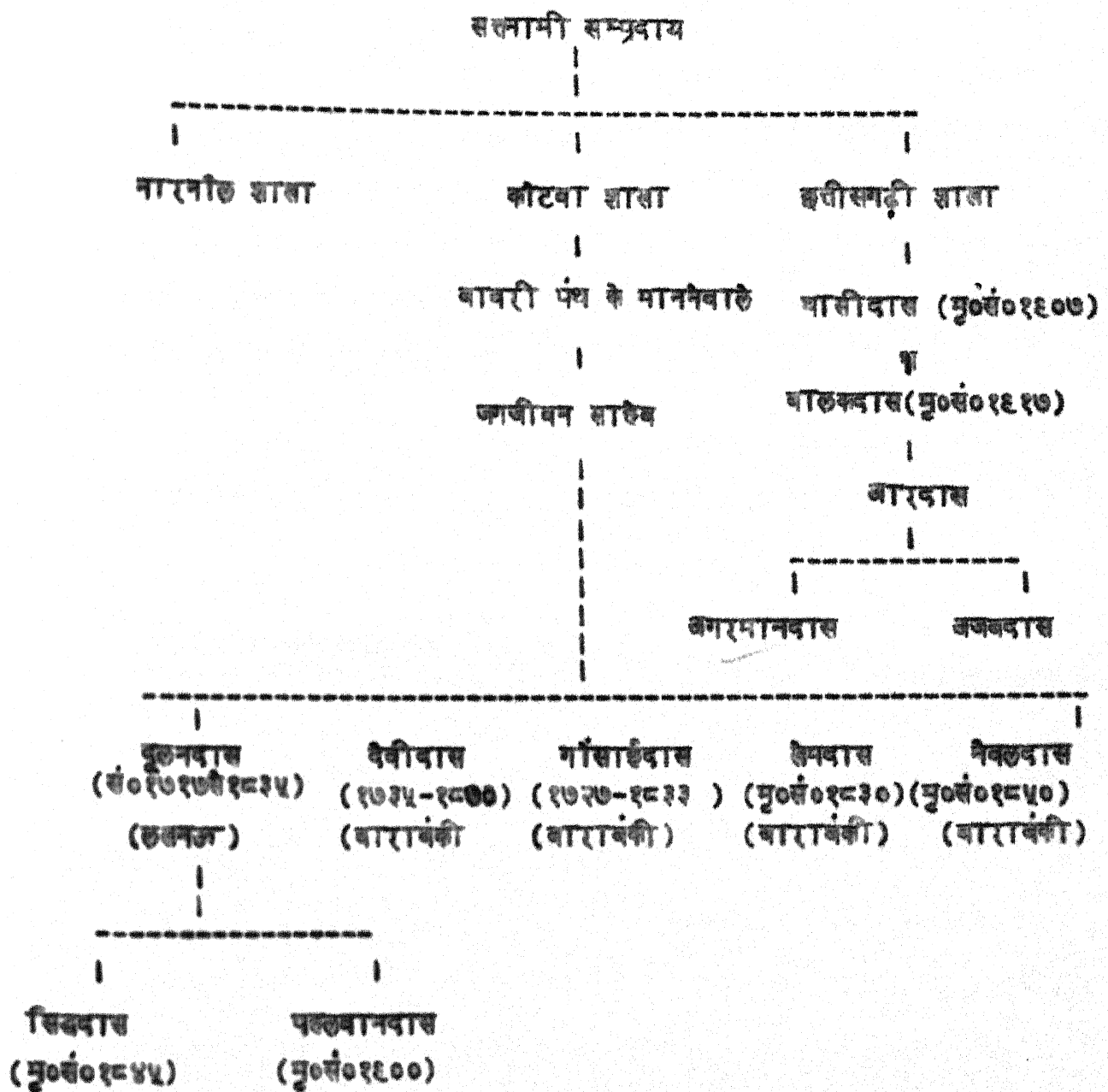
जगजीवन साहब के उक्त पांच शिष्य थे। दूलनदास के समय तक सतनामी सम्प्रदाय के ऊपर सगुणोपासना का प्रमुख प्रभाव दिखाई पड़ता है। जगजीवन साहब की भक्ति विशुद्ध निर्गुण भक्ति थी। किन्तु दूलन दास के समय तक इस सम्प्रदाय के अनुयायियों ने देवी देवताओं का पूजन आदि प्रारम्भ कर दिया।

छत्तीसगढ़ी :-

इस मत में भी सतनामियों के अनुसार ईश्वर एक है वह निर्गुण एवं निराकार है जिसकी न तो कोई मूर्ति हो सकती है और न जिसकी मूर्ति पूजा का ही विधान हो सकता है। सूर्य पूजा पर ये लोग विशेष बल देते हैं। इस मत वाले को तामा तामसिक पदार्थों का सेवन करना निषेध माना है। नैतिक नियम का पालन करना अत्यन्त आवश्यक है। इनके नियम भी अत्यन्त कठोर होते हैं।[1]

इस शाखा के प्रवर्तक घासीदास थे। तत्पश्चात् उनके पुत्र बालकदास थे इनके शिष्य परम्परा में अगरदास, अगरमानदास, अजबदास आदि पाये जाते हैं।

धरनीश्वरी-सम्प्रदाय :-

इस सम्प्रदाय के संत बाबा धरनीदास एक उच्च एवं पहुंचे हुए महात्मा थे। अन्य सम्प्रदायों की भांति इस सम्प्रदाय के प्रचार एवं प्रसार का वर्णन नहीं मिलता है। इसलिए इसकी प्रसिद्धि अधिक न हो सकी। धरनीश्वरी-सम्प्रदाय के प्रवर्तक बाबा धरनीदास थे जो स्वामी रामानन्द की परम्परा को स्वीकार करने वाले थे।

धरनीश्वरीकसम्प्रदाय
स्वामी रामानंद
बाबा धरनीदास(छपरा)
परमानन्द
सकलानंद
रामप्रसादी दासी
सदानन्द
चैनराम बाबा
(सं०१७४०सै१८४५)
अमरदास
मायाराम
मकाराज बाबा
रटनदास
सुदिष्ठ
बच्चूबाबा
कंगली बाबा
(रतसंड)
रघुपतिदास
(मिल्की मृ०सं०१९९०)
रामाज्ञा सिंह
लक्ष्मणदास(वर्तमान)
गोपालदास
बालमुकुन्ददास
रामदास
पीताम्बरदास
सीतारामदास
श्रीपालदास
धरनंदन दास
रामनंदनदास
संत रामदास
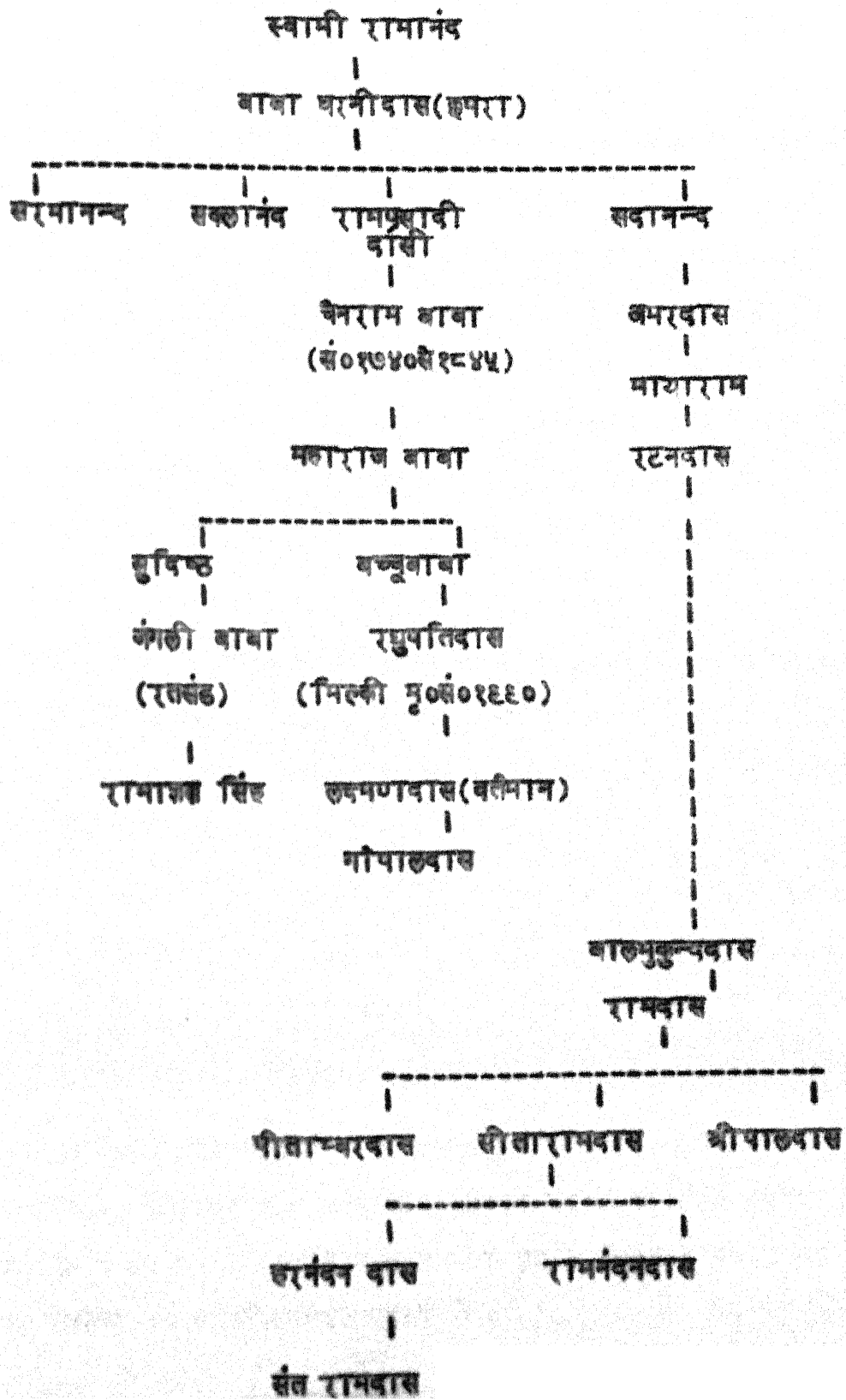
दरियादासी सम्प्रदाय

(सं० १६६१- के लगभग)

'दरियासागर' दरिया सम्प्रदाय का प्रमुख ग्रन्थ है। वैसे तो इस सम्प्रदाय में अनेकों ग्रन्थों की रचना हुई है। संत दरियादास इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक थे। इतिहास को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि उस काल में लगभग दो दरियादास हुए हैं एक तो मारवाड़ के रहने वाले थे तथा दूसरे बिहार के। इन दोनों का जन्म और मरण लगभग इसी काल में कुछ वर्ष पहले या पीछे हुआ है। किन्तु मारवाड़ी दरियादास के विषय में कोई विस्तृत एवं विशेष सामग्री नहीं प्राप्त हो सकी है। ~~बिहार~~ बिहारवाले दरियादास का क्षेत्र एवं अनुभव मारवाड़ी दरियादास से विस्तृत एवं व्यापक था। उनके मत पर सूफी सम्प्रदाय, सतनामी सम्प्रदाय तथा कबीर पंथ का भी प्रभाव दिखायी पड़ता है।

'दरियासागर' ग्रन्थ को देखने से यह ज्ञात होता है कि ये कबीर पंथी थे और कबीर के सिद्धान्तों से पूर्णरूपेण सहमत थे। कबीर पंथ के मत से प्रत्येक संत का अन्तिम ध्येय सतलोक की प्राप्ति है जो कि तीनों लोक से परे है, दरिया दास ने अपनी रचनाओं में उस 'सतलोक' को 'छपलोक' 'अमयलोक' 'अमरपुर' आदि नामों से पुकारा है।

बिहारवाले दरियासाहब इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक थे। उनकी लगभग दो दर्जन किताबें मिलती हैं। कुछ किताबों का फारसी रूपान्तर भी किया है। इस सम्प्रदाय के अनुयायी वर्तमान समय में भी उत्तरप्रदेश के पूर्वी जिलों, बिहार, मुजफ्फर पुर, मिरजापुर आदि में हैं।

मारवाड़ी दरियादास ने भी अपना एक स्वतंत्र दरियापंथ का प्रचार किया। मारवाड़ी दरियासाहब ने अपने को मुसलमान जाति का वंशज बताया है। अन्य संत मत के सदृश्य ही इन्होंने अपने मत का प्रसार किया। कबीर का प्रभाव इन पर विशेष रूप से परिलक्षित होता है।

शिवनारायणी सम्प्रदाय

शिवनारायणी सम्प्रदाय का मुख्य उद्देश्य अपने प्रत्येक अनुयायी को 'संतविलास' का 'संत देश' नामक लोक तक पहुंचा देना है। इस 'संत विलास' का वर्णन इनके

अनेक ग्रन्थों में मिलता है । दरियादास के `छपलोक` की भांति ही `संतदेश` है । जहां लोग जम पहुंच कर साधना करते हैं । संतों के लिए यह आदर्श देश है । ये कहते हैं कि जीवन को सफल एवं अच्छा बनाने के लिए लोगों ने निर्गुण व सगुण नाम के दो भिन्न भिन्न मार्ग बनाये हैं किन्तु इन दोनों मार्गों से कोई भी व्यक्ति अपने जीवन को सफल नहीं बना सकता है । जीवन को सफल एवं स्थिति को सुधारने के लिए `संतमत` का ही अनुसरण करना आवश्यक है ।

इस मत के प्रवर्तक संत शिवनारायण थे जिनके विषय में कोई निश्चित बातें नहीं मालूम हो सकी है । संत दुख हरन इनके गुरु थे । `संत सम्प्रदाय दुखहरन` के सम्बन्ध में भी कोई निश्चित पता नहीं हो सका है । `काशी नागरी प्रचारिणी सभा` की खोज से दुखहरन की एक रचना का पता चला है जिसका नाम `पुहुपावली` है । यह एक प्रेम कथा के रूप में लिखी गयी है जो कि सूफी रचनाओं के समान है । इस ग्रन्थावली से यह ज्ञात होता है कि दुखहरन मलूकदास के शिष्य थे ।

वर्तमान समय में इस सम्प्रदाय के चार मठ हैं जो `चारधाम` के नाम से प्रसिद्ध हैं । ये चार मठ ससना, बहादुरपुर, मेलसरी, नन्दवार एवं गाजीपुर में हैं ।

संत शिवनारायण के चार शिष्य एवं प्रशिष्य थे । वे चार शिष्य रामनाथ, सदाशिव, लखनराम, लेखराज प्रमुख थे ।

इसके पश्चात् अनेक उपसम्प्रदाय एवं उप पंथ के आगमन होता ही चला आ रहा है जिसमें चरणदासी सम्प्रदाय, गरीबपंथ, रामसनेही सम्प्रदाय धामी एवं काली शाखा आदि भी पाये जाते हैं ।

<u>फुटकर सन्त</u>

दीनदरवेश, संत बुल्लेशाह, मिंया पीर, बाबा किनाराम अघोरी, बालूराम व अघोर पंथ आदि संतों का वर्णन भी मिल पाया जाता है ।

भक्तिकाल के प्रयोग काल में कुछ ऐसे संतों का नाम मिलता है जिन्होंने अपना कोई विशेष पंथ या सम्प्रदाय तो नहीं चलाया बल्कि कबीर के मत को अपना मूलमंत्र माना । इन संतों की बिखरी हुई बानियां मिलती हैं । इस फुटकर संतों में विशेष रूप से संत जंभनाथ, शेख फरीद ब्रह्म, सिंगाजी, दलूदास, भीखन जी (काकोरी के) नाम विशेष रूप से मिलते हैं ।

संत जंभनाथ का सम्बन्ध शायद 'नाथ पंथ' से रहा हो, उन्हें अपने अपने मूल सम्प्रदायों से पृथक् होने की कभी आवश्यकता नहीं पड़ी थी । किन्तु कुछ भी हो इन्होंने अपने स्वानुभूति के सिद्धान्तों को स्वयं स्वतंत्र रूप से ही बनाया था । अन्य संतों की भांति वे सदैव अपनी साधना में लीन रहते थे ।

शेख फरीद ब्रह्म सूफी थे ।

इसके अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों का प्रमाणिक विस्तृत परिचय नहीं मिल पाया है ।

इन समस्त सम्प्रदायों एवं उपसम्प्रदायों को देखते हुए इतना तो सत्य है कि इन सभी सम्प्रदायों एवं उप सम्प्रदायों का आपस में एक दूसरे से सम्बन्ध है । समस्त संतों ने जो सिद्धान्त निश्चित किये थे और जिन साधनों को इन सभी संप्रदायों ने अपनाया था उनका मूल स्रोत उनकी स्वानुभूति ही है। अत: वे कभी भी इस बात को नहीं सोचे कि उनका मत किन-किन धार्मिक ग्रन्थों एवं सिद्धान्तों से मेल खा रहे हैं । वे तो विचार-स्वातंत्र्य के पोषक थे और उनका मत यह था कि सत्य को सत्य मानने के लिए किसी बाह्य सहायता की आवश्यकता नहीं है ।

किन्तु ज्यों ज्यों सम्प्रदायों के अन्तर्गत उपशाखाओं का एवं पंथों का प्रचार होने लगा तब वे लोग अपने अपने पंथों एवं शाखाओं को धार्मिक वर्गों की भांति भिन्न-भिन्न समझने लगे और अपने विचारों और सिद्धान्तों को अन्य धर्मों एवं सिद्धान्तों से तुलना करना प्रारम्भ कर दिया । तुलना करने पर उन्हें यह स्पष्ट होने लगा कि उनके विचार एवं सिद्धान्त अन्य धार्मिक विचारों एवं सिद्धान्तों के समान है । अत: उपशाखाओं और उपसम्प्रदायों के होते हुए भी सबके मूल सिद्धान्त और साधना में ऐक्य पाया जाता है ।

पूर्वकालीन संत

(१) नानक-पंथ व सिख धर्म :-

सिख धर्म अथवा नानक पंथ के गुरु गुरुनानक देव हैं । तत्पश्चात् क्रमश: गुरु अंगद, गुरु अमरदास, गुरु रामदास, गुरु अर्जुनदेव, गुरु हरगोविंद, गुरु हरराय, गुरु हरकृष्णराय, गुरु तेगबहादुर, गुरु गोविंदसिंह व वीर बंदा बहादुर हुए।

सिख धर्म के अनन्तर गत कई सम्प्रदाय भी हुए जिनमें उदासी सम्प्रदाय, निर्मला सम्प्रदाय नामधारी सम्प्रदाय, सुथराशाही सम्प्रदाय, सेवापंथी सम्प्रदाय, अकाली सम्प्रदाय, भगतपंथी सम्प्रदाय, गुलाबदासी सम्प्रदाय, निरंकरी सम्प्रदाय थे ।

इस धर्म में अनेक पंथों का भी वर्णन है जिनमें प्रिथीचंद के `मीनापंथी` रामराय के `रामैया पंथी` हंदल के `हंदलीसम्प्रदाय` आदि हैं।

गुरुनानक देव का जन्म एक हिन्दू परिवार में हुआ था किन्तु उस समय मुसलमानों के आक्रमण एक के बाद दूसरे होते ही जा रहे थे । मुसलमान जहां भी अपना अधिकार कर लेते थे वहीं हिन्दुओं के आचार विचार पर अपना प्रमुख प्रभाव डालते ह जाते थे । गुरु नानक ने एक स्थल पर यह लिखा है कि `हिन्दुओं में से कोई भी वेद शास्त्रादि को नहीं मानता अपितु अपनी ही बड़ाई में लगा हुआ रहता है । उनके कान व हृदय सदा तुर्कों की धार्मिक शिक्षाओं द्वारा भरते जा रहे हैं और मुसलमान कर्मचारियों के निकट एक दूसरे की निन्दा करके लोग सबको कष्ट पहुंचा रहे हैं । वे समझते हैं कि रसोई के लिए चौका लगा लेने मात्र से ही हम पवित्र बन जायेंगे`[१] इस प्रकार मुसलमानों द्वारा किये गये नाना प्रकार के अत्याचारों एवं दुष्ट कर्मों से पीड़ित हो गुरु नानक को क्षोभ उत्पन्न हुआ उनके विचार से यह मानवता के विरुद्ध नृशंसता व क्रूरता प्रदर्शित करना था । इन सब सामाजिक एवं धार्मिक अत्याचारों से पीड़ित होकर वे जनता के समक्ष एक धार्मिक उपदेशक के रूप में आये ।

गुरु नानक के जीवन चरित्र को पढ़ने से यह ज्ञात होता है कि इन्हें हिन्दू मुस्लिम दोनों धर्मों की शिक्षा समान रूप से मिली थी । किन्तु वे प्रारम्भ से

१-`आदि ग्रन्थ` (तरनतारन संस्करण) पृ० ३९८

ही स्वतंत्र आत्मचिन्तक एवं धार्मिक व्यक्ति थे । वह साधु-सत्संग भी किया करते थे । अपनी समसामयिक परिस्थितियों पर सदैव थे आत्मचिन्तन किया करते थे । कबीर की भांति इनका भी विचार था कि व्यक्ति नाना प्रकार के धार्मिक पाखण्डों में इसलिए पड़ा हुआ है कि वह धर्म के वास्तविक एवं मौलिक उद्देश्य को भूल बैठा है अत: सर्व प्रथम उसे वास्तविक एवं मौलिक उद्देश्य को समझना अनिवार्य है तभी वह इन बाह्याडंबरों से छुटकारा पा सकता है वरना नहीं। धार्मिक विभिन्नता तथा भेदभाव क्यों आती है ? इसका उत्तर देते हुए गुरु नानक कहते हैं कि सभी धर्म किसी न किसी प्रकार का व्यापक उद्देश्य लेकर चलता है, कुछ दिनों तक उसका मुख्य उद्देश्य समाज में प्रचलित भी हो जाता है किन्तु जब उस धर्म की प्राचीनता बढ़ती जाती है तब क्रमश: उस धर्म में नाना प्रकार की विकृतियां आने लगती हैं ।फल यह होता है कि कुछ समय पश्चात् धर्म का मूल लापता हो जाता है और उसके स्थान पर उसकी साधना मात्र ही रह जाती है । फिर अपने आप साधनों की विभिन्नता के कारण समान उद्देश्य के अनुयायियों में ही भेद-भाव की भावना उत्पन्न हो जाती है जो कि स्वाभाविक एवं मनोवैज्ञानिक भी है । नानक के मत में किसी धर्म का वास्तविक रूप समझने के लिए यह आवश्यक है कि सर्वप्रथम उसके मुख्य उद्देश्य एवं लक्ष्य को समझा जाय।

स्वतंत्रमत विचारक होने के कारण इन्होंने हिन्दू एवं मुसलमानों के योगी, संन्यासी,वैष्णव,शैव,नाथ पंथियों सिद्ध वीर के बारे में गंभीर अध्ययन किया लेकिन इनमें से किसी की भी धारणाओं को नहीं अपनाया । स्वानुभूति द्वारा जो उचित था उसे ही इन्होंने अपना सिद्धान्त बनाया।

गुरु नानक के मत में धार्मिक जीवन व्यतीत करने के लिए सर्वप्रथम साधक को आत्मिक विकास करना चाहिए-निरंतर अभ्यास करना चाहिए,गृहस्थाश्रम में ही अपने व्यक्तित्व का निर्माण करना चाहिए।

<u>हुकुम तथा ईश्वर</u> :- गुरु नानक ईश्वर अथवा उस परमतत्व की संज्ञा `हुकुम` देते हैं `हुकुम` एकमात्र सत्यस्वरूप,स्वयंभू और नित्य है। वह `करना``करनेवाला``रहना`

`रहनेवाला``होने वाला` सभी कुछ है । अर्थात् वही हुकुम देने वाला है उसी को हुकुम दिया जा रहा है । हुकुम को कार्य करने वाला भी वही है । अतः उस सत्य स्वरूप को निश्चित रूप देना असंभव है ।

उसके विषय में `जपुजी` में एक स्थल पर नानक देव कहते हैं कि :-

` सोचै सोचि न होवई, जो सोची लखवार`

तथा-`एहु अंतु न जाणै कोइ, बहुता कहीए बहुता होइ ।[१]

तथा-` आपे रसीआ आपि रसु, आपे रावण हारु ।

रंगि रता मेरा साहिबु, रविरहिआ भरपूरि।

आपे माछी मछुली आपे पाणी , जालु ।

आपे जालमणका आपे अंदरिलालु ।

आपे बहु बिधि रंगुला सखीए मेरा लालु ।।[२]

अर्थात् यदि हम उसे लाखों बार चिन्तन करें फिर भी उसकी धारणा स्पष्ट नहीं होसकती । उसके विषय में जितना भी कहें उसका अन्त नहीं मिलता । हम ज्यों-ज्यों कहते जाते हैं,त्यों-त्यों वह और भी व्यापक होता हुआ प्रतीत होने लगता है । वही मछुआ है, वही मछली है, वही पानी है, वही जाल है, वही जाल का शीशा है और वही धारा । सब कुछ वही है । वह सर्वत्र व्याप्त मान ह । वह गुण भी है गुणी भी है । इस प्रकार वह सर्वोच्च गुणों वाला, सर्वशक्तिमत्ता,महानता सर्वज्ञ दयालु है । उस परम तत्व को पाने के लिए साधक को क्रमशः चार स्थितियों को पार करना पड़ता है ।

१-`धरमखंड`-साधक इसमें अपने सभी कार्यों को कर्तव्य रूप में मान लेता है।

२-`ज्ञान खंड`-प्रथम अवस्था की बात को उनके कारणों के ज्ञान द्वारा अपनाने लगता है।

३-`करम खंड`-अपने सभी कार्यों को अपने आप करने लग जाता है और जो जो कार्य वह इस स्थिति में अन्दर किया करता है वह सभी स्वभावतः उच्च कोटि के हुआ करते हैं ।

१- `जपुजी` पृ० १, २४

२- `आदि ग्रन्थ`सिरी राग २५, पृ० २२

४-`सच खंड`- सत्य को पा लेता है वहां पर उसे आध्यात्मिक पूर्णता की उपलब्धि हो जाती है। सर्वत्र उसे`पंच` रूप दिखाई देने लगता है।

गुरु नानक अथवा सिख धर्म में भी नामस्मरण तथा प्रार्थनाओं पर विशेष बल दिया गया है । योग-साधना की आवश्यकता भी वे कहीं कहीं बताते हैं। इनके मत में पूर्ण मनोनिग्रह बिना सहज-साधना के संभव नहीं है । नाम की महत्ता पर इन्होंने विशेष रूप से अपने`आदिग्रन्थ` में बल दिया है इसके अतिरिक्त गुरु की महत्ता ईशप्रार्थना, जप आदि पर भी अन्य हिन्दी संत कवियों के मत से प्रभावित जान पड़ते हैं । कबीर की भांति गुरु नानक देव भी बाह्य पाखण्डों एवं भेषाभूषा के आडम्बरों का खण्डन करते हैं । सच्ची भक्ति अन्तरात्मा से होनी चाहिए जिसके लिए हम इधर उधर भटकते हैं वह तो अपने अन्दर है । कबीर के इस मत से नानक पूर्णरूपेण प्रभावित है ।हिन्दू मुसलमानों की आलोचना नानक ने भी खुले आम की है तथा हिन्दू धर्म एवं समाज में आ गयी बुराइयों को दूर करने का प्रयत्न किया है । हिन्दू धर्म एवं सिख धर्म में सब दृष्टियों से समानता होते हुए भी कुछ चीजों में भिन्नता दिखाई देती है । गुरुनानक देव ने प्रचलित पूजन-प्रणाली अथवा बहुदेववाद व अवतारवाद की धारणाओं के नि:शेष निराकरण की व्यवस्था कभी नहीं दी और न किसी को उत्तम या निकृष्ट ही कहा। सिख धर्म अपने`निरंकार पुरूष` हिन्दू धर्म के`निर्गुण पुरूष` से भिन्न मानते हैं किन्तु मूल रूप में दोनों का उद्देश्य समान है ।

कबीर और गुरुनानक के सिद्धान्तों में नितान्त समानता है । कुछ विद्वानों का कहना है कि गुरुनानक कबीर के मत से पूर्ण रूप से प्रभावित हुए और उन्हीं के मत का पालन इन्होंने अपने सिख धर्म में किया है किन्तु यह पूर्ण सत्य नहीं। कबीर की मृत्यु गुरु नानक के प्रादुर्भाव से ५० वर्ष पूर्व हो चुकी थी किन्तु इतना तो सत्य है कि कबीर के अनुयायी कभी भी अधिक संख्या में थे और उनका प्रभाव इन पर पड़ा है । कबीर और नानक उद्देश्य ,साधना प्रणालियों में बहुत कुछ समानता है ।

कबीर और नानक में अन्तर केवल इतना है कि कबीर ने अपने विचारों और मतों को जनता के बीच प्रकट करके छोड़ दिया । धीरे धीरे फल यह हुआ कि कबीर के अनुयायियों की संख्या कम होने लगी और उनका मत लोप होने

लगा किन्तु गुरु नानक देव ने अपने सिद्धान्तों को अपने पीछे भी व्यवहार में लाने के लिए एक प्रकार का संगठन भी कर दिया । फल यह हुआ कि दो सौ वर्षों से अधिक पुराना सिख धर्म अभी भी वर्तमान है ।

कबीर साहब की विचारधारा संभवत: आरम्भ से ही दार्शनिक कम तथा सैद्धान्तिक अधिक रही है अत: कबीर के सिद्धान्त एवं मत उपदेशात्मक बनकर ही रह गये किन्तु गुरु नानक देव की विचारधारा प्रारम्भ से ही व्यावहारिक रही उससे आगे आने वाली परिस्थितियों ने क्रमश: उसके स्पष्ट व सुदृढ़ होने में सहायता ही पहुंचायी ।

हिन्दी साहित्य एवं सिख धर्म के अध्ययन से यह अनुमान किया जाता है कि कबीर,नानक, महाप्रभु चैतन्य सभी एक युग के संत हैं ।

गुरु नानक देव के पश्चात् सिख धर्म में आज तक बारह गुरु हुए तथा इस सिख धर्म में अनेक शाखाएं और उपशाखाएं बन गयीं । लेकिन इन समस्त शाखाओं एवं उपशाखाओं का मूल सिद्धान्त वही है जो गुरु नानक ने बनाया था ।

(२) <u>संत जय देव</u> :- कबीरदास ने जयदेव का नाम अपनी रचनाओं में अधिक मात्रा में लिया है ।

संस्कृत साहित्य के इतिहास में कई जयदेव का वर्णन मिलता है लेकिन प्रसिद्ध संत जयदेव जिनका वर्णन यहां किया जाताहै वे`गीत गोविन्द`के रचयिता थे । इनको गीताकार संत जयदेव की संज्ञा दी जाय, तो त्रुटि न होगी।

गीतकार जयदेव का समय काल सं० १२३६ :१२६२(सन् ११७६ :१२०५ ई०) तक है[१] । ये सैन-वंशी राजा लक्ष्मण सैन के दरबारी कवियों में से थे । इनका जन्म उड़ीसा प्रान्त में पुरी के निकट केन्दुली सासन गांव में हुआ था ।अत: ये उड़िया निवासी थे किन्तु इनके ऊपर बंगला प्रभाव भी दिखायी देता है। हो सकता है ये बंगाल प्रान्त में चले गये हों । १२ वीं शताब्दी में उड़ीसा

१- डा० मजुमदार-`हिस्ट्री आफ बंगाल`(भा०१)ढाका युनिवर्सिटी १६४३, पृ० २३१

में राजा कामार्णव तथा राजा पुरुषोत्तम देव राज्य करते थे(सं०११६६ से १२३७ के मध्य तक) जयदेव भी इन्हीं दोनों राजाओं के समकालीन हुए थे। उस समय उड़ीसा प्रान्त में वैष्णव सम्प्रदाय एवं वज्रयान एवं सहजयान सम्प्रदायों का बोलबाला था ।`गीत` गोविन्द को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि संत जयदेव के`सहजयान सम्प्रदाय` से प्रभावित थे ।

वैसे तो`गीत गोविन्द` श्रृंगार रस का काव्य मानाजाता है किन्तु श्रृंगार के साथ-साथ भक्ति साधना भी प्रचुर मात्रा में इस ग्रन्थ में पायी जाती है । गौड़ीय सम्प्रदाय के अनुयायी इसी`गीत गोविन्द` को भी भक्ति का मूल स्रोत मानते हैं।

`आदि ग्रन्थ` में भी जयदेव के दो गीत मिलते हैं । प्रथम पद उपदेशात्मक है दूसरा योग साधना सम्बन्धित । राम नाम, सदाचरण के अलावा मनसा वाचा, तथा कर्मणा द्वारा की हुई भक्ति की महत्ता का वर्णन मिलता है। इसमें इनकी भाषा संस्कृतमय है । तुलसी की भांति इनके पद भी पंडिताऊ पद है ।

इस प्रकार संत जयदेव के ऊपर नाथ पंथ एवं सिद्धों के बौद्धमत का प्रभाव है ।वास्तव में ये संधिकाल के थे, अत: इन्हें संतकाल के प्रयोगवाद अथवा आरम्भिक काल में रखा गया है ।

(२) संत सधना :-

नामदेव (सं० १३२० :१४०७) ने भी संत सधना का वर्णन अपनी रचनाओं में किया है इससे यह अनुमान लगता है कि संत सधना बहुत प्राचीन भक्त थे। इनकी कोई प्रामाणिक रचना अभी तक प्राप्त नहीं हो सकी है । इससे इनके जन्म वृत्त तथा सिद्धान्त के विषय में कुछ प्राप्त नहीं हो सका है ।मैकालिफ के अनुसार` नामदेव तथा ज्ञान देव की तीर्थयात्रा के समय सधना की उनके साथ एलोरा की कंदरा के निकट भेंट भी हुई थी और इन्होंने उन दोनों संतों का आतिथ्य-सत्कार करके तीर्थ यात्रा में उनका साथ भी दिया था ।`[1]

१- मैकालिफ : दि सिख रेलिजन` (भा०६) पृ० ३२

ये जाति के कसाई थे किंवदंतियों से यह पता चलता है कि अकस्मात् जिन पत्थरों से ये मांस तौलते थे उनमें एक शालिग्राम का भी पत्थर था उससे प्रभावित हो इन्होंने वैराग्य ले लिया और इन्होंने अपना व्यवसाय छोड़ देश-भ्रमण कर विशेष कर तीर्थस्थानों पर रहने लगे सिखों के 'आदिग्रन्थ' में इनकी कुछ रचनाएं मिलती हैं। उन पंक्तियों में इनकी दैन्यता और एकांतनिष्ठा का पता चलता है। डा० ग्रियर्सन ने सधना के नाम से सधना पंथ की चर्चा की है। इनके अनुसार सधना पंथ के अनुयायी बनारस में अभी भी पाये जाते हैं। किन्तु ऐसे लोगों का काशी में कुछ भी पता नहीं चल पाया है। डा० ग्रियर्सन ने इन सधना का समय ईसा की सत्रहवीं शताब्दी बताया है। किन्तु कबीर के अतिरिक्त रैदास ने भी सधना का वर्णन किया है रैदास एक स्थल पर कहते हैं कि 'नामदेव कबीर त्रिलोचनु, सधना सेणु तरै'[1] इससे ग्रियर्सन का यह अनुमान गलत जान पड़ता है। वह कोई अन्य सधना रहे होंगे।

संत लाल देव का लल्ला : (ईसा की चौदहवीं शताब्दी)

एक महिला थीं जो शैव-सम्प्रदाय का अनुसरण करती थीं। इनकी यह विशेषता थी कि धार्मिक मत भेदों से आप सदैव पृथक रहती थी। इनके सिद्धान्त अत्यन्त सरल एवं समन्वयात्मक थे। ये भी नामदेव और संत सधना के समकालीन थीं। पश्चिमोत्तर भारत में अभी भी इनके अनुयायियों का वर्णन मिलता है। इनके पदों का संग्रह 'लल्ला वाक्यानि'[2] में है। डा० ग्रियर्सन ने इसे प्रकाशित किया है। इनके कुछ पद शैव योग साधना से भी सम्बन्धित रहते हैं। लालदेव के सम्बन्ध में यह भी अनुमान किया जाता है कि इनकी मैत्री सैयद अली हमदानी (सन् १३८०:८६ ई०-- सं० १४३७ :४४ में वर्तमान) से हुई थी।

१-'लल्ला वाक्यानि' आर दि वाइज सेइंग्स आफ लालदेव, ए मिस्टिक पोयट्स आफ ऐंश क्की कश्मीर' (एशियाटिक सोसायटी मोनोग्राफ्स, लन्दन, १६२०) पृ०६ व २२५। इनके ६० पदों का एक संग्रह 'लल्लेश्वरी वाक्यानि' नाम से, कुछ रचनाओं के संस्कृत रूपान्तर के साथ भी श्रीनगर से० से प्रकाशित है और दोनों संग्रहों में कदाचित् वे ही पद हैं।

२-'दि इंडियन ऐंटिक्वेरी' अक्टूबर १६२०, पृ० १६४ :६

भक्तिकालीन संत कबीर की रचनाओं से यह पता चलता है कि लाल देव के मत से कबीर जी भी प्रभावित थे। कबीर लाल देव का कई स्थलों पर वर्णन करते हैं। लालदेव भी बाह्याडंबरों एवं पाखण्डों का खंडन करते थे वे सदैव हिन्दू मुसलमान को एक सूत्र में बांधने का प्रयत्न करते थे। इन विचारों को कबीर भी मानते हैं। 'शिव, केशव, जिन का नाथ में कोई भी वास्तविक अन्तर नहीं, किसी एक के प्रति हार्दिक विश्वास रखने वाला सांसारिक दु:खों से मुक्त हो सकता है[1]। 'इस प्रकार कबीर की 'उलटी गंग समुद्रहि सोखै ससि औ सूर गरासै।' लाल देव ने भी द्वितीया के चन्द्र का राहु को ग्रस लेना बताया है।

अम्बाला प्रदेश में वर्तमान समय में भी एक 'अलख धारी' सम्प्रदाय है जो अपने को लालदेव के अनुयायी बताता है। ये अलखधारी भी मूर्तिपूजा में विश्वास न करके अलख व अगोचर तत्व का ध्यान करते हैं इनका भी उद्देश्य अहिंसा, परोपकार, एवं सात्विक जीवन बिताना है इनका ध्येय भी परमानन्द व मोक्ष प्राप्त करना है। भक्तिकाल के ऊपर लालदेव का पूर्ण प्रभाव दिखायी देता है। वे शैव-सम्प्रदाय के मानने वाले थे किन्तु कोई निश्चित आधार नहीं मिल सका है।

संत वेणी :

सिखों के पांचवें गुरू अर्जुन देव (सं० १६२०-१६६३) ने अपने एक पद 'वेणी कउ गुरि कीउ प्रगासु, रेमन तभी होहि दासु'[2] में इनके नाम का वर्णन किया है।

'आदि ग्रन्थ' में इनके तीन पदों का संग्रह है उससे पता चलता है कि इनके ऊपर नाथ-योगी सम्प्रदाय की छाप गहरे रूप से पड़ी है। ये नाम देव के समकालीन थे। 'आदि ग्रन्थ' में जो तीन पद हैं उनमें से एक में योग-साधना

१- 'लल्लेश्वरी वाक्यानि' (श्रीनगर) पद २२। पृ० १०।
२- 'गुरु ग्रन्थसाहब' रागु बसन्तु महला ५, पृ० ११९२

का वर्णन है वे कहते हैं कि `इड़ा ,पिंगला व सुषुम्ना नाम की तीनों नाड़ियां जहां पर मिलती हैं, वह स्थान प्रयाग की त्रिवेणी का महत्व रखता है और वहीं पर निरंजन का राम का निवास है ~~और वहीं पर~~ जिसे गुरु द्वारा निर्दिष्ट संकेत से ही कोई विरला जान पाता है ,वहां पर सदा ~~स~~ अमृतस्राव हुआ करता है और मन के स्थिर हो जाने पर अनाहत शब्द भी सुन पड़ता है । `अगम्य दसम द्वार में परमपुरुष रहा करता है व जहां प्रबुद्ध होकर स्थित रहने वाला शून्य में प्रवेश कर जाता है, पांचों ज्ञानेन्द्रियां उसके वश में आ जाती हैं और वह कृष्ण के रंग में तन्मय हो जाता है उसके मन:सूत्र में नाम के माणिक सदा पिरोये रहा करते हैं और वह सर्वोच्च दशा को प्राप्त कर लेता है ।[१]

संत नाम देव (सं० १२२६ अथवा सन् १२७०ई० से सं० १५२१ अथवा सन् १४६४)

इनकेपद भी `आदिग्रन्थ` में मिलते हैं इसके अतिरिक्त इनका कोई भी प्रामाणिक तथ्य अभी तक प्राप्त नहीं हो सका ।

उत्तर एवं दक्षिण भारत में नामदेव के नाम से बहुत से व्यक्ति बताये जाते हैं किन्तु जिन नाम देव का वर्णन यहां किया जा रहा है वे महाराष्ट्र के हैं और ज्ञानदेव के समकालीन थे । महाराष्ट्र के पांच प्रमुख संतों में से एक संत नामदेव भी हैं । नामदेव के अतिरिक्त ज्ञानदेव, एकनाथ,समर्थ रामदास,तुकाराम ~~और~~ अन्य हैं । डा० मोहनसिंह नामदेव ~~की रचनाओं का अध्ययन किया~~ के विषय में कहते हैं कि `यदि ध्यानपूर्वक एवं सूक्ष्म रूप से नामदेव की रचनाओं का अध्ययन किया जाय तो जान पड़ेगा कि कबीर साहब ने अपनी भावना-दृष्टि एवं वर्णन शैली दोनों में ही गोरखनाथ तथा नामदेव का स्पष्ट अनुसरण किया है ।`[२]

उत्तरी भारत के संत रैदास,कबीर पीपा आदि ने भी ज्ञानदेव की प्रशंसा अपनी अपनी रचनाओं में की है एवं इनको आदर की दृष्टि से देखा है।

१- सिरी राग, पद १, पृ० ६२,रामकली, पद ७,पृ० ६७४ और रागु प्रभाती पद १, पृ० १३५० ।

नामदेव के गुरु विसोबा खेचर नामक एक संत थे । नामदेव-पंथ के बारे में विलियम क्रुक लिखते हैं - ` ये लोग एकेश्वरवादी तथा कर्मकाण्डविरोधी होते हैं । ये अपने को अन्य जातिवालों से अपने शुद्ध धार्मिक विचारों के कारण पृथक समझते हैं और अपने को ~~नन~~ नामदेव- पंथी भी कहते हैं ।`[१] इतिहास तथ्यों से यह पता चलता है कि नामदेव सिकन्दरलोदी के समकालीन थे ।

`आदिग्रन्थ` में लगभग इनके ६२ पद हैं । इसके अतिरिक्त एक मराठी-संग्रह में संगृहीत हिन्दुस्थानी पद लगभग १०२ हैं ।

संतनाम देव वारकरी-सम्प्रदाय के अनुयायी हैं । इस सम्प्रदाय के सिद्धान्तों के बारे में इसके पूर्व वर्णन किया जा चुका है अत: उसके विषय में यहां फिर से लिखना पुनरावृत्ति होगी।

`ब्रह्म अथवा `गोविन्द` के बारे में नामदेव का मत यह है कि ~~वह एक है~~ `वह एक है और अनेक भी है, वह व्यापक और पूरक भी है । मैं जहां देखता हूं,वहां पर वही दीख पड़ता है ।माया की चित्र-विचित्र बातों द्वारा मुग्ध होने के कारण सभी कोई इस रहस्य को समझ नहीं पाते । सर्वत्र गोविन्द ही गोविन्द है उसके अतिरिक्त अन्य कोई भी वस्तु नहीं । वह सहस्त्रों मणियों के भीतर ओत-प्रोत धागे की भांति इस विश्व में सर्वत्र वर्तमान है । जिस प्रकार जल की तरंगों और उनपर प्रवाहित फेन व बुदबुदे जल से भिन्न नहीं, उसी प्रकार इस प्रपंच एवं परब्रह्म का भी हाल है । जब तक भ्रम के इस कारण स्वप्न में पड़ा हुआ था और सत्य पदार्थ का बोध न था, तब तक और बात थी, जब गुरूपदेश द्वारा जगा दिया गया, तब अपना मन पूर्ण रूप से स्थिर हो गया । नामदेव का कहना है कि इस बात को अपने हृदय में भली भांति समझ लो कि मुरारी ही एक मात्र घट घट में और सर्वत्र एक रस भाव से व्याप्त है।`[२]

१- गुरु ग्रन्थसाहब`, पृ० ४८५,पद १

२- वही, पद २

इसी प्रकार आगे और कहते हैं कि `घड़ा लेकर जब उसमें जल भरता हूं और चाहता हूं कि ठाकुर को स्नान कराऊं, फूल चुनकर जब उसे माला के रूप में पिन्हाना चाहता हूं और दूध लाकर उसकी खीर बना जब उसे भोग लगाना चाहता हूं तब मुझे ऐसा जान पड़ता है कि उक्त जल में लाखों जीव मरे पड़े हैं, फूलों की सुगन्ध पहले भ्रमरों ने ही ले ली है, तथा दूध को तो सर्वप्रथम बछड़े ने ही जूठा कर दिया है। फिर वैसी पूजा का करना क्यों न व्यर्थ समझा जाय। मुझे तो इधर उधर सबकहीं बीठल ही बीठल दीख रहा है, उससे सारी की सारी पृथ्वी[1] व्याप्त हो रही है। मैं इसी में पूर्ण आनन्द का अनुभव क्यों न करूं?`

संत नाम देव राम के प्रति ही अपनी भक्ति प्रदर्शित करते हैं। अपने एक पद में वे कहते हैं कि `जिस प्रकार नाद को श्रवण कर मृग उसमें निरत हो जाता है और उसका ध्यान मर जाने तक नहीं टूटता, जिस प्रकार बगुला मछली की ओर दृष्टि लगाए रहता है, स्वर्णकार सोने का गहना गढ़ते समय एकचित्त रहता है, पर - स्त्री की ओर जिस प्रकार कामी दृष्टिपात करता है और जुआरी अपनी कौड़ी के फेर में रहता है उसी प्रकार मेरी भी दृष्टि उसी एक `राम` की[2] ओर लगी हुई है। जहां देखता हूं वहां वही है उसके सिवाय और कुछ भी नहीं।`

इसप्रकार नामदेव का `राम` के अतिरिक्त और कोई भी साथ नहीं है।

पिछले अध्यायों से यह स्पष्ट हो जाता है कि भक्ति काल की ~~है~~ यह अविच्छिन्न भक्तिधारा भक्तिकाल के बहुत पूर्व से — कदाचित् मानव संस्कृति के प्रथम चरण से, और जहां तक भारतीय भक्तिधारा का सम्बन्ध है, वेदों, उपनिषदों में प्राप्त प्रथम साहित्य से-- आज तक निरन्तर बहती चली आ

१- गुरुग्रन्थ साहब, पृ० ४८५, ४ पद ५०२

२- गुरुग्रन्थसाहब, प,० ८७२-३

रही है । इसमें समय-समय पर ~~ग~~ गोरखनाथ, कबीर, दादू, जायसी, तुलसी, सूर, मीरा, नानक इत्यादि ऐसे महान् संत, भक्त तथा विचारक होते रहे हैं, ~~जिन्होंने~~ जिन्होंने पूर्व प्रचलित दार्शनिक प्रणालियों का मननकर अपने मौलिक तथा सहज चिन्तन में भक्ति के विलक्षण गीत गाए और अपने युग को प्रेरणा दी । उनकी परम्परा में उनके अनुयायी बहुत कुछ उसी दार्शनिक प्रणाली के गीत गाते रहे, किन्तु किसी महान् साधक की भक्ति में अनेक मौलिकताएं भी आ गयीं। जिसने नवीन सम्प्रदाय अथवा दर्शन को जन्म दिया । इस प्रकार दर्शन के सिद्धान्त ने भक्तिकी व्यावहारिकता को जन्म दिया और भक्ति की तन्मयता ने नवीन दर्शन के द्वार दिखाए । सच तो यह है कि भक्ति और दर्शन का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध रहा है, इसे उपसंहार रूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है ।

उपसंहार

•

भक्तिकाल की साधना और दर्शन में समन्वय

भक्ति और दर्शन शीर्षक में यह बताया गया है कि भक्ति और दर्शन में बहुत ही घनिष्ठ सम्बन्ध सदैव ही से चलता चला आ रहा है। इन दोनों का सम्बन्ध गाड़ी के दोनों पहियों के सदृश्य है। जिस प्रकार गाड़ी के दोनों पहियों में से यदि एक पहिया भी निकाल लिया जावे तो गाड़ी का अस्तित्व नहीं होगा उसी प्रकार दर्शन के बिना भक्ति (साधना) के दर्शन का कुछ भी अस्तित्व नहीं है। यदि दर्शन मानव के चिंतन , मनन का परिणाम है, तो भक्ति अथवा साधना उस मनन चिन्तन को साक्षात्कार करने का मार्ग। ईश्वर, जीव, माया आदि गूढ़ से गूढ़ को दर्शन सुलझाता है तथा उनके विषय में नाना प्रकार से खोज एवं पता लगाता है। उन खोजों को व्यावहारिक रूप देना भक्ति का कार्य है।

हिन्दी साहित्य के इतिहास को देखने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि आदिकाल से दर्शन का विकास अपनी चरमसीमा पर रहा है। उपनिषद्, कई वेद, पुराण, भागवत आदि दार्शनिक एवं धार्मिक ग्रंथों के गूढ़ार्थ भावों का समावेश रहा है तथा अज्ञात की खोज में व्याकुल रहने की प्रवृत्ति रही है। आगे चल कर जैन, बौद्ध धर्मों ने भी उस अज्ञात विषय पर अपने विचार प्रकट किये। इस प्रकार इन धर्मों ने अपने विभिन्न सम्प्रदाय स्थापित किये।

भारतीय दर्शन की सम्पूर्ण तत्वमाला उपनिषदों में संजोयी हुई है। कर्म-काण्ड की प्रधानता देते हुए भारतीय उपनिषद् में ब्राह्मण-साहित्य की प्रतिक्रिया बतायी गयी है। इनमें अध्यात्म तत्व के गूढ़तम रहस्यों का विशद् वर्णन किया गया है। अत: सम्पूर्ण भारतीय दर्शन में ऐसी कोई महत्वपूर्ण विचारधारा नहीं है जिसका मूलबीज इनमें प्राप्त न हो। इन उपनिषदों में दर्शन के सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्वज्ञान को इतनी बारीकी से बताया गया है कि उसको समझने के लिये बड़े बड़े दार्शनिकों को भी अपने ऊपर आशंका सी होने लगती है। ऐसे प्राचीन काल में इस प्रकार के चिन्तन और मनन को देखकर थोड़ी देर के लिये मन अवाक् सा हो जाता है।

भक्ति का सम्बन्ध हृदय से होता है तथा दर्शन का सम्बन्ध बुद्धि एवं ज्ञान से । दूसरे शब्दों में दर्शन का सम्बन्ध मानव जीवन के मस्तिष्क की उपज से है , जो भक्ति उस उपज के सार तत्व को पाने के लिये नाना प्रकार का उपक्रम करती है, उस उपक्रम में विभिन्न प्रकार के मार्गों को वह अपनाती है और उस परमतत्व को पाने का प्रयत्न करती है । हिन्दी साहित्य में विशेष रूप से भक्तिकाल को देखने से यह कथन सत्य एवं स्पष्ट रूप से चरितार्थ होता है कि इसकाल के विभिन्न सम्प्रदायों ने प्राचीन दर्शन के सिद्धान्तों को अपनाया तथा सगुण, निर्गुण संत , सूफी आदि साधना के मार्गों द्वारा उस परम तत्व को पाने का प्रयत्न भी किया । इस प्रकार जहां इन प्राचीन ग्रंथों एवं विभिन्न सम्प्रदायों में दर्शन के गूढ़ तत्वों पर मनन और चिन्तन किया गया है वहां इस गूढ़ तत्व को पाने के लिये विभिन्न मार्गों और उपायों को भी बताया गया है ।इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि दर्शन और भक्ति दोनों ही साथ साथ लेकर चली है ।

मध्यकालीन भारतीय संस्कृति और सभ्यता का वास्तविक बोध भक्ति-काल के दर्शन चिन्तन तथा मनन के अभाव में कदापि संभव नहीं हो सकता । भक्तिकाल के अन्तर्गत भारतीय धर्म ,दर्शन ,संस्कृति, सभ्यता , नीति ,आचार विचार , सभीकुछ सुरक्षित है । भारतीय संस्कृति के मूल तत्व गीतकाव्य की संगीतात्मकता, सहज अनुभूति, प्रेरणा तथा आत्म विश्वास भक्तिकाव्य में हुई है ।अन्य कालों की अपेक्षा इसकाल में के काव्य में विविध विधानों का सृजनात्मक साहित्य--- उदाहरण के लिये प्रबन्ध काव्य के अन्तर्गत पद्मावत , राम चरित मानस , राम चन्द्रिका , मुक्तक काव्य के अन्तर्गत सूर और मीरा के पद, सूक्ति-काव्य के अन्तर्गत कबीर की साखियां , तुलसी की चातक चौंतीसी, संगीत तथा गीत काव्य के अन्तर्गत सूर, मीरा , तुलसी के पद तथा विनय -पत्रिका इत्यादि, नाटक के अन्तर्गत हृदयराम का हनुमत नाटक, प्राणचन्द चौहान का रामायण महानाटक, महाराज विश्वनाथ सिंह का छन्द प्रधान नाटक आनन्द रघुनाथ , कथा काव्य तथा जीवन चरित्र के अन्तर्गत चौरासी वैष्णवन् की वार्ता, नाभादास का भक्तमाल, रामप्रिया शरण का सीतायण, गद्यकाव्य : उपदेश तथा नीतिकाव्य के अन्तर्गत स्फुट रचनायें । इसीप्रकार श्रृंगारकाव्य तथा लोक

टीकायें-- वैराग्य नवधाभक्ति, लोक संस्कृति के अन्तर्गत रामलला नहछू, मंगल रामायण, पार्वती मंगल, दर्शन के अन्तर्गत तुलसीकृत ज्ञान दीपिका, जायसीकृत अखरा वट, अनुवाद के अन्तर्गत अक्षर अनन्य का 'दुर्गा सप्तशती' तथा चतुर दास का भगवद्गीता के ग्यारहवें अध्याय का पद्यानुवाद इत्यादि--प्रचुरमात्रा में प्राप्त होता है। इसीलिये आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कहा है कि ''समूचे भारतीय इतिहास में अपने ढंग का अकेला साहित्य है। इसी का नाम भक्ति साहित्य है। यह एक नई दुनिया है।''

समस्त भक्ति काल के कवियों एवं विभिन्नसम्प्रदायों पर उपनिषदों का प्र प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। उपनिषद् के अध्यात्मवेत्ता ऋषियों ने ब्रह्मतत्व का वर्णन बड़ी गम्भीरता तथा पूर्णता के साथ किया है। वे इस कथन की बारम्बार पुनरावृत्ति करते है कि वह तत्व वाणी और बुद्धि के परे है। गार्गी के प्रश्न को बीच में ही रोकते हुये याज्ञवल्क्य ने कहा है कि '' हे गार्गी? अधिक मत पूछ ,अधिक मत पूछ ,अन्यथा तेरा सिर टुकड़े- टुकड़े हो जायेगा ।सब कुछ इस अक्षय और अक्षर तत्व के भीतर और बाहर ओतप्रोत है। शुद्ध आत्म स्वरूप है। उसका साक्षात्कार विशुद्ध निर्विकल्पक ज्ञान द्वारा संभव है। यह आत्मा न तो प्रवचन से जाना जा सकता है, न मेधा से, और न बहुश्रुत से क्योंकि वह तो अतर्क्य, अचिन्त्य अनिर्वचनीय और निष्प्रपन्च है।''[1]

कठोपनिषद् को देखने से यह ज्ञात होता है कि समस्त प्राणियों की अन्तरात्मा एक ही है। एक स्थल पर यह लिखा गया है कि'' जिस प्रकार अग्नि एक ही है किन्तु तद्वत् वस्तुओं का आकार ग्रहण करके वह अनेक रूपों में प्रकट होती है, उसी प्रकार एक आत्मा अनेक भूतों में अनेक रूप धारण करता है, जो उसका दर्शन कर लेता है, वे ही शाश्वत सुख को प्राप्त करते है अन्य नहीं।''[2]

१-केन उपनिषद्- ३ । ६ । १, २ ।३५ कठ १। २ । २४, बृहदारण्यक४।४।२१।

२-कठोपनिषद् २।५।९।

दासगुप्त दर्शनशास्त्र की अपनी पुस्तक में एक स्थल पर कि उपनिषदों के विषय में बताते हुये लिखते हैं कि "" उपनिषदीय ऋषियों के अनुसार मुक्ति या मोक्ष का अभिप्राय आनन्दस्वभाव है जिसे मनुष्य आत्मानुभूति की अवस्थ अवस्था में प्राप्त करता है और जिसे प्राप्त कर वह स्वयं ब्रह्म हो जाता है ।[1] ""

इसप्रकार बहु देववाद के बीच एक परम देवत्व की कल्पना से अद्वैतवाद की उत्पत्ति हुई । इस प्रकार एक ओर तो वेद को प्रमाण स्वरूप मानने वाली शास्त्रीयधारा उपनिषद्,भगवद्गीता और श्रीमद्भागवत की धारायें बनती रहीं उधर दूसरी ओर इसी के साथ साथ लोक जीवन से युक्त समाज में बौद्ध धर्म, सिद्ध एवं नाथ- साहित्य का विकास होता गया । बीच बीच में इन दोनों विभिन्न मतवादों का मिलन भी होता पाया गया है । निरीश्वरवादी बुद्ध, ईश्वरत्व की कोटि में पहुँच जाने लगे तथा उन्हें अवतार माना जाने लगा । बौद्धों की आचार प्रधान कठिन साधना के स्थान पर सिद्ध- साहित्य में मानव के जीवन के सहज भोगमय रूप को स्वीकार किया गया । सिद्धों ने शास्त्रों के उपदेशों की अपेक्षा स्वानुभूति को ही लक्ष्य रूप में स्वीकार किया । वर्णाश्रम -व्यवस्था को न मान कर नीच जाति की महिला को महामुद्रा बना कर उसके सहवास द्वारा 'सहज' की प्राप्ति उचित मानी । व्रत, उपवास, जप-तप, ध्यान-धारणा का तिरस्कार कर सहज जीवन बिताने पर जोर दिया । इस प्रकार सिद्ध दर्शन का मुख्य लक्ष्य बौद्धदर्शन का खंडन करना था । सिद्धों के मतानुसार महाराग द्वारा संशोधित मन का उपयोग करना है । इस कथन को स्पष्ट करने के लिये सिद्ध तिलोपा ने एक स्थल पर कहा भी है कि "" जिम विस विस भक्खइ विसहि पलुत्ता, तिम भव भुंजइ भवहिं ण जुत्ता ।"" अर्थात् नियमित रूप से विष का सेवन करने से वाला पुन: विष के प्रभाव में नहीं आता , उसी प्रकार भव का भोग करने से मनुष्यभव में लिप्त नहीं होता ।

१- दास गुप्त -हिस्ट्री- ऑव इंडियन फिलासफी वाल्यूम१, पृष्ठ ५८ ।

सिद्धों की इसी भावना में आगे चल कर जब काम- पिपासा-तृप्ति का स्थान ले ले लिया तो उसके विरुद्ध नाथ-सम्प्रदाय का जन्म हुआ और इसमें सदाचरण, वीर्य-साधन एवं मानसिक दृढ़ता को विशेष महत्व दिया गया । इस प्रकार भक्तिकाल के विभिन्न निर्गुण, सगुण एवं सूफी,सम्प्रदायों ने उपनिषदों से अद्वैतवाद, शंकर से मायावाद, वैष्णव आचार्यों से भक्ति,अहिंसा और प्रपत्ति के सिद्धान्त, तान्त्रिक शैवों, वज्रयानी बौद्धों और नाथपन्थी योगियों से हठयोग,रहस्यवाद तथा जाति पांति एवं कर्म काण्ड के विरुद्ध पैनी उक्तियां, कृष्ण की तथा अपनी साधना का मुख्य साध्य माना ।

समस्त भक्तिकाल की रचनाओं में विभिन्नता होते हुए भी समानता दृष्टिगोचर होती है । क्योंकि भक्तिकाल के सभी सम्प्रदायों का दार्शनिक सिद्धान्त किसी न किसी रूप में उपनिषद, वेद, बौद्ध दर्शन, सिद्ध दर्शन, से लिया गया है, इसकाल के समस्त कवि कुछ विषयों पर जैसे - परमतत्व का स्वरूप, सर्वव्यापकता, एकेश्वरवादिता, जीव ,जीव और ब्रह्म की अद्वैतता, जीव और ब्रह्म का सम्बन्ध, माया, संसार, आदि पर विभिन्न दार्शनिक मतों को अपनाया है । कुछ विषय समस्त कवियों का एक सा ही है, केवल दृष्टिकोण विभिन्न प्रकार के दिखाई पड़ते है ।

भक्तिकाल की संत प्रेमाख्यानक राम भक्ति तथा कृष्ण भक्ति का प्रमुख काव्य धारायें और उनके साथ की वीर-नीति आदि गौण काव्य धारा से अपने विकासक्रम में आगे आने वाले रीतिकाल में पर्यवसित हो गई है । किन्तु रीतिकाल में नायिका भेद रस, अलंकार, ध्वनि,नखशिख इत्यादि साहित्य पथ भी वेद की सम्पन्नता के फलस्वरूप विकसित हुआ । भक्तिकाल का दार्शनिक जीवन रीतिकाल के कलात्मक शरीर में पड़ कर अनेक प्रकार की मनोरंजनपूर्ण नवीन प्रवृत्तियों को जन्म दे सका । रीतिकाल के कवियों में जो उच्चकोटि के थे जैसे -केशव, बिहारी, घनानन्द इत्यादि-- उन्होंने तो भक्तिकाल के विविध दार्शनिक दृष्टिकोणों को अपने मतानुसार अपने काव्य में उचित स्थान दिया,है अर्थात द्वैत, अद्वैत विशिष्टद्वैत, सांख्य, के पुरुष और प्रकृति की क्रीड़ा, इत्यादि तत्वों की स्थान स्थान पर अभिव्यक्ति की है । किन्तु रीतिकाल के अन्य छोटे छोटे कवि दार्शनिक मतों की गहराइयों में जो

को भली प्रकार से या तो समझ नहीं सके अथवा उनकी अभिव्यक्ति में पूर्णत: सक्षम सिद्ध नहीं हो सके । और इसीलिए केवल रस, अलंकार, रीति, गुण, ध्वनि तथा वक्रोक्ति इत्यादि के अनुयायी होकर कला के उपासक मात्र रह सके । भक्ति काल के दार्शनिक सिद्धान्तों का पर्यवसान रीति काल के काव्य में हो गया है जो अपने अध्ययन तथा अनुसंधान में एक स्वतंत्र विषय है ।

इस प्रकार भक्तिकाल के समस्त कवियों की साधना में दर्शन अर्थात् चिन्तन और भक्ति अर्थात् साधना का समन्वय पग-पग पर दृष्टिगोचर होता है । भक्ति काल की सामान्य भावना इसी तथ्य की पोषिका है जो प्रस्तुत प्रबन्ध में स्थान-स्थान पर स्पष्ट तथा प्रमाणित हुई है । इसीलिए तत्व के व्यक्त और अव्यक्त रूपों को लेकर चलने वाली सगुण तथा निर्गुण भक्ति धारा और उसके प्रभाव को अंकित करने सूफी भक्ति धारा में तात्विक दृष्टि से कोई भेद नहीं है, अन्तर तो केवल रूप, आकार तथा परिस्थितिजन्य ही जान पड़ता है । संपूर्ण भक्तिकाल के दार्शनिक दृष्टिकोण को यदि दो शब्दों में रखा जा सके, तो कहा जा सकता है कि वह 'सदाचारपूर्ण जीवन में आराध्य की अविस्मरणीय[1] चिरंतन तथा सरस स्मृति है जिसकी अनुभूति का अनुपात साधना की तीव्रता में है ।'

१- राजयोग का सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक विवेचन : साहित्य महोपाध्याय (दर्शन) डा० केशवचन्द्र सिन्हा, थीसिस सं० २००१, पृ० १०६

परिशिष्ट

सहायक ग्रन्थों की सूची

हिन्दी-ग्रन्थ

१- अनुशीलन - डा० राम कुमार वर्मा
२- अभिधर्मकोश
३- अष्टछाप और वल्लभ-सम्प्रदाय- हरिराय जी
४- अणु भाष्य- वल्लभाचार्य
५- अन्त:करण प्रबोध
६- अपभ्रंश काव्य परम्परा और विद्यापति- अम्बादत्त पंत
७- अकबरी दरबार के हिन्दी कवि- सरयू प्रसाद अग्रवाल
८- अबुदुर्रहीमखानखाना- समर बहादुर सिंह
६- अवध के प्रमुख हिन्दी कवियों का अध्ययन(१७००से १६००) ब्रज किशोर मिश्र
१०-अष्टछाप- डा० दीनदयाल गुप्त
११- अष्टछाप कवियों के काव्य- श्यामेन्द्र प्रकाश शर्मा
१२- अष्टसखान की वार्ता- हरिराय जी- अग्रवाल प्रेस मथुरा ।
१३- अष्टछाप वार्ता संग्रह- डा० धीरेन्द्र वर्मा
१४- अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय- डा० दीनदयाल गुप्त - हि० सा० स० प्रयाग । भाग १, २ ।
१५-अष्टछाप पदावली - सोमनाथ गुप्त
१६- अष्टछाप परिचय- प्रभुदयाल मित्तल- अग्रवाल प्रेस मथुरा ।
१७- अलंकार मंजूषा- डा० भगवानदीन- राम नारायण लाल प्रकाशन प्रयाग ।
१८- अणुभाष्य भाग २ -श्री वल्लभाचार्य- अनुवादक- छोटालाल, गोवर्धनदास अहमदाबाद, सं० १६८४ वि० ।
१६-आदिगुरु ग्रन्थ साहब जी के धार्मिक और दार्शनिक सिद्धान्त- जयराम मिश्र
२०- आलम का स्याम सनेही - सरन दास भनोत ।
२१- आचार्य भिखारी दास- नरायण दास खन्ना ।
२२- इस्लाम धर्म की रूप रेखा- राहुल सांस्कृत्यायन
२३- उज्ज्वल नीलमणि- रूप गोस्वामी

२४- उत्तरी भारत की संत परम्परा- परशुराम चतुर्वेदी -प्रका० भारतदर्पण ग्रन्थमाला ।

२५- उन्नीसवीं सदी का राम भक्ति साहित्य- (विशेषत:महात्मा बनादास का अध्ययन)- भगवती प्रसाद सिंह ।

२६- कबीर-ग्रन्थावली - पंचम संस्करण, सं० २०११ ।

२७- कबीर- वचनावली - अयोध्या सिंह उपाध्याय ।

२८- कविवर परमानन्द और उनका साहित्य- गोवर्धन मिश्र ।

२९- कृष्ण कर्णामृतम्- विल्वमंगल- प्रका० ढाका युनिवर्सिटी ।

३०- कबीर- ग्रन्थावली - सम्पादक -श्याम सुन्दर दास, प्रका० नागरी प्रचारणी सभा ।

३१- कबीर - द्विवेदी

३२- कबीर- परशुराम चतुर्वेदी ।

३३- कबीर- डा० राम कुमार वर्मा

३४- कबीर - डा० हह० हजारी प्रसाद द्विवेदी ।

३५-कबीर तथा उनके अनुयायी- एफ० ई० के० ।

३६- कबीर का पाठ- पारस नाथ तिवारी ।

३७- कबीर के बीजक के टीकाओं की दार्शनिक व्याख्या-गिरीश चन्द्र तिवारी ।

३८- कबीर की विचारधारा - गोविन्द त्रिगुणायत

३९- कबीर का रहस्यवाद -डा० राम कुमार वर्मा

४०- कृतिवासी बंगला रामायणऔर `राम चरित मानस` का तुलनात्मक अध्ययन- राम नाथ त्रिपाठी ।

४१- कबीर साहित्य की परख- पं० परशुराम चतुर्वेदी

४२- कबीर उनका साहित्य और उनके दार्शनिक विचार की आलोचना- डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ।

४३- कांकरोली का इतिहास - कंठमाठी शास्त्री- विद्याविहार, कांकरोली ।

४४-

४४- अष्टछाप वार्ता- चतुर्भुजदास कथिक ।

४५- गोस्वामी तुलसीदास- (विनय पत्रिका) संपा०-प्रभुदयाल-मी-तल,-मथुरा ।

देव नारायण द्विवेदी ।

४६- गोस्वामी वासुदेव (भक्ति कवि विजय जी) संपा०प्रभुदयाल मीतल मथुरा ।

४७- गीतापर रामानुज का भाष्य

४८- गीत गोविन्द काव्यम्-संपा० पंडित केदार शर्मा, प्रका० जयकृष्णदास हरिदास गुप्त ।

४९- गीता प्रवचन - हरिभाऊ उपाध्याय

५०- गीता का व्यवहार दर्शन - राम गोपाल मेहता ।

५१- गीता में ईश्वर वाद- ज्वाला दत्त शर्मा ।

५२- घनानन्द और मध्यकाल की स्वच्छन्द काव्य धारा- मनोहर लाल गौड़ ।

५३- चैतन्य-चरितामृत-- चैतन्य देव ।

५४- चौरासी वैष्णव की वार्ता- हस्तलिखित एवं मुद्रित गोकुल नाथ जी के नाम से प्रसिद्ध ।

५५- चौरासी वैष्णवन की वार्ता- (लीला भावना वाली)- हरिराय जी प्रका० अग्रवाल प्रेस मथुरा ।

५६- चरनदास सुन्दरदास और मलूकदास के दार्शनिक विचारधारा-त्रिलोकी नारायण दीक्षित ।

५७- चन्द्रकीर्ति- मा० का० वृ०

५८-जायसी और उनका पदमावत- एक सर्वेक्षण- राजनाथ शर्मा ।

५९- जायसी उनकी कलाऔर दर्शन- जयदेव कुलश्रेष्ठ ।

६०- जायसी के परवर्ती हिन्दी सूफी कवि- सरला शुक्ल ।

६१- जायसी ग्रन्थावली - माता प्रसाद गुप्त

६२- तुलसी दास - डा० माता प्रसाद गुप्त

६३- तुलसी सन्दर्भ-- डा० माता प्रसाद गुप्त

६४- तुलसी दास का धर्मदर्शन- जे० एन० कारपेन्टर ।

६५- तुलसी दास-जीवनीऔर कृतियों कासमालोचनात्मक अध्ययन-डा०माता प्रसाद गुप्त।

६६- तुलसी दास और उनका युग- राजपति दीक्षित

६७- तुलसी दर्शन- रामदत्त भरद्वाज

६८- तुलसी दर्शन- बलदेव प्रसाद मिश्र।

६९- तुलसी दास जीवनी और विचारधारा- राजाराम रस्तोगी

७०- तुलसी दास की भाषा- देवकी नन्दन श्री वास्तव

७१- तुलसी दर्शन- डा०बलदेव प्रसाद उपाध्याय ।

७२- तुलसी- दर्शन-मीमांसा- डा० उदयभानु सिंह

७३- तत्व- दीप- निबन्ध शास्त्रार्थ- प्रकरण- ज्ञानसागर, ब बम्बई ।

७४- द्विजदेव और उनका काव्य- अम्बिका प्रसाद वाजपेयी ।

७५- दशम ग्रन्थ का कवित्व- धर्मपाल अष्टा ।

७६-दक्खनी के सूफी लेखक- विमला वाघ्र

७७- दादू दयाल का शब्द- द्विवेदी

७८- दर्शन का प्रयोजन - डा० भगवान दास

७९- दोसौ बावन वैष्णवन् की वार्ता- मुद्रित गोकुलनाथ के नाम से प्रसिद्ध ।

८०- नाथ सम्प्रदाय के हिन्दी कवि- शान्तिप्रसाद चंदोला ।

८१- नाथ सम्प्रदाय - डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी

८२- नन्ददास भाग १,२ - संपा० - पंडित उमाशंकर शुक्ल,प्रका० प्रयाग विश्वविद्यालय प्रयाग ।

८३- निर्गुण साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि- मोती सिंह ।

८४- नारद- भक्ति सूत्र

८५- नारद सूत्र(प्रेम दर्शन-सम्पा० हनुमान प्रसाद पोद्दार, प्रका० घनश्यामदास जालान गीता प्रेस गोरख पुर) ।

८६- निम्बार्क माधुरी - संपा०बिहारी शरण वृन्दावन ।

८७- निर्गुण साहित्य : सांस्कृतिक पृष्टभूमि- मोती सिंह

८८- नागरी दास की कविता के विकास से सम्बन्धित प्रभावों एवं प्रतिक्रियाओं का अध्ययन-- फैयाज अलीखां

८९- नैरात्म्य-परिपृच्छा- सूत्र

९०- पुराणों का हिन्दी साहित्य पर प्रभाव- डा० शशी अग्रवाल

९१- पद्म पुराण- चार भाग-सम्पा० विश्व नारायण, पूना

९२- परमात्म प्रकाश- राम चन्द्र जैन - शास्त्र माला बम्बई ।

९३- पाहुड़ दोहा- सम्पा० हीरालाल जैन, कारंजा बरार ।

९४- पुष्टिमार्गी पद संग्रह- ठाकुर दास सूर दास, बम्बई ।

९५- पद्मावत तथा उसके दार्शनिक सिद्धान्त-

९६- परमानन्द दास- जीवनी - कृतियां- श्याम शंकर दीक्षित

९७- ब्रजभाषा सूर कोश- डा० दीन दयाल गुप्त ।

९८- बौधिचर्यावतार पंचिका ।

९९- बसन्त धमार कीर्तन संग्रह- - लल्लूभाई छगनलाल देसाई अहमदाबाद ।

१००-ब्रजमाधुरी-सार- भाग क्र१,२ ।वियोगी हरि, हि० सा० स० प्रयाग ।

१०१- भारतीय दर्शन- उमेश मिश्र ।

१०२- भारतीय दर्शन - पं०बलदेव प्रसाद उपाध्याय ।

१०३- भारतीय दर्शन भ- वाचस्पति गैरोला

१०४- भक्ति का विकास- डा० मुंशीराम शर्मा ।

१०५- भागवत सम्प्रदाय- डा० बलदेव उपाध्याय ।

१०६- भारतीय संस्कृति का इतिहास- शिव दत्त ज्ञानी

१०७- भक्त माला- नाभादास

१०८- भारतीय दर्शन शास्त्र- राधाकृष्ण मिश्र ।

१०९- भक्तियोग - अश्वनी दत्त ।

११०- भारत का धार्मिक इतिहास- शिव शंकर मिश्र ।

१११- भारतीय दर्शन शास्त्र का इतिहास- देवराज ।

११२- भारतीय दर्शन परिचय- हरिमोहन झा ।

११३- भक्त और भगवान - जवाहरलाल चतुर्वेदी ।

११४- भारतीय दर्शन - शतीश चन्द्र उपाध्याय ।

११५- भक्तिकाल की दार्शनिक तथा धार्मिक पृष्टभूमि- डा० गोविन्द त्रिगुणायत

११६- भारत में मुसलिम शासन का इतिहास - सत्य नारायण दुबे ।

११७- भक्ति कालीन कृष्ण भक्ति काव्य पर पौराणिक प्रभाव- सदानन्द मदान।

११८- भक्ति कालीन हिन्दी साहित्य में योग भावना - शिव शंकर शर्मा

११९- भक्तिकालीन हिन्दी कविता में दार्शनिक प्रवृत्तियां- राम भक्ति शाखा- राम निरन्जन पाण्डे ।

१२०- भक्तिकालीन कृष्ण काव्य में राधा का स्वरूप- द्वारिका प्रसाद मिश्र ।

१२१- भागवत

१२२- भक्तनामावली - ध्रुवदास -संपा० आर० दास०, प्रयाग ।

१२३- भ्रमर गीतसार - राम चन्द्र शुक्ल

१२४- मध्यकालीन धर्मसाधना- डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ।

१२५- मध्यकालीन हिन्दी सन्त विचार और साधना- डा० केशरी प्रसाद चौरसिया, हिन्दुस्तानी एकेडमी , प्रयाग ।

१२६- मतिराम-कवि और आचार्य - महेन्द्र कुमार

१२७- मलिक मुहम्मद जायसी कृत पद्मावत सटिप्पण, सम्पादन और अनुवाद (१६वीं शताब्दी की हिन्दीभाषा(अवधी) का अध्ययन)-लक्ष्मीधर ।

१२८-मराठी साहित्य का इतिहास - गोभाले नारायण वासुदेव ।

१२९-मीराबाई - दीनदयाल गुप्त

१३०- मध्यकालीन हिन्दी कवियित्रियां- सावित्री सिनहा

१३१- मैथली के कृष्ण भक्त कवियों का अध्ययन- ललितेश्वर झा-मिलिन्द प्रकाशन-- मा० का० वृ०

१३२- माध्यमिक कारिका-

१३३- मीरा -। श्री महावीर सिंह गहलोत प्रभा० शक्ति कार्यालय दारागंज प्रयाग , द्वितीय संस्करण ।.

१३४- मीरा एक अध्ययन-- पद्मावती 'शबनम' प्रका० लोक सेवक प्रकाशन बनारस ।

१३५- मीरा स्मृति ग्रन्थ -- संपा० ललिता प्रसाद शुक्ल, प्रका० - बंगीय हिन्दी परिषद् कलकत्ता ।

१३६-मौलनीवाणी -- श्री गदाधर भट्ट

१३७- महाप्रभु जी के प्राकट्य की वार्ता - विद्याविभाग, कांकरौली प्रका० द्वारिका दास परीक ।

१३८- मीराबाई -- छोटेलाल

१३९- मध्यकालीन सन्त साहित्य- राम खेलावन पाण्डे ।

१४०- योग फिलासफी और नवीनधारा ।

१४१- यौरपीय दर्शन- महामहोपाध्याय रामावतार शर्मा ।

१४२- राम काव्य की परम्परायें - राम चन्द्रिका का अध्ययन, गार्गीगुप्त ।

१४३- राम चरित मानस का तुलनात्मक अध्ययन- विद्या मिश्र ।

१४४- रामानन्द- सम्प्रदाय तथा हिन्दी-साहित्य पर उसका प्रभाव - बदरी नारायण श्रीवास्तव ।

१४५- रसखान पदावली- रसखान हिन्दी प्रेस, प्रयाग

१४६-रहीम रत्नावली - रहीम सं० मायाशंकर याज्ञिक ।

१४७- राम भक्ति में रसिक सम्प्रदाय - भगवती प्रसाद सिंह ।

१४८- राम भक्ति शाखा -४ - राम निरंजन पाण्डे

१४६- राधा वल्लभ सम्प्रदाय - के सम्प्रदाय में हितहरिवंश का विशेष

१५०- अध्ययन - डा० विजेन्द्र स्नातक

१५०- राम कथा- उत्पत्ति और विकास :- कामिल बुल्के

१५१- वैदिक भक्ति और हिन्दी के मध्यकालीन काव्य में उसकी अभिव्यक्ति - डा० मुंशीराम शर्मा ।

१५२- वाल्मीकि रामायण और

१५३- विवेक धैर्याश्रय - श्री वल्लभाचार्य कृत

१५४- शिवनारायण जी सम्प्रदाय और उसका हिन्दी काव्य-- राम चन्द्र तिवारी ।

१५५- शिवसिंह सरोज में दिये कवियों सम्बन्धी तथ्य एवं तिथियों का आलोचनात्मक परीक्षण -- किशोरी लाल गुप्त ।

१५६-

१५६- शंकर और बौद्धमत - डा० शर्मा

१५७- षड्दर्शन- समुच्चय

~~रामभक्ति शाखा -- रामनिरंजन पांडे~~

राधावल्लभ सम्प्रदाय- के संदर्भ में हितहरिवंश का विशेष अध्ययन-

डा० विजेन्द्र स्नातक

रामकथा - उत्पत्ति और विकास-- कामिल बुल्के

वैदिक भक्ति और हिन्दी के मध्यकालीन काव्य में उसकी अभिव्यक्ति-

डा० मुंशीराम शर्मा

वाल्मीकि रामायण

विवेक धैर्याश्रय - श्रीवल्लभाचार्य कृत

शिवनारायण जी सम्प्रदाय और उसका हिन्दी-काव्य--रामचन्द्र तिवारी

शिवसिंह सरोज में दिये कवियों संबंधी तथ्य एवं तिथियों का आलोचनात्मक-

परीक्षण-- किशोरीलाल गुप्त

शंकर और बौद्धमत -- डा० शर्मा

षड्दर्शन -समुच्चय

सूरदास के कूटकाव्य का अध्ययन

सत्यम् शिवम् सुन्दरम्- रामानन्द तिवारी

सूर सिद्धान्त-- डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी

संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास- वाचस्पति गैरोला

सूर मीमांसा- गनेशदत्त गौड़

संत कबीर दर्शन -- गनेशदत्त गौड़

सूरदास की वार्ता-- गोस्वामी हरिराय

सूर की काव्यकला-- मनमोहन गौतम

सूर प्रभा - डा० दीनदयाल गुप्त

सूफीमत और हिन्दी साहित्य- विमलकुमार जैन

सूफीमत साधना और साहित्य-- रामपूजन तिवारी

सूरदास का धार्मिक काव्य-- जनार्दन मिश्र

सूरदास की जीवनी और कृतियों का अध्ययन-- ब्रजेश्वर वर्मा

सूरदास और उनका साहित्य -- हरवंशलाल शर्मा

सूर तुलसी - रामचन्द्र शुक्ल

सूर तुलसी - डा० मुंशीराम शर्मा

सूरदास - रामचन्द्र शुक्ल

सूरसागर - राधाकृष्ण दास, वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई

सूरदास का दृष्टकूट - टीकाकार- सरदार कवि
प्रकाशक- नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ

सूर निर्णय- - द्वारिका दास पारीख
प्रभुदयाल मीतल, प्रका० अग्रवाल प्रेस, मथुरा

सूरदास - ब्रजेश्वर वर्मा, हिन्दी परिषद् प्रयाग-विश्वविद्यालय

सूरसाहित्य - हजारीप्रसाद द्विवेदी-मध्यभारत-हिंदी साहित्य समिति, इन्दौर

सूरसाहित्य की भूमिका- रामरतन भटनागर

सूरदास: एक अध्ययन - वाचस्पति त्रिपाठी
रामरतन भटनागर

सूकरक्षेत्र माहात्म्य - प्रका० श्यामस्वरूप मिश्र, कास गंज

सूरदास का जीवन-चरित्र- मुंशी देवी प्रसाद

सूरदास और भगवद्भक्ति- डा० मुंशीराम शर्मा
प्रका०साहित्य भवन(प्राइवेट)लिमिटेड, इलाहाबाद

सूरपचीसी, सूरसाठी, वैराग्यशतक-- प्रका०-मनसुखलाल शिवलाल कण्ठीवाले, मथुरा

सूफी साधना और साहित्य - रामपूजन तिवारी

सूरदास और उनका साहित्य - हरिवंश लाल शर्मा

सूर पचीसी - प्रका०-मनोहर पुस्तकालय, मथुरा

सूरदास और भगवद्भक्ति - डा० मुंशीराम शर्मा

सिद्ध साहित्य - डा० धर्मवीर भारती

सगुण भक्ति काव्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि- रामनरेश वर्मा

संत सुन्दरदास   महेशचन्द्र सिंघल

संतकवि मलूकदास   त्रिलोकी नरायण दीक्षित

संत कवि रविदास और उनका पंथ- भगवतव्रत मिश्र

स्वामी हरिदास जी का सम्प्रदाय और उसका वाणी साहित्य-
गोपाल दत्त शर्मा

शीलमुनि चरितामृत

सरहपाद दोहाकोष

सम्प्रदाय प्रदीप- गदाधर-अनुवाद एवं प्रकाशक श्री कंठमणि शास्त्री,
विद्याविभाग, कांकरोली, प्रथम संस्करण

सूरसागर   प्रका० नवलकिशोर प्रेस लखनऊ

सूरसागर   जगन्नाथ रत्नाकर, ना०प्र०स० काशी

संक्षिप्त सूरसागर- बेनीप्रसाद

भ्रमरगीत सार- रामचन्द्र शुक्ल

सूरसौरभ   - भाग १, २, मुंशीराम शर्मा

अष्टछाप और वल्लभसम्प्रदाय भाग१, २ - डा०दीनदयाल गुप्त

हिन्दू कवियों के प्रेमाख्यान - हरिकांत श्रीवास्तव

हिन्दी प्रेमाख्यान काव्य
(जायसी का विशेष अध्ययन)- पृथ्वीनाथ कमल कुलश्रेष्ठ

हिन्दी साहित्य का ~~विकास~~ विकास- श्रीकृष्णलाल
(१६००-१६२५ई०)

हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास- डा० रामकुमार वर्मा

हिन्दी साहित्य को आर्यसमाज की देन- लक्ष्मीनारायण गुप्त

हिन्दी साहित्य - डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी

हिन्दी साहित्य की भूमिका- डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी

हिन्दी के कवि और काव्य- गनेश प्रसाद द्विवेदी

हिन्दी साहित्य का इतिहास- ग्रियर्सन

हिन्दी की निर्गुण काव्य-धारा-
और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि - गोविन्द त्रिगुणायत

हिन्दी कृष्णभक्ति काव्य की पृष्ठभूमि- गिरधारीलाल शास्त्री

हिन्दी संतों(सूरदास,तुलसीदास,कबीरदास) पर वेदान्त-
पद्धतियों का ऋण--- शीलवती मिश्रा

हिन्दी साहित्य के आधार पर भारतीय संस्कृति-- सोमनाथ

हिन्दी साहित्य पर पौराणिकता का प्रभाव- इन्द्रवती सिन्हा

हिन्दी सन्त-साहित्य की सांस्कृतिक एवं सामाजिक पृष्ठभूमि-सावित्री शुक्ल

हिन्दी और गुजराती कृष्ण-काव्य का तुलनात्मक अध्ययन-- डा० जगदीश
गुप्त

हिन्दी साहित्य में निर्गुण सम्प्रदाय- डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल

हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता-- डा० बेनीप्रसाद (१६३१)

हिन्दी काव्य-शास्त्रका इतिहास- डा० भगीरथ मिश्र

हिन्दी साहित्य का इतिहास- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

हिन्दी और बंगला के वैष्णव कवियों का तुलनात्मक अध्ययन-रतन कुमारी

हिन्दी और कन्नड़ में भक्ति-आंदोलन का तुलनात्मक अध्ययन-हिरमण्यम्

हिन्दी और मराठी का निर्गुण काव्य
तुलनात्मक अध्ययन - प्रभाकर माचवे

हिन्दी को मराठी सन्तों की देन - विनय मोहन शर्मा

हिन्दी और मलयालम के भक्ति-कवियों कातुलनात्मक अध्ययन- के०भास्करन
नय्यर

हिन्दी कृष्ण भक्ति साहित्य पर पौराणिक प्रभाव- शशि अग्रवाल

हिन्दी में कृष्ण काव्य का विकास- बाल मुकुन्द गुप्त

हरिभक्ति रसामृत सिन्धु- छै० रूप गोस्वामी सं० श्री गोस्वामी दामोदर
शास्त्री

हिन्दी के अष्टछाप कवियों का अध्ययन- डा० दीनदयाल गुप्त

हिन्दी भक्ति का विकास- डा० रामावतार शर्मा

श्रीमद्भागवतगीता - गीताप्रेस,गोरखपुर

रास पंचाध्यायी

स्याद्वाद मंजरी

षाड्दर्शन समुच्चय

द्रव्य संग्रह

शांडिल्य भक्ति सूत्र

नारद पांच रात्रि

चरितामृतम् - श्रीत मुनि

ऋग्वेद

बोधिचर्या और चारपंचिका

कृष्ण कर्णामृतम् - बिल्वमंगल प्रकाशक ढाका यूनिवर्सिटी

गीत - गोविन्द काव्यम्- सम्पा० पं० केदार शर्मा
प्रकाशक- जयकृष्णदास

नारदभक्ति सूत्र - हरिदास गुप्त (१९४१)
(प्रेमदर्शन) सम्पादक- हनुमान प्रसाद पोद्दार,
प्रकाशक- घनश्यामदास जालान,गीताप्रेस,
गोरखपुर,पंचम संस्करण

तत्वदीप निबन्ध - श्री० श्री वल्लभाचार्य, प्रका० छेठालाल गोवर्धन
शाह तथा हरिशंकर शास्त्री ,अहमदाबाद१९२६

पद्मपुराण- - चार भाग, सम्पा० विश्वनारायण ,पूना
१८९३-९४

ब्रह्मवैवर्तपुराण - श्रीकृष्णजन्म खंड,श्री वैंकटेश्वर प्रेस,
प्रका० खेमराज मुम्बई,सं० १९५५वि०

विष्णुपुराण - टीकाकार- टी०आर०व्यासाचार्य,चार भाग,
बम्बई,१९१४-१५

श्रीमद्भागवत महापुराण- टीकाकार-पं०गोविन्ददास विनीत,प्रका०लाला
श्यामलाल हीरालाल,श्याम काशी प्रेस,मथुरा
प्रथम संस्करण,सं० १९६९वि०

सम्प्रदाय प्रदीप - लेखक-गदाधर ,अनुवादक- तथा प्रकाशक- श्री कंठमणि शास्त्री ,विद्याविभाग, कांकरोली ,प्रथम संस्करण

हरिभक्तिरसामृतसिन्धु - लेखक- रूपगोस्वामी सम्पादक- श्री गोस्वामी -दामोदर शास्त्री अच्युत ग्रन्थमाला काशी प्रथम संस्करण, सं० १९८८ वि०

श्रीकृष्णाष्टकम्

गंगास्त्रोतम्

बृहदारण्यकवार्तिक सार

ज्ञानामृतसार

द्वादशस्तोत्र

गीताभाष्य

ब्रह्मसूत्रानुव्याख्यान

इन्ट्रोडक्शन आफ फिलासफी- जी.टी.डब्लू पैट्रिक
विजडोथिका बुद्ध सीरीज
सिस्टम आफ बुधिष्टिक थाट- श्री यामाकामी सोगन
इनसायक्लोपीडिया आफ रिलिजन
आन यांग चांग्स ट्रेवल्स इन इंडिया- टी.वाटर्स
इंडियन फिलासफी - डा० राधाकृष्णन्
ह्वाट इज फिलासफी - ,,
दी स्टोरी आफ फिलासफी- ,,
इंडियन फिलासफी - हिरनाय
इंडियन फिलासफी - दास गुप्ता
अर्ली हिस्ट्री आफ वैष्णोजिम् इन साउथ इंडिया- एस०कृष्णास्वामी अयंगर
इनसायक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स- जेम्स हेस्टिंग
हाइम्स आफ अलावार - जे० एस.एम.हूपर
(दी हिरिटेज आफ इंडिया सीरीज)
आउट लाइन आफ रिलीजन्स,लिटरेचर आफ इंडिया- जे.एन.फरकुहार
माइल्स स्टोनस इन गुजराती लिटरेचर- के.एम.झवेरी
लिंग्वैस्टिक सर्वे- वाल्यूम ६,भाग २- ग्रियर्सन
प्रोसीडिंग्स एण्ड ट्रान्सलेसन्स आफ दी सेवन्थ आल इंडिया-
ओरियण्टल कान्फ्रेन्स,बड़ोदा(१९३३)
श्रीवल्लभाचार्या- भाई मनीलाल पारेख
कृष्णावताज फेथ एण्ड मूवमेन्ट - ए. के. डे०
शावर क्योर रिलीजन्स कल्ट्स - डा० एस.दासगुप्ता

पत्रिका

कल्याण
सरस्वती
त्रिपथगा